# सूर-साहित्य का छन्दःशास्त्रीय अध्ययन



डॉ० श्री गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

परिमल प्रकाशन
१६४, सोहबतियाबाग, इलाहाबाद-६

# सूर-साहित्य का छन्दःशास्त्रीय अध्ययन

भागलपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)
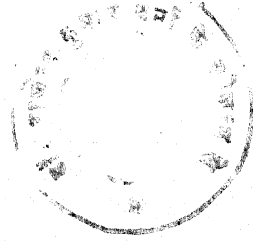
डॉ० श्री गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत) डी० लिट्०

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर

परिमल प्रकाशन

१९४, सोहबतियाबाग, इलाहाबाद-६

प्रकाशक
परिमल प्रकाशन
१९४, सोहबतियाबाग
इलाहाबाद-६

•

आवरण
दीना नाथ सरोदे

•

मुद्रक
धारा प्रेस
६०९, कटरा
इलाहाबाद-२

•

प्रथम संस्करण :
अगस्त १९६९ ईसवी


•

मूल्य : बत्तीस रुपये मात्र

# अनुक्रम

# प्राक्कथन

सूर-साहित्य के छन्दों के अध्ययन की प्रेरणा मुझे नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित सूरसागर के पाठ से प्राप्त हुई। इसके प्रकाशन के पूर्व सूरदास के पदों का पाठ इतना भ्रष्ट था कि इन पदों की रचना किसी छन्द में हुई है, यह बात चित्त में जम ही नहीं पाती थी। एम० ए० कक्षा में सूरसागर के अध्यापन-काल में मुझे ऐसी प्रतीति होने लगी कि सूरदास का ऐसा कोई पद नहीं, जो किसी-न-किसी छन्द में निबद्ध न हो। हिन्दी-साहित्य में एक तो ऐसे ग्रंथ का ही अभाव है, जिसमें किसी एक कवि के छन्दों के निरूपण और सर्वांगीण विवेचन का प्रयास किया गया हो। दूसरे पद-साहित्य तो छन्दोदृष्टि से सदा उपेक्षित रहा; क्योंकि पद गाने की चीज़ है और उसका सम्बन्ध संगीत से है, ऐसा विचार विद्वानों के हृदय में घर कर गया था। ऐसी दशा में इस विषय को सर्वथा नूतन जान कर मैंने इसे अपने शोध का विषय बनाया। १९६४ के अप्रैल मास में विश्वविद्यालय से विषय के स्वीकृत हो जाने पर जब मैं सूरदास के छन्दों के अध्ययन-परीक्षण में संलग्न हुआ तो उस क्रम में कितनी ही महत्वपूर्ण बातें सामने आती गयीं। आज वे ही सभी बातें १३ अध्यायों में लिपिबद्ध कर 'सूर-साहित्य का छन्द:शास्त्रीय अध्ययन' के रूप में प्रस्तुत की जा रही हैं।

प्रथम अध्याय में पद्य और छन्द के अन्तर को स्पष्ट करते हुए छन्द की वास्तविक परिभाषा देने का प्रयास किया गया है। इसके साथ पद का लक्षण, परम्परा और विकास बतलाते हुए छन्द और पद के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में छन्दोभेद के संबंध में मत-मतान्तरों का खंडन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि वैदिक काल से ले कर आज तक अक्षर वृत्त, वर्ण वृत्त, मात्रा वृत्त और मुक्त वृत्त ये ही चार प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। तालछन्द वस्तुत: कोई छन्द: प्रकार नहीं, वह मात्रिक छन्द का ही एक

भेद-विशेष है। छन्दोभेद के निरूपण के बाद इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि सूर-साहित्य में कितने विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।

तृतीय और चतुर्थ अध्याय में क्रम से सम और अर्द्धसम छन्दों के लक्षण, उदाहरण, परम्परा एवं विकास आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि एक पद में दो-तीन भिन्न-भिन्न छन्दों के मिश्रण का आधार क्या है।

षष्ठ अध्याय में सूर-साहित्य में प्रयुक्त वर्णिक छन्दों के लक्षण, उदाहरण, परम्परा एवं विकास आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय में छन्दक (टेक) प्रयुक्त छन्दों का लक्षण-उदाहरण दे कर उनकी परम्परा और विकास पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही छन्दक और सम्पद की लय-मैत्री के साम्य का विवेचन किया गया है।

अष्टम अध्याय में नवीन प्रयोगों के नामकरण तथा उसकी समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

नवम अध्याय में सूर-साहित्य में पाये जाने वाले छन्द-दोषों की चर्चा की गई है, तथा उनके परिहार का भी यत्किंचित् प्रयास किया गया है।

दशम अध्याय में भाव-रस, अलंकार, वृत्ति-रीति, गुण आदि काव्यांगों से छन्द के संबंध को दिखलाते हुए सूरदास के पदों में इनके सामंजस्य का उद्घाटन किया गया है।

एकादश अध्याय में छन्द और संगीत के पारस्परिक संबंध को बतला कर सूरदास के समस्त पदों को विभिन्न तालों पर बैठाने तथा छन्द और राग के आंतरिक संबंध को दिखलाने का प्रयास किया गया है।

द्वादश अध्याय में अन्य पद-रचयिताओं के परिपार्श्व में सूरदास की छन्दोविषयक मौलिकता और विशेषता की ओर संकेत किया गया है।

त्रयोदश अध्याय में छन्दः प्रयोक्ता सूर की छन्दःशास्त्र को क्या देन है, इस ओर विद्वज्जन का ध्यान आकर्षित किया गया है।

इस प्रकार इस शोध-प्रबन्ध में सूरदास के छन्दों का सर्वांगीण अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के केन्द्र में सूरदास अवश्य हैं, किंतु, विषय के समुचित प्रतिपादन के लिए सिद्धकाल से ले कर आधुनिक युग तक की (प्रयोग-वादी काव्य के पूर्व तक की) छन्दः प्रवृत्ति तथा तत्तत् काल के प्रमुख कवियों द्वारा प्रयुक्त मुख्य-मुख्य छन्दों की चर्चा भी हो गई है। साथ ही जहाँ तक मैं समझता हूँ, छन्दोविषयक प्रायः समस्त बातें इस प्रबन्ध में समाविष्ट हो गई हैं। सूरदास के छन्दों के सांगोपांग अध्ययन में वे सारी बातें जैसे आप से आप चिपटती चली आई हैं। फिर भी यह कैसे कहा जाय कि सूर के अध्येताओं के अतिरिक्त अन्य छन्दः जिज्ञासुओं को यह ग्रंथ कितना लाभ पहुँचा सकेगा।

इस ग्रंथ के प्रणयन में डॉ० वेलंकर, डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, डॉ० शिव-नन्दन प्रसाद एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास के ग्रंथों से मैंने अत्यधिक लाभ उठाया है। अतः मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पुस्तक की मुद्रित प्रति मिलने के पूर्व डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने अपने शोध-प्रबन्ध की टाइप-कापी देने की जो कृपा की थी, उसके लिए मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। निर्देशक-रूप में डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने मुझे जो सत्परामर्श दिये, उनसे तो मैं लाभान्वित हुआ ही; अन्य प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर भी उन्होंने मुझे उपकृत किया। अतः मैं उनका सदा आभारी रहूँगा।

**भीखनपुर,**
**भागलपुर।**

**—गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'**
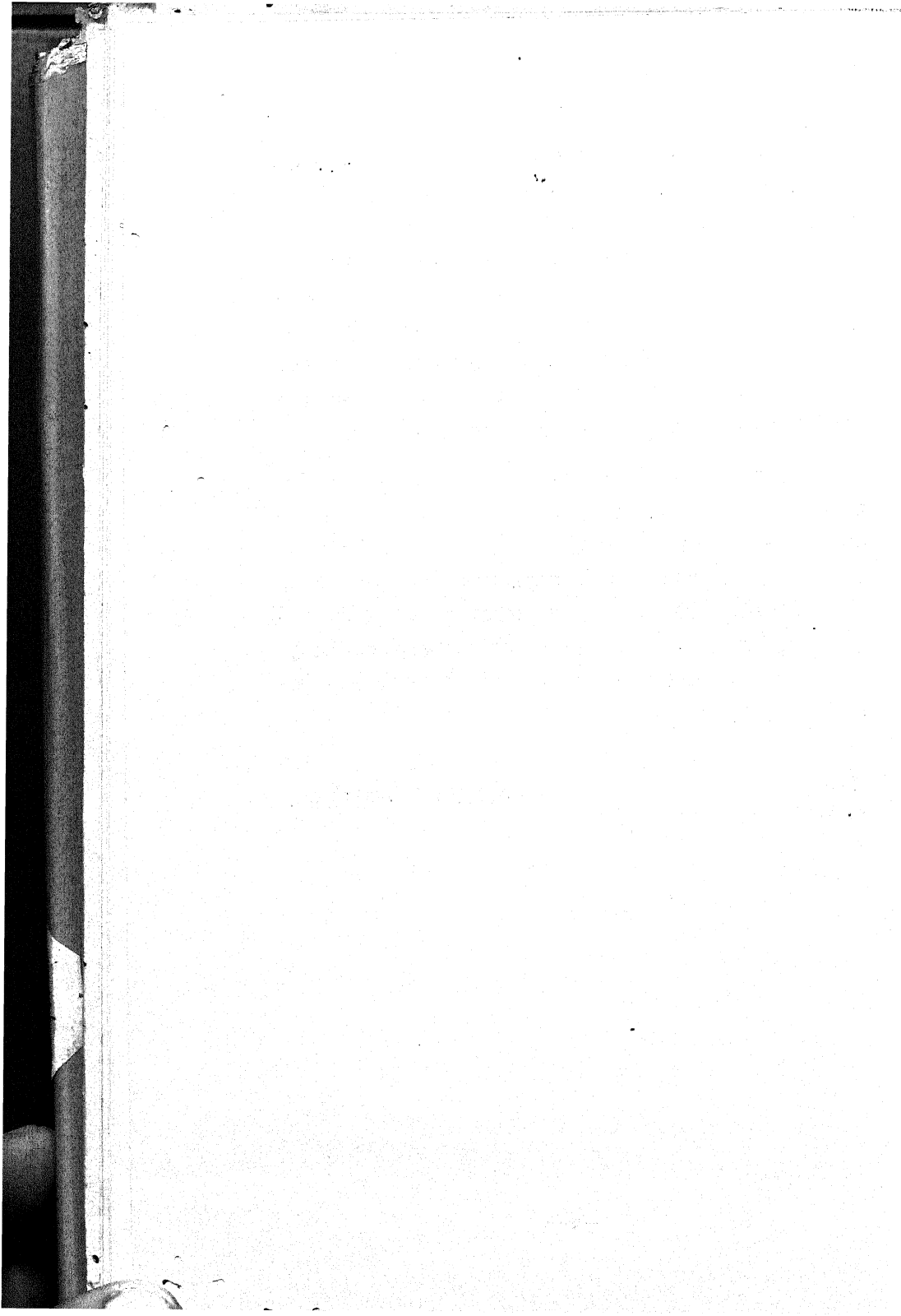
# छन्द और पद साहित्य

वैदिक काल में छन्द और वेद पर्याय माने जाते थे। निघण्टु में स्तोत्र को छन्द कहा है।[1] छन्दःसमूह को वेद मान कर ही पाणिनि ने अनेक स्थलों पर छन्दसि शब्द का व्यवहार किया है।[2] जिसका सामान्य अर्थ ऋक्, यजुः, साम तीनों से लिया जाता है। ऋग्वेद की निम्नांकित पंक्तियाँ—

**तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
**छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् जायत।**[3]

भी इस तथ्य की ओर संकेत करती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न वाक्यों में—

**यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव।**

छन्दो से वेदों का ही तात्पर्य है।[4] गीता में भी छन्दांसि का प्रयोग वेदों के ही अर्थ में हुआ है—

**ऊर्ध्वमूलमधः शाखामश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
**छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।**[5]

गीता के भाष्यकार शंकर ने छन्दांसि का यही अर्थ बताया है—छन्दांसि छादनात् ऋग्यजुः सामलक्षणानि यस्य संसारवृक्षस्य पर्णानीव पर्णानि।[6] वेदों के अतिरिक्त वेद-मंत्रों के लिए भी छन्द का प्रयोग हुआ है। 'गायत्री छन्दसामहम्'।[7] इन्हीं गायत्र्यादि छन्दों के पाद-व्यवस्था-निर्धारण-हेतु छन्दःशास्त्र वेदांग में परिगणित हुआ।

---

[1] रेमः जरिता कारुनदः स्तामुः कीरिः गौः सूरिः नादः
छन्दः स्तुप् रुद्रः कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोत्र नमानि। निघण्टु ३।१६।

[2] छन्दसि लुङ् लङ् लिटः। ३।४।५ वा छंदसि। ३।४।८८ छन्दस्युभयथा ६।४।४ अष्टाध्यायी।

[3] ऋग्वेद (पुरुष सूक्त) १०।९०।९।

[4] तैत्तरीयोपनिषद्—अनुवाक ४।

[5] गीता अ० १५।१।

[6] श्रीमद्भगवद्गीता शंकरभाष्य। प्र० गुजराती मुद्रणालय, बंबई पृ० ६५९।

[7] गीता १०।३५।

**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।**
**ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।**
**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।**
**तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।**[1]

इसमें छन्द वेद के पाद माने गये हैं। छन्द के आधार के बिना वेद चलने में असमर्थ हो जाता है । इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए छन्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक माना गया । कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में स्पष्ट लिखा है कि जो मनुष्य छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन हो कर मंत्र का अध्यापन करता है, उसका फल निष्फल जाता है ।[2] इन्हीं वैदिक छन्दों का विश्लेषण और वर्गीकरण ऋग्वेद प्रातिशाख्य के १५, १६, १७ तथा १८ पातालों में हुआ है । पिंगलाचार्य ने इन्हीं छन्दों का विवेचन अपने छन्दःशास्त्र के द्वितीय अध्याय से ले कर चतुर्थ अध्याय के ७वें सूत्र तक किया है ।

वेदों और मंत्रों को छन्द मानने के फलस्वरूप छन्द पद्य का पर्याय हो गया । निरुक्तकार यास्क ने यों छन्द को पद्य के अर्थ में ही लिया है—ना छन्दसि वागुच्चररीति । किन्तु उन्होंने छन्द की व्युत्पत्ति छद् धातु से मान कर[3] तथा छन्दों को वेदों का आवरण—ढकने वाले साधन बतला कर—छन्दों के अन्तः-स्वरूप को भी प्रकट कर दिया है । यास्क के अर्थ के स्पष्टीकरण में लिखित दुर्गाचार्य का यह वाक्य—

**यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्विभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।**

(छन्द वह आवरण है जिसमें आवेष्टित हो कर देव अमरता को प्राप्त होते हैं) सामान्यतया छन्द के इस अन्तःस्वरूप को प्रकट कर देता है कि छन्द वह आवरण है, जिसमें ढँक कर कोई वाणी (भाव) पद्य-रूप में युग-युग तक जीवित रह सकती है । यास्क का छन्द से यही अभिप्राय था, किन्तु पीछे छन्द का प्रयोग वेद या उसके मंत्रों के लिए उपचार-वश होने लगा । वेदों का बाह्यरूप छन्दोबद्ध होने से यह गौण प्रयोग अवान्तर काल में बराबर होता रहा ।[4] पाणिनि ने

---

[1]**पाणिनीय शिक्षा ४१।४२ ।**

[2]**सर्वानुक्रमणी १।१ कात्यायन । स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति ।**

[3]**निरुक्त ७।१२ ।**

[4]**आर्य संस्कृति के मूलाधारः बलदेव उपाध्याय पृ० ४१ ।**

'चदि'[1] (आह्लादने दीप्तौ च) धातु से छन्द की व्युत्पत्ति मान कर छन्द के गुण (क्रिया) को प्रकट किया है। इस प्रकार यास्क और पाणिनि दोनों के द्वारा की गई छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छन्दों के स्वरूप और गुण को प्रकट कर छन्द के लक्षण को पूर्णतया हृदयंगम करा देती है।

भरत ने नाना अर्थों से युक्त, पदों और वर्णों से विभूषित वृत्त को ही छन्द कहा है—

**एवं नानार्थ संयुक्तैः पदैर्वर्ण विभूषितैः ।**
**चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत् ।**[2]

पिंगल के टीकाकार हलायुध भट्ट ने छन्द को अक्षर संख्या का अवच्छेद माना है—

**छन्दः शब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽत्राभिधीयते ।**[3]

केदार भट्ट ने भी छन्द के आभ्यांतरिक स्वरूप की व्याख्या नहीं कर उसके दो भेदों का उल्लेख कर एक प्रकार से छन्द को पद्य का पर्याय मान लिया है—

**मात्रावर्णविभेदेन छन्दस्तदिह कथ्यते ।**[4]

गंगादास ने स्पष्ट रूप से ऐसी जगह पद्य शब्द का प्रयोग किया है—

**पद्यं चतुष्पदी, तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।**[5]

इस प्रकार पद्य के लिए छन्द संस्कृत साहित्य में एक प्रकार से रूढ़ हो गया था। अवश्य कहीं-कहीं छन्द का प्रयोग पद्य के लिए नहीं हुआ है। जयकीर्ति की निम्नांकित पंक्तियाँ—

**छन्दः शास्त्रं वहित्रं तद्विविक्षोः काव्यसागरम् ।**
**छन्दोभाग् वाङ्मयं सर्वं न किंचिच्छन्दसा विना ।**[6]

का 'छन्दसा' पद्य के लिए नहीं, छन्द के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

---

[1] पाणिनि धातु पाठ-भ्वादिगण ।
चन्दति ह्लादं करोति दीप्यते वा श्रव्यतया इति छन्दः । जयदेवछन्दः की टीका । द्वितीयोध्यायः पृ० ४ ।

[2] नाट्यशास्त्र १४।४२ ।

[3] पिंगलछन्दः शास्त्र २।१ ।

[4] वृत्तरत्नाकरः १।४ ।

[5] छन्दोमंजरी १।४ ।

[6] छन्दोनुशासन १।२ ।

कविराज विश्वनाथ ने तो स्पष्टतः स्वीकार किया है कि छन्दोबद्ध पद ही पद्य है—

**छन्दोबद्धं पदं पद्यं ।**[1]

डा० शुक्ल यहाँ छन्द का अर्थ छन्दःशास्त्र लेते हैं। छन्दःशास्त्र अर्थ नहीं करने से, उनके विचार से परिभाषा में पर्याय दोष आ जाता है; क्योंकि संस्कृत में छन्द और पद्य बहुत सीमा तक समानार्थक है।[2] हमारे विचार से कविराज ने 'छन्दोबद्धं पदं पद्यं' लिख कर छन्द के आन्तरिक स्वरूप को स्पष्ट करने का ही प्रयास किया है।

प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्राचीन छन्दः शास्त्रियों ने छन्द का कोई लक्षण नहीं दिया। वे सीधे उसके भेदों पर ही उतर आये। भानु ने छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है—

**मत्तवरण गति यति नियम, अंतहि समता बंद ।**
**जो पद रचना में मिलें, भानु भनत स्वइ छन्द ।**

तथा—

**छन्द निबद्ध सुपद्य है, गद्य होत बिन छन्द ।**[3]

रघुनन्दन शास्त्री ने लिखा है—ध्वनियों को बराबर करने के विशेष नियम हैं। इन नियमों में बँधी हुई ध्वनियाँ ही लय उत्पन्न कर सकती हैं और इन्हीं नियमों में आबद्ध रचना को छन्द कहते हैं।[4]

रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' छन्द को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं—छन्द में मात्राओं और वर्णों की विशेष व्यवस्था एवं गणना होती है, तथा संगीत सम्बन्धी लय और गति वाली धारा-प्रवाहिकता होती है।[5]

अवध उपाध्याय छन्द की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—जिस रचना में वर्ण, मात्रा, लय, गति, यति और चरणांत सम्बन्धी नियमों का वर्णन हो उसे छन्द कहते हैं। छन्दबद्ध रचना को पद्य कहते हैं।[6]

---

[1] साहित्यदर्पण ६।३१४।
[2] आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना पृ० १०।
[3] छन्दः प्रभाकर, पृ० १।
[4] हिन्दी छन्दः प्रकाश पृ० २७।
[5] सरस पिंगल, पृ० ५।
[6] नवीन पिंगल, पृ० ५।

परमानन्द शास्त्री छन्द का लक्षण यह बताते हैं—छन्द उस रचना को कहते हैं जिसमें अक्षरों, मात्राओं, और यति का विशेष नियम हो। छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं।[1]

डॉ० शिवनन्दन प्रसाद छंद रचना के उस कौशल को कहते हैं, जिससे उसमें निश्चित लय-सौन्दर्य का समावेश होता है, अथवा विशिष्ट सांगीतिक प्रवाह की सृष्टि होती है। छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं।[2]

डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल के अनुसार छन्द नियमित मुखध्वनि रचना है।[3]

इनमें भानु, 'सरस' उपाध्याय तथा परमानन्द ने तो स्पष्टतः छन्द के नाम पर पद्य की परिभाषा दी है। रघुनन्दन तथा डॉ० शुक्ल की परिभाषाओं में 'रचना' शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि ये दोनों भी शायद पद्य और छन्द में अन्तर नहीं मानते। डॉ० शिवनन्दन छन्द को रचना नहीं मान कर रचना का कौशल मानते हैं, और इस प्रकार छन्द के स्वरूप को इंगित करते प्रतीत होते हैं।

हमारे विचार से छन्द और पद्य में स्पष्टतः अन्तर है। पद्य छन्द का बाह्य स्वरूप है, और छन्द पद्य का आभ्यांतरिक तत्व। छन्द वर्णमात्रा के क्रमायोजन की आंतरिक सृष्टि है, जो पद्य में आ कर मूर्त्त हो जाती है। छन्द सूक्ष्म चेतना है, और पद्य स्थूल पिण्ड। पद्य शरीर है, तो छन्द उसका प्राण। जिस प्रकार शरीर के बिना प्राण की सत्ता नहीं, उसी प्रकार पद्य के बिना हम छन्द को हृदयंगम नहीं कर सकते। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर शव है, उसी प्रकार छन्द के बिना पद्य जीवित नहीं रह सकता। इस दृष्टि से छन्द वह लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है, जिसमें आबद्ध हो कर कोई वाक्य या वाक्यांश पद्य का रूप धारण करता है। अर्थपूर्ण इसलिए कि संगीत भी लयात्मक तथा नियमित होता है, पर उसमें अर्थवत्ता नहीं होती। यही अर्थवत्ता पद्य (काव्य) और संगीत का भेदक तत्व है। वाक्य छन्दोबद्ध हो कर पद्य हो जाते हैं, इसे तो संस्कृत तथा हिन्दी आचार्यों का अनुमोदन प्राप्त है ही। जब पद्य और छन्द में यह अन्तर है तो हम अमुक पद्य को अमुक छन्द क्यों कह बैठते हैं ? अमुक छन्द में लिखित पद्य को अमुक छन्द कहना केवल उपचार-वश

---

[1]पिंगल पीयूष, पृ० १६।

[2]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० २।

[3]आ० हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २३।

है। जैसे 'संसार के लोग हँसेंगे' की जगह 'संसार हँसेगा' हम प्रायः बोला करते हैं।

अँग्रेजी भाषा के छन्दःशास्त्रियों ने छन्द को पद्य से कभी संपृक्त नहीं किया। उनके अनुसार Verse (पद्य अथवा पद्य का एक चरण) नाम उस शब्द-समूह का है, जो साथ-साथ इस प्रकार रखे जाते हैं कि वे छांदसीय प्रभाव उत्पन्न कर सकें। वर्स लयात्मक शब्दांशों (Syllables) का वह क्रम है, जो यतियों से विभक्त होता है और एक ही पंक्ति को अधिकृत करता है।[१] यहाँ Verse को छांदसीय प्रभाव उत्पन्न करने वाला कहा है, छन्द ही नहीं मान लिया है। विलियम हेनरी हडसन छन्द को वह नियमित लय मानते हैं, जो विभिन्न विशेषताओं अथवा मानों के शब्दांशों के क्रमिक परिवर्तन से उत्पन्न होती है।[२] लैसल्स एबरक्राम्बी ने लयात्मक ढाँचे की आरोह-अवरोहात्मक आवृत्ति को छन्द माना है।[३] आचार्य शुक्ल भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं—छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न ढाँचों (Pattern) का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अँग्रेजी छन्दःशास्त्रियों ने एक प्रकार से लय

---

[१] Verse—the name given to an assemblage of words so placed together as to produce a metrical effect.—A verse is a series of rhythmical Syllables, divided by pauses, and destined to occupy a single line.—

—Encyclopaedia Britanica Vol 23 P 96.

[२] By metre we understand that ordered rhythm which results from a regulated alternations of syllables of different characters or values—

—An Introduction to the Study of Literature.P.150.

[३] Metre is modulated repetition of a rhythmical pattern.

—Principles of English prosody. Pt. I. P. 42.

[४] काव्य में रहस्यवाद, पृ० १३५।

को ही छन्द माना है। इजर्टन स्मिथ ने लय को उच्चरित ध्वनि का अविरल प्रवाह कहा है, जो क्रमिक उत्थान-पतन-शील तरंगों की विशेषताओं को लिए रहता है।[१] जार्ज सेंट्सबरी लय को केवल एक संयत व्यवस्था मानते हैं, जिसमें ध्वनि का एक क्रम से आवर्त्तन होना आवश्यक नहीं है।[२] रिचर्ड्स लय के विशिष्ट रूप को ही छन्द मानते हैं।[३] उनकी दृष्टि में अस्थिर लयात्मक क्रम-विधान का संयुक्त और विशिष्ट रूप ही छन्द कहा जाता है।[४] जब लय और छन्द एक ही वस्तु है तो फिर दो नाम क्यों दिये गये ? जिस प्रकार छन्द की आत्मा लय है, उसी प्रकार संगीत की भी। संगीत और छन्द में पार्थक्य दिखलाने के लिए यहाँ लय को छन्द कहा। जिस प्रकार व्यावहारिक सुविधा के लिए एक ही आत्मा, भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण भिन्न-भिन्न नामों से संसार में पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक ही लय प्रकृति-गत विशिष्टताओं के कारण कहीं संगीत और कहीं छन्द कही गई है। इस प्रकार छन्द की प्रकृति, और स्वरूप पर विचार कर लेने के बाद अब हम यह देखना चाहेंगे कि इस छन्द का पद से क्या सम्बन्ध है ?

गत्यर्थक पद् धातु (पद्यते, पदयते) से पद और पाद शब्द बनते हैं।

---

[१]There is more or less continous stream of speech sound characterised by regular wave like rise and fall which we call rhythm—

—The Principle of English metre. P. 263.

[२]Rhythm is an orderly arrangement, but not necessarily a correspondent succession of sound.

—Historical manual of English Prosody. P. 290.

[३]Rhythm and its specialised form, metre, depend upon repetition, and expectancy. —Principles of Literary Criticism. (Rhythm and Metre). P. 134.

[४]We may turn now to that more complex and more specialised form of temporal rhythmic sequence which is known as metre.

—Principles of Literary Criticism (Rhythm & metre). P. 139.

पद और पाद दोनों के अर्थ पाँव होते हैं—पाद>पाव। इनमें पाद का व्यवहार पद्य की एक पंक्ति के लिए पिंगल ने किया है—पादश्चतुर्भाग: ४।१०। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि जिस प्रकार हम अपने पैरों के बल पर खड़े होते हैं; उसी प्रकार छन्द की अवस्थिति इन चारों पादों पर है। चतुष्पद प्राणी के आधार पर पाद का अर्थ चौथा है। संभवतः इसलिए भी पद्य का चौथाई भाग (एक पंक्ति) पाद कहा जाने लगा हो। बाद में यही पाद पद के रूप में सम्पूर्ण पद्य का बोधक हो गया।

**नियताक्षरसम्बन्धे छन्दोयतिसमन्वितम् ।**
**निबन्धन्तु पदं ज्ञेयं सतालपतनात्मकम् ।[1]**
**छन्दोबद्धं पदं पद्यम् ।[2]**

भरत का 'पदं सतालपतनात्मकम्' स्पष्टतः पदों की गेयता की ओर संकेत करता है। संभव है, इस गेयता को ध्यान में रख कर गेय पद्य को लोग पद कहने लगे हों।

आज जिसे हम पद कहते हैं, उसमें और अन्य पद्यों में कोई खास अन्तर नहीं है। पद के आदि में एक छोटी पंक्ति रहती है, जिसे साधारणतः टेक, ध्रुवपद या ध्रुवक कहते हैं। गाने में इस टेक या छन्दक की बार-बार आवृत्ति होती है। संगीत के विचार से तो टेक महत्वपूर्ण है ही, काव्य-दृष्टि से भी उसका विशिष्ट स्थान है। कवि सम्पूर्ण पद का केन्द्रीय भाव अत्यन्त संक्षिप्त और सुगठित शब्दों में टेक के रूप में दे कर पद में विचित्र मोहकता उत्पन्न कर देता है।[3] इसलिए गेय पदों को छन्दों की सीमा से अतिरिक्त समझना उचित नहीं है। क्योंकि संगीत के विचार से टेक या ध्रुवक की एक प्रारम्भिक पंक्ति जोड़ने के अतिरिक्त छन्दों (पद्यों) और गेय पदों में प्रायः कोई अन्तर नहीं है।[4]

छन्द गेयात्मकता से युक्त हो कर पद कहा जाता है। कालिदास की निम्न पंक्ति—

**मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातु कामा ।[5]**

---

[1]नाट्यशास्त्र : भरत पृ० ३२।२६ ।
[2]साहित्यदर्पण : पृ० ६।३१४ ।
[3]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७१ ।
[4]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७० ।
[5]मेघदूत (उत्तर मेघ) श्लो० पृ० ६० ।

भी पद की इस गेयता की ओर इंगित करती है। साथ ही इस पंक्ति से पद की एक और विशेषता यह प्रकट होती है कि पद में कवि का नाम (मद्गोत्राङ्कम्) भी रहता है। सरहपा से ले कर भारतेन्दु-सत्यनारायण तक जितने पद-रचयिता हैं, सब में 'मद्गोत्राङ्कम्' की प्रणाली अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। गेय छन्द पद कहा जाता है, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि वेदों में ऋक् पाद-व्यवस्था को कहते हैं। वही ऋक् 'गीतिषु सामाख्या' हो जाता है।[1] गायन को साम कहते हैं। ऋचाएँ ही गाई जाती हैं। गाई जाने वाली ऋचाओं का जो एक स्थान पर संकलन हुआ, वह सामवेद कहा जाने लगा। कुछ मंत्रों के अतिरिक्त सामवेद के समस्त मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। इसलिए सामवेद की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जाती।[2] साम गान वाले पुरोहित-विशेष को उद्गाता तथा छन्दोग इसीलिए कहते हैं कि वे छन्द को गान का रूप देते हैं।

ऐसे गेय पदों को किसी ताल-राग में गाने की व्यवस्था प्राचीन काल से है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के अनेक मात्रिक छन्द चर्चरी गान में गाये जाते थे।[3] ११वीं शताब्दी के जयदेव ने गीतगोविन्द में अनेक मात्रिक छन्दों की रचना की है, जिनके अनेक रागों और तालों में गाये जाने के विधान निर्दिष्ट हैं। यथा—

**मालव रागे रूपकताले अष्टपदी।**
**वसंतरागेण यतितालेन गीयते।**[4]

११वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र ने भी 'दशावतार-वर्णन' में विरह-विदग्धा गोपियों के द्वारा गोविन्द के गुणों के राग के साथ गाने का वर्णन किया है—'गुप्तं गोकुल-पल्लवे गुणगणं गोप्यः सरागा जगुः (८।१७३)[5] गोपियों ने जो गान गाया, उसे

---

[1]साम सम्मितमृचा (साम ऋचा के साथ बराबर मापा हुआ होता है)। निरुक्त पृ० ७।१२।

गीतिषु सामाख्या। भट्टोजि दीक्षित की वृत्ति—पाणिनि के 'यक्षकर्मण्य-जपन्यूङ्खसमासु' पर। अष्टाध्यायी (स्वर-प्रक्रिया) १।२।३४।

[2]आर्य संस्कृति के मूलाधार : बलदेव उपाध्याय पृ० २२।

[3]विक्रमोर्वशीयम् (चतुर्थ अंक) जीवानन्द विद्यासागर।

[4]गीत गोविन्द प्र० सर्ग पृ० २, ७।

[5]हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११६।११७।

कवि ने १० मात्राओं के (शशिवदना छन्द) छंदक के साथ पादाकुलक छन्द में लिखा है—

**ललित विलासकला सुख खेलन**
**ललना लोभन शोभन यौवन**
**मानितनय मदने ।**[१]

इनके बाद तो विद्यापति, चंडीदास, कबीर, सूरदास, तुलसीदास आदि अनेक कवियों ने इस प्रकार के पद्यों की रचना की, जो गेय होने के कारण पद कहे जाने लगे । शनैः-शनैः ऐसे पद्यों में छान्दसीयता के स्थान पर गेयता की वृद्धि होती गयी और लोग यह भूलने लग गये कि ये पद किसी-न-किसी छन्द के आधार को ले कर ही निर्मित हुए हैं ।

कबीर, सूर, तुलसी आदि के ऐसे पदों को स्वरूप की दृष्टि से कुछ दूर तक हम अनुच्छेद (Stanza) कह सकते हैं । हेनरी विलियम हडसन के अनुसार अनुच्छेद अपने में संगठन की इकाई बनाने वाली पंक्तियों का एक समूह है । नियमित अनुच्छेद अपनी पंक्तियों की संख्या तथा उन तुकों की व्यवस्था से, जो इन पंक्तियों को एक साथ आबद्ध किये रहती हैं, साधारणतः परिभाषित होते हैं ।[२] अँग्रेजी साहित्य में इस प्रकार के अनुच्छेदों (Stanzas) में दो पंक्तियों से ले कर नव पंक्तियाँ तक होती हैं । नव पंक्तियों वाला अनुच्छेद इतना प्रचलित हुआ कि अँग्रेजी के आलोचकों ने उसके प्रथम प्रयोक्ता के नाम पर उसका नाम Spenserian Stanza रख दिया ।[३] संस्कृत साहित्य का पद कुछ दूर तक अनुच्छेद कहा जा सकता है । हालाँकि इसमें निश्चित रूप से चार ही पंक्तियाँ (चरण) होती हैं । इन चार पंक्तियों में ही कवि का भाव

---

[१] **हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११७ (छन्दों के नाम लेखक द्वारा दिये गये हैं) ।**

[२] A stanza is a group of lines forming within itself a unite of organistation. Regular stanzas are commonly defined by the number of their lines and the disposition of the rimes which binds these lines together.

—The study of Literature, P. 159.

[३] The study of literature, P. 160.

सामान्यतः समाप्त हो जाता है। असामान्य अवस्था में चार चरणों में भाव की समाप्ति नहीं होने पर कवि लोग दो, तीन, चार और पाँच पदों के संयोग से भी पद-बन्ध की योजना करते रहे हैं। इन्हें ही आचार्यों ने क्रमशः युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नामों से अभिहित किया है।[१] रघुवंश के प्रारम्भ में रघुवंशियों का वर्णन कालिदास ने इसी कुलक (पाँच पदों) के सहारे किया है।[२] सूरदास आदि के पदों में अँग्रेजी साहित्य के अनुच्छेदों की तरह न तो पंक्तियों की नियमित संख्या पाई जाती है और न तुक का क्रमायोजन ही। संस्कृत साहित्य के कुलक आदि की तरह हम उन्हें किसी नाम से भी अभिहित नहीं कर सकते। क्योंकि कुलक आदि की तरह न तो इनमें एकवाक्यता ही मिलती है, और न उन सब के समान इनमें चरणों या पद्यों की नियमितता ही होती है। सूरसागर में सबसे छोटा पद चार पंक्तियों का मिलता है और सब से बड़ा तो कई पृष्ठों तक चला गया है। इन पदों की लघुता और दीर्घता कुलक आदि की तरह भाव के आश्रित हैं। भाव की समाप्ति ही पंक्तियों की संख्या की निर्णायिका है। पद पंक्तियों का समूह है जो अपने में संगठन की इकाई बनाये हुए है, इस दृष्टि से यह सहज ही अनुच्छेद (Stanza) कहा जा सकता है। अँग्रेजी साहित्य के नियमित रूप से १४ पंक्तियाँ रखने वाले (Sonnet) की तरह इसमें न तो पंक्तियों का कोई बन्धन है और न 'कविता नियमतः अनेक खंडों से बनी होती है, जिसके सभी खंड स्वरूप में समान होते हैं'[३] इस कथन के अनुसार समान स्वरूप वाले खंडों की योजना ही इसमें मिलती है। एक-एक पद एक-एक अनुच्छेद या पद-बंध है, जो अपने में पूर्ण है, साथ ही गीतात्मकता भी लिए हुए है। संस्कृत शास्त्रीय परिभाषा में यह पद मुक्तक काव्य की श्रेणी में आता है।

पदों की परम्परा बहुत पुरानी है। हिन्दी के आदिकाल से ले कर आधुनिक द्विवेदी काल तक पदों की धारा अविराम गति से प्रवाहित होती रही। बौद्ध सिद्ध कवि के चर्यापद और चर्यागीति में ही हम पद का सर्वप्रथम प्रयोग

---

[१] **साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, षष्ठ परिच्छेद, श्लो० ३१४—३१५।**

[२] **रघुवंश, प्रथम सर्ग श्लो० ५।६।**

[३] As a rule, poem is built up of Sections strictly identical in form. —The Study of Literature, P. 159.

पाते हैं। सरहपा, शबरपा, भूसकुपा, लुइपा, विरूपा आदि प्रायः सभी सिद्धों ने इस प्रकार की गेय रचनाएँ की हैं। सभी पदों के ऊपर किसी-न-किसी राग का निर्देश है। अधिकांश पदों में छन्दक (टेक) नहीं है, किन्तु सरहपा के एक पद में दो पंक्तियों के बाद टेक मिलती है।[१] विनय-श्री की एक गीति का प्रारम्भ छन्दक से होता है।[२] सिद्धों के बाद गोरखनाथ ने भी पदों की रचना की है। गोरखबानी में संकलित पद राग रामग्री, राग आसावरी, राग रामगरी तथा राग आरती के अन्तर्गत रखे गये हैं। छन्दक की योजना यहाँ भी है, किन्तु छोटी पंक्ति के रूप में नहीं। गोरखनाथ के बाद संतों के यहाँ पदों का काफी चलन रहा। संत-साहित्य का आधे से अधिक भाग पदों में ही लिखित है। नामदेव, रैदास, नानक आदि कुछ संतों को छोड़ कर प्रायः सभी ने छन्दक को पद के प्रारम्भ में ही रखा है।[३] सूफियों ने चौपाई-दोहों में काव्य-रचना की है। उनके काव्यों में पद का एकांत अभाव है। भक्त कवियों का तो अपने हृदय की वाणी को प्रकट करने का प्रमुख साधन पद ही है। सूरदास ने सूरसारावली के अतिरिक्त अपने सम्पूर्ण साहित्य (सूरसागर और साहित्यलहरी) की रचना पदों में ही की है। नन्ददास ने अवश्य विरह-मंजरी, रूपमंजरी, रास-पंचाध्यायी, भँवरगीत आदि ग्रंथों की रचना अन्य शैली में की है, किन्तु वे पद-शैली को भी अपनाये रहे। अन्य जितने कृष्ण-भक्त कवि हैं, उनकी अधिकांश रचना पदों में ही है। तुलसी ने विनय-पत्रिका, गीतावली तथा कृष्ण गीतावली पद-शैली में ही लिखी है। रीतिकाल में कवित्त, सवैया और दोहे का बोलबाला रहा; फिर भी रीतिकाल के अन्तर्गत रचे हुए पदों की संख्या कम नहीं है। 'निर्गुण और सगुण भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं की जो परम्परा स्थापित हो गई थी उसके सम्बन्ध-सूत्र रीतिकाल में टूटे नहीं थे। निर्गुणोपासक और सगुणोपासक भक्त इस युग में भी विद्यमान थे, जो पदों की रचना करते रहे।[४] रीतिकाल के अन्दर तुलसी साहब, भीखासाहब, गुलाल, पलटू साहब, दरिया साहब, सहजोबाई, दयाबाई आदि संत कवियों ने तथा नागरीदास, अलबेलि अली, चाचा हित बृन्दावन दास, भगवत रसिक, ललित किशोरी आदि भक्ति-कवियों ने पद-रचना द्वारा पद-

---

[१]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पद ३९, पृ० १८।

[२]दोहाकोष परिशिष्ट पद, पृ० ३६३।

[३]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी।

[४]काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध : डॉ० उमा मिश्र, पृ० २९९।

परम्परा को आगे बढ़ाया। आधुनिक युग के वैतालिक भारतेन्दु ने जहाँ नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई, वहाँ पुरानी पद-शैली को भी नहीं छोड़ा। उनके काव्य-साहित्य का अधिकांश भाग पद-शैली में ही लिखा गया है। द्विवेदी-युग में पद अपने स्थान से च्युत नहीं हुआ। 'हरिऔध' के 'पारिजात' में पद-शैली में भी अनेक रचनाएँ मिलती हैं।[1] रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' में एक पद पाया जाता है; जिसमें पथिक-पत्नी ने अपने हृदय के उद्गार को पति-सम्मुख प्रकट किया है।[2] 'हरिऔध' के 'वैदेही-वनवास' में गान के कई अवसरों पर पद की योजना हुई है।[3] 'साकेत' के नवम सर्ग में अनेक अवसरों पर उर्मिला ने अपने हृदयोद्गार को पदों में ही प्रकट किया है। और 'यशोधरा' एक प्रकार से पदों की भित्ति पर ही खड़ी है। कामायनी के इड़ा सर्ग में पदपादाकुलक और पद्धरि के योग से जो पद-बंध प्रस्तुत किया गया है, वह भी पद से (स्वरूप की दृष्टि से) बहुत दूर नहीं। 'किस गहन गुहा से अति अधीर' जैसी छोटी पंक्तियाँ सहज ही छन्दक का स्थान ग्रहण कर सकती हैं। इस प्रकार आधुनिक काल में पदों ने मुक्तक के अतिरिक्त प्रबंध-काव्यों में भी स्थान प्राप्त कर लिया है। आदि-काल से ले कर छायावाद-युग तक पदों की यह अखण्ड परंपरा सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती है।

राग-रागनियों में बँधे ये पद हमारा ध्यान निरन्तर आकर्षित करते रहे और हमने भाव, रस, कला तथा संगीत की दृष्टि से इनकी परीक्षा भी की। किन्तु, इन्हें छन्दोदृष्टि से देखने-परखने का प्रयास हमने कभी नहीं किया। इन पदों की रचना किन-किन छन्दों में हुई है, किन-किन छन्दों के मेल से कवि ने किसी पद का निर्माण किया है, इस ओर हमने विशेष रूप से दृष्टि-निक्षेप नहीं किया। प्रायः इन्हें गीत, भजन, पद, शब्द (सबद या सबदी) आदि ही कहते रहे। यथा—

> सूरदास के भजनों में जयदेव के पदों का अनुवाद है।[4]
> इन भजनों के पीछे कवि का एक अपना व्यक्तित्व है।[5]

---

[1]पारिजात, पृ० १०, १२, १६, २४०, २६२, २६३, २६५।

[2]पथिक : सर्ग १।

[3]वैदेही वनवास, सर्ग ६, (पृ० १०५), सर्ग १६, (पृ० २१६, २२१)।

[4]सूरसाहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८८।

[5]सूरसाहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२७।

सूरसागर के प्रत्येक पद को उसी में स्वतंत्र समझा जा सकता है ।[१]

प्रत्येक पद की अंतिम पंक्ति में उनकी प्रेमातुर भावना मुखर हो उठी है ।[२]

इस प्रेमातिशय के इतने मनोहारी गीत सूरसागर में भरे हुए हैं कि उन्हें पढ़ कर चित्त विचलित हो उठता है ।[३]

सूरदास जी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे हैं ।[४]

अनेक संत भी, पदों को 'शब्द' कह कर पुकारना ही, कदाचित, अधिक अच्छा समझते हैं । फिर भी वे शब्द भजन के रूप में बराबर गाये जाते हैं ।[५] एकाध स्थल पर अवश्य छन्द शब्द का उल्लेख है—

छंद या तुकांत में खपाने के लिए शब्द भी कुछ विकृत किये हुए पाये जायँगे ।[६] इन छन्दों को चुन कर नहीं लिया गया है ।[७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानों की दृष्टि यदि कभी भूल से पदों की छन्दोबद्धता पर गई भी, तो उन्होंने उससे आँखें फिरा लीं । रामनरेश त्रिपाठी का निम्नांकित कथन हमारी बात का प्रमाण है—

'तुलसीदास ने निम्नलिखित छन्दों में अपनी रचनाएँ की हैं । इनमें वे छन्द नहीं दिये जा रहे हैं, जिनका उपयोग उन्होंने गीतावली और विनयपत्रिका में किया है ।[८]

जब तुलसी द्वारा प्रयोग में लाये गये छन्दों की सूची दी जा रही है, जिसमें साधारण ग्रंथों में प्रयुक्त 'सोहर' और 'बरवै' छन्द सम्मिलित हो गये हैं, तो विनयपत्रिका और गीतावली जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों में आये हुए छन्द क्यों छोड़ दिये गये ? जब अकेले सूरसागर में १२०० से अधिक पद सार छन्द में लिखे

---

[१]सूरसाहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १५३ ।
[२]महाकवि सूरदास : नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ८५ ।
[३]महाकवि सूरदास : नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १०३ ।
[४]भ्रमरगीत सार : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६ ।
[५]संतकाव्य (भूमिका) परशुराम चतुर्वेदी पृ० ६४ ।
[६]भ्रमरगीत सार : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४३ ।
[७]सूरसाहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १२२ ।
[८]रामचरितमानस (भूमिका) टीकाकार—रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २६३ ।

गये हैं, तो त्रिपाठी जी को अपने पथिक काव्य में प्रयुक्त सार छन्द के लिए संस्कृत कवि जयदेव की ओर लपकने की क्या आवश्यकता थी ?

'पथिक' का छन्द भी नया था और उस समय तक हिन्दी में प्रचलित नहीं हुआ था। × ×मैंने उसे 'गीतगोविन्द' से चुना था।[1]

सार छन्द को नया बतलाना और हिन्दी में अप्रचलित कहना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि सूरसागर का अध्ययन छन्दोदृष्टि से नहीं हुआ था ?

सूरसागर की ही बात नहीं है। हिन्दी का सारा पद-साहित्य छन्द की दृष्टि से उपेक्षित रहा। पाश्चात्य कवियों के अध्ययन में विद्वानों ने यहाँ तक ढूँढ़ निकाला कि शेक्सपियर के सभी ग्रंथों में कुल १५००० शब्द हैं, मिल्टन के सात-आठ हजार, होमर के काव्यों में करीब ९०००, इञ्जील के पुराने भाग (टेस्टामेंट) में ५६४२ और नये में ४८००।[2] हमारे यहाँ संस्कृत कवियों का अध्ययन इस रूप में अभी नहीं हो पाया है, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों की गणना का यत्किंचित प्रयास अवश्य हुआ है।[3] कीथ ने प्रायः सभी कवियों की आलोचना के अंतिम भाग में उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों का विस्तृत विवेचन किया है।[4] हिन्दी के किसी कवि के छन्दों का इस प्रकार सांगोपांग विवेचन अभी नहीं हो सका है। फिर इन पद-रचयिताओं के पदों के छन्दों का कौन अध्ययन करता, जब इन्होंने उन पर राग-रागिनी की मुहर लगा कर छन्द के विद्यार्थियों के लिए 'प्रवेश निषेध' कर दिया था। हमारे विचार से पदों की छान्दसीय उपेक्षा के दो प्रधान कारण हैं—

(१) उनका गेयत्व।
(२) उनका भ्रष्ट पाठ।

पदों के गेय होने के कारण विद्वानों को उनमें पिंगलशास्त्र का दखल अच्छा नहीं लगता। तुलसी की विनय-पत्रिका की गेयता का विवेचन करते हुए वियोगी हरि ने स्पष्ट लिखा है—"कहीं-कहीं इन पदों में 'यति-दोष' मिलता है, पर गाते समय यह दोष तनिक भी नहीं खटकता। हम तो यह भी कहेंगे कि यदि यति-भंग दोष दूर करने की चेष्टा की जायगी तो साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही

---

[1]अवंतिका, पटना, जुलाई १९५६, मेरा कवि जीवन—रामनरेश त्रिपाठी

[2]सामान्य भाषा विज्ञान : बाबूराम सक्सेना, पृ० ९८।

[3]प्राकृत पैंगलम् भाग ४—टीकाकार भोलाशंकर व्यास, पृ० ३२९-३३१।

[4]संस्कृत साहित्य का इतिहास : कीथ। अनुवादक मंगलदेव शास्त्री।

संगीत-सौन्दर्य भी नष्ट हो जायगा।...हमने प्रायः प्राचीन महात्माओं की बानियों में पिंगल-विशारदों को दोष निकालते देखा है। यदि ये सज्जन संगीत के पंडित हों, तो उन्हें उन बानियों में एक भी छन्द-दोष दिखाई न दे। क्योंकि उनकी रचना केवल पिंगल के नियमों पर ही नहीं, किन्तु 'स्वर-ताल' के अनुरूप हुई है।[1] यदि ऐसी ही बात है, तो निम्न पंक्तियों में—

**लोलुप भ्रमत गृह-पसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पद-त्रान बजे।—पद ८९।**

**देखि खलल अधिकार प्रभू सौं मेरी भूरि भलाई मनिहैं।—पद ९५।**

**तो क्यों कटत सुकृत-नख ते मो पै विपुल वृन्द अघ-बन के।—पद ९६।**

**कोउ भल कहउ देउ कछु कोऊ असि वासना हृदय ते न जाई। पद ११९।**

क्रमशः १, ४, २ और ५ मात्राओं की अधिकता की ओर संकेत करने का क्या प्रयोजन है? 'मो पै' को 'मु प' पढ़ने के आदेश की क्या आवश्यकता है?[2] यह स्वर-ताल के अनुरूप रचा हुआ संगीत है, जिसमें पिंगल-विशारद बन कर मात्राओं की टोह लगाना कहाँ तक समीचीन है। फिर 'लोलुप' और 'मो पै' के 'औ' और 'ऐ' का उच्चारण तो ब्रजभाषा के नियमानुसार ह्रस्व हो ही सकता है। इसके लिए चिन्ता क्या? विद्वानों की इसी मनोवृत्ति के कारण पद-साहित्य छन्दोदृष्टि से उपेक्षित रहा। फिर ये पद तो महात्माओं की वाणी हैं, इनमें दोष कहाँ? इस मनोवृत्ति ने भी विद्वानों को छन्दोदृष्टि से पद-साहित्य का विवेचन करने नहीं दिया।

पदों की छान्दसीय उपेक्षा का दूसरा कारण उनका भ्रष्ट पाठ है। भ्रष्ट पाठ का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

**ऊधो जू! मैं तिहारे चरनन लागौं बारक या ब्रज करवि भाँवरी।**
**निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भइ दृष्टि झाँवरी।**
**वहै बृन्दावन स्याम सघन बन, वहै सुभग सरि साँवरी।**
**एक स्याम बिनु स्याम न भावै सुधि न रही जैसे बकत बावरी।**
**लाज छाँड़ि हम उतहिं आवती चलि न सकति आवै विरह ताँवरी।**
**सूरदास प्रभु वेगि दरस दीजै होयहै जग में कीरति रावरी।**[3]

---

[1] विनय-पत्रिका : वक्तव्य, पृ० ४१।

[2] विनय पत्रिका के उक्त पदों के नीचे वियोगी हरि द्वारा दी गयी पाद-टिप्पणी।

[3] भ्रमरगीत सार—सं० रामचन्द्र शुक्ल, पद ३६९।

इस पद को पढ़ कर छन्दःशास्त्री अपना सिर ठोंक लेगा। पंक्तियों की इस अस्तव्यस्तता में वह इसके छन्द के सम्बन्ध में क्या निर्णय दे। इसी पद का निर्दोष पाठ जब उसे निम्न रूप में प्राप्त होता है—

**ऊधौ तिहारे पा लागति हौं, बहुरिहुँ इहिं ब्रज करवी भाँवरी।**
**निसि न नींद भोजन नहिं भावै, चितवत मग भइ दृष्टि झाँवरी।**
**वहै वृन्दावन वहै कुंजघन, वहै जमुना वहै सुभग साँवरी।**
**एक स्याम बिनु कछू न भावै, रहति फिरति ज्यौं बकति बावरी।**
**चलि न सकति मग डुलत धरत पग, आवति बैठत उठत ताँवरी।**
**सूरदास प्रभु आनि मिलावहु, जग में कीरति होइ रावरी।**[1]

तो रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण मान कर वह इसे सहज ही समान सवैया का पद कह देता है। ऐसे भ्रष्ट पाठ का कौन उत्तरदायी है? इस पर हम अपना विचार 'दोष और उनका परिहार' अध्याय में आगे प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हमें यह कहना है कि चाहे पद-रचयिताओं ने गाने के लिए ही पदों की रचना की हो, और उन्होंने उनके रचना-काल में संगीत पर ही ध्यान रखा हो; किन्तु उनके ९० प्रतिशत पद छन्दःशास्त्र के नियमानुकूल हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने पदों में संगीत और छन्द का सुन्दर सामजस्य किया है। यह बात हम विद्यापति-कबीर से लेकर हरिऔध-मैथिलीशरण तक सभी कवियों के पदों के सम्बन्ध में कह रहे हैं। निस्संदेह पदों में कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं, जो गायकों की रचना हैं, और उनका संबंध छन्द से उतना नहीं जितना संगीत से है। उदाहरण के लिए हम कुछ पदों को उद्धृत करते हैं—

**ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हौ**
**त्यों ही त्यों ही रहियतु हैं, हो हरि।**
**और अचरचै पाइ धरौं**
**सु तौ कहौ कौन के पेंड़ भरि।**
**जदपि हौं अपनौ भायौ कियो चाहौं**
**कैसे करि सकौं, जो तुम राखौ पकरि।**
**कहि हरिदास पिंजरा के जनवार लौं**
**तरफराइ रह्यौ उड़िवो को कितोउ करि।**[2]

---

[1]सूरसागर (तृतीय संस्करण) ना० प्र० सभा, काशी पद ४६९९।
[2]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि—स्वामी हरिदास पद १।

तू सुनि कान दैरी, मुरली
तेरे गुन गावैं स्याम कुंज भवन।
सन्मुख होइ करि ताहि को आँको भरि
सो तन परसि आवै जो पवन।
तेरोई ध्यान धरत उर अंतर नैन मूँदि
निकसत उर डरपत, तेरोई आगम सुनि स्रवनन।
सूरदास मदन मोहन सौं तू चलि
मिलि तोंहि ते पायो नाम राधारमन।[1]

न जाय मोसों सेजरिया चढ़िलो न जाय।
विरह बाढ़्यौ पिय बिन कैसे कहै रैन सखी
मोसों सेजरिया चढ़िलो न जाय।
हरीचन्द पिया बिनु नींद न आवै साँपिन सी
लगै सेज हाय मोरी तड़पत रैन बिहाय।
न जाय मोसों सेजरिया चढ़िलो न जाय।[2]

उपर्युद्धृत तीनों पदों का गति-शैथिल्य, चरणों की असमानता तथा किसी-किसी चरण का अत्यधिक विस्तार इन्हें छन्द की कोटि में आने नहीं देते। ये छन्द की नहीं, संगीत की सम्पत्ति है। इन पदों के रचयिताओं की प्रसिद्धि कवि के रूप में नहीं, गायक के रूप में ही है। भारतेन्दु ने ऐसे पदों की रचना कवि हो कर नहीं, गायक बन कर की होगी। अमीर खुसरो, गोपाल नायक, हरिदास, बैजू बावरा तथा तानसेन की जो रचनाएँ 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' में संकलित की गई हैं; उनमें शायद ही कोई छन्द की सीमा में आ सके। इसीलिए इनके सम्बन्ध में संपादक को कहना पड़ा कि—'यति की विलक्षणता और लम्बी शब्द-योजना से प्रतीत होता है कि ये पद गाने के लिए ही लिखे गये थे। इसी कारण, इन्हें पद न कह कर ध्रुपद कहने की प्रवृत्ति होती है।[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे पदों की रचना, जो छन्द की कोटि में नहीं आ सकती, बहुधा गायकों के हाथों हुई है। विद्यापति, कबीर-दादू आदि

[1]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि—सूरदास मनमोहन पद ८।
[2]भारतेन्दु ग्रंथावली—प्रेमतरंग पद २३।
[3]संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ : विहंगावलोकन—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ० १२।

संतों तथा सूर-तुलसी आदि भक्तों तथा भारतेन्दु आदि कवियों के पदों के साथ ऐसी बात नहीं है। इनके पद प्रायः छन्दोबद्ध ही हैं। हिन्दी कवियों के छन्दों की ओर अब विद्वानों का थोड़ा ध्यान भी गया है। जिसके फलस्वरूप धर्मवीर 'भारती' ने सिद्धों के[१], विपिन विहारी त्रिवेदी ने चन्दवरदाई के[२], परशुराम चतुर्वेदी[३] तथा रामखेलावन पांडेय ने संतों के[४], परशुराम चतुर्वेदी ने मीरा के[५] तथा ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास के[६] छन्दों का यत्किंचित् विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। पत्र-पत्रिकाओं में भी इस प्रकार के निबन्ध यदा-कदा दृष्टिगोचर हो जाते हैं। श्री चन्द्राकर शुक्ल का 'भारतेन्दु के छन्द'[७] तथा डॉ० जयभगवान गोयल का 'गुरु गोविन्द सिंह के काव्य में छन्दविधान'[८] इसी प्रकार के प्रयास हैं। सीता विम्ब्रा ने भी आदि ग्रंथ में संकलित पदों में प्रयुक्त छन्दों की यत्किंचित् चर्चा की है।[९] हमें तो सूरदास का एक भी पद ऐसा नहीं मिला, जिसमें कोई-न-कोई छन्द न हो; और जो छन्दःशास्त्रों से अनुमोदित नहीं हो। गायकों के पदों के समान गति-शैथिल्य, चरणों में असमानता तथा किसी विशेष चरण या चरणों का अत्यधिक विस्तार उनके किसी पद में नहीं पाये जाते। अवश्य उनमें ऐसे पद मिलते हैं, जिनके छन्दों का नामोल्लेख किसी प्राचीन-आधुनिक छन्दःशास्त्र में नहीं मिलता। किन्तु, उनमें छन्दों के नियम घटित होते हैं, क्योंकि वे या तो किसी प्रचलित छन्द में एकाध मात्रा घटा-बढ़ा कर बनाये गये हैं: या उनका निर्माण दो छन्दों के चरणों को एक इकाई मान कर किया

---

[१]सिद्ध साहित्य : धर्मवीर भारती, पृ० २९३-२९८।

[२]चंदवरदाई और उनका काव्य, पृ० २१५ से २८६।

[३]संतकाव्य : (भूमिका) परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९६।१००।

[४]मध्यकालीन संत साहित्य : रामखेलावन पाण्डेय, पृ० २४१।२४४।

[५]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६।५९।

[६]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७०।५८६।

[७]नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भारतेन्दु जन्मशती अंक। सं० २००७ वर्ष ५५, अंक १।२, पृ० ८०।

[८]'परिशोध'—गुरु गोविन्द सिंह विशेषांक अंक ५ (पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़)।

[९]विश्वभारती पत्रिका : अप्रैल-जून १९६६—आदिग्रंथ में संगीत : एक परिचयात्मक दृष्टि, पृ० ६०।

गया है। ऐसे छन्दों के लिए नामों की आवश्यकता थी। अतः उनको नूतन नाम दिये गये हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूरदास का सम्पूर्ण साहित्य छन्दोबद्ध है। आगे के पृष्ठों में हम सूरसाहित्य में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन करेंगे और यह बतलाने का प्रयास करेंगे कि सूरदास ने कितने छन्दों का उपयोग कर अपने साहित्य की सृष्टि की है। परिशिष्ठ (१) में छन्दों के नाम तथा जितने पदों में उनका प्रयोग हुआ है, उनकी संख्या दी गई है और परिशिष्ट (२) में यह बताया गया है कि अमुक छन्द सूर के किस ग्रंथ में और किस-किस पद में प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में यह प्रबन्ध सूर-पदों में 'छंदोविचिति' है।

# सूर-साहित्य और उसमें प्रयुक्त छन्द

जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में अनेक कालिदासों की विद्यमानता में[1] कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए दुस्कर हो गया है, उसी प्रकार अनेक सूरदासों की उपस्थिति में सूरदास की कृतियों को निश्चित करना भी कम कठिन नहीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार सूरदास कृत ग्रन्थों की संख्या १३ हैं :—

(१) गोवर्धन लीला बड़ी (२) दशम स्कंध टीका (३) नागलीला (४) पदसंग्रह (५) प्राणप्यारी (६) व्याहलो (७) भागवत (८) सूर पचीसी (९) सूरदास जी का पद (१०) सूरसागर (११) सूरसागर सार (१२) एकादशी माहात्म्य (१३) राम जन्म। इसके अतिरिक्त सूरदास के तीन ग्रंथ और कहे जाते हैं—(१) सूर सारावली (२) साहित्य लहरी और (३) नलदमयन्ती।[2] इनमें एक से ले कर ग्यारह तक स्वतंत्र रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि वे सूरसागर से ही संकलित कर लिये गये हैं। 'एकादशी माहात्म्य' और 'राम जन्म' किसी अन्य सूरदास की रचना है। 'नलदमयन्ती' भी किसी अन्य सूरदास का लिखा प्रेमाख्यान काव्य है। इस प्रकार सूरदास के निश्चित ग्रंथ तीन रह जाते हैं।[3]

इन तीन ग्रंथों में भी पहले सूरसागर ही एकमात्र सूरदास की मूल रचना माना जाता था। साहित्य लहरी और सूरसारावली सूरसागर के अंश मानी जाती थीं।[4] किन्तु, इधर विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सूरसारावली सूरसागर

---

[1]एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास त्रयी किमु।
—राजशेखर : सूक्तिमुक्तावली। बलदेव उपाध्याय कृत 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' से उद्धृत पृ० १४६।

[2]हिं० सा० का अलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा, पृ० ६१७-६२०।

[3]अष्ट छाप के कवि : प्रभु दयाल मीतल, पृ० ६६।

[4]हिं० सा० का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा, पृ ६२०।
सूरसाहित्य की भूमिका : रामरतन भटनागर, पृ० २१-२२।

की अनुक्रमणिका नहीं है, यह एक स्वतंत्र रचना है। अवश्य उसमें सूरसागर में कहे हुए विषय संक्षिप्त रूप से पृथक् शैली में लिखे गये हैं।[१] उसी प्रकार साहित्य लहरी भी एक पृथक् स्वतन्त्र ग्रंथ है, जिसमें केवल कूट पदों का संग्रह है।[२] सूरसागर से इसका सम्बन्ध इसलिए नहीं है कि सूरसागर का एक भी कूटपद इसमें नहीं आ पाया है।[३]

सूरसागर सर्वसम्मति से सूरदास का प्रामाणिक ग्रंथ माना गया है; किन्तु साहित्य-लहरी और सूरसारावली के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अनेक तर्कों और प्रमाणों के साथ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने ग्रंथ 'सूरदास' में यह सिद्ध करना चाहा है कि सूरसारावली और साहित्य लहरी अष्टछापी सूरदास की रचना नहीं है। ये दोनों ग्रंथ किसी अन्य सूरदास द्वारा रचित हैं। किन्तु, अनेक विद्वान इन दोनों ग्रंथों को भी अष्टछापी सूर कीं रचनामानते हैं।[४] सूरदास के ग्रंथों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर विचार करना हमारे विवेच्य विषय से सम्बन्ध नहीं रखता। अतः अधिकांश विद्वानों द्वारा प्रामाणिक माने हुए सूरदास के इन तीन ग्रंथों—सूरसारावली, साहित्य लहरी तथा सूरसागर-को ही सूर-साहित्य मान कर हमने इन तीनों ग्रंथों में प्रयुक्त छन्दों के विवेचन का प्रयास किया है।

सूरसारावली में आद्योपांत सार और सरसी की अर्द्धालियों का प्रयोग हुआ है। तीन अर्द्धालियाँ विष्णुपद की भी हैं।[५] सार और सरसी के प्रयोग का भी क्रम नहीं है। अनियमित रूप से दोनों की पंक्तियों का प्रयोग कवि करता चला गया है। सूरसागर और साहित्य लहरी दोनों की रचना पद-शैली में हुई है। दोनों के पद गेय हैं, पर सूरसागर के प्रायः समस्त पदों के ऊपर किसी न

---

[१]अष्टछाप के कवि : प्रभुदयाल मीतल, पृ० ९६।

[२]कूटकाव्य : एक अध्ययन : रामधन शर्मा, शास्त्री, पृ० ११७।
साहित्य लहरी : प्रभुदयाल मीतल, पृ० १४।

[३]साहित्य लहरी : प्रभुदयाल मीतल, पृ० १।

[४]डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० मुंशीराम शर्मा तथा प्रभुदयाल मीतल के ग्रंथ। अष्ट छाप और वल्लभ संप्रदाय, भारतीय साधना और सूर-साहित्य, साहित्य लहरी।

[५]सूरसारावली, पद, पृ० २४१, २४२, ९५८।

किसी राग का निर्देश है। साहित्य लहरी के पदों के साथ ऐसी बात नहीं।[1] इन दोनों ग्रंथों के पद किन-किन छन्दों में निबद्ध हैं, उन छन्दों के क्या लक्षण हैं, वे लक्षण इन पदों पर कहाँ तक घटित होते हैं, उन छन्दों की परम्परा कहाँ से प्रारम्भ होती है तथा उनका विकास कहाँ तक हो पाया है आदि बातों का विवेचन करना ही हमारे प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है। आगे की पंक्तियों में हम इन्हीं बातों पर विचार करेंगे।

सूरसाहित्य में प्रयुक्त छन्दों पर कुछ लिखने के पूर्व छन्दों के वर्ग तथा उनके वर्गीकरण के आधार पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्राचीन संस्कृत छन्दः शास्त्री पिंगल ने स्पष्ट रूप से छन्दों का विभाग नहीं किया है। किन्तु, द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में सूत्र-रूप में छन्द : (२।१) लिख कर वैदिक छन्दों का और चतुर्थ अध्याय में 'अथ लौकिकम्' (४।८) लिख कर लौकिक छन्दों का जो विवेचन उन्होंने किया है, उससे यह सहज ही कहा जा सकता है कि छन्दों के विभाजन में उन्हें केवल वैदिक और लौकिक आधार ही मान्य थे। जयदेव के साथ भी यही बात कही जा सकती है। जयदेवच्छन्दः के टीका-कार हर्षट ने 'छन्दः' सूत्र से प्रारम्भ होने वाले द्वितीय अध्याय के आदि में 'इदानीं वैदिक छन्दो व्याख्यायते' और 'लौकिकं च' से प्रारम्भ होने वाले चतुर्थ अध्याय के आदि में 'द्वितीयतृतीयाभ्यां वैदिकं छन्दोऽभिहितम्। इदानीं लौकिकं छन्दः आचेष्टे' लिख कर इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर किया है।[2] जयकीर्त्ति ने वैदिक छन्दों की चर्चा नहीं कर एक से ले कर २६ अक्षर वाले लौकिक वृत्तों के उक्तादि नाम बतला कर छन्दों को दो भागों में विभाजित किया है—(१) वृत्त और (२) जाति।

वृत्तं जातिरिति द्विधा पद्यं तत्तु चतुष्पदी।
गणबद्धं तथा वृत्तं जातिर्मात्रागणाश्रिता।[3]

इस 'जाति' नाम का उल्लेख पिंगल ने तो नहीं किया; किन्तु, उनके टीकाकार हलायुध भट्ट ने इसकी चर्चा 'वृत्तम्' (५।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए इस

---

[1]साहित्य लहरी : प्रभुदयाल मीतल तथा साहित्य लहरी-डॉ० मनमोहन गौतम।

[2]जयदेवच्छन्द :—द्वितीय और चतुर्थ अध्याय।

[3]छन्दोनुशासन : पृ० १।२०।

प्रकार की है—तेन प्राक्तनं लौकिकं छन्दोजातं 'जातिः' इत्युच्यते। इत उत्तरं च वृत्तम्।[१] केदार भट्ट ने छन्दों के इन दोनों विभागों को माना है—

**पिंगलादिभिराचार्यैर्यदुक्तं लौकिकं द्विधा।**
**मात्रावर्णविभेदेन छन्दस्तदिह कथ्यते।**[२]

इस प्रकार संस्कृत छन्दःशास्त्रियों के अनुसार छन्दों के तीन भेद हुए—(१) वैदिक छन्द (२) वर्णिक छन्द तथा (३) मात्रिक छन्द। कुछ लोग वर्णिक छन्द को वृत्त और मात्रिक छन्द को छन्द कहते हैं—मात्राक्षरसंख्ययानियतावाक् छन्दः, गलसमवेत स्वरूपेणानियतावाक् वृत्तम्। कुछ लोग वृत्त को छन्द का ही पर्यायवाची मानते हैं—वर्णावृत्तंवर्णाच्छन्दः मात्रावृत्तं मात्राच्छन्द इति। तथा चैषां मते छन्दोवृत्तशब्दयोः पर्यायवाचित्वम्।[३] कुछ शास्त्रकारों के मतानुसार लौकिक छन्द के तीन भेद हैं—(क) गणछन्द, जैसे आर्या, गीति आदि (ख) मात्रा छन्द जैसे—बैतालीय, चूलिका आदि (ग) अक्षरछन्द—मालिनी, मंदाक्रान्ता आदि।

**आदौ तावद्गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।**
**तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्।**[४]

प्राकृत छन्दःशास्त्री विरहांक ने छन्दों के (लौकिक छन्दों के) दो भेद माने हैं—मात्रावृत्त और वर्णवृत्त।

**जं जिअं लो ए दुविहं मत्तावित्तं च वण्ण वित्तं च।**[५]

और दोनों के लिए वृत्त शब्द का ही प्रयोग किया है। स्वयंभू ने वर्णवृत्त और मात्रावृत्त जैसे किसी नाम से छन्दों को अभिहित नहीं किया। वर्णवृत्तों के लक्षणों में भी उन्होंने पिंगल के आठ गणों को छोड़ कर पाँच मात्रा-गणों का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार वे सब को मात्रावृत्त मानने के ही पक्ष में थे। निस्सन्देह उनके मतानुसार प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में लिखित छन्द क्रमशः प्राकृत छन्द और अपभ्रंश छन्द—इन दो शीर्षकों में रक्खे जा सकते हैं।[६]

---

[१] पिंगल छन्दःशास्त्र पृ० ७१।
[२] वृत्तरत्नाकर १।४।
[३] पिंगल छन्दःशास्त्र—छन्दशास्त्रस्य भूमिका पृ० ४७।
[४] पिंगल छन्दःशास्त्र—हलायुध टीका पृ० ४६।
[५] वृत्तजाति समुच्चय १।३।
[६] स्वयंभूच्छन्दः की भूमिका—वेलंकर पृ० १० और १८।

हेमचन्द्र ने भी स्वयंभू के समान भाषा के आधार पर ही छन्दों का विभाजन किया और अपभ्रंश छन्दों को, जिनका प्रारम्भ उत्साह छन्द से होता है, एक सम्पूर्ण अध्याय प्रदान किया।[1] कवि दर्पणकार ने अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में ही छन्दों के तीन प्रकार बतलाये हैं—

**इह पाइ अ भासाए छंदं तु तिहा जहासत्थं।**

इसकी व्याख्या में टीकाकार ने लिखा है—तत्तु तिहत्ति त्रिधा। मात्रावर्णोभय भेदात्। मात्राच्छन्दो वर्णच्छन्द उभयच्छन्द इत्यर्थः। मात्राच्छन्दः कुंकुमादि। वर्णच्छन्द उक्तादि। उभयच्छन्दो वैतालीयादि।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि वैतालीय आदि जिन छन्दों के पाद-निर्माण में मात्रा तथा गण—दोनों का आधार ग्रहण किया जाता है, वे कवि-दर्पणकार के मतानुसार उभय छन्द हैं। प्राकृतपैंगल के दो परिच्छेदों में प्रथम में मात्रावृत्तों का और द्वितीय में वर्णवृत्तों का विवेचन किया गया है। इससे यह सहज ही पता लगता है कि प्राकृत पैंगलकार भी छन्दो के दो ही प्रकार मानते हैं। यों अपने ग्रंथ में छन्दोविभाजन की ओर उन्होंने कहीं संकेत नहीं किया है।

हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्री केशवदास ने छन्दों के दो प्रकार माने हैं—

**भाषा तीनहुँ केसुकवि, द्वैविध करत कवित्त।**
**वर्नवृत्ति है एक कौ, कला वृत्ति फिर मित्त।**[3]

भिखारीदास भी निम्न पंक्ति में—

**वृत्त औ जाति समुक्तक दंडक छन्द महोदधि तो तरि जानै।**[4]

छन्दों के दो भेद मानते दिखलाई पड़ते हैं। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' भी छन्दों के दो ही भेद मानते हैं—

**छन्द अहहिं द्वैविध जग माहीं।**
**मात्रिक वर्णिक सुनत सुहाहीं।**[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल पर्यन्त सभी

---

[1]कवि-दर्पण की भूमिका—वेलंकर पृ० ६।

[2]कविदर्पण १।१।

[3]केशव ग्रंथावली भाग २, छन्दमाला २।५ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

[4]भिखारीदास ग्रंथावली भाग १, छन्दार्णव १।८ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

[5]छन्दः प्रभाकर पृ० ५।

आचार्य वैदिक छन्द के अतिरिक्त दो प्रकार के ही छन्द मानते आये हैं। वैतालीय आदि छन्द भी जो, अंशतः वर्णवृत्त और अंशतः मात्रावृत्त हैं, उभय छन्द की संज्ञा से कुछ आचार्यों द्वारा अवश्य विभूषित किये गये। किन्तु, मात्राधार की प्रधानता (६+र ल ग, ८+र ल ग) के कारण ये भी आगे चल कर मात्रावृत्त में ही अन्तर्भुक्त कर लिये गये। पिंगल ने तो मात्रावृत्त के अन्तर्गत इन्हें परिगणित किया ही था—

**वैतालीयं द्विः स्वरा अयुक्पादे युग्वसवोऽन्ते ल्र्गः।**[1]

अब यदि वैदिक छन्द को भी इसमें सम्मिलित कर लें, तो छन्दों के तीन भेद हो जाते हैं। (१) वैदिक छन्द (२) वर्णिक छन्द और (३) मात्रिक छन्द। वैदिक छन्द अक्षर-गणना पर नियत रहते हैं अर्थात् उनमें अक्षरों के गुरु-लघु के क्रम का विशेष नियम नहीं है। इसीलिये कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में इसका लक्षण 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' किया है।[2] पाद-संख्या और अक्षर-संख्या के आधार पर ही गायत्री आदि छन्दों के नामकरण हुए हैं। अक्षर-संख्या के न्यून या अधिक होने पर भी छन्दोहानि नहीं होती।[3] उच्चारण के समय एक अक्षर को अनेक प्रकार से दो अक्षर बना कर उच्चारण करने का विधान सर्वानुक्रमणी में बताया गया है। जैसे प्रसिद्ध गायत्री छन्द 'तत् सवितु वरेण्यं' में एक अक्षर की कमी की पूर्त्ति 'वरेण्यं' का उच्चारण 'वरेणिअं' कर, कर ली जाती है। चूँकि वैदिक छन्दों के पादों का आधार मात्र अक्षर है, इसीलिये ये छन्द अक्षरवृत्त कहे जाते हैं।[4] वर्णिक छन्द का आधार भी अक्षर ही हैं, पर ये अक्षर लघु-गुरु-क्रम की निश्चित योजना के अनुसार होते हैं। गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तम्।[5] इसीलिये इसके पाद में जहाँ लघु-गुरु-क्रम से समान अक्षर होते हैं, वहाँ सभी चरणों में मात्राएँ भी समान रहती हैं। वैदिक छन्द से अन्तर दिखलाने के लिए ही शायद इसका नाम वर्णिक छन्द या वर्णवृत्त रखा गया। इसकी परिभाषा भानु ने यों दी है—

---

[1]पिंगल छन्दःशास्त्र ४।३२।

[2]आर्य संस्कृति के मूलाधार : बलदेव उपाध्याय पृ० ४१।

[3]पिंगल छन्दःशास्त्र—प्रस्तावना पृ० १।

[4]जयदामन (साधारण भूमिका), कविदर्पण की भूमिका : वेलंकर, पृ० ७, पृ० ४१।

[5]जयदेवच्छन्दः की टीका, पंचम अध्याय पृ० १६।

**क्रम अरु संख्या वरण की, चहुँ चरणनि सम जोय।**

**सोई वर्णिक वृत्त है, भाषत सब कवि लोय।**[1]

इस परिभाषा की दूसरी पंक्ति यदि इस प्रकार बदल दी जाय—

**सममत्ता जिसमें रहे, वर्णिक वृत्ता सोय।**

तो वर्णवृत्त की परिभाषा में और पूर्णता आ जाय, क्योंकि लघु-गुरु के क्रमबद्ध होने के कारण इसमें (मुक्तक वर्णवृत्त को छोड़ कर) मात्राएँ भी समान होती हैं। इसी मात्रा-समानता के कारण भिखारीदास ने अनेक वर्णिक छन्दों को मात्रिक छन्दों की सूची में डाल दिया। जिससे उनका छन्दार्णव छन्द के विद्यार्थियों के लिए एक भूलभुलैया हो गया। भिखारीदास ने इस पर जरा भी ध्यान नहीं दिया कि वर्णों की क्रमबद्धता और समानता के कारण ये मात्रिक छन्द नहीं कहे जा सकते। मात्रिक छन्द का आधार मात्राएँ हैं। 'जातिनियत-मात्रिका'[2] इसीलिये इसके प्रत्येक चरण में समान मात्राएँ होती हैं, अक्षरों की संख्या चाहे समान हो अथवा असमान। अक्षरों की संख्या समान होने पर भी इसके चरणों में लघु-गुरु का वह क्रम नहीं रहता, जो वर्णवृत्त में पाया जाता है। अवश्य उनमें निश्चित स्थान पर लघु-दीर्घ तथा विराम के अवस्थान अनिवार्य होते हैं, क्योंकि मात्रिक छन्द में केवल मात्राओं की संख्या निश्चित कर देना काफी नहीं है, लय-विधान के लिए उसमें स्वर के कुछ नियमों का पालन भी आवश्यक है।[3] भानु ने मात्रिक छन्द की परिभाषा यों दी है—

**मिलै एक सम मत्त जहँ, चहु चरणनि निरद्वंद।**

**वरणनि क्रम नहिं एक सम, सोई मात्रिक छन्द।**[4]

इसकी भी दूसरी पंक्ति यदि इस प्रकार बदल दी जाती—

**संख्या अरु क्रम वरण को नहिं सम, मात्रिक छन्द।**

तो परिभाषा में दीख पड़ने वाली अपूर्णता नहीं रह पाती, क्योंकि मात्रिक छन्दों में वर्णों की समानता आकस्मिक है।

प्राचीन तथा आधुनिक काल में ये ही तीन प्रकार के छन्द माने जाते

---

[1] छन्दःप्रभाकर पृ० ६।

[2] वृत्तरत्नाकर (केदार भट्ट) के सूत्र १।१३ की टीका पृ० २०।

[3] जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त : लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' पृ० ११४।

[4] छन्दःप्रभाकर पृ० ६।

थे। किन्तु, अत्याधुनिक काल के छन्दःशास्त्रियों ने इसकी संख्या में वृद्धि की है। डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने छन्द या वृत्त के चार भेद स्वीकार किये हैं—

(१) स्वर-वृत्त (वैदिक वृत्त)
(२) वर्णवृत्त
(३) मात्रावृत्त (लौकिक वृत्त)
(४) तालवृत्त [1]

प्रश्न यह उठता है कि वैदिक अक्षरवृत्त को स्वरवृत्त मानना कहाँ तक उचित है। वैदिक भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अक्षर (स्वर) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होता है। यथा—

**स्वरः उच्चः स्वरोनीचः स्वरः स्वरित एव च**
**स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्।**[2]

वैदिक छन्दों में भी यही स्थिति है। अतः उच्च, नीच और समाहार रूप में उच्चरित स्वर को ध्यान में रख कर संभवतः डॉ० 'महेश' ने स्वरवृत्त नामकरण किया होगा। परन्तु विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि अक्षर वृत्तों में उदात्त-अनुदात्त की दृष्टि से न तो कोई परिवर्त्तन होता है और न उनका छन्द का निर्णय करते हुए विचार ही किया जाता है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन तीनों को स्वर अवश्य कहा है—उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वरा।[3] ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित सभी स्वर के धर्म हैं। ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्वमुदात्तत्वमनुदात्तत्वं स्वरितत्वमिति स्वर धर्माः।[4] किंतु ये तीनों वहाँ अक्षरों के आश्रयीभूत कहे गये हैं—अक्षराश्रयाः।[5] 'एते स्वराः' सूत्र की व्याख्या में उवट ने इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि ये उदात्त आदि अक्षरों पर ही स्थित हैं। उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचया एष्वक्षरेषु स्थिताः।[6] यही नहीं, जितने स्वर हैं, चाहे वे व्यंजनयुक्त हों, अनु-

---

[1]The Historical Development of Medieval Hindi Prosody. Chapter II Page 18.

[2]ऋग्वेद प्राति शाख्य के १।२२ सूत्र की टीका—पृ० ३३।

[3]ऋग्वेद प्राति शाख्य के ३।१।

[4]ऋग्वेद प्राति शाख्य के १।५ की टीका।

[5]ऋग्वेद प्राति शाख्य के ३।२।

[6]ऋग्वेद प्राति शाख्य के १।३ की टीका।

स्वरयुक्त हों अथवा शुद्ध हों, सभी अक्षर कहे जाते हैं। 'सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। इति स्वरस्याक्षरसंज्ञा विधास्यति।'[1] जब उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये तीनों अक्षर पर स्थित हैं, तब अक्षर-परिमाण (यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः) वैदिक छन्द को स्वरवृत्त नाम देना कथमपि युक्तिसंगत नहीं। इसके अतिरिक्त वैदिक छन्द ही नहीं, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य स्वराश्रित है। युजर्वेद के गद्य का पाठ भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के आधार पर होता है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के निम्नांकित सूत्र तथा उसकी टीका से इस बात का स्पष्ट पता लगता है—

**अतोऽप्यृग्यजुषां च बृहणं**
**पदैः स्वरैश्चाध्ययनं तथा त्रिभिः।**[2]

**यथा पदाध्ययेन चोदात्तानुदात्तस्वरितैऋग्यजुषां धारणं क्रियते।**

ऐसी दशा में तो वह गद्य भी स्वरवृत्त की संज्ञा का अधिकारी हो जायगा। फिर यज्ञ में वेद पाठ करने के समय स्वर का प्रयोग नहीं भी होता था, पाणिनि के निम्न सूत्र से इसका स्पष्ट संकेत मिलता है—

**यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसमासु।**[3]

इस प्रकार वैदिक छन्द का अक्षरवृत्त नाम ही सार्थक है।

तालवृत्त का उल्लेख किसी प्राचीन छन्दःशास्त्री ने नहीं किया है, जैसा हम ऊपर देख आये हैं। इसका सर्वप्रथम उल्लेख, जहाँ तक हम जानते हैं, डॉ० वेलंकर ने स्वयंभूच्छन्दः, वृत्तजाति-समुच्चय, कविदर्पण आदि ग्रंथों की भूमिका में किया है। अपभ्रंश काव्यों के अनुशीलन के उपरान्त वे इस परिणाम पर आये कि अपभ्रंश काव्यों में तालछन्द का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है।[4] उनके पश्चात् इसका उल्लेख डॉ० 'महेश', डॉ० शिवनन्दन प्रसाद तथा डॉ० भोला शंकर व्यास ने भी किया है। यह तालच्छन्द है क्या!? तालच्छन्द कोई नया छन्द नहीं है। जो छन्द तबला आदि किसी वाद्य यंत्र की संगति में ताल के साथ गाये जा सकते हैं, वे ही तालच्छन्द के नाम से भूषित कर दिये गये हैं। भरत ने 'पदं सतालपतनात्मकम्' लिख कर छन्द की इस विशेषता की ओर

---

[1]ऋग्वेद प्राति शाख्य के १।१६ की टीका।

[2]ऋग्वेद प्राति शाख्य के ११।७१ सूत्र।

[3]अष्टाध्यायी (स्वर-प्रक्रिया) १।२।३४।

[4]जयदामन पृ० ६।

बहुत पूर्व ही इंगित कर दिया था; किंतु उन्होंने ऐसे छन्द को तालच्छन्द नहीं कहा। ऐसे छन्द मात्रिक तो होते ही हैं, वर्णिक भी हो सकते हैं।[1] इन छन्दों की विशेषता यह है कि ये छन्द तालगण और तालयति से अनुशासित होते हैं। 'ताल से तात्पर्य किसी विशेष छन्द के चरण में एक नियत काल-सीमा के आधार पर, किन्हीं निश्चित क्षणों पर विश्राम लेना है, जिसकी सूचना उस मात्रा पर जोर दे कर (ताल दे कर) की जाती है। यह यति-सूचक ताल, स्वर के उदात्तीकरण के साथ-ही-साथ 'करताल' (हाथ की ताल) के द्वारा अथवा तबले जैसे किसी वाद्य यंत्र के द्वारा दी जाती है।[2] आर्या आदि मात्रिक छन्दों में मात्रिक गणों की व्यवस्था है, किन्तु उन मात्रिक गणों से इस तालगण में यह अंतर है कि उसका संबंध वर्णमात्रा से है और इसका कालमात्रा से। वर्ण-मात्रा में किसी शब्द का वैसा ही उच्चारण अपेक्षित है, जिस रूप में वह लिखित है। काल-मात्रा में इसकी आवश्यकता नहीं। यहाँ दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण हो सकता है। कभी-कभी किसी ह्रस्व अथवा दीर्घ का प्लुत उच्चारण भी होता है।[3] इसी प्रकार मात्रिक छन्दों की अन्तर्यति और तालयति में भी अन्तर है। अन्तर्यति छन्दःशास्त्र के अनुसार नियत स्थान पर होती है, जो पाठक की जिह्वा को बीच में विश्राम देती है, किन्तु तालयति का नियमन संगीतात्मक विश्राम के द्वारा किया जाता है।[4] इतनी बातों के जान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तालवृत्त का सीधा संबंध संगीत से है। जो मात्रिक छन्द संगीत की इन सभी शर्त्तों को पूरी कर देता है, वह तालच्छन्द की कोटि में आ जाता है। अपभ्रंश काल में अवश्य ऐसे कुछ छन्द हैं, जो संगीत की इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ हैं।[5] किंतु, अधिकांश छन्दों में तालों का नियमन पाया जाता है। तालवृत्त की प्रत्येक पंक्ति तालगणों में विभक्त होती है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वर्ण वृत्त

---

[1]प्रा० पैंगलम् भाग ४, टीकाकार डॉ० भोला शंकर व्यास, पृ० ३४५।
मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ११५।

[2]प्रा० पैंगलम् भाग ४—डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० ३३८।

[3]मात्रिक छन्दों का विकास : शिवनन्दन प्रसाद, पृ० १४४।

[4]प्रा० पैंगलम् भाग ४—भोलाशंकर व्यास, पृ० ३३८।

[5]ऐसे भी अपभ्रंश छन्द मिलते हैं, जो शुद्ध मात्रा-भार पर ही टिके हुए हैं। प्रा० पै०। डॉ० व्यास। पृ० ३३७।

की पंक्ति अक्षर-गणों में और मात्रिक छन्द की पंक्ति मात्रिक गणों में विभक्त होती है। मात्रिक छन्द के मात्रागण की तरह तालच्छन्द का प्रत्येक तालगण दूसरे से पृथक् रखा जाता है।[1] अर्थात् पूर्ववर्त्ती तालगण की अन्तिम मात्रा परवर्त्ती तालगण की प्रथम मात्रा से मिल कर गुरु वर्ण के रूप में नहीं रह सकती। अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक कहे जाने वाले समस्त छन्दों में इस ताल-गण पर बराबर ध्यान दिया है। किंतु, हिन्दी के कवियों ने इस ताल-गण की व्यवस्था को बिलकुल विस्मृत कर दिया। इसीलिये तुलसी की निम्न अद्र्धाली में—

**मुनि तव चरन देखि कह राऊ।**
**कहि न सकौ निज पुन्य प्रभाऊ।**

पहली पंक्ति मात्रिक छन्द की और दूसरी तालच्छन्द की कही जायगी।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश में जो मात्रिक छन्द तालच्छन्द की विशेषता को धारण किये हुए थे, हिन्दी में आ कर वे उसे खो बैठे। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने मात्रिक छन्द को तालच्छन्द का विकसित रूप माना—

'लोक-संगीत से अपरिचित लोगों के हाथों गुजरने पर ये तालच्छन्द भी अपना वास्तविक रूप खो कर महज मात्रिक छन्द बन बैठे।[3]

'शिक्षित रचयिताओं ने जब ताल-छन्दों की दिशा में हाथ अजमाया, तब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक सर्वथा नवीन छन्दःप्रणाली उद्भूत हुई, जिसे मात्रावृत्त कहते हैं।'[4]

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपभ्रंश काव्यों में इस तालच्छन्द का जब इतना प्रचलन था, तो अपभ्रंश के किसी भी छन्दःशास्त्री ने ताल-गण का उल्लेख क्यों नहीं किया? यह केवल छन्दों के वास्तविक गान और संगीत की पुस्तकों से ही क्यों जाना जाता रहा।[5] प्रा० पै० से ले कर भिखारीदास

---

[1]कविदर्पण की भूमिका—वेलंकर पृ० ३१।
मात्रिक छन्दों का विकास—डॉ० शिवनन्दन पृ० १४४।
प्रा० पै० भाग ४—डॉ० भोला शंकर पृ० ३४०।
[2]प्रा० पै० भाग ४—डॉ० भोला शंकर, पृ० ३४०।
[3]प्रा० पै० भाग ४—डॉ० भोला शंकर, पृ० ३३७।
[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन पृ० १४२।
[5]कविदर्पण की भूमिका : वेलंकर, पृ० ३१।

तक कहीं भी किसी छन्दःशास्त्री ने इन छन्दों की ताल-व्यवस्था का संकेत क्यों नहीं किया।[१] किसी ने इन छन्दों को तालच्छन्द की संज्ञा क्यों नहीं दी ? हमारे विचार से इसलिये नहीं दी कि ये वस्तुतः मात्राधार पर चलने वाले मात्रिक छन्द हैं। जब अडिल्ला, पादाकुलक, पज्झटिका, हाकलि आदि अनेक मात्रिक तथा वितान, भुजंगप्रयात, मालिनी आदि वर्णिक छन्द ताल के साथ मजे से गाये जा सकते हैं,[२] तो इन छन्दों को मात्रिक, वर्णिक अथवा तालच्छन्द क्या कहें ? डॉ० महेश ने तो बिलकुल स्पष्ट कहा है कि बहुधा एक ही छन्द मात्रावृत्त और तालवृत्त दोनों होते हैं।[३] फिर ताल-प्रकरण में पद को तालवृत्त का शुद्ध रूप मान कर पदों में प्रयुक्त सुगति से लेकर विष्णुपद तक जिन २७ छन्दों का उल्लेख उन्होंने किया है, वे सब के सब लक्षणकारों द्वारा मात्रिक छन्द माने गये हैं। सबसे आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने इन २७ छन्दों का उल्लेख यह कह कर किया है कि दोहा, चौपाई आदि के अतिरिक्त इन छन्दों का प्रयोग भी कवि लोग पदों के निर्माण में किया करते हैं।[४] इन छन्दों में विष्णुपद, लीला, कज्जल, चांद्रायण आदि कतिपय छन्द ही ऐसे हैं, जिनका व्यवहार पदों में विशेष रूप से हुआ है। शेष छन्दों का प्रयोग छन्दक (टेक) रूप में तो हुआ है, पर सम्पद रूप में (एकाध को छोड़ कर) प्रायः नहीं हुआ है। सुगति (७ मात्राएँ) निधि (६ मात्राएँ) दीप (१० मात्राएँ) भव (११ मात्राएँ) आदि छोटे छन्दों में किस कवि द्वारा किस पद की रचना हुई है, हमे विदित नहीं। अवश्य विद्यापति ने ऐसे कई छोटे छन्दों के सम्मिश्रण से

---

[१] प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० भोलाशंकर, पृ० ३४६।

[२] प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० भोलाशंकर पृ० ३३८, ३४५, ३४६।

[३] If a metre is found both as matra and tala vrtta which is usual case an astrisk has been put against the name.
—The Historical Development of Medieval Hindi Prosody.

Chapter II P. 23.

[४] The Historical Development of Medieval Hindi Prosody.

Chapter II P. 64-67.

एक पद की रचना की है ।[१] इस प्रकार डॉ० साहब ने मात्रिक छन्दों को ताल-च्छन्द की सूची में डाल कर तथा सुगति आदि छन्दों से पद-निर्माण की बात लिख कर पाठकों को भ्रम में डाल दिया है—उनकी उलझन को बेतरह बढ़ा दिया है। एक व्यक्ति सदा एक ही रहेगा, दूसरा नहीं हो सकता। ऐसी दशा में ये छन्द या तो मात्रावृत्त होंगे या ताल-वृत्त।

मात्राधार पर चलने वाले ये सभी छन्द वस्तुतः मात्रिक छन्द हैं। इनमें मात्रा-गणों का कुछ ऐसा नियमन है कि इनका उपयोग संगीत में भी सम्यक् रूपेण हो जाता है, संगीत की ताल पर ये छन्द अच्छी तरह गाये जाते हैं। अपभ्रंश काल में, संभव है, समाज में तबला आदि वाद्य-यंत्रों के साथ इन छन्दों का गायन प्रचलित हो, इसीलिये कवियों ने भी ऐसे छन्दों की रचना की, जिनमें ताल-यति टूट न जाय। मध्यकाल में छन्दों का गायन समाज से हट कर एकांत साधना का विषय बन गया। भक्त कवि रागरागनियों में छन्दों को गा कर अपनी आत्मा को संतोष देने लगे। इसीलिये ताल के नियमन पर विशेष ध्यान नहीं देने के कारण ताल-यति कहीं-कहीं टूटती नजर आती है। यदि ताल-यति तोड़ कर तालच्छन्द को मात्रिक रूप प्रदान करना असंगीतज्ञ कवियों का काम होता, तो संगीत के मर्मज्ञ सूरदास के पदों में इस प्रकार की बात नहीं होती। कहना नहीं होगा कि सूरदास के अनेक पदों में तालयति की अवहेलना हुई है। यथा—

> **कैसे कूल-मूल आस्रित कौ तजे आपु अकुलाइ ।[२]**
> **लालच लागि कोटि देवन के, फिरत कपाटनि खोलत ।[३]**
> **हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहिं आज सबारे ।[४]**
> **खेलत रास-रंग भरि छाँड़ी, लै जु गए इक बाल ।[५]**

उपरिलिखित सभी पंक्तियों में ८वीं तथा ९वीं मात्राओं के मिल कर गुरु हो जाने के कारण ताल-यति की स्पष्ट अवहेलना हुई है। इस प्रकार हमारे विचार

---

[१] **विद्यापति की पदावली, पद १८६ ।**
[२] **सूरसागर पद १८१ ।**
[३] **सूरसागर पद १७७ ।**
[४] **सूरसागर पद १०३१ ।**
[५] **सूरसागर पद १७४२ ।**

से छन्दों के भेदों में तालच्छन्द जैसा कोई भेद मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं। ये वस्तुतः मात्रिक छन्द ही हैं। हाँ, ऐसे छन्दों में संगीत के अनुरूप तालों की सुन्दर योजना है। इसीलिये इन्हें तालात्मक मात्रिक छन्द कह सकते हैं। अतः मात्रिक छन्द के दो भेद हुए—(क) तालात्मक मात्रिक छन्द और (ख) अतालात्मक मात्रिक छन्द। वर्णवृत्तों को इस प्रकार दो रूपों में विभक्त करने की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि लघु-गुरु की नियत स्थिति के कारण वहाँ ताल-यति के अमात्रिक छन्दों के समान टूटने की गुंजाइश ही नहीं है।

आधुनिक प्रयोगों के आधार पर आधुनिक छन्द: शास्त्रियों ने एक नये छन्दो-भेद की उद्भावना की है। इस नये भेद का नाम है लयात्मक छन्द।[१] लयात्मक नाम कुछ इसलिए नहीं जँचता कि लय तो समस्त छन्दों में है। फिर किसी प्रकार के छन्दों को लयात्मक संज्ञा क्यों दी जाय? यदि 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार यह कहा जाय कि ऐसे छन्दों में लय ही प्रधान आधार है, मात्रा या वर्ण की समानता से इनका कोई संबंध नहीं है। इसीलिये ये लयात्मक छन्द कहे गये, तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती। क्योंकि लयात्मक छन्द के निम्न उदाहरण में—

**अचल पलकों में सुछवि उतार** — १६ मा०
**पान करता है रूप अपार** — १६ मा०
**पिघल पड़ते हैं प्राण** — १२ मा०
**उबल चलती है दृग जल-धार** — १६ मा०।[२]

में १६ मात्रा वाली तीनों पंक्तियाँ शृंगार छन्द की हैं। १२ मात्रा वाली पंक्ति शृंगार से अंतिम चार मात्राएँ निकाल कर बना ली गई है, जिसको नये नाम की आवश्यकता है। डॉ० शुक्ल ने शृंगार और ऐसे चरणों के योग से बने छन्द को नन्दन नाम दिया है।[३] हमारे विचार से १२ मात्रा वाले चरण का ही नाम नन्दन होना चाहिये। इस प्रकार शृंगार और नन्दन के चरणों के योग से बना

---

[१]नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय, पृ० ३८।
पिंगल पीयूष : परमानन्द शास्त्री, पृ० २३३।
[२]नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय पृ० ३८।
पिंगल पीयूष : परमानन्द शास्त्री पृ० २३३।
[३]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३०१।

हुआ यह अनुच्छेद मिश्र छन्द का उदाहरण हो जायगा। इसी प्रकार निम्न उदाहरण में—

| | |
|---|---|
| देखता हूँ जब उपवन | १३ मा० |
| पियालों में फूलों के | १३ मा० |
| प्रिये, भर कर अपना यौवन | १५ मा० |
| पिलाता है मधुकर को | १३ मा० |
| नवोढ़ा बाल लहर | ११ मा० |
| अचानक उपकूलों के | १३ मा० |
| प्रसूनों के ढिग रुक कर | १३ मा० |
| सरकती है सत्वर | ११ मा० |
| अकेली आकुलता से प्राण | १६ मा० |
| कहीं तब करती मृदु आघात | १६ मा० |
| सिहर उठता हैं गात | १२ मा० |
| ठहर जाते हैं पग अज्ञात[1] | १६ मा० |

१६ वाली पंक्ति श्रृंगार की, १५ वाली गोरी की तथा १२ वाली नंदन की है। शेष १३ और ११ वाली श्रृंगार के अंतिम अंश को घटा कर बना ली गई हैं। कहा जा सकता है कि इन सभी पंक्तिों में मात्राओं की समानता नहीं है, लय श्रृंगार छन्द की है। इसलिये एकमात्र लय पर आधारित ये पंक्तियाँ लयात्मक छन्द कही गई हैं। किन्तु, इस प्रकार की लयात्मक पंक्तियाँ तो अन्य छन्दों के (हरिगीतिका-गीतिका-रूपमाला, पद्धरि-मधुमार आदि) लयाधार पर भी लिखी गई हैं, जिनकी लय से इनका कोई साम्य नहीं। इस प्रकार प्रत्येक लयात्मक छन्द अपने ढंग का होगा और कोई भी पद्य-रचयिता उस मार्ग पर चल कर छन्दो-रचना में समर्थ नहीं हो सकेगा, जब तक सब के लक्षण पृथक्-पृथक् न बता दिये जायँ। अतः हम इसे लयात्मक छन्द नहीं कह कर 'श्रृंगार छन्द का स्वच्छन्द प्रयोग' कहना इसलिये अधिक समीचीन समझते हैं कि श्रृंगार के उल्लेख से पाठकों को छन्द की गति का एक आधार मिल जाय। इसे लयात्मक या मुक्त छन्द कहने से उनके हृदय में छन्द के संबंध में कोई भावना नहीं जग सकेगी। निराला की 'तोड़ती पत्थर' कविता को मुक्त छन्द बता देने से पाठक

[1]नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय पृ० १०३।
पिंगल पीयूष : परमानन्द शास्त्री पृ० २३२।

उसकी गति के संबंध में क्या धारणा (Conception) बना सकेंगे ? यदि कहा जाय कि उसमें गीता-रूपमाला का स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है तो पाठकों को छान्दसीय अनुभूति होने लगेगी। निराला की उक्त कविता में रूपमाला की दो-तीन पंक्तियाँ तो पूरी-पूरी मिलती हैं। जैसे—

**पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार।**

कुछ पंक्तियों में १४ (७+७) वाला अंश है। किन्तु, अनेक पंक्तियों में पूर्ण सप्तक नहीं, सप्तकांश भी आया है। जैसे—

**गर्द चिनगी | आ गई** ७+५
**वह तोड़ती पत्थर** ७+४
**ढुलक माथे से गिरे सीकर** ७+७+२

इसीलिये यह छन्द मुक्त-सा दिखलाई पड़ता है। और इसीलिये यह कुछ दूर तक मुक्त छन्द कहा जा सकता है। किन्तु, उपरिलिखित लयात्मक छन्द के उदाहरण-रूप में उद्धृत पंत की कविता में आद्योपांत तुक का आग्रह तो है ही, 'तोड़ती पत्थर' की-सी मुक्तता भी नहीं दिखलाई पड़ती। अतः यह मुक्त छन्द का उदाहरण भी नहीं मानी जा सकती। निराला ने भी इसे मुक्त या स्वच्छन्द छन्द नहीं माना है।[1] इसी प्रकार दिनकर की निम्नांकित पंक्तियों—

**वह कौन रोता है वहाँ—**
**इतिहास के अध्याय पर,**
**जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है**
**प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का;**
**जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है;**
**जो आप तो लड़ता नहीं,**
**कटवा किशोरों को मगर,**
**आश्वस्त होकर सोचता,**
**'शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की ?'**[2]

को भी मुक्त छन्द मानना ठीक नहीं; क्योंकि इसमें यहाँ से वहाँ तक हरिगीतिका के पूर्ण सप्तक का ('तोड़ती पत्थर' की तरह सप्तकांश का नहीं) प्रयोग हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस कविता में प्रचलित छन्द का आधार

---

[1] **'परिमल'—भूमिका पृ० २-३।**
[2] **कुरुक्षेत्र—प्रथम सर्ग पृ० १।**

जितना ही क्षीण होगा, वह उतना ही मुक्त छन्द कहलाने की अधिकारिणी हो सकेगी। क्योंकि 'छन्द का नियम-राहित्य ही उसकी मुक्ति है'।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक काल से ले कर आज तक के हिन्दी साहित्य में छन्द के जितने प्रकार मिलते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

| | | |
|---|---|---|
| (१) अक्षरवृत्त— | | वैदिक साहित्य में प्रयुक्त |
| (२) वर्णवृत्त | | लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन एवं आधुनिक हिन्दी में प्रयुक्त |
| (३) मात्रावृत्त | (तालात्मक अतालात्मक) | |
| (४) मुक्तवृत्त— | | आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त। |

अक्षरवृत्त का संबंध वैदिक साहित्य से है। अतः उसके भेदोपभेद की चर्चा करना अप्रासंगिक है। वर्णवृत्त और मात्रावृत का प्रयोग प्राचीन हिन्दी साहित्य में हुआ है, इसलिये इन दोनों के भेदों की चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

वर्णवृत्त के तीन भेद होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम।[2]

**सम**—जिस पद्य के चारों चरण तुल्य लक्षण वाले हों, उसे समवृत्त कहते हैं।

**अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षण लक्षिता**
**तच्छन्दःशास्त्रतत्वज्ञाः समं वृत्तं प्रचक्षते।**[3]

**अर्द्धसम**—जिस पद्य का प्रथम चरण तृतीय चरण के तुल्य हो तथा द्वितीय चरण चतुर्थ चरण के तुल्य हो, उसे अर्द्धसम कहते हैं।

**प्रथमाङ्घ्रिसमोयस्य तृतीयश्चरणो भवेत्।**
**द्वितीयस्तुर्यवद्वृत्तं तदर्धसममुच्यते।**[4]

**विषम**—जो पद्य चारों चरणों में तुल्य लक्षण वाला न हो, भिन्न-भिन्न लक्षण वाला हो, उसे विषम वृत्त कहते हैं।

**यस्य पादचतुष्केपि लक्ष्म भिन्न परस्परम्।**
**तदाहुर्विषमं वृत्तं छन्दः शास्त्रविशारदाः।**[5]

---

[1]परिमल—भूमिका पृ० १३।

[2]वृत्तम्। सममर्द्धसमविषमं च। —जयदेवच्छन्दः ५।१-२।

वृत्तं सममर्द्ध विषमं। छन्दोनुशासन—जयकीर्त्तिः १।२१।

[3]वृत्तरत्नाकर : केदार १।१३।

[4]वृत्तरत्नाकर : केदार १।१४।

[5]वृत्तरत्नाकर : केदार १।१५।

जिस सम छन्द के प्रत्येक पाद में वर्ण संख्या २६ से अधिक होती है, उसे दण्डक कहते हैं—

**तदूर्ध्वं चण्डवृष्टादि दण्डकाः परिकीर्तिताः ।**[1]

संस्कृत में दण्डकों में भी लघु-गुरु की नियत स्थिति होती है; किन्तु हिन्दी में ऐसे दण्डकों का विशेष प्रचलन है, जिनमें लघु-गुरु की क्रमव्यवस्था नहीं होती, जो केवल वर्णों के आधार पर चलते हैं। अतः भानु ने दण्डक के दो भेद किये हैं—(क) साधारण दण्डक, अर्थात् संस्कृत के गणात्मक दण्डक और (ख) मुक्तक दण्डक।

**दण्डक छब्बिस ते अधिक, साधारण गण-संग ।**
**मुक्तक गिनती बरण की, कहुँ लघु-गुरु प्रसंग ।**[2]

मात्रावृत्त के भी तीन भेद होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। मात्रिक सम, अर्द्धसम और विषम के भी वे ही लक्षण हैं, जो वर्णिक सम, अर्द्धसम और विषम के हैं। जिस प्रकार २६ से अधिक वर्ण वाले छन्द दण्डक कहे जाते हैं, उसी प्रकार ३२ से अधिक मात्रा वाले छन्द को मात्रिक दण्डक कहते हैं। ऐसे छन्दों को दण्डक—दण्डकर्ता कहने का प्रयोजन यह है कि इनके कहने में मनुष्य को अधिक काल तक श्वास सम्भालना पड़ता है।[3] निम्नांकित चित्र (Chart) छन्दों के विभाजन को समझाने में सहायक सिद्ध होगा।

---
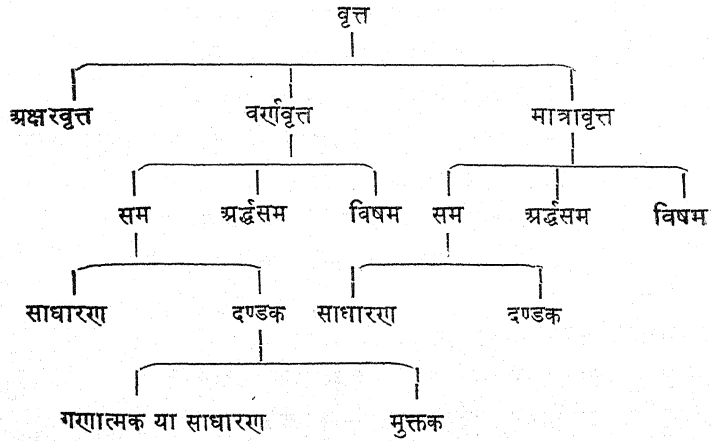
[1]वृत्तरत्नाकर : केदार १।१७।  [2]छन्द : प्रभाकर पृ० २०६।

[3]छन्द : प्रभाकर पृ० ७८।

इतने विवेचन के बाद अब हम यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि सूर-साहित्य में किन-किन छन्दोभेदों का प्रयोग हुआ है। वर्णवृत्त गणात्मक होता है। तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं। पिंगल ने ऐसे आठ गणों की उद्भावना की—मगण (SSS) यगण (ISS) रगण (SIS) सगण (IIS) तगण (SSI) जगण (ISI) भगण (SII) और नगण (III) इन गणों में बद्ध वर्ण-वृत्त संस्कृत जैसी संश्लेषणात्मक भाषा के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ; किन्तु हिन्दी जैसी विश्लेषणात्मक भाषा की प्रकृति के लिए यह गणबद्धता अनुकूल नहीं पड़ी। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में इसका प्रयोग बहुत कम हुआ। प्राचीन कवियों में चन्दवरदाई और केशवदास ने निस्संदेह इसका प्रयोग प्रचुरता से किया है। इन दोनों में भी समवृत्त ही पाये जाते हैं। यद्यपि संस्कृत साहित्य के भी अधिकांश छन्द समवृत्त ही हैं,[1] किन्तु वहाँ अर्द्धसम वृत्त जैसे अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा, हरिणीप्लुता, वियोगिनी तथा विषमवृत्त उद्गता का भी प्रयोग हुआ है।[1] अश्वघोष ने तो एक पूरे सर्ग की रचना उद्गता छन्द में ही की है। अश्वघोष के बाद भारवि, माघ, धनंजय, आदि कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है। अर्द्धसम वृत्त वियोगिनी, मालभारिणी का भी सर्गान्त प्रयोग अश्वघोष ने किया है।[2] हिन्दी के आधुनिक साहित्य में समवर्णवृत्त का ही प्रयोग किया गया, अर्द्धसम और विषम वर्णवृत्त का नहीं। सूरसाहित्य में इन सारे छन्दों में किसी का पता नहीं। वस्तुतः सूरदास ने कोई गणात्मक छन्द लिखा ही नहीं। वर्णिक दण्डक का प्रयोग तो संस्कृत साहित्य में ही नहीं के बराबर है, फिर हिन्दी में उसका प्रयोग कहाँ से होता? निस्संदेह केशवदास ने अनंगशेखर जैसे एकाध दण्डक का प्रयोग किया है।[3] हिन्दी में मुक्तक दण्डक का ही विशेष प्रचलन रहा, और सूरसागर में भी इसकी संख्या नगण्य नहीं कही जा सकती। वस्तुतः सूर-साहित्य में वर्णवृत्त के रूप में केवल मुक्तक दण्डक का ही प्रयोग हुआ है।

सूर साहित्य में पाये जाने वाले छन्दों में सबसे अधिक संख्या सम मात्रिक छन्दों की है। मात्रिक छन्दों के दो रूप हमने स्थिर किये हैं—(क) तालात्मक और (ख) अतालात्मक। सूरसाहित्य में ये दोनों ही रूप उपलब्ध

---

[1] प्रा० पैं० भाग ४—भोलाशंकर व्यास पृ० ३३२।

[2] जयदामन—वेलंकर पृ० २२, २३।

[3] रामचंद्रिका ६।३६।

होते हैं। अधिकांश पंक्तियों में तालयति ठीक है—पूर्ववर्त्ती तालगण परवर्त्ती तालगण से पृथक् रखा गया है। किन्तु, ऐसी पंक्तियों का भी अभाव नहीं है, जिनमें पूर्ववर्त्ती तालगण की अंतिम मात्रा परवर्त्ती तालगण की प्रथम मात्रा से मिल कर गुरु हो गई है। यथा—

**बन असोक में जनक-सुता को रावन राख्यौ जाइ।**
**भूखऽरु प्यास, नींद नहिं आवै, गई बहुत मुरझाइ।**[1]

यहाँ 'में' और 'ज' की क्रमशः आठवीं और नवीं मात्रा पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु, दूसरी पंक्ति में 'नींद' के 'नीं' में ८वीं और ९वीं दोनों मात्राएँ संयुक्त हैं। अतः पहली पंक्ति में तालखण्डों का विभाजन ठीक है, दूसरी में नहीं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। बात वस्तुतः यह है कि अपभ्रंश की ताल-यति-व्यवस्था अपभ्रंश काव्य में ही धीरे-धीरे शिथिल हो चली थी। प्राकृत पैंगलम् से इसका स्पष्ट आभास मिलने लगता है।[2] हिन्दी में आ कर तो अपभ्रंश काव्य की तालयति एक प्रकार से समाप्त हो गयी। कवियों ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया। जहाँ ऐसी यति पाई जाती है, वहाँ वह आप-ही-आप आ गई है। ऐसी दशा में सूरसाहित्य क्या, सम्पूर्ण पद-साहित्य में प्रयुक्त छन्दों की तालात्मकता पर ध्यान नहीं दे कर उन्हें सीधे मात्रिक छन्द मान लेना ही युक्तिसंगत है। उनका तालात्मक रूप अपभ्रंश साहित्य में ही सुरक्षित था।

अर्द्धसम मात्रिक छन्दों में दोहा, सोरठा तथा बरवै का ही हिन्दी साहित्य में विशेष प्रचलन रहा। घत्ता और घत्तानन्द का प्रयोग अपभ्रंश काव्यों तक ही सीमित रहा। सूरसाहित्य में बरवै का प्रयोग नहीं मिलता। दोहे का प्रचुर प्रयोग हुआ है। दो-चार सोरठे भी मिल जाते हैं।

विषम छन्द के लक्षणानुसार विषम मात्रिक छन्दों में आर्या (१२-१८-१२-१५) और उपगीति (१२-१५-१२-१८) तो सहज ही आ सकती हैं। किन्तु, इनका उल्लेख भानु ने एक अलग 'आर्याप्रकरण' में किया है।[3] विषम मात्रिक प्रकरण में उल्लिखित लक्ष्मी, गाहिनी, सिंहनी, मनोहर[4] का प्रयोग

---

[1]सूरसागर पद ५०५।
[2]प्रा० पैं० भाग ४ : भोलाशंकर व्यास पृ० ३४८।
[3]छन्द : प्रभाकर, पृ० १०१।
[4]छन्द : प्रभाकर, पृ० ९५।

हिन्दी साहित्य में शायद ही कहीं हुआ हो। अवश्य अमृतधुनि, कुंडलिया और छप्पय का प्रयोग बराबर थोड़ा-बहुत होता रहा। सूरसाहित्य में अमृत-धुनि और कुंडलिया तो नहीं मिलते, एक छप्पय अवश्य मिलता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित यह होता है कि क्या ये तीनों छन्द लक्षणानुसार विषम कहे जा सकते हैं ? इन तीनों में तो दो छन्दों का मिश्रण है, पादों की असमानता यहाँ कहाँ ? अतः इन्हें मिश्र या प्रगाथ छन्द कहना ही युक्तिसंगत है। मिश्र छन्द उस छन्द को कहते हैं, जिसमें दो निश्चित छन्दों की लयें मिल कर छन्द की एक नयी इकाई तैयार करती है।[१] दो छन्दों के मिश्रण की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। वहाँ ऐसे मिश्रित छन्दों को प्रगाथ संज्ञा दी गई है—

**बार्हतो बृहतीपूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः।**
**एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथो भवतो द्वृचौ।**[२]

लौकिक संस्कृत में भी दो छन्दों का मिश्रण कवियों द्वारा मान्य है। दो छन्दों के मिश्रित प्रयोग को वहाँ उपजाति छन्द कहा है।[३] अपभ्रंश काव्य में इस मिश्रण के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। वहाँ तो पाद-संख्या के आधार पर षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, नवपदी आदि अनेक प्रगाथों की सृष्टि हुई थी।[४] जिनमें नवपदी प्रगाथ रड्डा बहुत ही प्रसिद्ध है। कुंडलिया और छप्पय भी अपभ्रंश काल से ही चलते आ रहे हैं। सूरसाहित्य में छप्पय तो एक ही मिलता है, किन्तु ऐसे पद अनेक मिलते हैं जिनमें दो-तीन-चार छन्दों का मिश्रण हुआ है। अवश्य इस मिश्रण में उस प्रकार का कोई निश्चित क्रम नहीं पाया जाता, जिस प्रकार रड्डा, कुंलडिया या छप्पय में पाया जाता है। कवि भावानुसार मनमाने ढंग से विभिन्न छन्दों की पक्तियों को रखता चला गया है। डॉ० शुक्ल ने विषम छन्द और मिश्र छन्द में अन्तर बतलाते हुए लिखा है—विषम छन्द में विभिन्न छन्दों के चरण तो अवश्य आते हैं, पर उनका कोई क्रम निर्धारित नहीं रहता।[५] क्रम निर्धारित नहीं होने के कारण सूरसाहित्य के ये पद विषम छन्द के उदाहरण हो जायँगे। किन्तु, विषम के चारों चरणों की असमानता को

---

[१] आ० हि० का० में छन्दयोजना—पुत्तूलाल शुक्ल पृ० ३२२।
[२] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १८।१।
[३] आद्यान्तावुपजातयः। पिंगल छन्दः शास्त्र ६।१७।
[४] कविदर्पण—२।३३ से ३७-३ तक।
[५] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० ३२२।

देखते हुए तथा छप्पय-कुंडलिया आदि में विभिन्न छन्दों के मिश्रण-प्रकार को ध्यान में लाते हुए इन पदों में मिश्र छन्द मानना ही हमें युक्तिसंगत प्रतीत हुआ। वस्तुतः ऐसे पदों में दो-तीन निश्चित अलग-अलग छन्द एक में ग्रथित कर दिये गये हैं। इस प्रकार सूरदास अपभ्रंश-कालीन मिश्रण-परम्परा को एक नये ढंग से इन पदों में आगे बढ़ाते प्रतीत होते हैं। हालाँकि उनके पूर्ववर्त्ती पद-रचयिताओं ने उनके लिये यह मार्ग पहले ही खोल दिया था। इस मिश्र छन्द में सूरदास ने किन-किन छन्दों का योग किया है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

सूरदास के छन्दों के इस विवेचन के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या संगीतज्ञ सूर ने मात्राएँ गिन कर अपने पदों की रचना की थी ? कोई भी कवि मात्राएँ गिन कर कविता नहीं लिखता। यदि ऐसी बात होती, तो लगात्मक क्रम-व्यवस्था वाले संस्कृत छन्दों के बीहड़ मार्ग पर चल कर संस्कृत कवि इतने विपुल परिमाण में काव्य-रचना नहीं कर पाते। कवि का ध्यान मात्राओं पर नहीं, लय पर रहता है। जब कवि की भावधारा लय का अवलम्बन ले उसके हृदय से फूट पड़ती है, तो उसमें लयानुकूल मात्राओं और वर्णों का क्रम स्वतः बैठता चलता है। यदि ऐसी बात है, तो सूरदास के पदों में मात्राओं की घट-बढ़ क्यों मिलती है ? क्यों किसी को उनके सावधानी से चुने हुए पदों में छन्दोभंग दिखाई पड़ता है ?[1] क्यों कोई उनके पदों को लयात्मक छन्द कहने को बाध्य हो जाता है।[2] विद्वानों के ऐसे कथन ब्रजभाषा को खड़ी बोली की उच्चारण-पद्धति से पढ़ने के परिणाम हैं। खड़ी बोली के विपरीत ब्रजभाषा-अवधी आदि में दीर्घ ए तथा ओ के ह्रस्वोच्चारण की पूरी छूट है।[3] वैसा नहीं पढ़ने के कारण खड़ी बोली के पाठकों को वहाँ छन्दोभंग प्रतीत होता है।

अब देखना यह है कि ब्रजभाषा कवियों की इस स्वच्छन्दता का मूल कहाँ है ? संस्कृत छन्दःशास्त्रियों ने अनुस्वार-सहित, दीर्घ, विसर्ग-सहित, संयुक्ताक्षर के पूर्व वर्ण को गुरु माना है, किन्तु पादान्त लघु वर्ण विकल्प से गुरु होता है और गुरु वर्ण विकल्प से लघु होता है—

---

[1] सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा पृ० ५७१।

[2] नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय पृ० १०२।

[3] अपभ्रंश भाषा का अध्ययन : डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पृ० ५३।

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्ण संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ।[1]

पादान्त वर्ण के साथ तो छूट (विकल्प) है ही, संयुक्ताक्षर 'प्र' और 'ह्र' का पूर्व अक्षर भी कभी-कभी दीर्घत्व को प्राप्त नहीं होता ।

वर्णा गुरुर्मतो ह्रे प्रे पादान्ते चापि वा लघु ।[2]
—छन्दः कौस्तुभ ।

कुमारसम्भव के 'गृहीतप्रत्युदगमनीयवस्त्रा' और शिशुपाल वध के 'प्राप्यनाभि-ह्रदमज्जनमाशु' में 'प्रे' और 'ह्रे' के पूर्व वर्णों का नियमानुसार दीर्घोच्चारण होना चाहिये । किन्तु, यहाँ 'त' और 'भि' ह्रस्व ही हैं । यह स्वतन्त्रता 'प्र' और 'ह्र' तक ही सीमित नहीं है । 'प्र' और 'ह्र' के अतिरिक्त अन्य युक्ताक्षरों का पूर्व वर्ण भी लघु हो सकता है । वाल्मीकि रामायण के निम्नांकित पद्यों में—

कृतार्थाश्च कृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ।[3]

एवं तदार्या नृपवीरसिंह !
सीता वचः प्राह विवादयुक्तम् ।
एतच्च श्रुत्वा गदितो मया त्वं
सीतापलम्भे प्रकुरुष्व बुद्धिम् ।[4]

रेखांकित 'पि' और 'च्च' का लघूच्चारण ही अभीष्ट है । (क्योंकि अनुष्टुप का पंचम और इन्द्रवज्रा का तृतीय वर्ण लघु होते हैं) यद्यपि संयुक्ताक्षर 'क्र' और 'श्रु' के पूर्व होने के कारण नियमानुसार इन्हें दीर्घ होना चाहिये । इसी प्रकार निम्नांकित द्रुतविलंबित की पंक्ति में—

बहुलभ्रामरमेचकतामसम्[5]

नियमानुसार यदि 'ल' का दीर्घोच्चारण हो, तो छन्दोभंग हो जायगा । काव्य-गत ऐसी स्वच्छन्दता को देख कर ही सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा गया है—

---

[1]छन्दोमंजरी : गंगादास १।११ ।
[2]छन्दः शास्त्र : पिंगल (पाद-टिप्पणी) पृ० ४ ।
[3]वृत्तरत्नाकर की टीका से उद्धृत पृ० १२-१३ (चौखंबा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी ।)
[4]वही । [5]वही ।

यदा तीव्र प्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम् ।
न च्छन्दोभंग इत्याहुस्तदा दोषाय सूरयः ।[१]

अर्थात् जब झटके के साथ उच्चारण करने से संयोग से पूर्व वर्ण लघु हो जाता है, तब छन्दोभंग नहीं होता। इसी बात को जयकीर्त्ति ने बहुत पहले उद्घोषित किया था—

संयोगपरोऽपि जातु वर्णः
शैथिल्याल्लघुतामुपैति तस्मात् ।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत में भी गुरु को लघु मानने की छूट थी, पर यह छूट संयुक्ताक्षर से पूर्व वर्ण के लिये ही थी।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियों ने संस्कृत आचार्यों के 'सानुस्वारश्च दीर्घश्च' वाले नियम को तो मान ही लिया, साथ-साथ यह नियम भी बनाया कि प्राकृत में पदान्तस्थित ए, ओ, इं, हिं और अपभ्रंश में उं, हुं, हिं, इं विकल्प से लघु होते हैं। व्यंजन से युक्त ए और ओ पदमध्य में भी विकल्प से लघु होते हैं। द्र, ल्ह, न्ह इन संयुक्ताक्षर का पूर्व वर्ण गुरुत्व को प्राप्त नहीं होता।[३] इस प्रकार अपभ्रंश में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का उसी प्रकार पृथक् अस्तित्व स्वीकृत किया गया जिस प्रकार ह्रस्व अकार, इकार और उकार का।[४] इतनी छूट (स्वतन्त्रता) से भी जब प्राकृतपिंगलकार का मन नहीं भरा, तो उन्होंने यह कह कर कि यदि जीभ किसी दीर्घ वर्ण को भी ह्रस्व कर के पढ़े, तो वह भी लघु होता है। साथ ही तेजी से पढ़े गये दो-तीन वर्णों को भी एक ही वर्ण गिनना चाहिये—

जइ दीहो वि अ वण्णो, लहु जीहा पढइ होइ सो वि लहू ।
वण्णो वि तुरि अपिढ़ओ, दातिण्णि वि एक्क जाणेहु ।[५]

गुरु को लघु उच्चरित करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी। इस लघु-गुरु के उच्चारण-स्वातन्त्र्य को भिखारीदास और भानु ने भी स्वीकृत किया है—

---

[१]वृत्तरत्नाकर की टीका से उद्धृत पृ० १२।
छन्दः शास्त्र : पिंगल (पाद टिप्पणी) पृ० ४।
[२]छन्दोनुशासन १।५।
[३]कविदपर्ण १।५-६।
[४]अपभ्रंश भाषा का अध्ययन : वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पृ० ५०।
[५]प्रा० पैं० १।८।

मत्त छन्द की रीति 'दास' बहु भाँति प्रकासै ।
आदि-अंत कल दुकल बढ़े दूजो नहिं भासै ।
चार्यौ तुक सम कलनि परहिं यह नेम निबाहिय ।
कहुँ गुरु थल है लघू दियहु नहिं भ्रम गति चाहिय ।
बिन गने होत पूरन कला, जति गति कवि बानीहि बस ।
यह जानि नाग-नायक कह्यौ, जिह्वा जानै छन्द रस ।[1]
दीरघ हूँ लघु कर पढ़ै, लघु हू दीरघ मान ।
मुख सौं प्रगटै सुख सहित, कोविद करत बखान ।[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रजभाषा, अवधी आदि भाषाओं में गुरु को लघु पढ़ने का विधान शास्त्रानुमोदित है, और ब्रजभाषा कवियों की यह स्वतन्त्रता उनकी अपनी नहीं, परम्परा से प्राप्त है। इसीलिये, पद-रचयिताओं में ही नहीं, ब्रजभाषा के प्रबन्ध-कवियों और सचेष्ट कलाकारों में भी इस प्रकार के प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस और केशवदास की रामचन्द्रिका के कुछेक उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी।

कोउ मुख-हीन बिपुल मुख काहू ।
बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ।
विपुल नयन कोउ नयन-बिहीना ।
रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना ।[3]

इस चौपाई में सर्वत्र कोउ के 'को' का उच्चारण लघु है।

इन्द्रजीत निकुंभिला गयो होम को रिस जी भरो ।[4]
भये सुख समुद्र में मगन गात ।[5]
पूजतै भये वंश पूजित आशु दी मुनिराय ।[6]
ऐसे चले सब के चल लोचन ।[7]

इन सभी पंक्तियों में रेखांकित वर्ण लघु हैं। केशवदास ने संस्कृत वृत्तों में भी इस स्वच्छन्दता का उपयोग किया है—

---

[1]छन्दार्णव ५।३ ।
[2]छन्दः प्रभाकर पृ० २ ।
[3]रामचरितमानस : बालकांड ।
[4]रामचंद्रिका १८।३० ।
[5]रामचंद्रिका २१।२४ ।
[6]रामचंद्रिका २३। ।
[7]रामचंद्रिका ३२।१ ।

माता पिता कवन कौनेहि कर्म कीन ।
विद्या बिनोद शिव कौनेहि अस्त्र दीन ।[1]

वसंततिलका की इन दोनों पंक्तियों में 'ने' का ह्रस्वोच्चारण नहीं मानने पर छन्दो-भंग हो जायगा । सचेष्ट कलाकार बिहारी में भी ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं—

जेहि तेहि भाँति डरो रह्यौं, परो रह्यौं दरबार ।[2]
जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यौ नाहिं ।[3]

इन दोनों पंक्तियों के जेहि-तेहि में 'जे' 'ते' लघु माने गये हैं । इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है । उसकी उच्चारण-प्रक्रिया दूसरी भाषा से भिन्न होती है । संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की इसी उच्चारण-भिन्नता के कारण प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्री को लघु-गुरु-संबंधी कुछ नये विधान बनाने पड़े । ब्रजभाषा की उच्चारण-प्रणाली अपभ्रंश के समान ही लचीली है, इसलिये इसने अपभ्रंश की तरह गुरु को लघु पढ़ने की पद्धति को अपना लिया । खड़ी बोली की उच्चारण-प्रणाली में वह लचीलापन नहीं है । यह सब तरह से खड़ी है । इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है । इसलिये इसने उच्चारण-संगीत के लिए प्राकृत-अपभ्रंश को छोड़ कर संस्कृत से अपना नाता जोड़ा, जहाँ दीर्घ का लघूच्चारण कभी नहीं होता । किन्तु, यह खड़ी बोली आखिर हिन्दी है, संस्कृत नहीं । इसीलिये इसकी उच्चारण-विधि में संस्कृत से थोड़ा अन्तर पड़ जाता है । यह संस्कृत के समान शंख ध् ध्वनि नहीं, शंखध्वनि बोलती है; काव्यप्‌प्रकाश नहीं, काव्यप्रकाश कहती है । मैथिलीशरण के अतिरिक्त हिन्दी के और किसी खड़ी बोली के कवि में सामासिक शब्दों में संयुक्ताक्षर के पूर्व लघुवर्ण का दीर्घोच्चारण नहीं पाया जाता । गुप्त जी ने वर्ण-वृत्तों में तो ऐसा प्रयोग किया ही है, मात्रिक छन्दों में भी सर्वत्र इसी प्रणाली का अनुसरण किया है । यथा—

**जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिके, प्राणप्रिये ।**[4]

यहाँ 'प्राणप्रिये' में 'ण' का दीर्घोच्चारण अभीष्ट है । किन्तु, यह प्रणाली

---

[1] रामचंद्रिका ३८।३ ।
[2] बिहारी-बोधिनी । लाला भगवानदीन । दो० ७०७ ।
[3] बिहारी-बोधिनी । लाला भगवानदीन । दो० ६७९ ।
[4] जयद्रथ-वध, प्रथम सर्ग पृ० ८ ।

हिन्दी भाषा को जटिल और दुरूह बना देती है; इसीलिये अन्य कवियों ने इसका समर्थन नहीं किया। यहाँ तक कि संस्कृतनिष्ठ भाषा तथा वर्णवृत्तों में लिखित 'प्रियप्रवास' और 'सिद्धार्थ' में भी सामासिक शब्दों में संयुक्ताक्षर का पूर्व वर्ण ह्रस्व ही माना गया है। जैसे—

सुहावने पीवर-ग्रीव साहसी।
पूरी हुई प्रथित पारद-प्रक्रिया थी।
जो थी कौमार-व्रतनिरता बालिकाएँ अनेकों।[1]

समिध-आज्य-स्रुवादिक-योजना।
फलक-कुन्त्—त्रिशूल-गदा-क्रिया।
जो थी विस्तृत स्वर्ण-ज्योति नभ मे भू-लोक में आ गयी।
कैसी ज्ञान-प्रधान शाक्य मुनि की सिद्धास्पदा थी सभा।[2]

यहाँ संयुक्ताक्षर के पूर्व सभी रेखांकित वर्ण लघु हैं। हरिऔध ने संकीर्ण स्थल पर ही ऐसे प्रयोग का अनुमोदन किया है—

'जहाँ तक संभव हो, ऐसा प्रयोग कम किया जावे। क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग पद्य में एक प्रकार की जटिलता ला देता है'।[3]

'मेरा विचार यह है कि विकल्प से यदि इस प्रयोग को मान लिया जावे तो वह उपयोगी होगा। जहाँ छन्दोगति बिगड़ती हो वहाँ समास न किया जावे, और जहाँ छन्दोगति को सहायता मिलती हो वहाँ समास कर दिया जावे। प्राय: ऐसा ही किया भी जाता है। परन्तु समास न करने वालों की ही संख्या अधिक है, क्योंकि सुविधा इसी में है।'[4] संभव है, प्रियप्रवास में ढूँढ़ने पर अपवाद-रूप में ऐसा प्रयोग कहीं एकाध स्थल पर मिल जाय; किन्तु, ऐसे प्रयोग से बचने की उन्होंने पूरी चेष्टा की है। सूरसागर में भी कतिपय स्थलों पर ऐसा प्रयोग उपलब्ध होता है। जैसे—

गरज निसान घोर संख-ध्वनि, हय, गय हींस, चिंघार।[5]

---

[1]प्रियप्रवास : हरिऔध, ६।१०३, १४।६१, १७।५१।
[2]सिद्धार्थ : अनूप शर्मा। पृ० ४५, ४६, २२४, २८६।
[3]प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० ५१।
[4]वैदेही वनवास का वक्तव्य, पृ० १६। [5]सूरसागर पद ४७८०।

धर्म-स्थापन हेत पुनि, धार्‌यौ नर औतार ।[1]
सर्व-व्यापी तुम सब ठाहर ।[2]
सुक जैसे वेदस्तुति गाई ।[3]

यहाँ हरिऔध जी के अनुसार उक्त पंक्तियों में रेखांकित वर्णों का दीर्घोच्चारण छन्दोगति के लिए आवश्यक है। किन्तु, ऐसा प्रयोग व्रजभाषाकाव्य में अत्यंत विरल है। खड़ी बोली में भी अपवाद रूप में ही (मैथिलीशरण को छोड़ कर) मिलता है। प्राकृत-अपभ्रंश के समान खड़ी बोली में भी न्ह, म्ह आदि का पूर्व लघु वर्ण दीर्घ नहीं होता।. 'तुम्हारा' और 'उन्हें' के 'तु' और 'उ' लघु ही रहते हैं, दीर्घ नहीं होते। किन्तु, खड़ी बोली में सर्वत्र ए और ओ दीर्घ रूप में उच्चरित होते हैं। सवैया छन्द में इसकी थोड़ी छूट अवश्य है। उर्दू कविता में गुरु को लघु पढ़ने की पूरी छूट है, वहाँ तो अक्षर तक उड़ जाते हैं। उदाहरण के लिये निम्नांकित शेर लिया जा सकता है—

कोई मेरे दिल से पूछे तेरे तीर नीमकश को।
यह ख़लिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता।

रेखांकित वर्णों को लघु मान कर उक्त शेर का असली रूप इस प्रकार होगा—

कइ मेर दिल स पूछे तर तीर नीमकश को
य ख़लिश कहाँ स होती ज जिगर क पार होता।[4]

उर्दू की यह स्वच्छन्दता खड़ी बोली की कविता को मान्य नहीं। यहाँ यह एक भारी दोष समझी जाती है। उर्दू की इसी उच्चारण-पद्धति को अपनाने के कारण निराला की 'बेला' की निम्नांकित कविताएँ दूषित समझी जाती हैं—

चढ़ी हैं आँखें जहाँ की, उतार लायेंगी। गीत ५०
सितारे-सितारे टुटा जा रहा है। गीत ५१
निराशा के डोरे सिये जा रहे हैं।[5] गीत ५२

सारांश यह कि खड़ी बोली की कविता को गुरु-लघु का शैथिल्य एकदम सहन

---

[1]सूरसागर पद ४८२८।
[2]सूरसागर पद ४६१८।
[3]सूरसागर पद ४६१६।
[4]वैदेही वनवास का वक्तव्य पृ० १७।
[5]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना-पुत्तूलाल शुक्ल पृ० २०।

नहीं होता। इसी खड़ी बोली के पाठकों को सूरदास की कविता में छन्दोभंग दिखलाई पड़ता है और वे उसमें लयात्मक छन्द पाते हैं। ब्रजभाषा की उच्चारण-विधि से पढ़ने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सूरदास के पद शास्त्रानुमोदित हैं, और उनमें उतने छन्दोभंग दोष नहीं मिलते, जितने की कल्पना विद्वानों ने की है।[१]

सूरसाहित्य में पाये जाने वाले छन्दोभेदों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। अब हमें यह देखना है कि सूरदास ने अपने साहित्य में कितने छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रा-संख्या के क्रम से सूरसाहित्य में प्रयुक्त छन्द निम्नलिखित हैं—

(क) **सममात्रिक साधारण**—शशिवदना, महानुभाव, लीला, तोमर, नित, सखी, कज्जल, चौपई, चौबोला, पादाकुलक या चौपाई, पद्धरि, चन्द्र, उपवदनक, माली, रतिवल्लभ, योग-कल्प, कुंडली, प्रणय, रास, कुंडल, उपमित, उल्लास, सुखदा, उपमान, अवतार, रजनी, हीर, रोला, रूपमाला, सारस, मुक्तामणि, मधुरजनी, विष्णुपद, गीता, गीतिका, सरसी, हरिगीतिका, सार, माधवमालती, मरहटा माधवी, ताटंक, उत्कंठा, वीरछन्द, समान सवैया और जलतरंग।

(ख) **सममात्रिक दण्डक**—वदन सवैया, विश्वभरण, लीलापति, अरुणजयी, प्रतेपाल, करखा, हसाल, भूलना (द्वितीय) प्रभाती, मानवती, मदन-शय्या, विजया, प्रफुल्लित, मदनहर, शुभग, काममोहिता, अमर्षिता, प्रबोधन, नटनागर, हरिप्रिया, हरिप्रीता और हरिवल्लभा।

(ग) **अर्द्धसममात्रिक**—दोहा, दोहकीय, सोरठा, उल्लाला।

(घ) **वर्णवृत्त (मुक्तक दण्डक)**—मिताक्षरी, नागर, मोरस, सूरघनाक्षरी, मनहरणघनाक्षरी, रूपघनाक्षरी और जलहरण।

उपर्युक्त छन्दों का प्रयोग सम्पद के रूप में हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन छन्दों का प्रयोग छन्दक-रूप में हुआ है, वे निम्नलिखित हैं—

अखण्ड, अहीर, शिखण्डी, उल्लाला या चण्डिका, उर्वशी, प्रदोष, हाकलि, सुलक्षण, विजात, मनमोहन, मनोरम, गोपी, उज्ज्वला मात्रिक, पदपादाकुलक, श्रृंगार, रूपोज्ज्वला, राम, विजयकरी, विलक्षण, चन्द्रा, तमाल, शक्ति, शास्त्र, हंसगति, अरुण, प्लवंगम, चांद्रायण, सिंधु, नाग और चुलियाला।

---

[१] दोष और उनका परिहार, पृ० ५१४।

डॉ० 'महेश' ने अपने शोध-प्रबंध में सूर द्वारा प्रयुक्त छन्दों की लम्बी सूची दी है; जिसमें अन्य छन्दों के साथ निम्नांकित छन्द भी उल्लिखित हैं—

(१) आनन्दवर्द्धक—(१६ मा०)
(२) अमी—(न ज य)
(३) भव—(११ मा० अंत में ऽ या ।ऽऽ)
(४) भानु—(६-१५ अंत में ऽ।)
(५) बिहारी—(१४-८)
(६) चंचरी—(र स ज ज भ र)
(७) दिगपाल—(१२-१२)
(८) गगनांगन—(१६-६ अंत में रगण)
(९) लावनी—(१६-१४ अंत में लघु-गुरु का विशेष नियम नहीं)
(१०) मदनाग—(१७-८ मात्राएँ)
(११) मंजुतिलका—(१२-८ अंत में जगण)
(१२) मृदुगति—(१२-१२)
(१३) पद—?
(१४) पीयूषवर्षक—(१०-६ ल ग)
(१५) राधिका—(१३-६)
(१६) राजीवगण—(६-६)
(१७) रुचिरा—(१४-१६)
(१८) सारंग—(त त त त)
(१९) सवैया—(वर्णिक छन्द, जिसके मदिरा (भ ७+ग) आदि अनेक भेद होते हैं)
(२०) शोभन—(१४-१० अंत में ।ऽ।)
(२१) शोकहर—(८-८-८-६-अंत में ऽ)
(२२) शुद्धगति
(२३) वंदन—(१८ अंत में ऽ।)
(२४) विद्या—(१४-१४, आदि में लघु, अंत में ।ऽऽ)[१]

इन सब के लक्षण हमने भानु के अनुसार दिये हैं। डॉ० 'महेश' की सूची में

---

[१]The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. Chapter IV. Page 90-91.

लक्षण का उल्लेख नहीं है। अवश्य उन्होंने आनन्दवर्द्धक, गगनांगन, पीयूषवर्षक, सारंग, शुद्धगति तथा विद्या को छोड़ कर शेष सभी छन्दों के लक्षण वर्णवृत्त, मात्रावृत्त तथा तालवृत्त के प्रकरण में दिये हैं। शुद्धगति छन्द का उल्लेख भानु ने नहीं किया। 'महेश' ने उल्लेख तो किया, पर लक्षण कहीं नहीं दिया। शुभगति (७ मात्राएँ) का उल्लेख दोनों में अवश्य मिलता है। यह शुद्धगति शुभगति ही तो नहीं है। मृदुगति और दिगपाल एक ही छन्द के दो नाम हैं।[1] महेश भी इससे अवगत हैं।[2] फिर एक ही छन्द का उल्लेख दो बार क्यों किया गया? महेश का चंचरी छन्द भानु का वर्णिक वृत नहीं है। हरिप्रिया के अन्य नाम के रूप में उन्होंने इसका उल्लेख किया है।[3] किन्तु हरिप्रिया का अन्य नाम चंचरी नहीं चंचरीक माना जा सकता है। भानु का यह लिखना गलत है कि भिखारीदास ने इसका नाम चंचरी लिखा है।[4] हरिप्रिया के लिए भिखारीदास ने चंचरीक नाम का प्रयोग किया है।[5] उनके यहाँ एक चंचरी छन्द भी है, जो वर्णिक होते हुये भी (र स ज ज भ र) मात्रिक प्रकरण में उल्लिखित है।[6] यदि भानु की गलती डॉ० महेश ने दुहरा ही दी, तो कम-से-कम उन्हें चंचरी या हरिप्रिया—दोनों में एक ही का उल्लेख करना चाहिये था। माली का ही अन्य नाम राजीवगण भानु द्वारा स्वीकृत है। हालाँकि भिखारीदास का माली और भानु के राजीवगण में काफी अन्तर है।[7] लावनी का जो लक्षण डॉ० महेश ने दिया है, वह भानु की ३० मात्रावाली लावनी है, जो ताटंक छन्द के ही अन्तर्गत है। सवैया से डॉ० साहब का क्या अभिप्राय है, नहीं कहा जा सकता। मात्रिक सवैया कहे जाने वाले वीर छन्द का जब पृथक् उल्लेख है, वर्णिक सवैया सूरदास ने लिखा नहीं, तो क्या समान सवैया (१६-१६) के लिये सवैया शब्द का प्रयोग हुआ है? अमी वर्णवृत्त है। इसका मात्रिक रूप हम महानुभाव को मान सकते हैं। इस प्रकार

---

[1] भानु का छन्दःप्रभाकर, पृ० ६४।

[2] The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. Chapter 3, Page 49.

[3] वही Chapter 2, Page 60.

[4] छन्द : प्रभाकर, पृ० ८०।

[5] छन्दार्णव ६।७-८।

[6] वही ५।२१२-२१३।

[7] 'मालीछन्द' पृ० १०५।

चंचरी, और अमी का प्रयोग क्रमशः हरिप्रिया, तथा महानुभाव के रूप में सूरसाहित्य में माना जा सकता है। उपर्युक्त शेष छन्दों का प्रयोग सूरसाहित्य में एकदम नहीं हुआ है, न तो सम्पद-रूप में और न छन्दक-रूप में। पता नहीं, डॉ० साहब ने इन छन्दों का प्रयोग सूरदास के किस ग्रंथ में और किन-किन पदों में पाया ? और यह 'पद' छन्द कौन-सा है ? 'कैसो बरन' भेष है कैसो, केहि रस में अभिलाषी ?' किसी लक्षणकार ने इसके नाम तथा लक्षण का निर्देश नहीं किया। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने छन्दों की रसानुकूलता दिखलाते हुए भक्ति, वात्सल्य तथा शान्त रसों के लिए उपयुक्त छन्दों की सूची में पद का भी उल्लेख किया है। पद वस्तुतः कोई छन्द नहीं है, यह एक प्रकार का अनुच्छेद (Stanza) है, जो कभी विभिन्न छन्दों के मिश्रण से और कभी किसी एक ही छन्द से निर्मित होता है। अतः डॉ० शुक्ल को पद के बाद भी उसी प्रकार 'अमुक-अमुक छन्दों पर आधृत' लिखना चाहिये था, जिस प्रकार उन्होंने भजन के बाद कोष्ठक में (विष्णुपद, सार, सरसी और रूपमाला पर आधृत) लिखा है।[1]

[1]आ० हि० का० में छन्दयोजना : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल पृ० ५७।

# सम छन्द

द्वितीय अध्याय में हम यह बतला आये हैं कि सूर-साहित्य में सम्पद और छन्दक के रूप में कितने छन्दों का प्रयोग हुआ है। आगे की पंक्तियों में प्रत्येक छन्द का सूर-साहित्य से उदाहरण, लक्षण, स्वरूप और लयाधार, छन्दःशास्त्रीय एवं काव्यगत प्रयोग की परम्परा तथा विकास, लय-साम्य के आधार पर संस्कृत वर्णवृत्त से सम्बन्ध, गतिवैशिष्ट्य, रसानुकूलता, किसी काल-विशेष में उसके प्रयोग की न्यूनता अथवा आधिक्य के कारण आदि के विवेचन का यत्किंचित् प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम सम छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

## (१) शशिवदना

**जल थल पवन थक्यौ। खग मृग तरु बिथक्यौ।**
**देखत मदन जक्यौ। चरननि सरन तक्यौ॥**

**—पद १८००**

शशिवदना छन्द का प्रयोग सूरसाहित्य में स्वच्छंद रूप में नहीं हुआ है। दोहा, माली, सखी तथा गीतिका छन्दों में निबद्ध एक पद में इसकी केवल उपरिलिखित चार पंक्तियों का प्रयोग हुआ है। भानु ने इस लय वाले किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। भिखारीदास ने मात्रिक छन्दों के प्रकरण में कमला नामक एक छन्द का उल्लेख किया है, जिसमें आठ लघु और एक गुरु (। । । । । । । । ऽ) होते हैं— (द्वै द्विज गो कमलाहि)। यथा—

**कब अँखियन लखिहौं। अरु भुज भरि रखिहौं।**
**ससिधर बिमल कला। हृदय कमल कमला।**[1]

इस पद्य की गण-व्यवस्था बताती है कि यह वर्णिक छन्द है। यही न न स वाला कमला छन्द प्राकृत पैंगल में भी उल्लिखित है।[2] भानु ने इसे रतिपद

---

[1]भिखारीदास ग्रंथावली प्रथम भाग—छंदार्णव ५।७१ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

[2]प्राकृत पैंगल, २।८२।

नाम (अन्य नाम कमला, कुमुद) दे कर वर्णावृत्तों में ही रखा है।[1] भिखारी-दास ने भी इसी लक्षण के साथ रतिपद का उल्लेख कमला के नीचे किया है।[2] इसी कमला को हेमचन्द्र लघुमणि-गुण-निकर कहते हैं।[3] इस कमला से सूर की उपरिलिखित पंक्तियों की लय बिलकुल मिलती है। एक प्रकार से यह छन्द कमला वर्णिक का मात्रिक रूप माना जा सकता है। सूर के उक्त पद्य में तीसरे चरण के अतिरिक्त (देखत—नगण की जगह भगण) कमला की वर्ण-व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। प्रारंभिक गण के इस व्यतिक्रम के कारण हम इसे वर्णिक कमला नहीं कह सकते।

स्वयंभू ने दो दशमात्रिक छंदों का उल्लेख किया है—शशिवदना[4] (चतुष्पदी) (४+४+२) और ललितक[5] (द्विपदी)। यथा—

**दस मत्त पाए। अट्ठा (ड्ढा) इच्च (ज्ज) गणे**
**सा सब्ब समाणं। मज्झे ससिवअणा। (शशिवदना)**
**पमुहआ पसंसा। लल अअत्ति एसा। (ललितक)**

इन दोनों में गण-व्यवस्था की दृष्टि से शशिवदना का सूर के उपरि-लिखित पद्य से पूरा साम्य है। 'देखत मदन जक्यौ' और 'मज्झे ससिव अणा' से दोनों की लय-अभिन्नता का पता पूरा-पूरा लग जाता है। एक वर्णिक शशिवदना (न य) का उल्लेख हेमचन्द्र[6] ने तथा केदार[7] ने भी किया है, जो स्वयंभू के शशिवदना से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि इसमें १० की जगह ८ ही मात्राएँ हैं। इसी वर्णिक शशिवदना का प्रयोग केशव ने भी किया है।[8] कमला छंद से लय-साम्य रखने वाला सूरदास का उपरिलिखित पद्य विष्णुपद का द्वितीय खंड (१० मात्राएँ) है। विष्णुपद समप्रवाही छन्द है, और उक्त पद्य के सभी चरण समात्मक है। अतः उसका नाम डॉ० शुक्ल के सारक के ढंग पर विष्णुपदक रखा जा सकता था किन्तु जब स्वयंभू के शशिवदना से इसकी पूरी समता है, तब इसे नया नाम नहीं दे कर शशिवदना कहना उचित

---

[1] छन्द : प्रभाकर—पृ० १३१।
[2] छंदार्णव ५।७२ सं० विश्वनाथ प्र० मिश्र।
[3] छन्दोनुशासन २।१०४।
[4] स्वयंभूच्छन्दः ६।१२३।
[5] स्वयंभूच्छन्दः ७।१२।
[6] छन्दोनुशासन २।३९।
[7] वृत्तरत्नाकर ३।८।
[8] रामचंद्रिका—३।७।

है। डॉ० शुक्ल ने ऐसे पद्य का एक स्वनिर्मित उदाहरण तो दिया है,[1] किन्तु उन्होंने इसे कोई नाम नहीं दिया।

सूरदास के पूर्व इस छन्द का प्रयोग कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक काल में छन्द के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुए हैं, किन्तु इस छन्द की ओर कवियों की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती।

## (२) महानुभाव

**हरषि परस्पर गावैं, मीठे बोल सुनावैं।**
**मुदित मनोहर भावैं, लालन लाड़ लड़ावैं।**

—पद ३५३५

महानुभाव छन्द का प्रयोग सूरसाहित्य में स्वतंत्र रूप में कहीं नहीं हुआ है। केवल एक पद में लीला और चौपाई के बीच इसके कुछ चरण उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक छन्द की एक अर्द्धाली के उपरांत लीला की एक पंक्ति की आवृत्ति हुई है। जैसे—

**हरषि परस्पर गावैं, मीठे बोल सुनावैं, सरस रसहिं फूल डोल** (महानुभाव + महानुभाव + लीला)

**नारदादि करत गान, रिष मुनि सिव धरत ध्यान, सरस रसहिं फूल डोल** (लीला + लीला + लीला)

**सूरदास कैसे करि गावैं, लीला सिंधु पार नहिं पावै संतन हित फूल डोल** (चौपाई + चौपाई + लीला)

भानु ने इस लय वाले किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। भिखारीदास ने शेष, मदलेखा, चित्रपदा, युक्ता, हरिमुख, अमृतगति तथा सारंगिय छन्दों[2] का उल्लेख किया है। इन सब की लय महानुभाव से मिलती-जुलती है, किंतु ये सभी छन्द वर्णिक हैं। इनमें कुछ तो इसी नाम से और कुछ अन्य नाम से प्राचीन छन्दः-शास्त्रों में उपलब्ध हैं। चित्रपदा,[3] युक्ता,[4] (भुजगशिशुसृता) और हरिमुख[5] (हलमुखी) तो सबसे प्राचीन ग्रंथ पिंगल के छन्दःशास्त्र तक में मिलते हैं। इन

[1] आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना पृ० ४६७।
[2] भिखारीदास ग्रंथावली प्रथम भाग—छन्दार्णव ५।८२ से ८८।
[3] छन्दःशास्त्र, ६।५। [4] छन्दःशास्त्र, ६।७।
[5] छदःशास्त्र, ६।८।

वर्णवृत्तों की वर्णव्यवस्था को शिथिल कर देने से महानुभाव छन्द का उद्भव सहज ही इन छन्दों से हो जाता है।

द्वादशमात्रापादी महानुभाव छन्द ( ४+४+४ अथवा ६+६ ) का उल्लेख स्वयंभू ने किया है—

**बारहमत्ते पाए। तिचग्रारा छ च्छों वा।**
**इ ग्र लक्खन संजुत्ता। भण्णइ महाणुभावा।**[1]

इसी प्रकार विरहांक के यहाँ भी द्वादशमात्रिक एक छद प्रगीता (४, ४, ऽऽ) उपलब्ध होता है—

**ग्रह सतुरंगमएणं। सुन्दरि संदणएणं।**
**दोहि ग्र ने उर एहिं। सोहइ सुट्ठु पगीया।**[2]

वस्तुतः महानुभाव और प्रगीता एक ही छंद के दो नाम हैं। साथ ही इन दोनों की गण-व्यवस्था चित्रपदा और भुजगशिशुसृता के साथ ठीक बैठ जाती है। अतः ये दोनों छंद उन दोनों संस्कृत छंदों के मात्रिक रूप माने जा सकते हैं। गण-व्यवस्था और लय दोनों ही दृष्टियों से महानुभाव का इन दोनों छंदों से पूरा साम्य है। संस्कृत तथा प्राकृत अपभ्रंश छंदः शास्त्रों में ऐसे छंद का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु हिन्दी के प्राचीन छन्दः शास्त्रियों ने इसका उल्लेख नहीं किया। आधुनिक काल में इस छंद में कुछ रचनाएँ हुईं। अतः आचार्य द्वारा इसने सारक[3] नाम पाया, क्योंकि सार के द्वितीय खंड से (१२ मात्राएँ) इसका लय-साम्य है। प्राचीन छंदः शास्त्रों में जब इसका नाम उपलब्ध है, तो इसे नूतन नाम देना समीचीन नहीं। गीता नाम के एक छंद का उल्लेख भानु ने किया है। अतः प्रगीता नहीं कह कर इसे महानुभाव कहना ही हमें संगत प्रतीत हुआ।

डॉ० शहीदुल्ला ने सरहपा के 'दोहा कोश गीति' में एक जगह महानुभाव छंद के प्रयोग की चर्चा की है।[4] किन्तु, बहुत ढूँढ़ने पर भी वह पद्य हमें प्राप्त नहीं हो सका। बब्बर के काव्य में निम्नांकित द्वादशमात्रिक छन्द मिलता है—

**हरिण–सरिस्सा णग्रणा। कमल सरिस्सा वग्रणा।**
**जुव ग्रण चित्ता-हरिणी। पिय-सहि ! दिट्ठा तरुणी।**[5]

---

[1] स्वयंभूछन्दः, ६।१२५। [2] वृत्तजातिसमुच्चय, ३।६।
[3] डॉ० शुक्ल—आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २४८।
[4] दोहाकोश : भूमिका पृ० ६५–६६–राहुल सांकृत्यायन।
[5] हिन्दी काव्यधारा : राहुल पृ० ३१६।

किन्तु इसके प्रत्येक चरण में वर्णों की समानता तथा व्यवस्था (न य स) बताती है कि यह वर्णिक सारंगिका[1] छन्द है, महानुभाव नहीं। अवश्य जयदेव ने एक जगह महानुभाव का प्रयोग किया है—

सा विरहे तव दीना।
माधव मनसिज विशिखभयादिव
भावनया त्वयि लीना।[2]

भ भ ग ग के आधार पर 'सा विरहे तव दीना' को चित्रपदा छन्द भी मान सकते हैं, किन्तु जयदेव ने गीतों में मात्रिक छंदों का ही प्रयोग किया है। अतः यह महानुभाव ही है, चित्रपदा नहीं।

हिन्दी काव्यों में सर्वप्रथम इसका प्रयोग गोरखबानी में मिलता है—

आओ देवी बैसो। द्वादिस अंगुल पैसो।[3]

उसके बाद विद्यापति ने चौपाई के साथ महानुभाव का प्रयोग कई पदों में किया है।[4] यथा—

| | |
|---|---|
| चिकुर गरए जलधारा | महानुभाव |
| मेह वरिस जनु मोतिमहारा | चौपाई या पादाकुलक |
| बदन पोंछत पर चूरे | महानुभाव |
| माजि धएल जनि कनक-मुकूरे।[5] | चौपाई या पादाकुलक |

कबीर ग्रंथावली के एक पद में महानुभाव और मानव का मिश्र प्रयोग पाया जाता है।

कर गहि एक बिनांनी, ता भीतरि पंच परांनी।
तामैं एक उदासी, तिहितणि बुणि सबै बिनासी।[6]

नानक के पदों में भी हाकलि के साथ इसकी कुछ पंक्तियाँ मिल जाती हैं—

गावे का फल होई। जा आपे देवै सोई।
गुरु वचना मन लागा। ता जम का मारग भागा।[7]

---

[1]प्रा० पं० २१७८। [2]गीतगोविन्द—चतुर्थ सर्ग।
[3]गोरखबानी : पीतांबरदत्त बड़थ्वाल—सबदी १५५।
[4]बेनीपुरी—विद्यापति पदावली, १९, २३, २४, २२३।
[5]बेनीपुरी-विद्यापति पदावली, २४।
[6]क० ग्रं०-श्यामसुन्दर दास, पद २८९।
[7]संतकाव्य-परशुराम चतुर्वेदी, पद १।

सूरदास ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में केवल एक पद में ही इसका प्रयोग किया है। हितहरिवंश ने एक पद में महानुभाव की एक अर्द्धाली के बाद सार के चार चरण रखे हैं—

**मोहन बेनु बजावै। इहि रव नारि बुलावै।[१]**

तुलसीदास ने इस छंद का प्रयोग अपने पद-साहित्य में नहीं किया है। भारतेन्दु के पदों में भी यह छन्द उपलब्ध नहीं होता। आधुनिक काल में पंत ने इस छंद का प्रयोग ग्राम्या में किया है।[२] चाहे इसका प्रयोग उन्होंने सार के दूसरे अंश के आधार पर ही किया हो, किन्तु ऐसा प्रयोग नवीन नहीं कहा जा सकता, जब कि इसका प्रयोग पद-साहित्य में अनेक कवियों द्वारा पूर्व ही हो चुका है।

## (३) लीला

**मोतें को हो अनाथ; दरसन तें भयो सनाथ**
**देखत नैन जुड़ावन।**
**भक्त हेत देह धरन, पुहुमी को भार-हरन,**
**जनम-जनम मुक्तावन।**
**—८६९**

सूरसागर में लीलाछन्द के स्वतंत्र और मिश्र[३] दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। साथ ही कई छन्दों (विनय, नटनागर, हरिप्रिया, हरिप्रीता, हरिवल्लभा)[४] का निर्माण लीला के आधार पर हुआ है। इस छन्द के लक्षण में भानु ने केवल १२ मात्राएँ और अन्त में जगण (।ऽ।) माना है—'रवि कल लीला मुरारि'[५] यह लक्षण इसकी गति के निर्धारण में कोई सहायता नहीं करता। भिखारीदास के लक्षण—लीला रवि कल जाँत जुत[६] की भी यही दशा है। डॉ० शुक्ल ने इस छन्द को चार त्रिकलों के आधार पर रचित मान[७] कर इसकी गति को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार लीला छन्द चार

---

[१]ब्रजमाधुरीसार-वियोगी हरि, पद २३। [२]ग्राम्या, पृ० ६७।
[३]मिश्रछन्द प्रकरण, पृ० ३४२।
[४]विनय आदि छन्द, पृ० ३००, ३०७, ३०८, ३१३, ३१५।
[५]भानु छन्दः प्रभाकर, पृ० ४५।
[६]भिखारी—छन्दोर्णव ५।६५।
[७]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४८।

त्रिकलों के आधार पर चलता है। दो त्रिकलों की जगह समात्मक षट्कल भी रख सकते हैं। अन्त में जगण होना भी अनिवार्य नहीं है। 'देखत नैन जुड़ावन' जैसे दो-एक अपवादों को छोड़ कर सूरदास में प्रायः सभी जगह इस नियम का पालन मिलता है।

संस्कृत छन्दः शास्त्रों में मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत इस लय वाला कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। किंतु वर्णिक छन्दों में मल्लिका (र ज ग ल) प्रमाणिका (ज र ल ग) माणवक (भ त ल ग) दमनक (न न न ल ग) तथा तरलनयन (न न न न)[१] ये सभी चार त्रिकलों के आधार पर ही चलने वाले छन्द हैं। इन में मल्लिका[२] (समानी) प्रमाणिका[३] तथा माणवक[४] का उल्लेख तो कई प्राचीन आचार्यों ने किया है। प्रमाणिका को विरहांक ने नाराचक[५] के नाम से उल्लिखित किया है। ये सभी वर्णवृत्त वर्णक्रम की शिथिलता से सहज ही लीला छन्द में परिणत हो सकते हैं।

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों में सुखदेव मिश्र ने वृत्तविचार[६] में और भिखारी दास ने छन्दोर्णव[७] में इसका उल्लेख किया है। भिखारीदास ने एकादश मात्रिक एक और लीला का भी उल्लेख किया है।[८] उसी प्रकार भानु के यहाँ दो लीला छन्द और हैं। एक मात्रिक (७–७–१०=२४ मात्राएँ)[९] और दूसरा वर्णिक[१०] (भ त ग)। भिखारीदास की लीला भानु की वर्णिक लीला ही है। इस वर्णिक तथा २४ मात्रा वाली लीला से हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि सूरसाहित्य में इनका प्रयोग नहीं हुआ है।

अपभ्रंश काव्य में लीला का प्रयोग नहीं मिलता। स्वयंभू की रामायण में अवश्य इसी लय वाला निम्न छन्द प्राप्त होता है।

---

[१]भानु का छन्दः प्रभाकर तत्तत् छन्द।
[२]पिंगल ५।१६, जयदेव ५।१३ जयकी० २।६६ हेम २।८३ केदार ३।१७।
[३]पिंगल ५।१७ जयदेव ५।१४ जयकी० २।६५ हेम २।८२ केदार ३।१८।
[४]पिंगल ६।१४ जयदेव ६।१५ जयकी० २।६९ हेम २।७७ केदार ३।१५।
[५]विरहांक—४।५९।
[६]डॉ० शिवनन्दन—मात्रिक छन्दों का विकास पृ० ७६-७७।
[७]भिखारीदास—५।८९५।
[८]भिखारीदास, ५।७७।
[९]भानु प० ६४।
[१०]भानु पृ० १२४।

**केवि सूर साहि मारिण । सत्ति-सूल चक्कपाणि ।**[1]

किंतु, वर्ण-क्रम व्यवस्था के कारण इसे लीला छन्द नहीं कह सकते, यह मल्लिका (समानी) छन्द है। हिन्दी काव्य में सर्वप्रथम इसका प्रयोग अव्यवस्थित रूप में गोरखवानी में मिलता है—

**उगवंत सूर पत्र पूर काल कंटक जाइ दूर।**
**नाथ का भंडार भरपूर रिजक रोजी सदा हुजूर।**[2]

पृथ्वीराज रासो में जो हनुफाल छन्द कहा गया है, वह वास्तव में तोमर और लीला छन्द का मिश्रित रूप कहा जा सकता है।[3] सूरदास ने भी इन दोनों का मिश्रण एक पद में किया है। विद्यापति की पदावली में दो पद लीला छन्द में निबद्ध हैं।[4]

**सघन जघन कापए लोर**
**मदन मथन कएल जोर। —पद ६२**

हितहरिवंश के काव्य में भी लीला का प्रयोग मिलता है—

**मंजुल कल, कुंज देश।**
**राधा हरि, विशद वेश।**
**राका नव कुमुद बंधु, शरद यामिनी।**[5]

तुलसी के पद-साहित्य में इस छन्द का बिलकुल प्रयोग नहीं हुआ। आधुनिक काल में इस छन्द को विशेष महत्व मिला। मैथिलीशरण[6], निराला[7], तथा पंत[8] ने लीला छन्द में अनेक गीत रचे। इस युग में इसके विशेष प्रचलन का कारण यह है कि इस युग में मुक्तक प्रगीतों की रचना विशेष रूप से हुई है। कवियों को हृदय के छोटे-छोटे भावों को प्रकट करने के लिए छोटे छन्दों की आवश्यकता प्रतीत हुई। मंद-मंथर भावों को निबद्ध करने के लिए रुक-रुक कर चलने वाला यह छन्द उनका अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। शास्त्रीय संगीत के अधिक अनुकूल होने के कारण कवियों ने इसे विशेष रूप से अपनाया।

---

[1]हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० ७४। [2]गोरखबानी—सबदी—१५६।
[3]डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी : चन्दवरदाई और उनका काव्य, पृ० २२६।
[4]बेनीपुरी—विद्यापति पदावली ६२।१२७।
[5]डॉ० शुक्ल—पृ० २४६ आ० हि० काव्य में छन्दयोजना।
[6]यशोधरा—पृ० ६०। [7]गीतिका—पृ० ७, ६५, ६८, ७३।
[8]स्वर्णकिरन—मत्स्यगंधाएँ, स्वर्णधूलि—गणपति उत्सव, शरद चाँदनी।

सर्वतंत्र स्वतंत्र भक्त कवियों की उद्दाम भाव-धारा को समेटने में हरिप्रिया आदि दंडक छंद बहुत ही सक्षम सिद्ध हुए थे। आज के युग के कर्म-संकुल कवियों की वाणीभंगिमा के लिए न तो उतने विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता थी और न ये छन्द ही उतने उपयुक्त थे। फलतः आधुनिक काल में दण्डकों का प्रचलन एकदम बन्द हो गया। आज के कवि हरिप्रिया को छोड़ कर उसके एक अंश (लीला) में ही अपने भावों को निबद्ध करते रहे। हरिप्रिया आदि की अपेक्षा लीला की प्रधानता और लोकप्रियता का यह भी एक कारण है।

## (४) तोमर

**सुनि थके देव विमान।**
**सुर वधू चित्र समान।**
**ग्रह नखत तजत न रास।**
**बाहन बँधे धुनि-पास। —पद १२४१।**

तोमर छन्द का प्रयोग सूरसागर में स्वतंत्र रूप में नहीं हुआ है। उक्त पद में तोमर और लीला दोनों के चरणों का मिश्रण है। तोमर के लगात्मक (।ऽ) अंत वाले कुछ चरण भी मिलते हैं, जिन्हें भानु ने नित छन्द कहा है।[१] इस प्रकार परिशिष्ट ५३ के छः चरण तोमर के और दो नित के कहे जायँगे।

भानु ने तोमर के लक्षण में बारह मात्राएँ और अंत में गुरु-लघु (ऽ।) माना है 'तोमर सु द्वादश पौन।'[२] इससे इसके चरण की रचना-प्रक्रिया का स्पष्ट बोध नहीं होता। डॉ० शुक्ल ने इसके प्रारम्भ को पंचक (तगण या रगण) पर आधारित मान कर अथवा चतुष्क से प्रारम्भ होने वाले चरणों की पाँचवीं मात्रा को लघु बता कर लक्षण को स्पष्ट कर दिया है,[३] जिससे इसके गति-निर्धारण में कठिनाई नहीं होती। वस्तुतः तोमर छन्द का निर्माण दो लघु (या एक गुरु) और दो पंचकों (ऽ ऽ ।) या (ऽ । ऽ) के आधार पर होता है। सूरसागर में प्रयुक्त तोमर में यह लक्षण पूर्णतया घटित होता है।

प्रा० पैं० में तोमर को वर्णिक छन्द माना है, जिसका लक्षण स ज ज दिया गया है।[४] केशवदास भी इसे वर्णिक मानते हैं और यही लक्षण देते हैं।[५] किंतु, रामचन्द्रिका में सर्वत्र इस नियम का पालन नहीं हुआ है। यथा—

---

[१] मिश्र छन्द, तोमर+लीला पृ० ३४२। [२] छन्दः प्रभाकर, पृ० ४४।
[३] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५०। [४] प्रा० पं० २।८६।
[५] छन्दमाला, १।२२।

**(क) बहु भाँति पूजि सुराइ। कर जोरि कै परि पाय।**
**हँसि के कह्यौ रिषि मित्र। अब बैठु राज पवित्र।[१]**
**(ख) फल फूल सों संयुक्त। अलि यों रमैं जनु मुक्त।[२]**
**(ग) कछु मैं न जानी बात। कब तोरियौ धनु तात।[३]**

इनमें (क) के चारों चरणों में गणव्यवस्था ठीक है, किंतु (ख) और (ग) के प्रथम चरणों में नौ की जगह आठ ही अक्षर हैं। फलस्वरूप गण का क्रम भी टूट गया है, पर मात्राएँ सब में समान हैं। केशव के इन उदाहरणों को देख कर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्णिक तोमर धीरे-धीरे मात्रिक रूप धारण कर रहा था। भिखारीदास ने तोमर को रखा तो है मात्रिक प्रकरण में, किंतु लक्षण दिया है वर्णिक छन्द के समान। 'स ज जी तोमर जानियो'[४]। उनके उदाहरण-पद्य में भी गणों की पूरी पाबंदी है।[५]

अपभ्रंश कवि बब्बर ने तोमर का प्रयोग वर्णिक रूप में किया है।[६] केशवदास में भी वर्णिक रूप में इसके प्रयोग मिल जाते हैं। किंतु तोमर का मात्रिक रूप ही हिन्दी में विशेष प्रचलित रहा। चन्दवरदाई ने इसका प्रयोग मात्रिक रूप में ही किया है—

**सुनि श्रवन संभरि राज। वर वज्जि विजयत बाज।**
**तन त्रविधि तूल तरंग। विधि मड़ि वीर विजंग। छं ५५ स० ३६[७]**

गोरखबानी के एक पद में तोमर की दो-चार अस्तव्यस्त पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

**रहिवा दसवैं दुवारि। सेइवा पद निराकार।**
**जपिलै अजिपाजाप। विचारि लै आपैं आप।[८]**

विद्यापति की पदावली में तोमर छन्द नहीं मिलता। कबीर ने भी इसका प्रयोग नहीं किया है। सूरदास ने इसका मात्रिक प्रयोग मिश्र-रूप में किया है। तुलसी

---

[१]रामचन्द्रिका, २। १२। [२]रामचन्द्रिका, ५। १५।
[३]रामचन्द्रिका, ५। ४५। [४]भिखारी, ५। ६० छन्दोर्णव।
[५]भिखारी, ५। ६३ छन्दोर्णव।
[६]हिन्दी काव्यधारा, राहुल पृ० ३३० पद्य ८७ (३६७)।
[७]त्रिवेदी, चन्दवरदाई और उनका काव्य—पृ० २२७।
[८]गोरखबानी, पद ३३।

ने पदों में नहीं, रामचरितमानस में इसके मात्रिक रूप का प्रयोग तीन स्थलों पर किया है। रावण द्वारा फैलाये गये पाखंड-वर्णन में—

**जब कीन्ह तेहिं पाषंड। भए प्रगट जंतु प्रचंड।**[1]

इन्द्र द्वारा की गयी राम की स्तुति में—

**जय राम सोभा धाम। दायक प्रनत विश्राम।**[2]

और खर-दूषण के साथ राम के युद्ध-वर्णन में—

**तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल।**[3]

इस प्रकार एक ही छन्द के द्वारा तुलसीदास ने भयानक-वीभत्स-जैसे परुष रसों की तथा भक्ति जैसी कोमल भावना की अभिव्यंजना सफलतापूर्वक की है। इसके बाद सूदन ने सुजानचरित में तथा श्रीधर ने जंगनामा में वीर तथा रौद्र रस की अवतारणा के लिए तोमर छन्द का प्रयोग किया है।[4] आधुनिक काल में इस छन्द का प्रयोग अत्यंत विरल है। साकेत के एक स्थल पर इसका उपयोग किया गया है।[5] ढूँढ़ने पर इसी प्रकार कुछ पद्य मिल जा सकते हैं।[6] किंतु इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में यह वीर रसात्मक छन्द अपने स्थान से च्युत हो गया। वीर रसात्मक वाग्धारा लंबे छन्दों के विस्तृत क्षेत्र में प्रवाहित हो कर जितना प्रभाव पाठकों पर डाल सकती है, उतना छोटे छंदों की संकीर्ण भूमि पर चल कर नहीं। यही कारण है कि इस युग में वीर-गीत या वीर-प्रबंध तो लिखे गये, पर उनके लिए तोमर जैसे छोटे छन्द पसन्द नहीं किये गये।

## (५) सखी (हाकलि-मानव)

**यह कहति जसोदा रानी।**
**को खिझवै सारंगपानी।**
**जो मेरे लाल खिझावै।**
**सो अपनो कीनौ पावै।** —**पद ८०१**

सखी छन्द का प्रयोग सूरसागर के दो पदों में (सूरसागर पद ८०१ और परिशिष्ट ६३) में हुआ है। भानु ने इसके प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ और अंत

[1]लंकाकाण्ड, गीताप्रेस पृ० ८११। [2]लंकाकाण्ड, गीताप्रेस पृ० ८२६।
[3]अरण्य काण्ड, गीताप्रेस, पृ० ५६३।
[4]वीरकाव्य : उदयनारायण तिवारी—पृ० ४०६, हिन्दी वीरकाव्य : टीकमसिंह तोमर—पृ० १२४। [5]साकेत—चतुर्थ सर्ग।
[6]राज्यश्री : जयशंकर 'प्रसाद', तृतीय अंक, पृ० ६३।

में मगण या यगण माना है। उन्होंने एक हाकलि छन्द का उल्लेख किया है, जिसका निर्माण तीन चौकल और एक गुरु से माना है। 'त्रै चौकल गुरु हाकलि है।'[१] हाकलि का सर्वप्रथम उल्लेख प्रा० पैं० में पाया जाता है।[२] प्रा० पैं० के अनुसार हाकलि के प्रत्येक चरण में एक सगण (।।ऽ) एक भगण (ऽ।।) एक द्विजगण (।।।।) तथा एक गुरु होते हैं। साथ ही प्रथम-द्वितीय चरणों में ११ अक्षर तथा तृतीय-चतुर्थ में १० अक्षर होते हैं।[३] दामोदर मिश्र के लक्षण में गणव्यवस्था तो प्रा० पैं० के अनुसार ही है, किंतु अक्षर के संबंध में कुछ नहीं कहा गया है।

द्विजगण सगण भगण कलिता
भवति चतुर्दश कल कलिता।
अन्ते गुरुमुपधाय यदा
हाकलिरेषा भवति तदा।[४]

केशवदास ने हाकलिका के प्रत्येक चरण में तीन भगण और एक गुरु की व्यवस्था बतला कर इसे एकदम वर्णिक बना दिया है।[५] केशव के बाद मुरलीधर[६], सुखदेव[७], भिखारीदास[८], राम सहाय[९], अयोध्या प्रसाद[१०] तथा जानी बिहारी लाल[११] ने हाकलि का उल्लेख मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत किया है। भिखारीदास के लक्षण (चारि दस कल हाकली) और उदाहरण—

---

[१]छन्दः प्रभाकर पृ० ४७। [२]प्रा० पैं० १।१७२-१७४।

[३]प्रा० पैं० १।१७२-१७३—डॉ० व्यास ने पद १७२ के अर्थ में जो' क्रमशः सगण, भगण तथा द्विजगण' लिखा है, हमारे विचार से वह गलत है। गणों की क्रमिक स्थापना से यह मात्रिक नहीं वर्णिक हो जाता। फिर प्रा० पैं के उदाहरण-पद्य में इन गणों की क्रमिक योजना भी नहीं दिखाई पड़ती। प्रा० पैं० भाग २ पृ० १४६।

[४]वाणीभूषण—दामोदर मिश्र—श्लो० ६७।

[५]छंदमाला—२।४२—पाठ में 'मगण' है, भगण होना चाहिये। प्रा० पैं० भाग ४ डॉ० व्यास—पृ० ४५२।

[६]डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ७२।

[७]वही, पृ० ७७। [८]छन्दार्णव-भिखारी—५।११४-११५।

[९]डॉ० शिवनन्दन प्रसाद—पृ० ६२।

[१०]वही, पृ० ६४। [११]वही, पृ० ६६।

पर तिय गुरु तिय तूल गनै।
पर धन गरल समान भनै'।

दोनो में इसका मात्रिक रूप ही प्रत्यक्ष होता है। भानु ने तो इसे स्पष्टतः मात्रिक छन्द मान कर लिखा है—पूर्वाचार्यों ने इसके पहले और दूसरे चरण में ११ वर्ण और तीसरे और चौथे चरण में १० वर्ण माने हैं, परन्तु मुख्य नियम तो यह है—त्रै चौकल गुरु हाकलि हैं।[1] भानु के बाद रघुनंदन[2], परमानंद[3] डॉ० शिवनंदन[4] तथा डॉ० शुक्ल[5] ने इसका उल्लेख किया है। डॉ० शुक्ल ने मैथिलीशरण के प्रयोग के आधार पर समप्रवाही १४ मात्राओं का होना इसका सामान्य लक्षण माना है। यदि चौकल का नियम अनिवार्यतः माना जाय तो उनके द्वारा उद्धृत हाकलि के उदाहरण-रूप में गुप्त जी की निम्नांकित पंक्तियाँ—

भाग सुहाग पक्ष में थे।
अंचलबद्ध कक्ष में थे।

हाकलि की नहीं, मानव की पंक्तियाँ हो जायँगी। मानव का उल्लेख किसी प्राचीन आचार्य ने नहीं किया। भानु ने चतुर्दशमात्रापादी उस छन्द को मानव की संज्ञा दी है जिसके चारों चरणों में तीन-तीन चौकल नहीं पड़े।[6] भानु के अनुसार गुप्त जी की उपरिलिखित पंक्तियाँ मानव की कही जायँगी, क्योंकि इनमें तीन चौकल नहीं बन पाते—प्रथम चौकल के बाद पंचक (हा ग प, बद्ध क।) (ऽ । ऽ ऽ। ऽ) आ जाते हैं। वस्तुतः मानव हाकलि छन्द ही है। हाकलि और मानव की लय में कोई खास भेद नहीं है। आचार्यों की छन्दों की संख्या-वृद्धि वाली मनोवृत्ति के फलस्वरूप इसने एक नया नाम पा लिया है। कवियों ने इन दोनों के भेदों पर कभी ध्यान नहीं दिया। उनके प्रयोग में दोनों प्रकार की पंक्तियाँ आपस में मिली-जुली चलती हैं। गुप्त जी के 'साकेत' की निम्नांकित पंक्तियों में—

देख देख उनकी ममता —मानव।
करती | थीं उस | की सम | ता —हाकलि।

---

[1] भानु—पृ० ४७। [2] हिन्दी छन्द प्रकाश—पृ० ५४।
[3] पिंगल पीयूष—पृ० १५५। [4] हिन्दी छन्दःशास्त्र—पृ० ६४।
[5] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५२।
[6] भानु, पृ० ४७।

आज अ | तुल उ | त्साह भ | रे —हाकलि ।
थे दो | नों के | हृदय ह | रे —हाकलि ।
—पृ० ७७

पहली मानव की और शेष तीनों हाकलि की हैं। एक चरण में तीन चौकल नहीं पड़ने से ही इस पद्य को हाकलि नहीं मान कर मानव कह देने में कौन-सा सार है, यह विचारणीय है। इस चौकल के विचार से तो सखी छन्द (१४ मात्राएँ, अंत में ऽऽऽ अथवा ।ऽऽ) भी हाकलि-मानव में अन्तर्भुक्त हो जाता है। हरिऔध के सखी छन्द के निम्नांकित उदाहरण में—

प्रति दिव | स तुम्हा | रा द | र्शन। —हाकलि
देवता—सदृश थी करती। —मानव
अवलोक—दिव्य—मुख—आभा। —सखी
निज हृदय—तिमिर थी हरती।[1] —हाकलि

चौकल के नियमानुसार द्वितीय पंक्ति मानव की है, शेष सभी पंक्तियाँ हाकलि की हैं। प्रथम पंक्ति में तीन चौकल तो बनते हैं, पर अंत में गुरु नहीं है। उसकी जगह दो लघु रक्खे गये हैं। प्रसाद के निम्नांकित पद्य—

घिर जा | तीं प्रल | य घटा | यें
कुटिया | पर आ | कर मे | री
तम—चू | र्ण बरस | जाता | था
छा जा | ती अधि | क अंधे | री।[2]

के चारों चरणों में तीन-तीन चौकल बन जाते हैं। अन्त में एक गुरु की जगह यगण और मगण का प्रयोग भी है। इसलिये भानु के नियमानुसार यह सखी छन्द सहज ही कहा जा सकता है। किन्तु ये दोनों छन्द वस्तुतः एक नहीं हैं। चौकल का लक्षण पूर्ण रूप से घटित हो जाने पर भी सखी छन्द हाकलि-मानव नहीं हो सकता। हाकलि समप्रवाही चौपाई की अंतिम दो मात्राओं को निकाल देने से बना है। किन्तु, सखी का निर्माण पदपादाकुलक की अंतिम दो मात्राओं को हटा कर हुआ है। इसलिये इसके चरण का प्रारंभ हाकलि के समान द्वित्रिकलात्मक नहीं हो सकता। पदपादाकुलक के समान इसके चरणारंभ में एक

---

[1]वैदेही वनवास—षष्ठ सर्ग पृ० ७५। [2]आँसू—पृ० १२।

द्विकल का रहना परमावश्यक है। उसके बाद या तो समकल रहेंगे या दो त्रिकल। भानु के लक्षणोदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी।

**कल भुवन सखी रवि माया, यह माया पतिहिं लुभाया।**
**प्रभु तउ अति प्रीति प्रकासी, रवि रास कियो सुखरासी।**

**—छन्दः प्रभाकर, पृ० ४६**

इसके दो चरण चौपाई की तरह अवश्य समप्रवाही हैं। अतः वे हाकलि के चरण भी हो सकते हैं। किन्तु दो चरणों का प्रारम्भ द्विकल+दो त्रिकल से हुआ है। इसलिये ये दोनों हाकलि के चरण नहीं हो सकते। इस प्रकार यह पद्य सिद्ध करता है कि इसके चरण पदपादाकुलक की अंतिम दो मात्राओं को हटा कर बनाये गये हैं।

'प्रसाद' के सम्पूर्ण 'आँसू' में चरणों का प्रारंभ इन्हीं दो ढंगों से हुआ है। द्वित्रिकलात्मक प्रारंभ वाली केवल एक पंक्ति है (अंतरिक्ष में जल-थल में), जो कवि की असावधानी के फल-स्वरूप टपक पड़ी है। अतः 'आँसू' को सखी छन्द में रचित मानना ही ठीक है। उसमें मानव छन्द मानना सर्वथा भ्रम है।[1]

सूरदास के दोनों पदों के चरणों का निर्माण भी इन्हीं दोनों ढंगों से हुआ है। अवश्य कहीं-कहीं मगण-यगण के नियम का पालन नहीं हुआ है। जैसे—

**देखत सुतप्त जल तरसैं।**
**जसुदा के पाइनि परसैं।**
**सुन्दर अति सरस अंदरसे।**
**ते घृत दधि मधु मिलि सरसे। —पद ८०१**

प्रा० पै० में हाकलि के उदाहरण में बब्बर का निम्नांकित पद्य उद्धृत किया गया है—

**भ भ स स**
**उच्चउ छाअण विमल धरा तरुणी घरिणी विणअपरा**
**भ भ भ स स भ**
**वित्तक पूरल मुद्दहरा बरिसा समआ सुक्खकरा।**[2]

इसमें प्रा० पै० का सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।) द्विजगण (।।।।) तथा एक गुरु वाला नियम घटित नहीं होता। ११ और १० अक्षरों के नियम की पाबंदी अवश्य है। इस उदाहृत पद्य से प्रा० पै० कार का यह मन्तव्य स्पष्ट

[1]आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २५३।
[2]हिन्दी काव्यधारा, ३१४, प्रा० पै० १।१७४।

हो जाता है कि उन्होंने सगण भगण की क्रमिक स्थापना पर जोर नहीं दिया है। उनके अनुसार हाकलि में तीन चौकल और एक गुरु चाहिये। चौकल या तो सगण हो, भगण हो या सर्वलघु हो। भानु ने सगण, भगण आदि नामों को हटा कर केवल तीन चौकलों की व्यवस्था कर दी।

प्रा० पैं० के उपर्युक्त छन्द के आगे यदि हम संस्कृत वर्णिक सारवती (भ भ भ ग=१० अक्षर) के निम्न पद्य को रखते हैं—

**भामि भगी रँग डारि कहाँ। पूँछत यों हरि जाइ तहाँ।**
**धाइ धरी वह गोप लली। सारवती फगुवाइ भली।**[१]

तो स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि हाकलि सारवती का ही मात्रिक रूपान्तर है। हाकलि का तीसरा चरण तो स्पष्टतः सारवती का है। प्रथम में तीसरे भगण को सर्वलघु (विमलध) रूप दे कर ११ वर्णों की पूर्त्ति की गई है। दूसरे तथा चौथे चरणों में अवश्य सारवती की भगण व्यवस्था नहीं है। किन्तु चौथे चरण में एक भगण आ गया है। स्वयंभू के निम्नांकित पद्य की[२]

| | |
|---|---|
| **राम-विऊएं दुम्मणिया** | **—९ अक्षर १४ मात्राएँ** |
| **अंसु—जलोल्लिय-लोयणिया** | **—१० अक्षर १४ मात्राएँ** |
| **मोवक्ककल केस कवोल भुआ** | **—१० अक्षर १४ मात्राएँ** |
| **दिट्ठ विसंठुल जणय-सुया** | **—११ अक्षर १४ मात्राएँ** |

दूसरी और तीसरी पंक्तियों में सारवती की पूरी गणव्यवस्था है। पहली और चौथी में क्रमशः एक वर्ण कम और एक वर्ण अधिक है। इसलिये यह हाकलि ही है, सारवती नहीं। पर सारवती ही वर्णों की क्रम-व्यवस्था तोड़ कर हाकलि बन रही थी, इससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है। यह सारवती छन्द प्रा० पैं० में उल्लिखित है।[३] पर यह इससे भी प्राचीन है। भरत ने वृत्तनाम[४] से, और जयकीर्त्ति तथा हेमचन्द्र ने चित्रगति[५] नाम से इसका उल्लेख किया है। स्वयंभू-च्छन्दः में एक चतुर्दशमात्रिक छन्द गन्धोदक धारा (४+४+४+२ या +६ ४+४) है—

---

[१]भानु—पृ० १३४।
[२]हिन्दी काव्यधारा—राहुल (५) विरह (सीता) पृ० ६२।
[३]प्रा० पैं० २।९४-९५। [४]नाट्यशास्त्र ३२।२१७।
[५]छन्दोनुशासन (जयकीर्ति) २।८९, छन्दोनुशासन (हेम) २।११४।

**चलणे चोद्दहमत्ताओ । अण्णे आहुड्डचआरा ।**
**छचचा जीअ बिहासाए । एसा गंधो अ आ (अ) धारा ।[१]**

इसी का उल्लेख हेमचन्द्र ने भी किया है—चचचाश्चिदौ वा गन्धोदकधारा ।[२] डॉ० व्यास ने इसी गंधोदकधारा का विकास प्रा० पैं० की हाकलि में देखा है ।[३] कौन कह सकता है, स्वयंभू का यह गंधोदकधारा छन्द भरत के वृत्त छन्द का ही विकसित मात्रिक रूप हो । ४+४+४+२ की व्यवस्था तो सारवती में भी ठीक-ठीक बैठ जाती है ।

हाकलि छन्द का काव्यगत प्रयोग अपभ्रंश काव्य में हम देख चुके हैं । हिन्दी काव्य में सर्वप्रथम इसका प्रयोग गोरखबानी की कतिपय पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है—

**चेतनि बाला भ्रम न बहै । नाथ की कृपा अषंडित रहै ।[४]**

गोरखनाथ के बाद विद्यापति[५] और केशव[६] ने हाकलि का प्रयोग किया है । आधुनिक काल में मैथिलीशरण ने 'साकेत' के चतुर्थ सर्ग की रचना हाकलि में ही की है । छायावाद के अन्तर्गत 'निराला' के दो-एक गीत इसी छन्द में निबद्ध हैं ।[७]

सखी छन्द का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख प्राचीन नहीं है । संभवतः इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है, किन्तु इसका काव्यगत प्रयोग पुराना है । पृथ्वीराजरासो में वेलीद्रुम या वेलीविद्रुम नाम से जो छन्द मिलते हैं, वे बहुत दूर तक सखी छन्द कहे जा सकते हैं । जैसे—

**बजि तंति तंत्रिय बज्जनं । सुरगान सज्जिय सुर गनं ।[८]**
**—छं० १३ से ५६ ।**

चन्दबरदाई के बाद कबीर,[९] सूर, तुलसी,[१०] भारतेन्दु[११] आदि ने सखी का प्रयोग

---

[१] स्वयंभू—६।१२७ । [२] हेमचन्द—३।२६ ।
[३] प्रा० पैं० भाग ४ पृ० ४५२ । [४] गोरखबानी—सबदी १६० ।
[५] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद ७२ ।
[६] राम चन्द्रिका १।३६ । [७] गीतिका : गीत २०, १०१ ।
[८] चंदबरदाई—त्रिवेदी—पृ० २४४-२४५ ।
[९] कबीर ग्रंथावली—१७३, २६२, २६३, २७६, २८२, २६६ ।
[१०] विनयपत्रिका—पद १२५ ।
[११] प्रेमाश्रुवर्षण—पद ३४, मधुमुकुल—पद ५६ ।

अपने पदों में किया है। पद्माकर ने अपने प्रबन्ध काव्य में कुछ पद्यों की रचना इसी छन्द में की है। हालाँकि उन्होने इसका नाम सखी न दे कर हाकल दिया है।[१] आधुनिक युग में 'वैदेही वनवास' में हरिऔध ने सखी नाम से ही इसका सर्गान्त प्रयोग किया है। 'प्रसाद' का 'आँसू' इसी छन्द में रचित है। पन्त के 'गुंजन' के कई गीत इसी छन्द में निबद्ध हैं।[२]

निराला ने भी एक गीत की रचना इसी छन्द में की है।[३] इस प्रकार चन्दबरदाई से ले कर छायावाद काल तक यह छन्द कवियों की वाणी का वाहक बना रहा। सूरदास और पद्माकर ने इसका प्रयोग वर्णनात्मक प्रसंगों में किया। चन्दबरदाई ने इसके द्वारा वीर वातावरण की सृष्टि की। कबीर और तुलसी ने तत्व की बातें कहीं। इससे इस छन्द की सर्वरससिद्धता तो प्रकट हो ही जाती है, पर यह छन्द करुण रस के विशेष अनुकूल है। हाकलि चौपाई की तरह बंधनविहीन नाले के समान सरसराती निकल जाती है। सखी जैसे दो मात्राओं पर रुक जाती है और फिर हाकलि की गति ग्रहण कर लेती है। इसलिये इसकी चाल में कुछ धीमापन आ जाता है, इसी से इसमें करुण रस की अवतारणा सम्यक् रूप से हो जाती है।

## (६) कज्जल

**पिय देखौ बन-छवि निहारि।**
**बार-बार यह कहति नारि।**
**नव पल्लव बहु सुमन रंग।**
**द्रुम-बेली-तनु भयो अनंग।** —पद ३४६८

सूर साहित्य में कज्जल छन्द का प्रयोग केवल तीन पदों में हुआ है।[४] प्राचीन छन्दःशास्त्रों में इस नाम का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। भानु ने ही सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। उनके पश्चात् किसी छन्दःशास्त्री द्वारा यह उल्लिखित नहीं हुआ। भानु के अनुसार इसमें १४ मात्राएँ होती हैं और अन्त में ऽ। रहता है। 'कज्जल भौन मत्ता पौन।'[५] इस लक्षण से कज्जल की

---

[१]हिम्मत बहादुर विरुदावली—पद्य ३ से ४४।
[२]गुंजन—गीत ३, ४, ६, ७, ८, ९, आदि। [३]गीतिका—गीत ६०।
[४]सूरसागर पद ३४६८, ३४६९, ३४७०। [५]छन्दः प्रभाकर, पृ० ४६।

पाद-रचना-प्रक्रिया में कोई मदद नहीं मिलती—इसका कोई रूप स्पष्ट नहीं होता। भानु के निम्न लक्षणोदाहरण पद्य—

**कज्जल भौन मत्ता पौन।**
**मूरख सोइ प्रविसत जौन।**
**असत माया फंदहि त्याग।**
**सीताराम चरणहिं लाग।**

से भी इस बात का स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसका आधार क्या है ? क्योंकि जहाँ इसके पहले, दूसरे और चौथे चरण चौकल-त्रिकल-चौकल-त्रिकल के आधार पर चलते हैं, वहाँ तीसरा चरण त्रिकल-चौकल-चौकल-त्रिकल पर अवलंबित है। इससे इतना ही स्पष्ट होता है कि भानु इसके चरण का निर्माण एकमात्र सप्तक की दो आवृत्तियों से मानते हैं—सप्तक का स्वरूप चाहे जो भी हो। किन्तु उनके ही द्वारा उद्धृत निम्न पद्य में—

**प्रभु मम ओरी देख लेव।**
**तुम सम नाहीं और देव।**
**कस प्रभु कीजे तोरि सेव**
**पाव न कोऊ तोर भेव।**[1]

सप्तक का नियम घटित नहीं होता। इस पद्य की परीक्षा से पता चलता है कि पद्धरि की प्रारम्भिक दो मात्राओं को हटा कर इसका निर्माण कर लिया गया है। यही छन्द वास्तव में कज्जल जैसे किसी नये नाम का अधिकारी हो सकता है। भानु के लक्षणोदाहरण वाला पद्य सुलक्षण का उदाहरण ('असत माया' के अतिरिक्त) हो गया है। भानु द्वारा सुलक्षण के उदाहरण-रूप में दिये गये निम्न पद्य—

**मुनि मुनि पौन सुलछन तौन।**
**अस को भेद पावै जौन।**
**सब तजि धार हरि पद प्रीति।**
**सीख हमारि मानौ मीत।**[2]

से मिलान करने पर हमारे कथन की पुष्टि हो जायगी। कज्जल जैसे नये छन्द का उदाहरण भानु के सामने था, जिसे उन्होंने उद्धृत किया है। किन्तु, अपना लक्षण-उदाहरण देने के समय उन्होंने थोड़ी असावधानी की। फलस्वरूप

---

[1] छन्दः प्रभाकर पृ० ४६।  [2] छन्दः प्रभाकर पृ० ४७।

उनका उदाहरण कज्जल का नहीं हो कर सुलक्षण का हो गया। पद्धरि की प्रारम्भिक दो मात्राओं को निकाल कर जिस कज्जल का निर्माण हुआ है, उसका लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—

कज्जल छन्द में समात्मक १४ मात्राएँ होती हैं और अन्त में ऽ। होता है। सूरसागर के तीन पदों में इस नियम का सर्वत्र पालन हुआ है। केवल एक पद के प्रारंभ में पद्धरि की एक पंक्ति आ गई है—

**आयौ आयौ प्रिय रितु वसंत।**[1]

कज्जल का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख चाहे अर्वाचीन हो, किन्तु इसका काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। सरहपा के एक पद्य में पद्धरि और कज्जल का मिश्र प्रयोग उपलब्ध होता है—

| | |
|---|---|
| **अध-उद्ध माग्गवरें-पइसेरइ** | **—पद्धरि** |
| **चन्द्र सुज्ज वेइ पडिहरेइ।** | **—कज्जल** |
| **वी चज्जइ काल हुतणअ गइ** | **—पद्धरि** |
| **वे विश्रार समरस करेइ।**[2] | **—कज्जल** |

पृथ्वीराज रासो में भी कज्जल का प्रयोग पाया जाता है।[3] कबीर-ग्रंथावली के अनेक पदों की रचना पद्धरि और कज्जल के मिश्रित प्रयोग से हुई है।[4] यथा—

| | |
|---|---|
| **सबद अनाहद सींगी नाद।** | **—१४ मा०** |
| **काम क्रोध विषया न बाद।** | **—१४ मा०** |
| **मन मुद्रा जाके गुरु कौ ग्यान।** | **—१६ मा०** |
| **त्रिकुट कोट में धरत ध्यान।**[5] | **—१४ मा०** |

इसमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ कज्जल है और तृतीय पद्धरि। हो सकता है, सरहपा और कबीर में जो कज्जल की पंक्तियाँ मिलती हैं, वे कवि-प्रयत्न-शैथिल्य के परिणाम हों। किन्तु नूतन छन्दों की सृष्टि भी तो इसी प्रकार होती

---

[1]सूरसागर पद ३४६६। [2]दोहाकोश-राहुल ५७ पृ० १४।

[3]स० ३७ छं १२६-१३१ और स० ४५ छं ८-१० देखिये चंदबरदाई और उनका काव्य : त्रिवेदी, पृ० २२७।

[4]कबीर ग्रथावली—श्यामसुन्दर दास, पद ३७७ से ३८८।

[5]कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दर दास, पद ३७७।

है। सूर के तीन पदों में कज्जल का व्यवस्थित प्रयोग प्रयत्न-शैथिल्यवश नहीं हुआ है। उन्होंने जान-बूझ कर इसका प्रयोग किया है। पद्धरि में ऋतु-वर्णन की एक परम्परा चली आ रही थी। अतः पद्धरि पर आधारित कज्जल छन्द द्वारा भी सूर ने वसन्त का वर्णन तथा उससे उत्पन्न मादक वातावरण का चित्र उपस्थित किया है। कज्जल की परम्परा सूरदास तक आकर रुक गयी। उनके बाद किसी कवि ने इसे नहीं अपनाया। पंत के 'एक तारा' और 'नौका-विहार' की प्रारंभिक प्रथम पंक्तियों में कज्जल के दर्शन अवश्य होते हैं। इस प्रकार पद्धरि के सामने कज्जल टिक नहीं सका।

## (७) चौपई

**महर दयौ इक ग्वाल चलाइ।**
**पठयौ कहि उपनंद बुलाइ।**
**अरु आनौ वृषभानु लिवाइ।**
**तुरत जाहु तुम करहु चँड़ाइ।** —पद १५०५

सूरसागर में स्वतन्त्र रूप से चौपई का प्रयोग चार पदों में हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त अनेक पदों में चौबोला और चौपाई के साथ इसका मिश्रित प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार इसमें १५ मात्राएँ होती हैं और अन्त में ऽ। होता है। 'तिथि-कल पौन चौपई माहिं'। इसका अन्य नाम जयकरी भी है।[2] 'चौपई में चौपाई की ही भाँति सममात्रिक प्रवाह होता है। चौपाई की अन्तिम गुरु मात्रा को लघु कर देने से यह छन्द बन जाता है।'[3] भानु के पंचदशमात्रिक गुपाल (अन्त में जगण ।ऽ। ) और पुनीत (अन्त में तगण ऽऽ। ) वस्तुतः चौपई छन्द ही हैं। इन्हें अन्य नाम देने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। गुपाल में ८-७ पर यति और पुनीत में आदि सम कल के बाद विषम कल[4] देने से लय में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यों तो मात्रिक छन्द की प्रत्येक पंक्ति लघु गुरु की भिन्न स्थापना के कारण पृथक्-पृथक् छन्द हैं।[5] जब चौपई के अन्त में ऽ। की व्यवस्था है, तो उसके अन्त में या तो जगण रहेगा अथवा तगण। यदि जग-

---

[1]सूरसागर—२४५, ३७८, १५०५, ३४६३। [2]छन्दः प्रभाकर, पृ० ४८।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल—पृ० २५८।
[4]छन्दः प्रभाकर, पृ० ४८, ४९।
[5]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल—पृ०२६२।

णांत और तगणांत चरण को क्रमशः गुपाल और पुनीत कहेंगे, तो चौपई की सत्ता कहाँ रहेगी ? इसीलिये सूरसागर के सभी जगणांत-तगणांत चरण चौपई के अन्तर्गत ही ले लिये गये हैं। यदि चौपई के अन्त्य ऽ। की जगह ।ऽ हो, तो उसे आचार्यों ने 'चोबोला' कहा है।[१] और ऐसा कहना सर्वथा युक्तिसंगत है, क्योंकि लघु-गुरु के व्यतिक्रम से लय में किंचित् भिन्नता आ जाती है।

चौपई का उल्लेख संस्कृत के छन्दः शास्त्रों में नहीं मिलता। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में भी इस नाम और इस लय वाला कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। प्रा० पैं० में एक छन्द चउपइया नाम का है।[२] इससे चौपई का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, ऐसा विद्वानों का मत है।[३] किन्तु प्रा० पैं० का चउपइया ३० मात्राओं का छन्द है, जिसमें १०, ८, १२ पर यति होती है। इसे ही आजकल चौपैया कहते हैं, जिसका प्रयोग तुलसीदास ने बालकांड में और केशवदास ने रामचन्द्रिका[४] में किया है। इस प्रकार चौपैया से चौपई का संबध किसी तरह नहीं जोड़ा जा सकता। चौपई का सर्वप्रथम उल्लेख भिखारी-दास ने किया है। उन्होंने लक्षण में अन्त्य ऽ। की बात नहीं कही है—पंद्रह कला गनौ चौपई।[५] किन्तु, उनके उदाहरण में इसका पालन हुआ है।

> **तुम्र प्रसाद देख्यो भरि नैन।**
> **कही सुनी मनभावति बैन।**
> **कब परिहैं मोहन गल बाँह।**
> **चौप ईठि इतनी मन माँह।**[६]

इसी पद्य को उन्होंने चौपाई के उदाहरण में किंचित् परिवर्तन (नैन की जगह नैना, बैन की जगह बैना, बाँह की जगह बाँही, माँह की जगह माँही, चौपईठि

---

[१]भानु—छन्द : प्रभाकर पृ० ४८।

[२]चउपइया छन्दा भणइ फणिन्दा, चउमत्ता गणसत्ता।
पाएहि सगुरु करि तीस मत्त धरि, चउ सम्र असि अग्गिरुत्ता।
—प्रा० पैं० १।९७।

[३]हिन्दी साहित्य कोष भाग १ प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ३२०।

[४]भये प्रकट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी।—बालकांड।
जिनको जसहंसा, जगत प्रसंसा, मुनिजनमानसरंता।
रामचंद्रिका १।२०।

[५]छन्दार्णव—५।१२०।

[६]छन्दार्णव—५।१२०, ५।१२१।

की जगह चौपाइठि ) के साथ रख दिया है। जिससे चौपाई से इसके आविष्कार की बात पुष्ट होती है। चौपाई से इसलिये कि चौपाई का विकास सीधे पादाकुलक से माना जाता है, जो पिंगल द्वारा उद्धृत होने के कारण प्राचीन है। भिखारीदास के बाद जानी बिहारी लाल ने 'छन्दप्रभाकर-पिंगल' में इस चौपई का उल्लेख किया है।[1] फिर भानु के बाद प्रायः सभी आधुनिक आचार्यों द्वारा यह उल्लिखित हुआ है।

चौपई का काव्यगत प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। सिद्धों में सरहपा, लुईपा विरूपा आदि ने कहीं स्वतंत्र और कहीं चौपाई के साथ मिश्र रूप में इसका प्रयोग किया है। यथा—

**तरुफल-दरिसण णउ अग्घाइ। वेज्ज देक्खि की रोग पलाइ।**[2]

**—सरहपा**

**का आ तरुवर पंच वि डाल। चंचल चीए पइट्ठा काल।**[3]

**—लूईपा**

**एक घडुल्ली सूरइ नाल। भणइ विरुआथिर कर चाल।**[4]

**—विरूपा**

अपभ्रंश कवि स्वयंभू की रामायण में चौपाई के बीच कहीं-कहीं इसकी पंक्तियाँ मिल जाती है—

**कावि णारि पडिचुंवणु देइ। कोवि वीरु अवहेरि करेइ।**[5]

संस्कृत-कवि जयदेव ने भी अपने गीतों में इसका प्रयोग किया है—

**विकसित सरसिज ललित मुखेन**
**स्फुटतिनसा मनसिज विशिखेन।**[6]

गोरखबानी में भी इसकी पंक्तियाँ चौपाई चौबोला के साथ उपलब्ध होती हैं—

**आसन दिढ़ करि धरौ धियान। अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियान।**
**जाग्रत न्यंदा सुलप अहार। काम क्रोध अहंकार निवार।**[7]

---

[1]डा० शिव—मात्रिक छन्दों का विकास पृ० ९६।
[2]हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० २।
[3]हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० १३६।
[4]हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० १३८।
[5]हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० ७८।
[6]गीतगोविन्द—सप्तम सर्ग।
[7]गोरखबानी—पद ३० पृ० १२४।

पृथ्वीराज रासो में भी कुछ पद्य चौपई छन्द में निबद्ध हैं।[1] विद्यापति ने सब छन्दों से अधिक चौपई छन्द का प्रयोग किया है[2]—५४ पदों में स्वतंत्र रूप से और ३६ पदों में चौपाई के साथ मिश्रित रूप में। कबीर-ग्रंथावली में भी इसके प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में विशद रूप में मिलते हैं।[3] डॉ० धर्मवीर भारती ने कबीर, दादू तथा गोरख की चौपई-निबद्ध निम्नांकित पंक्तियों में—

**माधव जल कि पियास न जाइ।**
**जल महि आगिनि उठी अधिकाइ।** —कबीर

**हलका भारी कह्यौ न जाइ।**
**मोल पाप नहिं रह्यौ समाइ।** —दादू

**झरै न पारा बाजै नाद।**
**ससिहर सूर न बाद विवाद।** —गोरख

जो पयार छन्द माना है[4] वह गलत है। पयार बंगला का छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में १४ अक्षर होते हैं, १५ मात्राएँ नहीं। हिन्दी में इसका प्रयोग गोरखनाथ, भारतेन्दु तथा हरिऔध ने किया है।[5] सूफी कवि जायसी के पद्मावत में चौपाइयों के बीच चौबोला का प्रयोग तो बहुशः हुआ है, पर चौपई की पंक्तियाँ नहीं मिलतीं। सूरदास के समान नन्ददास ने भी विरह-मंजरी और रसमंजरी[6] में चौपाइयों के बीच में चौपई की पंक्तियाँ रखी हैं। जायसी के समान तुलसी ने भी रामचरितमानस में चौपई का प्रयोग नहीं किया है। उनकी गीतावली के एक पद में चौपाई और चौपई का मिश्रित प्रयोग अवश्य मिलता है।[7] केशवदास ने राजश्री के निंदा-प्रसंग में इसका विशद प्रयोग किया है, जहाँ चौपई के साथ चौबोला की पंक्तियाँ भी समाविष्ट हैं।[8] यथा—

---

[1]चन्दबरदाई और उनका काव्य : त्रिवेदी पृ० २२८।
[2]बेनीपुरी—विद्यापति पदावली—पद ५, ६, ७, ८, ३०, ४० आदि।
[3]क० ग्र०—श्यामसुन्दर दास—पद ३५, १२३, १२४, १३० आदि।
[4]सिद्ध-साहित्य—धर्मवीर भारती पृ० ४७२-४७३।
[5]मिताक्षरी छन्द पृ० ४०६-४०७।
[6]अष्टछाप परिचय, पृ० २०५-२०६ प्रभुदयाल मीतल।
[7]गीतावली—पद ३।
[8]रामचन्द्रिका २३—पृ० ३५१-३५२ (सं० विश्वनाथ मिश्र)।

दृढ़ गुन बाँधेहू बहु भाँति । को जानै केहि भाँति बिलाति ।
गज घोटक भट कोटिनि अरै । खड्गलता पंजर हू परै ।

यहाँ पहली दूसरी पंक्तियाँ चौपई की और तीसरी-चौथी चौबोला की हैं । नायिका-भेद और अलंकार-निरूपण में भी चौपई का व्यवहार आचार्यों द्वारा कभी-कभी हो जाता था । पद्माकर ने ऐतिह्यालंकार का निरूपण जिस पद्य में किया है, उसे चौपाई नाम दिया है, किंतु वह वास्तव में चौबोला और चौपई की ही पंक्तियों का मिश्रित रूप है । जैसे—

जानै नहिं यह किनकी कही । चली आई जे बातें सही ।
वक्ता जबहिं न जान्यो जाय । सो ऐतिह्य कहत कविराय ।[1]

भारतेन्दु ने भी अपने काव्य-नाटकों में चौपई को स्थान दिया है ।[2] मैथिलीशरण ने 'हिन्दू' की रचना इसी छन्द में की है । 'जयभारत' का 'अतिथि और आतिथेय' इसी में लिखा गया है ।[3] छायावाद के कवियों में पन्त ने इसे विशेष महत्व दिया है । उन्होंने 'वीचि-विलास' और 'विश्व-वेणु' कविताओं की रचना तो इस छन्द में की ही, साथ ही पल्लव की भूमिका में इसकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया—'चौपई छन्द अनमोल मोतियों का हार है । बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं लगता । इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चों का कण्ठ रव मिलता है, बच्चों ही की तरह यह चलने में इधर उधर देखता हुआ अपने को भूल जाता है ।[4]

इस प्रकार चौपई का व्यवहार प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर होता रहा । अपनी क्षिप्रगामिता और मधुरता के कारण कोमल भावों के वहन करने में यह विशेष रूप से उपयुक्त है और इसी हेतु कवि लोग इसकी प्रतिष्ठा बराबर करते रहे । सूरदास ने इसका प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक प्रसंगों में किया है, किंतु विद्यापति ने इसके द्वारा शृंगारिक कोमल भावों की सफल अभिव्यक्ति की है ।

## (८) चौबोला

हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करो ।
हरि चरनारविंद उर धरो ।

---

[1]पद्माभरण—पद्य ३२८ पृ० ८० ।

[2]भारतेन्दु ग्रंथावली मुकरी, पृ० ८१० सत्यहरिश्चन्द्र नाटक पृ० ४६ ।

[3]जयभारत : मैथिलीशरण पृ० २१८ । [4]पल्लव की भूमिका, पृ० ४७ ।

हरि की कथा होइ जब जहाँ।
गंगा हूँ चलि आवै तहाँ। —पद २२४

चौबोला छन्द का प्रयोग सूरसागर में स्वतंत्र रूप से कहीं नहीं हुआ है, किन्तु चौपई और चौपाई के साथ मिली हुई इसकी पंक्तियों की संख्या कम नहीं है। इन पंक्तियों को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि सूरदास ने अन्य कवियों की अपेक्षा चौबोला का अधिक प्रयोग किया है।[१]

प्रा० पैं० से पूर्व चौबोला का उल्लेख नहीं मिलता। प्रा० पैं० में 'चउबोला' नाम से एक छन्द का उल्लेख है। जिसके प्रथम तथा तृतीय चरण में १६ और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में १४ मात्राएँ होती हैं।[२] इस प्रकार यह अर्द्धसम छन्द है, जिसके प्रथम और द्वितीय दोनों चरणो की मात्राओं का योग ३० है। हो सकता है, आगे चल कर यही अर्द्धसम छन्द ताटंक के रूप में सम छन्द बन गया हो। केशव की छन्दमाला में चौबोला का उल्लेख नहीं हुआ है। मुरलीधर ने छंदोहृदय-प्रकाश में और सुखदेव ने पिंगल (१) और (३) में चौबोला का उल्लेख किया है।[३] भिखारीदास ने जिस चौबोला का उल्लेख किया है, उसमें तीस मात्राएँ होती हैं, और १६-१४ पर विश्राम होता है—

**तीस मत्त चौबोल है, सोरह चौदह तत्तु।**[४]

वस्तुतः यह चौबोल आजकल का ताटंक ही है। भिखारीदास ने तीस मात्राओं के एक छंद चतुष्पद का उल्लेख किया है, जिसका लक्षण एक द्विकल और सात चौकल बताया गया है। 'चतुर पद दुकल सात चौमत्तु'।[५] यह वस्तुतः पदपादाकुलक के द्विगुणित रूप मत्त सवैया से अंतिम दो मात्राओं को हटा कर बनाया हुआ छंद है। भिखारीदास ने इसका उदाहरण यों दिया है—

**सँग रहे इंदु के सदा तरैया तिनके जिय अभिलाखैं।**
**भुव जनित कीट बरषारितु को तिहिं इंदु बधू सबभाखैं।**[६]

मैथिलीशरण ने जयभारत में एक जगह इसी छंद का प्रयोग किया है—

---

[१] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ३३४।
[२] प्रा० पैं० १।१३१-१३२।
[३] मात्रिक छंदों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र० पृ० ७२, ७४, और ७६।
[४] भिखारीदास—छन्दोर्णव ५।२२५।
[५] भिखारीदास—छन्दोर्णव ५।२२५। [६] वही ५।२२७।

**सब ओर असित आवरण निशा का घोर घना तम छाया,**
**छिप गई उसी में श्रांत-क्लांत-सी शिथिल सृष्टि की काया।**[1]

इस चौबोल और चतुष्पद से हमारे इस चौबोला का कोई संबंध नहीं। भिखारीदास के बाद रामसहाय के वृत्त-तरंगिनी तथा अयोध्या प्रसाद के छंदानंद-पिंगल में उल्लिखित चौबोला भी, संभव है, ३० मात्रापादी ही हों।[2] भानु ने जिस चौबोला का उल्लेख किया है, वह पंचदशमात्रिक समछन्द है, जिसके अन्त में ।ऽ होता है। 'वसु मुनि लग चौबोला रचौ'।[3] यह समप्रवाही छंद है और चौपई के अन्तिम ऽ। की जगह ।ऽ कर देने से बन जाता है। सूरदास द्वारा प्रयुक्त छंद यही चौबोला है। सूरदास ने एकाध स्थल पर अंतिम गुरु की जगह दो लघु रखे हैं, अन्यथा सर्वत्र इस नियम का पालन किया है। दो लघु वाली पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

**मेरे हित इतनौ दुख भरत। मोहि अमर काहे नहिं करत।**[4]

इस चौबोला का छन्दः शास्त्रीय उल्लेख प्राचीन नहीं है, किन्तु इसका काव्यगत प्रयोग अत्यन्त पुराना है। सरहपा में दो-एक पंक्तियाँ ऐसी मिल जाती हैं, जिन्हें हम चौबोला कह सकते हैं। हालाँकि उसमें गुरु की जगह दो लघु हैं। यथा—

**देस भमइ हाब्बासे लइउ। सहज ण बज्झइ पावें गहिउ।**[5]

गोरखबानी में भी चौपाई के साथ चौबोला की पंक्तियाँ अनेक पद्यों में पाई जाती हैं।[6] यथा—

**अह निसि मन लै उनमन रहै। गम की छाँड़ि अगम की कहै। —पद १६**

विद्यापति ने चौबोला का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में किया है।[7] यथा—

**सुन्दर कुच जुग नख-खत भरी।**
**जानि गज कुंभ विदारल हरी। —पद ८६**

---

[1]जयभारत (हत्या) पृ० ४०३।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनंदन, पृ० ९२, ९४।

[3]छंदःप्रभाकर, पृ० ४८। [4]सूरसागर पद २२६।

[5]दोहा कोश—राहुल-पद ७०।

[6]गोरखबानी सबदी १६, १७, १८, २०, ४८, ५८, १३३ पद २६, ३०। ) सं० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

[7]बेनीपुरी—विद्यापति पदावली—पद २४०, ३६, ८६।

कबीर के पदों में चौपाई के साथ चौबोला की पंक्तियाँ पाई जाती है।[1] तुलसी के पदों में इसकी पंक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं, किंतु रामचरितमानस में चौपाइयों के बीच इसकी कतिपय पंक्तियाँ मिल जाती हैं। यथा—

**निसिचर अनी देखि कपि फिरे। जहँ तहँ कटकटाइ भट भिरे।**
**निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसला धनी।**
**दसमुख कहा मरमु तेहिं सुना। पुनि पुनि कालनेमि सिरु धुना।**
**लागत सर धावत रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा।**
**दिन कें अन्त फिरीं द्वौ अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी।**
**जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस भरा।**
**एहीं बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अति घनी।**
**खेंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए।**[2]

पता नहीं, एक ही कांड में आस-पास चौबोला की इतनी पंक्तियों को देख कर भी यह कैसे कहा जाता है कि तुलसीदास ने चौपाइयों के बीच चौबोला-चौपई को नहीं मिलाया है।[3] हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि तुलसी ने चौबोला का मिश्रण उतना अधिक नहीं किया है, जितना जायसी ने। केशव ने राम-चंद्रिका में चौपई के साथ चौबोला का विशद प्रयोग किया है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

इस प्रकार आदिकाल से ले कर केशवदास तक चौबोला का प्रयोग बराबर होता रहा। किन्तु आचार्यों ने इसके नामकरण का प्रयास क्यों नहीं किया ? पहले चौबोला और चौपई चौपाई से भिन्न नहीं समझे जाते थे, इसीलिये संभवतः आचार्यों ने इसे नया नाम नहीं दिया। केशवदास ने चौबोला और चौपई को स्पष्टतः चौपाई कहा है।[4] चौपाई से इसकी लय-भिन्नता देख कर भानु ने यदि इसे चौबोला नाम दिया तो युक्तिसंगत ही है। दो गुरु आ जाने से चौपाई के चरण की समाप्ति एक गंभीर वातावरण की सृष्टि कर देती है। चौबोला का अन्तिम लघु-गुरु एक हलकापन लिए हुए है। इसलिये जहाँ चौपाई की पंक्ति

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दर दास, पद ५५, ११०, २३२, ३३७, २६२।**
[2] **रामचरितमानस (गीताप्रेस) लंकाकांड। पृ० ७५४, ७५६, ७६२, ७७५, ७७७, ७८१, ७८४, ७८६।**
[3] **मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ३८५।**
[4] **रामचन्द्रिका २८।३४, ३५, ३६ और ३७।**

पाठकों के हृदय में घर कर जाती है, वहाँ चौबोला की पंक्ति बिखर कर हृदय को आच्छादित कर लेती है।

## (६) पादाकुलक

चलौ च | लौ पू | छें कछु | बातें
कहि कहि | ऊधौ | हरि कुस | लातें
गोविंन्द | की बा | तें सब | जानै
परवस | भई क | हत सोइ | मानै —पद ४७११

पादाकुलक शब्द अत्यंत प्राचीन है। पिंगल के छन्दः शास्त्र में इसका उल्लेख किसी नियम-निर्दिष्ट छन्द के रूप में नहीं हुआ है। पिंगल ने षोड़शमात्रिक मात्रासमक, वानवासिका, विश्लोक, चित्रा तथा उपचित्रा इन पाँच छन्दों का उल्लेख किया है। इन सब के सामान्य लक्षण एक ही हैं —१६ मात्राएँ और अन्त में गुरु। किन्तु पादगत किसी विशिष्ट मात्रा के लघु-गुरु होने से एक ही छन्द के ये पाँच भेद हो जाते हैं। यथा—

**मात्रासमक (६वीं मात्रा लघु) गन्तार्द्विर्वसवोः मात्रासमकं ल् नवम्।[1]**
**वानवासिका (६वीं और १२वीं मात्रा लघु) द्वादशश्च वानवासिका।[2]**
**विश्लोक (५वीं और ८वीं मात्रा लघु) विश्लोकः पंचमाष्टमौ।[3]**
**चित्रा (५वीं, ८वीं और ६वीं मात्रा लघु) चित्रा नवमश्च।[4]**
**उपचित्रा (६वीं और १०वीं मात्रा मिल कर गुरु) परयुक्तेनोपचित्रा।[5]**

इन्हीं पाँचों के चरणों के मिश्रित प्रयोग को पादाकुलक कहते हैं। एभिः पादा-कुलकम्।[6] एषां पंचानां मध्ये यैः कैश्चिदपि चतुर्भिः पादैः 'पादाकुलकं' नाम।[7] पादाकुलक के संबंध में जयदेव का भी यही विचार है।[8] जयकीर्त्ति भी यही बातें कहते दिखाई पड़ते हैं।[9] केदार भट्ट ने भी यही बात दुहराई है।[10] इस प्रकार संस्कृत के सभी लक्षणकारों के अनुसार पादाकुलक उक्त पाँचों छंदों के चरणों के मिश्रित प्रयोग का नाम है।

---

[1]से [5]पिंगलछन्दः शास्त्र ४।४२, ४३, ४४, ४५, ४६।
[6]पिंगलछन्दः शास्त्र ४।४७। [7]पिंगल की हलायुध टीका पृ० ६५।
[8]जयदेवच्छन्दः ४।२६।
[9]छन्दोनुशासन ५।३१। [10]वृत्तरत्नाकर २।३७।

स्वयंभू ने मात्रासमक आदि की चर्चा अवश्य की है,[१] किन्तु पादाकुलक को एक छन्द विशेष माना है जिसकी गणव्यवस्था ६+४+६ है।

**सोलहमत्तं पा आ उ ल अं। छ च छं सविरह अं सं कु ल अं।**[२]

कवि-दर्पणकार ने स्वयंभू के विपरीत पादाकुलक को एक छंद विशेष नहीं माना है। उनको संस्कृत लक्षणकारों का लक्षण ही स्वीकृत है। 'पायाउलयं इमाण पाएहि—पादाकुलक मेतेषां पादैः'[३] स्वयंभू के समान प्राकृत पैंगलकार ने भी पादाकुलक को एक विशेष छंद के रूप में उल्लिखित किया है—इनके अनुसार पादाकुलकसोलह मात्राओं का छंद है, जिसमें लघु-गुरु का कोई नियम नहीं है।[४]

हिन्दी छन्दः शास्त्री केशव के अनुसार पादाकुलक के अन्त में दो गुरु की योजना आवश्यक है। 'बारह मत्ता प्रथम चहुँ दोइ देउ गुरु अंत'।[५] केशव के बाद मुरलीधर, सुखदेव, जयदेव, रामसहाय, अयोध्याप्रसाद तथा जानी बिहारी लाल ने पादाकुलक का उल्लेख किया है।[६] भिखारीदास ने षोडशमात्रापादी २४ छन्दों का उल्लेख किया है, जिनमें पादाकुलक नहीं है। भानु के अनुसार पादाकुलक चार चौकल से बनते हैं। चौकल के ये पाँच प्रकार ऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽ।।, ।।।। बता कर उन्होंने एक तरह से स्पष्ट कर दिया कि पादाकुलक के अंत में गुरु होना आवश्यक नहीं है।[७] डॉ० भोलाशंकर व्यास इस छंद की एकमात्र पाबन्दी अंतिम गण की गुरुद्वयात्मकता मानते हैं। इसी आधार पर उन्होंने जायसी की निम्न पंक्तियों को—

**बरनौं माँग सीस उपराहीं।**<br>**उजियर पंथ रैनि मँह कोआ।**

पादाकुलक की पंक्तियाँ मानी हैं।[८] पर भानु के मत से ये चौपाई हैं, क्योंकि इनमें चार चौकल नही बनते। पादाकुलक को एक छंदविशेष के रूप में प्रतिष्ठा तो स्वयंभू और प्रा० पै० कार के द्वारा ही मिल गई थी, पर चार चौकल वाले

---

[१]स्वयंभूछन्दः पूर्वभाग, मागधजाति पृ० ११६-११८।
[२]स्वयंभूछन्दः ६।१२९। [३]कविदर्पण २।२०।
[४]प्रा० पै० १।१२९।
[५]केशव ग्रंथावली-खंड २ सं० विश्वनाथ प्र० मिश्र-छन्दमाला २।३५।
[६]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन पृ० ७२, ७४, ८३, ९२, ९४, ९६। [७]छन्दः प्रभाकर पृ० ४९।
[८]प्रा० पै० भाग ४ पृ० ४५७।

उसके चरण की व्यवस्था संभवतः सर्वप्रथम भानु ने ही की है। पिंगल द्वारा उल्लिखित मात्रासमक आदि पाँच छन्दों को इन्होंने पादाकुलक का भेद माना। साथ ही पद्धरि, अरिल्ल (अंत में ।। वा ।SS) डिल्ला (अन्त में S।।), पज्झटिका (८+ग+४+ग), सिंह (आदि ।। अंत ।।S) भी उसके भेदों में सम्मिलित कर दिये गये।[1] इनमें पद्धरि के अतिरिक्त जितने छन्द हैं, सब की लय समान है। एक ही लय वाले छन्द को अनेक भेदों में बाँट कर छन्दों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कर दी गई। कवियों के काव्यों में इन छन्दों का पृथक् अस्तित्व प्रायः नहीं के बराबर है। प्रयोग में एक की पंक्ति दूसरे के साथ संयुक्त हो गई है। कवियों के प्रयोग में इस बात को लक्ष्य कर ही पिंगल ने मात्रासमक आदि पाँच छन्दों के चरणों के मिश्रित प्रयोग को पादाकुलक कहा होगा।

पादाकुलक का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। विद्वानों ने इसका प्रयोग कालिदास की विक्रमोर्वशी में ढूँढ निकाला है।[2] संस्कृत कवि जयदेव की रचना में भी इसका प्रयोग मिलता है—

**स्तनविनिहितमपि हारमुदारम्।**
**सा मनुते कृश तनु रति भारम्।**[3]

सिद्ध साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्य में षोडशमात्रापादी छन्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इन छन्दों में पादाकुलक, अरिल्ल, डिल्ला आदि की पंक्तियाँ आसानी से मिल जाती हैं। यथा——

**अलि ओ ! धम्म महासुह पइसइ। लवणो जिमि पाणीहि विलज्जइ।**[4]

**—सरहपा**

**अप्पण मांसे हरिणा वइरी। खणह ण छाडअ भूसुक अहेरी।[4]—भूसकुपा**
**दीह-समास पवाहा बंकिय। सक्कय-पायय-पुलिणा-लंकिय।[4]—स्वयंभू**
**रज्जहु कारणि पिउ मारिज्जइ। बंधवहू मी संघारिज्जइ।[4]—पुष्पदंत**

गोरखवानी में भी यत्र-तत्र पादाकुलक की पंक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं——

**ऐसा जाप जपौ मन लाई। सोहं सोहं अजपा गाई।**[5]

---

[1] भानु : छन्दःप्रभाकर, पृ० ४६-५०।
[2] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३३९।
[3] गीतगोविंद—चतुर्थ सर्ग।
[4] हिन्दी काव्यधारा—पृ० २, १३२, २६, १९४।
[5] गोरखवानी—सं० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, पद ३०।

चन्दबरदाई में पादाकुलक नामक कोई छन्द नहीं, किन्तु उनकी चौपाइयों में इसकी पंक्तियाँ मिल जाती हैं—

**गुरु द्रोही पति द्रोही जानं। सो निहचै नर नरकहिं थानं।**[1]

इसी प्रकार विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि जितने चौपाई के रचयिता हैं, सब में पादाकुलक की पंक्तियाँ ढूँढी जा सकती हैं। वस्तुतः लय-साम्य होने पर रचनागत सुविधा के लिए कवि लोग दो छन्दों का मिश्रित प्रयोग बराबर करते आये हैं। पादाकुलक और चौपाई में जो अंतर आचार्यों ने माना है, वह केवल चौकल को ले कर है। अन्यथा दोनों छन्द एक ही हैं। इसीलिये चौपाई और पादाकुलक घुल-मिल कर एक हो गये।

सूरसागर के किसी पद में पादाकुलक का स्वतंत्र प्रयोग नहीं हुआ है। केवल एक पद में सार के ऊपर पादाकुलक की अर्द्धाली प्रयुक्त हुई है। यों जो पद चौपाई के अंतर्गत रक्खे गये हैं, उनमें पादाकुलक तथा उसके भेदों की अनेक पक्तियाँ मिल जाती हैं। उन सब की पृथक् चर्चा करना समीचीन नहीं समझ कर हमने सब को चौपाई में ही अन्तर्भुक्त कर लिया है। पादाकुलक की प्रतिष्ठा प्राचीन काल से चली आ रही है, इसलिये इस पर अलग चर्चा की गई। फिर आगे चल कर इसी से चौपाई का विकास हुआ, इसलिए भी इस पर पृथक् रूप से प्रकाश डालना आवश्यक था।

## (१०) चौपाई

**जननि जगावति उठौ कन्हाई। —मात्रासमक**
**प्रगट्यौ तरनि, किरनि महिछाई। —वानवासिका**
**आबहु चन्द्रवदन दिखराई। —वानवासिका**
**बार-बार जननी वलि जाई। —उपचित्रा —पद १०२४**

सूरसागर में स्वतंत्र रूप से चौपाई का प्रयोग १३० पदों (सूरसागर १२८, परिशिष्ट २) में हुआ है। भानु के अनुसार चौपाई में १६ मात्राएँ होती हैं, लघु-गुरु अथवा चौकल का कोई क्रम नहीं रहता। सम के बाद सम और विषम के बाद विषम कल आते हैं तथा इसके चरणांत में जगण ISI अथवा तगण SSI नहीं रह सकता।[2] चौपाई समप्रवाही छन्द है और इसकी लय पादा-

---

[1]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी, पृ० २२८।
[2]सोरहकमन 'जतन' चौपाई।

कुलक के समान है। इसीलिए दोनों की पंक्तियाँ आपस में मिल जाती हैं। उपर्युद्धृत पंक्तियों में प्रथम तीन पंक्तियाँ भानु के मतानुसार पादाकुलक की हैं और चौथी चौपाई की, क्योंकि इसमें 'बार-बार' होने के कारण चौकल नहीं बन पाता। 'बार-बार' की जगह 'पुनः-पुनः' कर देने से यही पादाकुलक की पंक्ति हो जायगी। चौपाई के चारों चरणों में चार-चार चौकल होने पर उसे पादा-कुलक कहते हैं।[1] यहाँ एक चरण में चार चौकल नहीं बनते, अतः यह चौपाई का उदाहरण है।

चौपाई के अन्त में जगण नहीं आ सकता, किन्तु पादगत दो त्रिकलों के बीच आ कर यह समात्मक प्रवाह बनाये रखता है। यथा—

**भूप प्रताप भानु बल पाई—तुलसी**

इसमें 'प्रता' 'भूप' के साथ और 'प' 'भा' के साथ मिल कर सम (विषम + विषम = सम) प्रवाह की रक्षा कर लेते हैं। यही बात सूरदास की निम्न पंक्तियों के साथ है।

**लटकति ललित ललाट लटूरी। —विश्लोक**
**कुलही चित्र विचित्र भगूली।**[2]

इसी प्रकार प्रारम्भ में दो मात्राओं के बाद जगण की स्थापना हो सकती है—

**अति निलज्ज, कुछ लाज न मानत।**[3]
**तेहि असोक बाटिका उजारी।**[4]

चौपाई के अंत में जगण-तगण के अतिरिक्त मगण (SSS) नगण (।।।) भगण (S।।), यगण (।SS), रगण (S।S), सगण (।।S) सभी गणों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु अन्य कवियों के समान सूरदास ने भी अधिकांशतः मगण, यगण, भगण और सगण का ही प्रयोग किया है। नगणांत और रगणांत पंक्तियाँ क्वचित् कथंचित् मिल जाती हैं। यथा—

**नीलावती चाँवर दिव-दुर्लभ। —चित्रा**
**भात परोस्यो माता सुरलभ।**[5] **—उपचित्रा**

---

सम सम सम सम सम सुखदाई। विषम-विषम सम समहू भाई।
विषम विषम सम विषम विषम सम। विषम दोय मिलि जानिय इकसम।
——भानु——छन्दः प्रभाकर पृ० ५१। [1]भानु छन्दः प्रभाकर, पृ० ५२।

[2]सूरसागर पद ७३५। [3]सूरसागर पद २८४।

[4]रामचरित मानस, लंकाकाण्ड। [5]सूरसागर पद १०१४।

सूरन करि तरि सरस तोरई । —चित्रा
सेम सींगरी-छौंकि झोरई ।[१] —उपचित्रा

इस प्रकार अन्त्य नगण और भगण के प्रयोग से चौपाई में अंतिम गुरु का कोई बन्धन नहीं रहा और इस दृष्टि से यह पादाकुलक ( संस्कृत आचार्यों के पादाकुलक ) से थोड़ी भिन्न हो गई, अन्यथा पादाकुलक और चौपाई एक ही छन्द हैं । आज जिसे हम चौपाई कहते हैं, उसे ही संस्कृत के आचार्य पादाकुलक कहते थे । पादाकुलक से चौपाई के विकास की बात केवल इसके अंतिम नगण और भगण को ले कर ही कही जा सकती है, इसके चरणों के चतुष्कलों में विभाज्य होने के बल पर नहीं ।[२] संस्कृत आचार्यों ने मात्रासमक आदि के लक्षण में चतुष्कल की बात एकदम नहीं लिखी है । इसके चरणों को गणबद्ध करने वाले स्वयंभू ( ६+४+६ ) और भानु ( ४+४+४+४ ) हैं । प्रा० पै० कार ने तो संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अंतिम गुरु का नियम भी नहीं माना है । संस्कृत आचार्यों के मतानुसार सूरदास का उपर्युद्धृत पद्य ( जननि...........जाई ) पादाकुलक का निर्दोष निदर्शन है, क्योंकि इसका प्रथम चरण मात्रासमक का, द्वितीयतृतीय वानवासिका का तथा चतुर्थ उपचित्रा का है । कालिदास का निम्नांकित पद्य—

लए.पेक्ख विणु हिअएँ भमामि । ——मात्रासमक
जइ विहि जोएं पुणि तहि पाविमि —मात्रासमक
ता रण्णे विणु करमि णिभंती । ——वानवासिका
पुण णइ मेल्लइँ ताह क अन्ती ।[३] ——उपचित्रा

पिंगल के अनुसार पादाकुलक ही हैं । अवश्य इसके दूसरे चरण के अन्त में गुरु की जगह लघु है, तथा पहले में 'ए' का ह्रस्वोच्चारण तथा 'मि' का, पादांतस्थित होने के कारण संस्कृत के अनुसार, दीर्घोच्चारण करना पड़ता है । किंतु, भानु के अनुसार यह पादाकुलक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसके प्रथम चरण में चार चौकल नहीं बन सकते । इसलिये यह चौपाई है । स्वयंभू के अनुसार ६+४+६ में विभक्त होने के कारण यह पादाकुलक

---

[१]सूरसागर पद १८३ ।

[२]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३५३ ।

[३]कालिदास ग्रन्थावली, विक्रमोर्वशी चतुर्थ अंक पद्य ६९ सं० सीताराम चतुर्वेदी ।

ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आज हम जिसे चौपाई कहते है, उसे ही संस्कृत तथा अपभ्रंश के छन्दः शास्त्री पादाकुलक कहते थे। पादाकुलक के अतिरिक्त संस्कृत के विद्युन्माला (८ अक्षर), चंपकमाला (१० अक्षर), शुद्ध-विराट् (१० अक्षर), मत्ता (१० अक्षर), पणव (१० अक्षर), अनुकूला (११ अक्षर), दोधक (११ अ०), भ्रमर विलसिता (११ अ०), स्वागता (११ अ०), तामरस (१२ अ०), चन्द्रवर्त्म (१२ अ०), कुसुमविचित्रा (१२ अ०), मालती (१२ अ०), मोदक (१२ अ०), आदि ऐसे वर्णवृत्त हैं जिनका चौपाई के साथ बहुलांश में लय-साम्य है। इनमें शुद्धविराट्, स्वागता, चन्द्रवर्त्म और मालती में चार चौकल नहीं बनते, ये चौपाई के समान सम-सम, विषम-विषम के आधार पर चलते हैं। अतः ये चारों चौपाई के अत्यंत निकट हैं। इसी निकटता के कारण प्रसन्नराघव का निम्नांकित स्वागता छन्द—

**चन्द्रहास हर मे परितापम्। रामचन्द्रविरहानलजातम्।**

तुलसी की इस चौपाई में—'चन्द्रहास हर मम संतापा। रघुपति विरह अनल संजाता ॥' में आसानी से परिणत हो गया।

चौपाई शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले हिन्दी छन्दःशास्त्री भिखारीदास हैं। उन्होंने इसके लक्षण में—'सोरह मत्ता छंद गति, रुप चौपाई लेखि'[1] के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा। भिखारीदास के बाद प्राचीन आचार्यों में रामसहाय ने इसका उल्लेख वृत्ततरंगिनी में किया है।[2] फिर भानु के बाद दत्त[3], उपाध्याय[4], रघुनन्दन[5], परमानन्द[6], डॉ० शिव[7], सरस[8] तथा डॉ० शुक्ल[9] सब के द्वारा यह उल्लिखित हुआ है।

चौपाई का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख भले ही पुराना नहीं हो, इसका काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। सिद्धों में सरहपा, भुसकुपा, कण्हपा आदि के मुक्तक काव्यों में चौपाई की पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

---

[1]छन्दार्णव : ५।१२७।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ९२।

[3]हिन्दी छन्द : चन्द्रिका, पृ० २८। [4]नवीन पिंगल, पृ० ८८।

[5]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ५९। [6]पिंगल पीयूष पृ० १६२।

[7]हिन्दी छन्दःशास्त्र पृ० ७२। [8]सरस पिंगल, पृ० ३४।

[9]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २६२।

संक-पास तोडहु गुरु वअरणे । ण सुनइ सो णउ दीसइ णअणे ।[1]

—सरहपा

सोण-रुअ मोर किंपिण थाकिउ । णिअ परिवारे महासुह थाकिउ ।[2]

—भुसकूपा

एवंकार दिढ़ वारवोड़ मो ड्डिउ । विविह विआपक बाँधन तो डिउ ।[3]

—कण्हपा

अपभ्रंश कवि स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि ने इसका प्रयोग कड़वक-बद्ध प्रबंध काव्यों में किया है। गोरखनाथ तथा कबीर आदि संतों ने इसमें खंडनमंडन तथा तत्वबोध की बातें कहीं। विद्यापति तथा मीरा ने इसमें शृंगारिक मधुर भावों की धारा बहाई। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसमें विशाल प्रबंधों की रचना की। सूरदास तथा नन्ददास ने इसका प्रयोग अधिकांशतः कृष्णलीला के वर्णनात्मक प्रसंगों में किया। तुलसी ने इसमें अपने विशाल मानस की रचना की। रीतिकाल के आचार्यों ने कहीं-कहीं इससे अलंकारादि के निरूपण में काम लिया। लाल कवि ने छत्रसाल, सबल सिंह चौहान ने महाभारत तथा ब्रजबासी दास ने ब्रजविलास की रचना चौपाई-दोहों में ही की। चन्दबरदाई, सूदन आदि कवियों ने अपने बहुछंदी काव्यों में इसे स्थान दिया।

आधुनिक काल में भी चौपाई की मर्यादा घटी नहीं। भारतेन्दु, द्विवेदी तथा छायावाद युग में भी कवि लोग इसका प्रयोग बराबर करते रहे। भारतेन्दु ने अपने काव्य-नाटकों में इसका सतत प्रयोग किया है। मैथिलीशरण ने जयभारत में 'यक्ष' की रचना चौपाई में ही की है। कृष्णायन लिख कर द्वारका प्र० मिश्र ने इसे वही महत्व प्रदान किया, जो इसे सूफी कवियों तथा तुलसी के हाथों मिला था। छायावाद के कवियों ने इसका प्रयोग प्रगीत मुक्तकों में किया। प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी के अनेक गीत चौपाई में निबद्ध हैं।[4]

---

[1]से [3]हिन्दी काव्यधारा पृ० २, १३६, १५०।

[4]प्रसाद—लहर-मेरे नाविक पृ० ७१०, जीवन के पथ में १४, वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे २६ पंत—ग्राम्या-ग्रामकवि पृ० १३, ग्रामवधू पृ० ३३, चरखा-गीत पृ० ५० निराला—गीतिका-गीत १, ३, ४, ५, ८, १३ आदि। महादेवी—नीरजा-गीत २, ३, ४, १२, २२, २८ आदि।

इस प्रकार आदि काल से ले कर छाया-युग तक चौपाई कवियों की भावाभिव्यक्ति का सफल माध्यम रही। प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों में यह स्थान पाती रही। अनेक प्रकार के भावों का वहन इसने सफलता पूर्वक किया। इससे तो इसकी सर्वरससिद्धता प्रमाणित होती ही है, इसका महत्व इस दृष्टि से और बढ़ जाता है कि हिन्दी में अष्टमात्रिक आधार पर चलने वाले विष्णुपद, सरसी, सार, ताटंक आदि जितने छन्द हैं, सब का आधार चौपाई ही है।

## (११) पद्धरि

**राघव आवत हैं अवध आज।**
**रिपु, जीते साधे देव काज।**
**प्रभु कुसल बंधु-सीता समेत।**
**जस सकल देस आनन्द देत।** —पद ६१०

सूरसागर के छः पदों में पद्धरि का स्वतंत्र प्रयोग हुआ है। प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रियों ने पद्धरि जैसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख नंदिताढ्य ने पद्धडिया नाम से किया है। उनके अनुसार इसमें सोलह मात्राएँ और पादों में यमक की योजना होती है। यथा—

**सोलह मत्त जहिं पउ दीसइ।**
**अक्खर गन्नु न किंपि गवीसइ।**
**पायउ पायउ जमग विसुद्धउ।**
**पद्धडिया इहु छंदु पसिद्धउ।**[१]

नंदिताढ्य के लक्षण में पद्धडिया के पादांत में जगण (।ऽ।) की व्यवस्था नहीं मिलती, किन्तु उनके उदाहरण के दो पादों में जगण पाया जाता है। जैसे—

**तुय पुन्निम चंदसमाणवयणि।**
**गोरंगि चंगि सारंगनयणि।**
**थणमंडल उप्परि पियह हत्थु।**
**नं कलसि दिन्नु पंकउ पसत्थु।**[२]

स्वयंभू ने पद्धडिया का उल्लेख दो स्थानों पर किया है—

---

[१] गाथालक्षणम् ७४। [२] गाथालक्षणम् ७५।

तं चेश्र चत्तार चउकक्कल श्रं । तं जाणहु पद्धडिश्रा धुवश्रं ।
(तदेव चकार चतुष्कं । तज्जानीहि पद्धतिकाध्रुवकम् ।)[१]
पद्धडिश्रा पुणु जे इ करेंति । ते सोडह मत्तउ पउ धरेंति ।
विहि पश्रहिं जमउ ते णिम्म श्रंति । कडवक श्रट्ठहिं जमश्रहिं रश्रन्ति ।
(पद्धतिकां पुनर्येपि कुर्वन्ति । ते षोडश मात्राः पादं धारयन्ति ।
द्वाभ्यां पादाभ्यां यमकं ते निर्मिमते । कड़वकमष्टभिर्यमकै रचयन्ति ।[२]

स्वयंभू के अनुसार पद्धडिया में चार चौकल और पादों में यमक होते हैं । जगण की बात यह भी नहीं कहते, किन्तु इनके चारों पादों में (दूसरे उदाहरण में, जो पद्धरि छन्द में निबद्ध है) जगण की व्यवस्था है । कविदर्पणकार के अनुसार पद्धडिया में चार चौकल होते हैं, अंत में जगण या सर्वलघु होता है तथा जिसका विषम गण जगण नहीं होता ।

पद्धडिया टचउक्कं चरमे टे मज्झका, न विसमे जो ।[३]
चतुर्मात्रचतुष्कं पद्धटिका । तताग्ये चतुर्मात्रे मध्यकावेव । न च विषमे जगणः ।[४]

रत्नशेखर और प्रा० पै० कार ने लक्षण में स्पष्ट रूप से पादांत में जगण का रहना बतलाया है ।

पय चारि ठविज्जहि ससहिमत्त ।
पाऊहर गणु जइ होइ अंत ।[५]
चउमत्त करहु गण चारि ठाइँ
ठवि अंत पयोहर पाइँ पाइँ ।[६]

---

[१]स्वयंभूच्छन्दः ६।१२६ । [२]स्वयंभूच्छन्दः ८।१५ ।
[३]कविदर्पण २।२२ । [४](क) कविदर्पण की संस्कृत टीका पृ० २८ ।
(ख) Paddhatika has 4 Chaturmatras; but in the last we may have only those (Chaturmatras) which have a Dvimatra in their middle (i. e. the Madhyaguru and the Sarvalaghu) and a Jagana must not be for an odd Gana.
—Kavidarpana : Velankar, P. 137.
[५]छन्दःकोष ३६ । [६]प्रा० पै० १।१२५ ।

यही पद्धडिया आज पद्धरि नाम से प्रचलित है। केदार भट्ट ने इसी पद्धडिया को पज्झटिका कहा है। —प्रतिपादं चत्वारश्चतुष्कला गणास्तत्रान्तिमो जगण एव।[१] गंगादास ने जिस पज्झटिका का उल्लेख किया है, वह इससे भिन्न है।[२] वह भानु की पज्झटिका है, जिसकी नवमी मात्रा गुरु होती है और जिसके किसी चौकल में जगण नहीं रहता।[३]

हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में सर्वप्रथम केशवदास ने इसे पद्धटिका नाम से उल्लिखित किया है और यही लक्षण दिया है।[४] उनके बाद मुरलीधर (पद्धिडि-पद्धरी), सुखदेव (पज्झटिका पिंगल १), (प्रज्वलिया पद्धरी-पिंगल ३), भिखारी दास (पद्धरिय), रामसहाय (पद्धरी), अयोध्या प्र० (पज्झटिका), तथा जानी बिहारी लाल (पद्धरि) ने इसका उल्लेख किया है।[५] भानु ने इसके लक्षण में और बातों के साथ ८-८ मात्राओं पर यति बतलाई है—वसुवसु कल पद्धरि लेहु साज।[६] भानु के बाद उपाध्याय[७], रघुनन्दन[८], परमानन्द[९], डॉ० शिवनन्दन[१०], डॉ० शुक्ल[११] ने इसे उल्लिखित किया है। रघुनन्दन और परमानन्द ने भी ८-८ पर यति बतलाई है। डॉ० शिवनन्दन ने पादादि में द्विकल की योजना बता कर तथा डॉ० शुक्ल ने आदि की लय को सममात्रिक मान कर इसके लक्षण को स्पष्ट किया है। इसकी प्रारंभिक लय की समात्मकता पर ध्यान नहीं देने के कारण ही अवध उपाध्याय ने पंत, रामकुमार वर्मा आदि के ऐसे पद्यों को भी पद्धरि के अन्दर रख दिया है, जो शृंगार के उदाहरण हैं। यथा—

**कभी तो अब तक पावन प्रेम**
**नहीं कहलाया पापाचार,**
**हुई मुझको ही मदिरा आज**
**हाय ! क्यों गंगा-जल की धार।** —पंत।

---

[१]वृत्तरत्नाकर : चौखंबा संस्कृत सीरीज पृ० १५४।
[२]छन्दोमंजरी पृ० १६१ चौखंबा संस्कृत सीरीज।
[३]भानु—छन्दःप्रभाकर, पृ० ५०। [४]छन्दमाला—२।३४।
[५]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ७२, ७४, ७६, ८८, ९२, ९६। [६]छन्दः प्रभाकर, पृ० ४९।
[७]नवीन पिंगल, पृ० ८९। [८]हिन्दी छन्दः प्रकाश, पृ० ५७।
[९]पिंगल पीयूष, पृ० १६१। [१०]हिन्दी छन्दः शास्त्र, पृ० ६८।
[११]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० १६२।

इस प्रकार पद्धरि की सामान्य परिभाषा यह हुई कि पद्धरि में १६ मात्राएँ होती हैं, इसका प्रारंभ द्विकल से होता है, ८-८ पर यति होती है और अन्त में जगण होता है। सूरदास के पदों में इसका पालन अधिकांशतः हुआ है। दो पंक्तियों में ८-८ पर यति नहीं है। यथा—

**भये नव द्रुम सुमन अनेक रंग।** —पद ३४६५
**कपि सोभित सुभट अनेक अंग।** —पद ६१०

कतिपय पंक्तियों के अंत में जगण की जगह तगण आया है। जैसे—

**धपि धाइ धरत मनु तरै गात।—पद ३४६५**
**नव गोप वधू राजहीं संग।—पद ३४६७**

यद्यपि छोटे छंदों में यति की विशेष आवश्यकता नहीं होती, किन्तु पद्धरि में ८ पर यति नहीं होने से चरण उतना श्रुतिमधुर नहीं होता। जगण की जगह तगण आ जाने से लय की धारावाहिकता पर विशेष आघात नहीं पड़ता। अतः यह दोष क्षम्य कहा जा सकता है।

पद्धरि का एक भेद है—पदपादाकुलक। पद्धरि के अंतिम ऽ। की जगह यदि ।ऽ हो, तो उसे पदपादाकुलक कहते हैं। इस प्रकार साधारणतया पदपादाकुलक के अंत में ।ऽ होते हैं, किन्तु दो गुरु ऽऽ अथवा दो लघु ।। भी आ सकते हैं। पद्धरि से इसकी भिन्नता केवल पादांत को ले कर है। इसके प्रारंभ में पद्धरि के समान एक द्विकल का रहना अनिवार्य है। द्विकल के बाद यदि एक त्रिकल आ जाय, तो उसी के (पद्धरि के) समान एक त्रिकल फिर रख कर समात्मक प्रवाह बनाये रखना पड़ता है। पद्धरि के इसी साम्य के कारण, पादांत-वैषम्य के बावजूद अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में इसे नया नाम नहीं दिया गया। यह पद्धरि के अन्तर्गत ही परिगणित होता रहा, क्योंकि तब तक पद्धरि के पादांत में जगण का नियम उतना दृढ़ नहीं हो पाया था। स्वयंभू आदि अपभ्रंश कवियों में पद्धरि और पदपादाकुलक के चरणों का मिश्रण बराबर मिलता है।

**रोवइ अवरा इव राम जणणि। केक्कय दाइय तरु-मूल-खणणि।**
**रोवइ सुप्पह विच्छाय जाय। रोवइ सुमित्र सोमित्ति-माय।**[1]
**—स्वयंभू। रामायण ६९-१३**

---

[1]**हिन्दी काव्यधारा—राहुल पृ० १०८।**

तं दीण दिण्ण-धण-कणय-पयरु । महि परिभमंतु मेपाडि-णयरु ।
अवहेरिय-खल-यणु गुण महंतु । दिय हेंहि पराइयु पुप्फयंतु ।[1]

—पुष्पदंत

इन दोनों उदाहरणों में प्रथम और द्वितीय चरण पदपादाकुलक के और तृतीय और चतुर्थ पद्धरि के हैं । आगे चल कर जब पद्धरि का पादांत जगण अथवा SI की शृंखला में आवद्ध हो गया, तो पदपादाकुलक का प्रयोग एक प्रकार से उठ सा गया । विद्यापति सूर-तुलसी आदि ने पद्धरि का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु उनमें पदपादाकुलक की पंक्तियों के दर्शन सम्पद-रूप में नहीं होते । कबीर ने अवश्य पदपादाकुलक के द्विगुणित रूप मत्तसवैया का प्रयोग किया है । भारतेन्दु में भी मत्तसबैया के रूप में ही पदपादाकुलक का प्रयोग मिलता है । भानु ने पादांत-भिन्नता के आधार पर इसे पद्धरि से पृथक् एक नया नाम दिया । कवियों ने इस भिन्नता को मान कर पद्धरि और पदपादाकुलक के स्वतंत्र प्रयोग भी किये ।[2] किन्तु दोनों के मिश्रित प्रयोग की जो परिपाटी रुक गई थी, वह फिर से प्रारंभ हो गई और छायावाद में तो वह चरम सीमा तक पहुँच गई । प्रसाद, पंत, महादेवी तथा दिनकर ने अपने काव्यों में इन दोनों का मिश्रित प्रयोग किया ।[3] निराला की 'तुम और मैं' कविता के दो अनुच्छेद इन्हीं छन्दों के आधार पर लिखे गये हैं । यथा—

तुम गंध-कुसुम-कोमल पराग,
मैं मृदु गति मलय-समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम-जंजीर ।[4]

इसकी पहली पंक्ति पद्धरि की तथा तीसरी पदपादाकुलक की है । दूसरी और चौथी भी पद्धरि के आधार पर बनी हैं । समीर और जंजीर के बाद तीन मात्राएँ ( SI अथवा IS ) रख देने से ये दोनों पंक्तियाँ क्रमशः पद्धरि और

---

[1]हिन्दी काव्यधारा-राहुल पृ० १७६ ।

[2]जयभारत (अज्ञातवास-पद्धरि)—युयुत्सु और लक्ष्यवेध (पदपादाकुलक) ।

[3]कामायनी : इड़ा सर्ग । गुंजन-एक तारा, नौका-बिहार नीरजा : गीत—११, हुंकार : हिमालय ।

[4]परिमल—तुम और मैं ।

पदपादाकुलक की हो जायँगी। डॉ० शुक्ल ने निराला की इसी कविता की निम्नांकित पंक्तियों

तुम | तुंग हिमालय शृंग
और मैं चंचलगति सुर-सरिता।
तुम | विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कांत कामिनी कविता।
} १३:२+(१६+१२=सार)

तुम | प्रेम और मैं शान्ति—सरसी का द्वितीयांश (१३:२+११)

तुम | सुरा पान घन अंधकार
मैं हूँ मतवाली भ्रांति।
) १६:२+(१६+११=सरसी)

के आदि के 'तुम' को हटा कर तथा दो पंक्तियों को एक मान कर इस अनुच्छेद का निर्माण सार और सरसी के संयोग से बना बताया है।[1] प्रारंभिक दो मात्राओं को हटाने की बात कुछ जंचती नहीं। हमारे विचार से इसकी पंक्तियाँ पद्धरि और पदपादाकुलक के अत्यंत समीप हैं। इन्हें निम्नांकित रूप में रख देने से हमारी बात आसानी से समझ में आ जायगी।

| | |
|---|---|
| तुम तुंग हिमालय शृंग, और | १६ पद्धरि |
| मैं चंचल गति सुर-सरिता (हूँ) | १६ पदपादाकुलक |
| तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और | १६ पद्धरि |
| मैं कांत कामिनी कविता (हूँ) | १६ पदपादाकुलक |
| तुम प्रेम और मैं शान्ति (मधुर) | १६ पदपादाकुलक |
| तुम सुरापान घन अंधकार | १६ पद्धरि |
| मैं हूँ मतवाली भ्राँति (सरल) | १६ पादाकुलक |

कोष्ठक के शब्द इसलिये दिये गये हैं कि उन पंक्तियों का पदपादाकुलक-आधार स्पष्ट हो जाय। उन शब्दों के बिना—अर्थात् अपने मूल रूप में दूसरी और चौथी पक्तियाँ सखी की हैं और पाँचवीं जौर सातवीं पद्धरि अथवा पदपादा-कुलक की अंतिम तीन मात्राएँ हटा कर बना ली गई हैं।

पादाकुलक ( भानु के अनुसार ), चौपाई, पद्धरि तथा पदपादाकुलक सभी आपस में गुम्फित-से हैं। पादाकुलक और चौपाई की पंक्तियाँ तो आपस में मिल जाती हैं। पद्धरि की पंक्ति का संयोग इन दोनों के साथ इसलिए नहीं हो सकता कि पादाकुलक और चौपाई के पाद का निपात पद्धरि से भिन्न है।

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३५०।

पद्धरि के अंत में ऽ। अनिवार्य है और पादाकुलक और चौपाई का अंत गलात्मक नहीं होता। पदपादाकुलक का पादाकुलक और चौपाई के साथ मेल हो सकता है या नहीं ? इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। भानु के अनुसार पदपादाकुलक के पद पृथक् रहते हैं, उनका मेल पादाकुलक वा चौपाई से नहीं होता।[1] डॉ० शुक्ल इसे पादाकुलक की अपेक्षा चौपाई के अधिक समीप मानते हैं, क्योंकि इसका समप्रवाह और निपात चौपाई के समान होता है।[2] दोनों ही आचार्यों के कथन सत्य से किंचित् दूर हैं। उन्ही के उदाहरणों द्वारा हम इसकी परीक्षा कर सकते हैं। भानु ने पदपादाकुलक का उदाहरण यह दिया है—

**पद पा | दाकुल | क कला | सोला।**
**सम-विष | म बिषम | गति अन | मोला।**
**व्रज में | हरि हो | री खे | लि रहे।**
**गण ग्वा | ल अबी | रहिं मे | लि रहे।**[3]

इसके सभी चरण चार चौकलों में विभाज्य हैं। अतः उन्हीं के अनुसार यह पादाकुलक का भी उदाहरण हो सकता है। डॉ० शुक्ल द्वारा दिया हुआ पदपादाकुलक का उदाहरण निम्नलिखित है—

**नृप रा | म-राम | ही रट | ते थे।**
**युग के | समान | पल कट | ते थे।**
**फिर भी | सुमन्त | हैं सा | थ गये।**
**गृह दशा देख रघुनाथ गये।**[4]

चौकल में विभाजित होने के कारण इसके प्रथम तीन चरण पादाकुलक के हैं। चौथा चौकल में विभाज्य नहीं, अतः यह पादाकुलक नहीं कहा जा सकता। भानु के उदाहरण का प्रथम चरण चौपाई भी कहा जा सकता है यदि हम चौकल की व्यवस्था पर अधिक बल नहीं दें। भानु के मतानुसार भी चारों चरणों में चौकलों की व्यवस्था होने पर ही कोई पद पादाकुलक कहा जायगा; अन्यथा वह चौपाई ही है। शेष तीन चरण चौपाई के नहीं हो सकते, क्योंकि दूसरे और चौथे चरणों में समकल के बाद समकल की योजना नहीं है। अंत

---

[1]छन्दःप्रभाकर : भानु-पदपादाकुलक पृ०५३।
[2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६६।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५२। [4]डॉ० शुक्ल पृ० २६६।

में दो त्रिकलों के आ जाने से तीसरा चरण चौपाई नहीं कहा जा सकता।[1] डॉ० शुक्ल के उदाहरणों में तीसरा और चौथा चरण चौपाई के नहीं हो सकते क्योंकि इनके अंत में दो त्रिकल आये हैं। सम के बाद विषम आने के कारण पहला चरण भी चौपाई नहीं है। दूसरा चरण चौपाइ का किसी तरह कहा जा सकता है, किन्तु चार मात्राओं के बाद जगण की उपस्थिति चौपाई के प्रवाह को किंचित प्रतिहत कर देती है। चौपाई के चरण में जगण का प्रयोग दो त्रिकलों के बीच अथवा आदि की दो मात्राओं के बाद होना ही श्रेयस्कर होता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पदपादाकुलक की पंक्ति पादाकुलक के साथ तो मिल ही सकती है, उस चौपाई के साथ भी मिल सकती है, जो केवल समकल के योग से बनती है (सम सम सम सम सम सुखदाई)। जैसे—

**गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।**

अथवा चार मात्राओं के बाद जिसमें दो त्रिकल आये हों (विषम दोय मिलि जानिय इक सम)। जैसे—

**बन्दौ राम नाम रघुवर को।**[2]

इन दोनों पंक्तियों पर चौपाई और पदपादाकुलक (यदि ८ पर यति अनिवार्य नहीं हो तो) दोनों का अधिकार है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'बंदौ राम नाम रघुवर को' में चार चौकल नहीं बनते। पदपादाकुलक में एक तो चौकलों की शर्त नहीं है। फिर 'गृह दशा देख रघुनाथ गये' में भी चार चौकल नहीं बन पाते। दिनकर के पदपादाकुलक-निबद्ध निम्नांकित पद्य में—

**पैरों पर ही है पड़ी हुई।**
**मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,**
**तू पूछ कहाँ इसने खोई,**
**अपनी अनन्त निधियाँ सारी।**[3]

पहली और तीसरी पंक्तियाँ चौपाई की नहीं हो सकतीं। दूसरी चौपाई की कही जा सकती है। चौथी के साथ वही बात है, जो 'युग के समान पल कटते थे' के साथ है। इस प्रकार चौपाई और पदपादाकुलक की समीपता मानी जा सकती है। फिर पदपादाकुलक की पंक्तियों के बीच चौपाई का समाविष्ट हो जाना भी

---

[1] पीछे चौपाई की भानु द्वारा दी गई गण व्यवस्था पृ० ९३ (पादटिप्पणी)।
[2] छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० ५१। [3] हुंकार- हिमालय पृ० ७३।

संभव है। पदपादाकुलक और चौपाई की पहचान के लिए दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) यदि द्विकल के बाद त्रिकल का प्रयोग हुआ है, तो वह चरण चौपाई का नहीं हो सकता। (२) यदि अंत में दो त्रिकल आये हैं, तो वह चरण पदपादाकुलक का ही होगा, चौपाई का नहीं।

सूरदास ने पदपादाकुलक का प्रयोग छन्दक रूप में अवश्य किया है।[1] किन्तु सम्पद के रूप में सम्पूर्ण सूरसाहित्य में यह कहीं उपलब्ध नही होता।

**भए नव द्रुम सुमन अनेक रंग।**
**प्रति ललित लता संकुलित संग।**
**कर धरे धनुष कटि कसि निषंग।**
**मनु बने सुभट सजि कवच अंग।** —पद ३४६५

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने उपरिलिखित पंक्तियों में जो पदपादाकुलक छन्द माना है[2] वह गलत है। ये पदपादाकुलक की नहीं पद्धरि की पंक्तियाँ हैं।

पद्धरि का काव्यगत प्रयोग छन्दःशास्त्रीय उल्लेख की तरह ही प्राचीन है। सिद्धों में पद्धरि तथा पदपादाकुलक की ओर रुचि नहीं दिखाई पड़ती। केवल सरहपा में पद्धरि और कज्जल का अव्यवस्थित मिश्रित प्रयोग एक स्थान पर दिखाई पड़ता है—

**अध उद्ध मग्गवेंर पइसेइ।** १६ मात्राएँ।
**चन्द सुज्ज वेइ पडिहरेइ।** १४ मात्राएँ।
**वचिज्जइ कालहुतरणअ गइ।** १५ मात्राएँ।
**वे विअार समरस करेइ[3]।** १४ मात्राएँ।

सिद्धों के मुक्तक काव्य में चौपाई-पादाकुलक का प्रयोग ही अधिक हुआ। पद्धरि की प्रकृति प्रबन्ध काव्य के अधिक अनुकूल है, इसीलिये स्वयंभू, पुष्पदंत आदि अपभ्रंश कवियों ने अपनी कड़वक-बद्ध रचना में पद्धरि-पदपादाकुलक का विशद प्रयोग किया है, जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं। हिन्दी कवियों में चंदवरदाई के पृथ्वीराजरासो में पद्धरि छन्द विपुल परिमाण में मिलता है। नियमानुसार ये छन्द बहुत ही पुष्ट और स्पष्ट हैं और कवि का विशेष अधिकार प्रकट करते

[1]आगे छंदक के छन्द पृ० ४५६। [2]सूरसागर-ब्रजेश्वर वर्मा ५७४।
[3]दोहाकोश-पद ५७ पृ० १४।

हैं।[१] विद्यापति ने अपने दो पदों की रचना पद्धरि छन्द में की है।[२] रामानन्द की निम्नांकित पंक्तियों में—

**एक दिवस मन भई उमंग। घसि चोआ चंदन बहु सुगंध।**
**जहाँ जाइअे तहं जल पृषान। तू पूरि रहिउ है सभ समान।**[३]

पद्धरि की गूँज बहुत स्पष्ट है। कबीर ने पद्धरि का स्वतंत्र[४] तथा कज्जल-मिश्रित प्रयोग[५] अनेक पदों में किया है। सूफियों ने अपने कड़वक-बद्ध प्रबंध काव्यों में चौपाई का प्रयोग किया, पद्धरि का नहीं। भक्त कवियों ने पद्धरि को विशेष सम्मान नहीं दिया, तो एकदम उपेक्षा भी नहीं की। सूरदास और तुलसी[६] दोनों के काव्यों में पद्धरि-निबद्ध कुछ पद मिल जाते हैं। केशवदास ने रामचंद्रिका में अनेक स्थलों पर पद्धरि (पद्धटिका) का प्रयोग किया है।[७] सूदन ने सुजान चरित[८] में और जोधराज ने हम्मीर रासो में वीर रस की अवतारणा इस छंद में की है। भारतेन्दु ने गीतगोविन्दानन्द में ऋतुवर्णन इसी छंद में रचा है। आधुनिक काल में पद्धरि के प्रयोग की चर्चा हम पीछे कर आये हैं।

इस प्रकार पद्धरि का प्रयोग प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल तक बराबर होता रहा। अपभ्रंश के कड़वक-बद्ध काव्य का यह प्रधान छन्द रहा। पद्धरि का प्रयोग अधिकांशतः वीर-रसात्मक प्रसंगों और ऋतु-वर्णनों में हुआ है। देश, नगर, समुद्र आदि के वर्णन में भी पद्धरि का प्रयोग अपभ्रंश काव्य में पाया जाता है।[९] इसकी इसी वर्णनात्मक क्षमता से लाभ उठा कर पुष्पदंत ने इस वीररसात्मक छंद का नारी के नखशिख वर्णन में भी उपयोग किया है।[१०]

---

[१] चन्दबरदाई और उनका काव्य : त्रिवेदी पृ० २२३।
[२] बेनीपुरी—विद्यापति पदावली, पद १७८, १८२।
[३] संतसाहित्य— परशुराम चतुर्वेदी पृ० १३३।
[४] कबीर वचनावली—हरिऔध १९, ४३, ४९, ५०, ११६, १६२।
[५] कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दर दास, पद ३७७ से ३८८ तक।
[६] विनयपत्रिका १३, १४, २३, ६४, गीतावली अयो० ४८, ४९, सुं० १६, उत्तर २२।
[७] रामचंद्रिका १।२५—२७, ६।५०, ५६।
[८] वीरकाव्य—उदयनारायण तिवारी पृ० ३९६ और पृ० ४२९।
[९] हिन्दी काव्यधारा : राहुल-स्वयंभू ३२, ३४, ३६।
[१०] हिन्दी काव्यधारा : राहुल। पुष्पदंत पृ० २०४।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में इसका प्रयोग अधिकांशतः वीररसवर्णन अथवा प्रकृति-चित्रण में हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास तीनों ने वसंत और उसके मादक प्रभाव का वर्णन पद्धरिछन्द में ही किया है।[1]

## (१२) चन्द्र

जाहि जो भजै सो ताहि रातें।
कोउ कछु कहै सो बिरस मातें।
ता बिना ताहि कछु नाहिं भावै।
और जो जोर कोटिक दिखावै। —पद १६२२

सूरसागर के ४ पदों में चन्द्र छन्द का प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार इसमें १७ मात्राएँ तथा १० पर यति होती है। 'मत्त दस मुनि रचौ रुचिर चन्द्रै।'[2] इस लक्षण से इसके स्वरूप का बोध नहीं हो पाता। वस्तुतः यह पंचक के आधार पर चलने वाला छन्द है। तीन पंचक और एक गुरु से इसके चरण का निर्माण होता है। इस प्रकार इसे झूलना का उत्तरार्द्ध (१०-७) मान सकते हैं। सूर के चारो पदों में पंचक का आधार विद्यमान है। केवल दो एक चरणों में १० पर यति की व्यवस्था नहीं है। यथा—

दीप सौ दीप जैसे उजारी।
नारि रस वचन स्रवननि सुनावै।[3]

छोटे छंदों में यति की व्यवस्था उतनी आवश्यक नहीं होती। अतः यहाँ यति भंग के कारण प्रवाह में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आ पाई है।[4]

प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रों में इस नाम का तो कोई छंद नहीं है; किंतु इसी लय वाला एक पुट (न न म य) छंद उपलब्ध होता है जिसका उल्लेख अनेक प्राचीन छन्दःशास्त्रियों ने किया है।[5] अपभ्रंश छन्दःशास्त्री स्वयंभू ने भी

---

[1]विद्यापति पदावली—पद १७८, १८२। सूरसागर—पद ३४६५। विनयपत्रिका—पद १४।

[2]छन्दः प्रभाकर, पृ० ५३। [3]सूरसागर—पद ३११३।

[4]यति के संबंध में हमारा विचार—यतिभंग प्रकरण पृ० ५६२-५६३।

[5]नाट्यशास्त्र १६।५६, पिंगल ६।३२, जयदेवछन्दः ६।३१, छन्दोनुशासन (जयकीर्ति) २।१२८, वृत्तरत्नाकर ३।४६।

उत्थक्क नामक एक छन्द का उल्लेख किया है, जिसकी गणव्यवस्था ५+५+५+२ है, साथ ही इसके पादांत में यमक की भी योजना होती है। यथा—

**जइ तिण्णि होंति पा आवसाण।**
**जम आवि होंति पा आवसाण॥**
**उत्थक्क होइ चउतुँहुँवि जाण।**
**पा आण ताण×× वुहुँ वि जाण।**[१]

इस पद के पादांत सभी वर्ण गुरु माने गये हैं, अन्यथा १७ की जगह १६ मात्राएँ ही होंगी। पादांत वर्णों को गुरु मान लेने पर यह गणव्यवस्था और लय दोनों ही दृष्टियों से चन्द्र छंद हो जाता है। स्वयंभू के अतिरिक्त और किसी अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में इस नाम का छंद उपलब्ध नहीं होता।

हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में भिखारीदास ने चन्द्र नामक एक छंद का उल्लेख किया है, जिसमें २० मात्राएँ होती हैं।[२] अतः उस चन्द्र से इस चन्द्र का कोई संबंध नहीं। भानु ने वर्णिक प्रकरण में एक बाला छंद का उल्लेख किया हैं जिसकी गणव्यवस्था र र र ग है।

**रोरि रंगा दियो कौन बाला।**
**मैं न जानौ कहैं नन्दलाला।**[३]

भिखारीदास ने भी इस बाला का उल्लेख सप्तदश मात्रापादी मात्रिक छंदों में किया है।[४] इस बाला का चन्द्र के साथ लय-साम्य तो है, किन्तु इसका उल्लेख संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता। पिंगल और केदार ने जिस बाला का उल्लेख किया है, वह उपजाति छंद का एक भेद है। आधुनिक संस्कृत छन्दःशास्त्र वाग्वल्लभ में इस बाला का उल्लेख अवश्य मिलता है—हेमहासः बाला च। रत्रयं गो यदा हेमहासः।[५] किंतु यह शास्त्र प्राचीन नहीं है। यह इससे पता चलता है कि इस ग्रंथ के टीकाकार ग्रंथकर्त्ता के पुत्र थे[६], जिनका मृत्यु-काल भूमिका-लेखक ने विक्रम संवत् १९८८ (सन् १९३१) बताया है।[७] भानु

---

[१]स्वयंभू छन्दः ८।१।

[२]भिखारीदास ग्रन्थावली खंड १, छन्दार्णव ५।१८१ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

[३]छन्दः प्रभाकर, पृ० १३३। [४]भिखारीदास—छन्दार्णव ५।१६१।

[५]वाग्वल्लभ, पृ० १४८। [६]वाग्वल्लभ टीका, श्लो० ४ पृ० २।

[७]वाग्वल्लभ की भूमिका, प० ११।

ने छन्दः प्रभाकर की रचना जून १८९४ में की थी।[1] इस प्रकार टीकाकार की मृत्यु के ३७ वर्ष पूर्व छन्दः प्रभाकर की रचना हो चुकी थी। पिता ने ग्रंथ रचा और पुत्र ने उस पर टीका लिखी, इसमें कुछ समय तो अवश्य ही बीता होगा। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दुःखभंजन ने अपने ग्रंथ की रचना भानु के बाद नहीं, तो आस-पास ही की होगी। चन्द्र छन्द को यदि इस बाला का मात्रिक रूप मानें, तो इसकी परंपरा दुःखभंजन और भानु तक ही जाकर रुक जाती है। किन्तु पुट का मात्रिक रूप मानने पर इसकी परंपरा भरत और पिंगल तक पहुँच जाती है। यों स्वयंभू के उत्थक्क के साथ भी इसका पूरा लय-साम्य है, अतः उसकी परंपरा में भी यह देखा जा सकता है।

चन्द्र का काव्यगत प्रयोग पुराना है। संस्कृत कवि जयदेव ने चन्द्र और गोपी का मिश्रित प्रयोग एक गीत में किया है—

**मंजुतर कुंजतल केलि-सदने।**
**विलस रति रभस हसित वदने।**[2]

इसमें पहली पंक्ति चन्द्र की और दूसरी गोपी की है। गोरखवानी के दो पदों में चन्द्र की लय वर्तमान है।[3]

**डाल न मूल न वृष न बेला,**
**साषी न सब्द गुरु नहिं चेला।**
**ग्याने न ध्याने जोगे न जुक्ता,**
**पापे न पुंने मोषे न मुक्ता।** —पद ३५

गोरखनाथ के बाद इसका प्रयोग सूरदास में ही मिलता है। उनके बाद इस छंद का प्रयोग प्राचीन साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक काल में हरिऔध और प्रसाद ने इसका प्रयोग क्रमशः 'पद्य-प्रसून' और 'झरना' में किया है।[4]

**डाल पर बोलता है पपीहा—**
**'हो भला प्राणधन, तुम कहीं ? हा।**
**आ मिलो हो जहाँ।**
**पी कहाँ ? पी कहाँ ?**
**प्यास से मर रहे दीन चातक।**
**क्यों बना चाहते प्राण-घातक ?**

---

[1] छन्दः प्रभाकर, भूमिका पृ० ४। [2] गीत गोविन्द—सर्ग ११।
[3] गोरखवानी : पीतांबरदत्त बड़थ्वाल—पद ३२, ३५।
[4] पद्य-प्रसून : एक उकताया, पृ० ५१, आँसू, पृ० १५२, आती है, पृ० १५४।

**श्याम-घन | हो कहाँ ?**
**पी | कहाँ ? पी | कहाँ ?[१]**

डॉ० शुक्ल ने 'झरना' की उक्त पंक्तियों में बाला छन्द माना है तथा इसकी रचना तीन पंचकों (रगण प्रस्तार) और गुरु के योग से बताई है। साथ ही चंद्र छन्द से इसका भेद बतलाते हुए लिखा है कि इसके अंत में दो लघु भी आ सकते हैं।[२] चंद्र छंद के अन्त में गुरु-लघु का कोई विशेष नियम भानु ने नहीं माना है।[३] अतः प्रसाद की उक्त लघ्वंत पंक्तियाँ भी चंद्र छन्द ही हैं। इन्हें बाला छन्द कहना कोई विशेष मूल्य नहीं रखता, जबकि पद्य की शेष सारी पंक्तियाँ गुर्वन्त ही हैं।

रुक-रुक कर चलने वाले चन्द्र में करुण भाव की व्यंजना सफलतापूर्वक हो सकती है। प्रसाद ने इसका प्रयोग ऐसे ही भावों के प्रकटीकरण के लिए किया है। सूरदास ने इस छन्द द्वारा एक पद में तो विप्रलंभ भाव की ही अभिव्यक्ति की है[४], किन्तु तीन पदों में कुछ वर्णनात्मक प्रसंग और कुछ ज्ञानोपदेश की चर्चा की है।[५]

## (१३) उपवदनक

**धन्य कृष्ण अवतार ब्रह्म लियौ।**
**रेख न रूप प्रगट दरसन दियौ।**
**जल थल मैं कोउ और नहीं दियौ।**
**दुष्टनि बधि संतनि कौ सुख दियौ।** —पद २२२५

उपवदनक छन्द का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से सूरसागर में कहीं नहीं हुआ है। चार पदों में अन्य छन्दों के साथ इसका मिश्रित प्रयोग उपलब्ध होता है।[६] इस छन्द में १७ मात्राएँ होती हैं। यह चौपाई के समान समप्रवाही छन्द है। भगणांत (ऽ।।) पाद वाली चौपाई के अन्तिम लघु को दीर्घ कर देने से यह छन्द बन जाता है।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में सप्तदशमात्रापादी मात्रिक छन्द तो है नहीं,

---

[१]झरना, पृ० ३५। [२]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६९।
[३]छन्दःप्रभाकर, पृष्ठ ५३। [४]सूरसागर—पद ३०३९।
[५]सूरसागर—पद १६२२, ३०३८, ३११३।
[६]मिश्र छन्द, पृ० २५५, ३४८, ३८०, ३८७।

कोई वर्णिक छन्द भी ऐसा नहीं है, जिसकी लय इससे मिलती-जुलती हो। स्वयंभू ने सप्तदशमात्रापादी उपवदनक छन्द का उल्लेख यों किया है—

**होंति सम्रा सत्तारह मत्तम्रा। तह चतदपत ग्रार संजुत्तम्रा।**
**ग्रहवा छ च च तम्रार णिबद्धम्रा। तिपदा ग्रो व ग्र (ण)**
**स्स इमे पाग्र ग्रा।**[1]

इसके अनुसार उपवदनक की गणव्यवस्थ ४+३+२+५+३, ६+४+४+३ अथवा ५+५+५+२ है। चन्द्र की गणव्यवस्था भी ५+५+५+२ है। उपवदनक की भी यही गणव्यवस्था मान लेने पर दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः लय के आधार पर उपवदनक की गणव्यवस्था ६+४+४+३ अथवा ४+४+४+५ मानना समीचीन है। हेमचन्द्र ने भी उपवदनक का यही लक्षण बताया है। षचचाद्दौ वदनकम्। त उपवदनकम्।[2] राजशेखर ने सप्तदशपादी रगड़ाध्रुवक का उल्लेख किया है—त्रिचगणपगणैः षचगण चतैर्वा। रगड़ाध्रुवक सप्तदशमात्रम्।[3] जिसकी गणव्यवस्था ४+४+४+५ या ६+४+४+३ है। हेमचंद्र के रगड़ाध्रुवक की गणव्यवस्था भी यही है—चिपौ षचाता वा रगड़ाध्रुवकम।[4] उपवदनक और रगड़ाध्रुवक दोनों की ६+४+४+३ गणव्यवस्था को देख कर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ये दोनों एक ही छन्द हैं। स्वयंभू के उपवदनक से सूरदास की उपर्युद्धृत पंक्तियों का पूरा लय-साम्य है। गणव्यवस्था भी दोनों की समान है। अतः सूरसागर की ऐसी पंक्तियों को उपवदनक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रा० पैं० में १७ मात्राओं का कोई छन्द नहीं है। हिन्दी के छन्दःशास्त्रों में न तो यह नाम मिलता है, और न इस लय का कोई छन्द।

अपभ्रंश काव्यों में इसकी पंक्तियाँ अन्य छन्दों के बीच उसी प्रकार मिल जाती हैं, जिस प्रकार सूरसागर में। स्वयंभू की रामायण में चौपाइयों के बीच यत्र तत्र इसकी पंक्तियाँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं। यथा—

**केणवि कोवि भिण्णु रिउ वच्छत्थले। पडिउ घलंतु णवरि महि-मंडले।**
**केणवि झंप दिण्णु रिउ-रहवरे। गरुड़े जिह भुयंग-भुम्रणंतरे।**[5]

धनपाल की भविसयत्त-कहा में भी ऐसा प्रयोग मिलता है। यथा—

---

[1] स्वयंभूच्छन्दः ६।१३०। [2] छन्दोनुशासन—५।२८-२९।
[3] छन्दःशेखर १७४। [4] छन्दोऽनुशासन ६।३२।
[5] हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० ९२।

**जाणाविउ भूवाल णरिंदहो। समइ परिट्ठिउ सण्णिवदहो।**
**निग्गउ वणिवरिंदु पहुवारहो। भडथड-निवह-विसम-संचारहो।**[1]

राहुलजी ने ऐसी पंक्तियों के अंतिम दीर्घ के ऊपर (˘) ऐसा चिन्ह लगा कर दीर्घ को ह्रस्व सूचित करना चाहा है। छन्द के आग्रहवश अपभ्रंश काव्य में दीर्घ को ह्रस्व पढ़ने की पूरी छूट है। उसके अनुसार ये पंक्तियाँ अरिल्ल की कही जायँगी। इस दृष्टि से सूरसागर की ये पंक्तियाँ भी चौपाई के अन्तर्गत आ जायँगी। क्योंकि ब्रजभाषा काव्य में भी यह छूट है। पर जब ऐसी पंक्तियाँ काव्य-प्रयोग में आती रही हैं, और छन्दःशास्त्रियों ने उनका नामकरण भी कर दिया है, तो इन्हें चौपाई-अरिल्ल नहीं मान कर उपवदनक मानने में क्या आपत्ति है ? प्रयोग की विरलता के कारण हिन्दी के छन्दःशास्त्रियों ने इसे विस्मृत कर दिया। पर कवियों के काव्यों में इसकी पंक्तियाँ यत्र-तत्र दृष्टि-गोचर हो जाया करती हैं। भूसकुपा के एक पद में इसकी पंक्तियाँ यों हैं—

**करुणा मेह निरन्तर कारिआ।**
**भावा भाव द्वंदल दालिआ।**[2] **('व' का दीर्घ उच्चारण अपेक्षित)**

गोरखनाथ में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। यथा—

**यंद्री का लडबडा जिभ्या का फूहड़ा।**
**गोरख कहै ते पर्तषि चूहड़ा।**[3]
**( रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित )**

विद्यापति की पदावली में यह छन्द नहीं मिलता। किन्तु, कबीरदास ने इसका प्रयोग स्वतंत्र[4] और मिश्र[5] दोनों रूपों में किया है। जैसे—

**जोगिन जंगम मुनि दरवेसवा।**
**आदि न अंत न काल कलेसवा। —पद २२२ (वचनावली)**

सूरदास के समान कबीरदास ने भी चौपाई और उपवदनक के चरणों के योग

---

[1] **हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० २६४ और २८०।**
[2] **हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० १३४।**
[3] **गोरखबानी—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल सबदी १५२।**
[4] **कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दर दास पद २९।**
[5] **(क) कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दर दास परिशिष्ट पद ७।**
**(ख) कबीर वचनावली : हरिऔध, पद २२२।**

को एक इकाई मान कर ३३ मात्रापादी छन्द का प्रयोग एक पद में किया है।[१] नानक में भी उपवदनक की पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

गुरु मिलिऐ मिलि अंकि समाइया।
करि किरपा घरु महल दिखाइया।
नानक हउ मैं मारि मिलाइआ।[२]

तुलसीदास ने अपने पद-साहित्य में इसका प्रयोग नहीं किया। तुलसी के बाद के साहित्य में भी यह छन्द दिखलाई नहीं पड़ता।

## (१४) माली

हरि तब हँसि बोले धनि व्रजनारी।
मैं तुम बहुत कसी दृढ़-व्रतधारी।
मुख बहुत कही अंतर तुमहीं रहीं।
जब जहँ देह धरौं तहँ तुम सँगही। —पद १८००
(हीं का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

माली छन्द के पाँच पद्य (२० पंक्तियाँ) पद संख्या १८०० में प्रयुक्त हुए हैं। माली का सर्वप्रथम उल्लेख भिखारीदास ने किया है। उन्होंने इस अट्ठारह मात्रापादी छन्द में किसी नियम का निर्धारण नहीं किया है। 'अनियम माली बंस।'[३] किन्तु, उनके उदाहरण-पद्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पादाकुलक के अंत में गुरु जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है। जैसे—

मुरली अधर मुकुट सिर दीन्हे है।
कटि पट पीत लकुट कर लीन्हे है।
को जानै कब आयो सुनि आली।
उर तें कढ़त न केहूँ बनमाली।[४]

भिखारीदास के बाद रामसहाय ने वृत्ततरंगिनी में इसका उल्लेख किया है।[५] जानी बिहारी लाल ने १८ मात्रा वाले छन्दों में एक छन्द 'राजीवगण' का

---

[१]वदन सवैया पृ० २५५।
[२]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी पद ४ पृ० २११।
[३]भिखारीदास ग्रंथावली भाग १, छन्दार्णव ५।१६३ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। [४]छन्दार्णव—५।१६५।
[५]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ६२ डॉ० शिवनन्दन प्रसाद।

उल्लेख किया है।[1] भानु ने जिस राजीवगरा का उल्लेख किया है और जिसका अन्य नाम माली माना है, वह भिखारीदास के माली से भिन्न है। भानु के अनुसार राजीवगरा (माली) में १८ मात्राएँ और ९-९ पर यति होती है।

**नव नव राजीव, गण कल धारिये।**
**माधो गोविन्द, नाम उचारिये।**[2]

इस लक्षणोदाहरण से स्पष्ट है कि यह पादाकुलक में एक गुरु जोड़ कर नहीं बना है। सूरदास के उपर्युद्धृत पद्य से इसका कोई साम्य नहीं। सूर की पंक्तियों की लय भिखारीदास के माली से मिलती है। साथ ही १० मात्राओं पर एक हलकी-सी यति भी मिलती है, जैसी भिखारीदास की दो पंक्तियों में भी पायी जाती है। अतः ऐसे पद्यों को माली कहना ही हमने उपयुक्त समझा। सूरदास के पद्यों में निम्नांकित तीन ही पंक्तियाँ—

**बचन सुनाए मो | हन नागरि कौं।**
**निठुर वचन सुनि ग्वा | लिनि निठुर भई।**
**मुख बहुत कही श्रं | तर तुमहीं रहीं।**

ऐसी हैं, जिनमें यति १० मात्राओं पर नहीं पाई जाती। ऐसे स्थलों पर मनोहारी विविधता मान कर माली के लक्षरा में १०-८ पर यति बतलाना युक्तिसंगत ही होगा।

संस्कृत वर्णिक परम्परा में एक छन्द तारक (स स स स ग) है, जिसकी लय माली से बहुत कुछ मिलती जुलती है। यथा—

**पढ़ि पिंगल छन्द रचै सब कोई।**
**करतार करौ सुभ वासर सोई।**[3]

इन पंक्तियों को भिखारीदास की उक्त पंक्तियों के साथ पढ़ने से लय-साम्य के सत्य को हम हृदयंगम कर सकते हैं। किन्तु, इस तारक का सर्वप्रथम उल्लेख प्रा० पैंगलकार ने ही किया है, अतः यह बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता। विरहांक ने सुमंगला नामक एक छन्द का उल्लेख किया है—

**वारण जोहरहतुरंगमएहिं**
**विरमपरिट्ठवि अविहूसणएहिं।**

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ९६, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद।
[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ५३। [3] छन्दःप्रभाकर, पृ० १६१।

**पाओ दूरं सुमणोहरिआए ।**
**होइ अ सोम्ममुहि सुमंगलि आए ।**[1]

इसकी गणव्यवस्था ४+४+४+४+२ है । चर्भिश्चतुमात्रैर्गुरुणा च सुमंगलापादो भवति ।[2] यह सुमंगला भी पादाकुलक के अंत में एक गुरु के योग से बना है । अतः इसका भिखारीदास के माली के साथ पूरा लय-साम्य है । इस प्रकार भिखारीदास के माली का संबंध विरहांक के सुमंगला छन्द से सहज ही जोड़ा जा सकता है । सूरसागर में प्रयुक्त इस माली में विरहांक के सुमंगला और भिखारीदास के माली के नियम पूर्णतया घटित होते हैं । केवल निम्नांकित दो पंक्तियों—

**अद्भुत रास रच्यौ गिरिधर लाडिले ।**
**श्री वृषभानु-सुता सों हरि चाडिले ।**

में १८ की जगह १९ मात्राएँ हैं । यदि ब्रजभाषा के नियमानुसार अंतिम 'ले' का ह्रस्वोच्चारण किया जाय, तो ये दो पंक्तियाँ भी माली की हो जाती हैं ।

अपभ्रंश काव्यों के अन्तर्गत बब्बर में एक अष्टादशमात्रापादी निम्न छंद मिलता है—

**पाव-मंजरि लिज्जिअ चूअह गाछें ।**
**परि फुल्लिअ केसु ण आ वण आछे ।**[3]

किन्तु इसके प्रत्येक चरण में वर्णों का क्रम और संख्या एक समान है, अतः यह माली नहीं, तारक छंद है । प्राकृत पैंगलकार ने इसे तारक छंद के उदाहरण में ही रक्खा है ।[4]

हिन्दी साहित्य में इस छंद का प्रयोग नहीं के बराबर है । सूरदास के पूर्व और पश्चात् इस प्रकार का प्रयोग हमारे देखने में कहीं नहीं आया । सूरदास ने विरहांक के सुमंगला की अवतारणा हिन्दी में अवश्य की, किन्तु आगे इसकी परंपरा चली नहीं । चौपाई (पादाकुलक) के अभ्यस्त कानों को इसकी अंतिम दो मात्राएँ अच्छी नहीं लगीं, यही कारण है कि चौपाई के सामने माली प्रचलित नहीं हो सका ।

---

[1]वृत्तजाति समुच्चय ३।१६ । [2]वृत्तजाति समुच्चय की टीका, पृ० २२ ।
[3]हिन्दी काव्यधारा-राहुल, पृ० ३२२ । [4]प्रा० पैं० २।१४४ ।

## (१५) रतिवल्लभ

कहा वह मोतिसरि, जो गँवाई री।
बबा सौं और लैहौं मँगाई री।
वै कहा करैगी, सैंति राखै री।
ता दिन तुहीं धौं, कितिक भाखै री। —पद २५६२

रतिवल्लभ का प्रयोग सूरसागर के केवल एक पद (१० पंक्तियों) में हुआ है। चन्द्र छंद के अन्त में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छंद बन जाता है। चन्द्र का प्रयोग तो सूर के पूर्व और पश्चात् भी मिल जाता है। किन्तु इस छंद का प्रयोग न तो सूर के पहले और न पीछे ही किसी ने किया। संभवतः संगीत के सुविधानुसार उन्होंने 'री' का योग किया हो, और इस प्रकार यह एक नूतन छंद बन गया हो। पद की दसों पंक्तियों में चन्द्र छंद के नियम का पालन हुआ है। केवल उपरिलिखित उद्धरण की चौथी पंक्ति में एक मात्रा कम है। हो सकता है, 'दिवस' की जगह 'दिन' के आ जाने से यह दोष आ गया हो। ५+५+५+४ गण वाले रतिवल्लभ छंद का उल्लेख हेमचन्द्र के ग्रंथ में मिलता है।[१] अतः इसका नाम रतिवल्लभ रख दिया गया। 'री' का योग चाहे संगीत के सुविधानुसार ही हुआ हो, किन्तु काव्य-भावना की दृष्टि से भी यह एक वैशिष्ट्य लिये हुए है। ५+५+५+२ गण वाले चन्द्र का जो निपात ५ के बाद दो मात्राओं पर कुछ हलके और आकस्मिक ढंग से हो जाता था, दो मात्राओं के योग से उसमें कुछ गुरुता और कुछ नियमितता आ जाती है, जिससे पाठकों के हृदय पर अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव पड़ता है। करुण भाव की अवतारणा करने वाला चंद्र छन्द दो मात्राओं के योग से अपर भावों को वहन करने की भी क्षमता प्राप्त कर लेता है।

## (१६) योग-कल्प

बरषा रितु आई, हरि न मिले माई।
गगन गरजि घन दइ, दामिनी दिखाई।
मोरन बन बुलाइ, दादुरहुँ जगाई।
पपिहा पुकार सखि, सुनतहिं बिकलाई। —पद ३९३५

---

[१]छंदोनुशासन-पिचौ रतिवल्लभ, ४।४७।

योगकल्प छन्द का प्रयोग उक्त पद की आठ पंक्तियों में हुआ है। इसके अतिरिक्त एक पद[1] के प्रारंभ में इसकी दो पंक्तियाँ हैं—

**हरि-रथ रतन जर्यौ सु अनूप दिखावै।**
**जिहि मग कान्ह गयौ तिहिं मग तें आवै।**

इन सभी पंक्तियों में १० पर यति दे कर २० मात्राएँ हैं। भानु के अनुसार योग छंद में १२-८ पर यति और अंत में यगण होते हैं—

**द्वादश पुनि | आठ सुकल | योग सुहायो।**
**मानुष तन | पाय सदा | रामहिं गायो।**[2]

भानु के उदाहरण से पता लगता है कि योग छंद षष्ठक के आधार पर चलने वाला छंद है। कुण्डल की अन्तिम दो मात्राओं को हटा देने से योग बन जाता है। सूरदास के उपर्युद्धृत पद में षष्ठक का आधार तो मौजूद है, पर यति १२ पर नहीं दे कर १०-१० पर दी गई है। इस प्रकार इसके चरण का निर्माण षष्ठक-चतुष्कल, षष्ठक-चतुष्कल के आधार पर माना जा सकता है। इस नियम का पालन 'हरि-रथ रतन' वाली अर्द्धाली में नहीं हुआ है। 'रतन जर्यौ' और 'कान्ह गयौ' को क्रमशः 'हरि-रथ' और 'जिहिं मग' के पूर्व रख देने से योग छन्द का गण-क्रम ठीक हो जाता है। यदि लिपिकर्त्ता की असावधानी से क्रम-विपर्यय हो गया हो, तो असंभव नहीं। इसके अतिरिक्त और सभी पंक्तियों में गण-व्यवस्था का पूर्णतः पालन हुआ है। इस गण-व्यवस्था को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुण्डल के प्रथमांश (१२ मात्राएँ) की अन्तिम दो मात्राओं को निकाल कर इस छन्द का आविष्कार कर लिया गया है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि उक्त पद की निम्न पंक्ति—

**सूर बिथा जानैं तौं, आवैं जदुराई।**

कुण्डल की हो गई है, क्योंकि इसमें १०-१० की जगह १२-१० मात्राएँ हैं। इस प्रकार भानु के योग और सूरदास के इस छंद का जन्म कुण्डल से ही हुआ है, यह असंदिग्ध है। कुण्डल पर आधारित होने के कारण ही डॉ० महेश को धोखा हो गया और उन्होंने निम्न पंक्तियों को—

**पारथ के सारथि हरि आप भए हैं।**
**भक्त बछल नाम निगम गाइ गए हैं।**

---

[1]सूरसागर पद ४७११। [2]छंदःप्रभाकर, पृ० ५६।

**बाएँ कर बाजि-बाग दाहिन हैं बैठे।**
**हाँकत हरि हाँक देत गरजत ज्यों ऐंठे।**

योग का उदाहरण मान लिया।[1] प्रथम दो पंक्तियाँ तो भानु के अनुसार योग की ही हैं, किन्तु तीसरी और चौथी पंक्तियाँ योग की किस प्रकार कही जा सकती हैं, जबकि इनमें २० की जगह २२ मात्राएँ हैं। डॉ० महेश भी योग में २० ही मात्राएँ मानते हैं।

भानु के योग से इस छंद की लय में, यति-स्थान की भिन्नता के कारण किंचित् अन्तर स्पष्टतया प्रतीत होता है। अतः इसे योग छंद कहना समुचित नहीं प्रतीत होता। मात्राओं की समानता तथा दोनों की समान गणों पर स्थिति देख कर इसे योग-कल्प कहना सर्वथा उपयुक्त है।

संस्कृत के वर्णिक छंदों में २० मात्राओं के प्रहर्षिणी छंद का उल्लेख अनेक प्राचीन आचार्यों ने किया है।[2] विरहांक ने इसी को मयूरपिच्छ कहा है।[3] भानु ने प्रहर्षिणी (म न ज र ग) का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

**मानो जू, रंग रहि प्रेम में तुम्हारे। प्राणों के, तुमहि अधार हौ हमारे।**
**वैसो ही, विरचहु रास हे कन्हाई। भावै जो शरद प्रहर्षिणी जुन्हाई।**[4]

यद्यपि इसमें तीन अक्षरों (६ मात्राओं) के बाद यति की व्यवस्था है, पर पढ़ने में १०-१० मात्राओं पर यति स्पष्टतया प्रतीत होती है। दोनों की लय में जो किंचित् भिन्नता प्रतीत होती है, उसका कारण है, वर्णिक छंद की गणबद्धता और मात्रिक छंद के वर्णों की मात्रागत स्वच्छंदता। अन्यथा दोनों की लय बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। अतः योग-कल्प प्रहर्षिणी का मात्रिक रूप सहज ही कहा जा सकता है।

प्राकृत-अपभ्रंश की छन्दः-परंपरा में इस गण अथवा लय का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। भानु के पूर्व योग का किसी ने उल्लेख नहीं किया। भानु के बाद केवल डॉ० शुक्ल ने योग का उल्लेख किया है। उनके अनुसार आजकल योग छंद की २० मात्राएँ समप्रवाही होती हैं, कहीं-कहीं ८ मात्राओं पर यति

---

[1] The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. Chapter II, Page 45.

[2] भरत १६।६०, पिंगल ७।१, जयदेव ७।१, जयकीर्ति २।१५०, केदार ३।६६, हेमचंद २।१९७।

[3] वृत्तजाति समुच्चय ५।२६।     [4] छंदःप्रभाकर, पृ० १५९।

होती है, अन्यथा बिना यति के चरण होते हैं। अंत में SS, IIS, SII ही आते हैं। इस समप्रवाही छंद के उदाहरण में उन्होंने पंत की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**भाव कर्म में | जहाँ साम्य हो—संतत,**
**जग जीवन में | हों विचार जन—के रत।**
**ज्ञान वृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,**
**मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन।**[1]

इसी पद्य को डॉ० शिवनन्दन ने हंसगति के उदाहरण में रक्खा है।[2] उनके और भानु दोनों के मतानुसार हंसगति में ११वीं मात्रा पर यति होती है।[3] यहाँ केवल प्रथम चरण में ११ पर यति मानी जा सकती है। शेष चरणों में ११ पर यति नहीं है। अतः इसे हंसगति मानना ठीक नहीं। हमारे विचार से डॉ० शुक्ल के अनुसार इसे योग कहना तो नियमानुसार बिलकुल समीचीन नहीं। भानु के योग और पंत के उक्त छंद में लय की काफी भिन्नता है। इसलिये या तो इसे कोई नया नाम मिलना चाहिये, अथवा यति-नियम को शिथिल कर हंसगति कहना चाहिये। सूर के उपर्युद्धृत छंद से न तो भानु के योग का साम्य है और न डॉ० शुक्ल के योग का। अतः इसे नया नाम देना पड़ा। ऐसे छन्द का प्रयोग न तो सूर के पूर्व दृष्टिगोचर होता है और न उनके पश्चात् ही कहीं मिलता है।

## (१७) कुण्डली

**व्योम-जान फूल, अति गति बरसावै री।**
**कामिनि धीरज धरै, को सो कहावै री।**
**नंदलाल ललना ललचि ललचावै री।**
**सूरदास प्रेम हरि, हियैं न समावै री।** —पद १२४७

सूरसागर में कुण्डली छंद का प्रयोग एक ही पद में हुआ है। इस छंद में २१ मात्राएँ होती हैं और ११-१० पर यति होती है। इसकी लय कुण्डल छंद से बहुत मिलती-जुलती है। वस्तुतः कुण्डल छंद के प्रथम खंड में एक मात्रा कम कर देने पर यह छंद बन जाता है। इसीलिये इस छंद का नाम कुण्डली रक्खा गया है। इस पद में १० पंक्तियाँ हैं और प्रायः सब में उक्त

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७६।
[2] हिन्दी छंदःशास्त्र, पृ० ७६।
[3] छंदःप्रभाकर, पृ० ५७।

नियम का पालन हुआ है। अवश्य कुछ वर्णों का ह्रस्वोच्चारण करना पड़ता है। यथा—

**मदन मोहन बेनु मृदु।**
**थावर चलावै री।**
**को सो कहावै री।**
**हियै न समावै री।**

इनमें रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण छंद की दृष्टि से अपेक्षित है। 'लहरि भुअँग, त्यागि सनमुख आवै री' में दो मात्राओं की कमी है। 'त्यागि' के बाद 'करि' जैसे द्विमात्रिक शब्द रख देने से इसकी पूर्ति हो जाती है। तृतीय संस्करण में 'जैसी जैसी करैं' की जगह 'जैसी जैसी बातें करैं' पाठ है। यदि यही पाठ ठीक हो, तो 'जैसी जैसी' में ह्रस्वोच्चारण के आधार पर आठ की जगह चार मात्राएँ माननी पड़ेंगी।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में इस लय का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। डा० भोलाशंकर व्यास ने प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियों द्वारा उल्लेखित २१ मात्रापादी १० छन्दों के नाम दिये हैं। (१) गलितक, (२) उपगलितक, (३) अंतरगलितक (४) मंजरी (५) तरंगक (६) रासक (७) दर्दुर (८) आमोद (रासक) (९) रासावलय (१०) आभाणक।[1] गण-व्यवस्था के अनुसार आमोद (रासक) के अतिरिक्त इन सभी छंदों के अंत में तीन मात्राएँ नियमतः होती हैं। इससे इन सब का लय-साम्य सूरदास के उक्त पद से नहीं हो सकता। आमोद (रासक) की गण-व्यवस्था (४ र ज म गुरु) सूर के पद में नहीं मिलती। अतः इसे आमोद (रासक) भी नहीं कह सकते। विरहांक के सौम्या, रमणीयक तथा संपिण्डिता तीनों वस्तुतः एक ही छंद हैं। तीनों की गण-व्यवस्था ५+५+४+४+।ऽ है।[2] इस प्रकार ये तीनों हेमचन्द्र का गलितक कहे जा सकते हैं।[3] अतः इन तीनों का भी सूर के पद से कोई साम्य नहीं।

केशवदास की छन्दमाला, भिखारीदास के छंदार्णव तथा भानु के छन्दः

---

[1]प्राकृत पैंगलम् भाग ४, पृ० ४७६।
[2]वृत्तजाति-समुच्चय—३।२७, ४।२६, ४।८९।
[3]छन्दोनुशासन—पौ चौ तो गलितकं ४।२५।

प्रभाकर में इस प्रकार के किसी छन्द का उल्लेख नहीं हुआ है। कुण्डल के आधार पर सूरदास ने इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया। उनका यह प्रयोग प्रयोग मात्र ही रहा। एक तो उन्होंने भी इस छंद में एक ही पद की रचना की, दूसरे उनके बाद किसी कवि-द्वारा यह प्रयुक्त नहीं हुआ। यही कारण है कि सूरसागर की गहराई में छिपे हुए इस छंद पर हिन्दी के लक्षणकारों की दृष्टि नहीं पड़ी। फलतः यह नाम-गोत्र से वंचित रहा।

## (१८) प्रणय

**(माई री) मुरली अति गर्व काहु, वदति नाहिं आजु।**
**हरि कै मुख-कमल-देस, पायौ सुख-राजु।**
**बैठति कर पीठि ढीठि, अधरछत्र-छाँहि।**
**राजति अति चँवर चिकुर, सुरद सभा माँहि। —पद १२७१**

सूरसागर के ११ पदों में प्रणय का स्वतंत्र रूप में प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कुण्डल के साथ मिश्रित रूप में भी इसकी पंक्तियाँ मिलती हैं। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल के मतानुसार कुण्डल के अन्तिम गुरु को लघु रूप देकर इस छंद का निर्माण हुआ है।[१] भानु ने कुण्डल के अंत में दो गुरु का विधान किया है।[२] इस प्रकार प्रणय के अंत में ऽ। होना चाहिये। किन्तु सूरदास के चार पदों में[३] अंत में ऽ। की जगह ।ऽ और ।।। भी मिलते हैं। जैसे—

**मुरली ध्वनि स्रवन सुनत, भवन रहि न परै। पद १२७०**
**गोविंद बिनु कौन हरै नैननि की जरनि। पद ३६६२**

शेष सभी पदों में अन्त्य ऽ। के नियम का पालन हुआ है। इस प्रकार कुण्डल के चरण से अंतिम एक मात्रा घटा कर बनाये गये प्रणय छंद के अंत में ऽ।, ।ऽ और ।।। सभी रह सकते हैं।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश छंदः-परंपरा में इस लय का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। हिन्दी के प्राचीन छंदोग्रंथों में इसकी कोई चर्चा नहीं। भानु ने भी इसका उल्लेख नहीं किया। सर्वप्रथम इस छंद का उल्लेख डॉ० शुक्ल ने किया है। उन्होंने उदाहरण में 'चन्द्राकर' के प्रणय-गीत की निम्न पंक्तियाँ—

---

[१] आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २८१। [२] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६०।
[३] सूरसागर, १२७०, १६६४, ३६६२, ४५१५।

**शरद-इंदु | का सिंगार | रंजित अभि | सार।**
**नयनों में नयनों का, बरस रहा प्यार।**

उद्धृत की हैं और इसे नवीन छन्द माना है। यह छंद इस दृष्टि से तो अवश्य नवीन है कि इसका छन्दःशास्त्रीय उल्लेख आधुनिक है, किंतु प्रयोग की दृष्टि से यह प्राचीन छन्द है। सूरदास के पूर्व गोरखवानी में कुण्डल के साथ इसकी दो पंक्तियाँ अस्तव्यस्त रूप में दिखलाई पड़ती हैं—

**पषांण पूजिला कैसे पीटीला सनेह।**
**पषांणची देवली पषाण चा देव।**[1]

एक तो गोरख की वाणी में प्रणय का निखरा हुआ रूप नहीं मिलता, दूसरे ये दो पंक्तियाँ कवि-प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट का परिणाम भी मानी जा सकती हैं। सूर ने इस छन्द में अनेक पदों की रचना की है, और सर्वत्र एक व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। अतः यह मानना होगा कि उन्होंने इसका सचेतन प्रयोग किया है और इस छन्द के निर्माण का श्रेय सूरदास को ही मिलना चाहिये। सूरदास के बाद तुलसीदास ने इसका प्रयोग ११ पदों में किया है।[2] सूर और तुलसी के काव्यों में प्रयुक्त होने पर भी किसी छन्दःशास्त्री ने इसे किसी संज्ञा से अभिहित नहीं किया, इसका कारण यही कहा जा सकता है कि पद-साहित्य छन्दोदृष्टि से सर्वदा उपेक्षित रहा। किंतु पदों में अनेक ऐसे छंदों के उत्स विद्यमान हैं, जो आजकल नवीन छन्द कह कर पुकारे जाते हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने ठीक ही कहा है कि मध्यकालीन हिन्दी पद-साहित्य अनेक मात्रिक छंदों के उत्स और विकास का संकेत कर सकता है।[3] तुलसी के बाद प्राचीन काव्य में प्रणय का प्रयोग दिखलाई नहीं पड़ता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सूर की भाषा, शैली तथा विषय-वस्तु पर तो रीझे, किन्तु उनके द्वारा निर्मित प्रणय पर प्रणय नहीं दिखला सके। छायावाद-युग में छन्द के क्षेत्र में अनेक नूतन प्रयोग हुए। इन प्रयोगों के बीच इस युग में प्रणय की छिट-पुट पंक्तियाँ भी मिल जाती हैं। निराला की निम्न पंक्तियों में—

**कण-कण कर कंकण, प्रिय,** १२ मा०
**किण्-किण् रव किंकिणी,** ११ मा०

---

[1] गोरखबानी : पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, पद ३७।
[2] विनयपत्रिका पद १९, २०, १२६, १३४, गीतावली—अयो० ८०, ८१, ८२।
[3] प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ३५३।

**रणन-रणन नूपुर उर,** — १२ मा०
**लाज, लौट रंकिणी,** — ११ मा०
**और मुखर पायल स्वर करे बार-बार** — २१ मा०
**प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार**[1] — २१ मा०

पहली चार पंक्तियाँ हीर छंद (६+६+११, अंत में रगण) के दो चरण हैं, और अंतिम दो पंक्तियाँ प्रणय की एक अर्द्धाली हैं। 'बारा' और 'श्रृंगारा' हो जाने से ये ही पंक्तियाँ कुण्डल की हो जायँगी। डॉ० शुक्ल ने इस छंद को संयोग श्रृंगार, प्रकृति-चित्रण एवं हर्षोल्लास के अनुकूल माना है।[2] सूरदास ने इस छंद में मुरली-प्रभाव[3], राधा-कृष्ण के विवाह का हर्षोल्लास[4], कृष्ण-रूप[5] का वर्णन तो किया ही है, विप्रलंभ के भावों[6] की भी सफल अभिव्यक्ति की है।

## (१६) रास

**आँसु परत ढरि ढरि उर, मुक्ता मनहु झरत।**
**सहज गिरा बोलत न बनत हित हेरि हरत।**
**राधा नैन-चकोर बिना मुख चन्द्र जरत।**
**सूर स्याम तन दरस बिना नहिं धीर धरत।।** —पद ३२०२

सूरसागर के दो पदों में रास छन्द का प्रयोग हुआ है।[7] भानु के अनुसार इस छंद में ८-८-६ मात्राओं पर यति और अंत में सगण (IIS) होता है।[8] डॉ० शुक्ल अंतिम सगण के स्थान पर भगण (SII) अथवा दो गुरु का विधान भी मानते हैं।[9] सूरदास के दोनों पदों में सगण की जगह नगण (III) का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः रास भी चौपाई की तरह समप्रवाही छन्द है और चौपाई के आगे छः मात्राएँ जोड़ देने से यह छंद बन जाता है। छः मात्राओं के १३ छंदों के नाम भिखारीदास ने गिनाये हैं। जैसे-ताली, रामा, नगंनिका, कला, कर्त्ता, मुद्रा, धारी, वाक्य, कृष्ण, नायक, हर, विष्णु तथा

---

[1] गीतिका—गीत ६। [2] आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २८१।
[3] सूरसागर पद १२७०, १२७१ [4] सूरसागर पद १६९२, १६९३।
[5] सूरसागर पद २४४२।
[6] सूरसागर पद ३६२१, ३८३०, ३९१२, ३९६२।
[7] सूरसागर पद ३२०२, ३२०३। [8] छंदःप्रभाकर, पृ० ५६।
[9] आ० हि० काव्य में छंदयोजना पृ० २८३।

मदनक।[1] इनमें नगंनिका (।ऽ।ऽ), मुद्रा (।ऽऽ।), धारी (ऽ।ऽ।) तथा वाक्य (।।।ऽ।) के अतिरिक्त शेष सभी छंद चौपाई के आगे संयुक्त हो कर रास की रचना में सहायक हो सकते हैं। भिखारीदास के मात्रिक प्रकरण में उल्लिखित ये सभी छन्द वर्णिक हैं। यदि ये मात्रिक छंदों में रूपांतरित कर दिये जायँ, तो अनेक छंद मिल कर एक हो जायँ।

रास से लय-साम्य रखने वाला कोई छंद प्राचीन संस्कृत छंदःशास्त्रों में नहीं मिलता। प्राकृत-अपभ्रंश छंदःशास्त्रियों में विरहांक[2], स्वयंभू[3] तथा हेमचन्द्र[4] ने रास का उल्लेख किया है। विरहांक का रास १६ मात्राओं का, स्वयंभू का २१ मात्राओं (१४-७, अंत ।।।) का तथा हेमचन्द्र का २० मात्राओं का अर्द्धसम (७-१३) है। इनमें विरहांक और हेमचन्द्र के रास के साथ हमारे रास का मेल किसी प्रकार नहीं हो सकता। स्वयंभू के रास के साथ इसका मेल बैठ सकता है यदि १४ की जगह ८-८ पर जिह्वा को विश्राम दें और अंतिम लघु का दीर्घोच्चारण करें। जैसे—

**एक्क बीस म | त्ताणि हणउ, उद् | दाम गिरु।**
**चउदसाइ वि | स्साम होई, गण | विरह थिरु।**

विरहांक के रास से तो इस रास का मेल नहीं होता, किंतु उनके द्वारा उल्लिखित २२ मात्राओं के अश्वक्रांता (अ० ३।३२), ललिता (अ० ४।६०) और अन्तुल्लक (अ० ४।८३) की लय बहुत-कुछ रास से मिलती-जुलती है। अश्वक्रांता तो रास का प्रतिरूप-सा प्रतीत होता है। जैसे—

**हाररसान पिए पुरओ कुण णेउर अं।**
**गंध विहूसि अए कुण दोण्णिवि पत्थिवए।**

---

[1]छंदार्णव—५।२८-२९। [2]वृत्तजाति समुच्चय—४।८५।
[3]स्वयंभूछंदः ८।२५—The term Rasa used of a group of stanzas in different metres reminds Svayambhu of an individual metre called Rasa which has 21 Matras in each of its four Padas.
—स्वयंभूछंदः वेलंकर पृ० २३४।
[4]छंदोनुशासन ५।१६ विषमसमयोः पादयोः यथासंख्यं छा इति सप्त डा इति त्रयोदश मात्रा यत्र स रासः।

चारु पओहरए ठवि अम्मि मणो हरए।
दूर समुज्जल अम्मि णिउज्जसु मुद्धडिए।

इस प्रकार रास का इतिहास विरहांक तथा स्वयंभू तक चला जाता है। स्वयंभू का यही २१ मात्रापादी रास हेमचन्द्र के यहाँ रासक[1] बन गया, और उसका एक प्ररोह रासावलय[2] के नाम से निकल पड़ा। इसी रासक में फिर दो मात्राओं की वृद्धि हुई और हेमचन्द्र तथा कवि दर्पणकार ने उसे भी रासक ही कहा।[3] इस प्रकार रासक छंद का प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में बराबर उल्लेख होता रहा। किंतु हिन्दी छन्दःशास्त्रियों ने रास या रासक को एकदम विस्मृत कर दिया। भानु ने ही सर्वप्रथम इसे याद किया। भानु के बाद डॉ० शिवनन्दन ने इसका उल्लेख किया और टिप्पणी में इसे रासक-रासावलय आदि से भिन्न, पर उसी जाति का छंद माना।[4] इन्होंने साकेत से जो उदाहरण रास का दिया है, जिसे डॉ० शुक्ल कोकिलक कहते हैं[5] वह भी चौपाई के आगे ६ मात्राओं के योग से बना है। यथा—

तुझ पर मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ?

किंतु डॉ० शुक्ल द्वारा रास के उदाहरण रूप में उद्धृत पंत की निम्नांकित पंक्तियाँ—

तुम मरण-विश्व में अमर चेतना भरतीं,
तुम निखिल भयंकर भीति जगत की हरतीं।[6]

पद्धरि और पदपादाकुलक के आगे छः मात्राओं के योग से बनी हैं। भानु के लक्षणानुसार इसमें ८-८-६ का विधान तो है, पर चौपाई और पदपादाकुलक की लय-विभिन्नता के कारण दोनों के उदाहरणों में लय का अन्तर स्पष्ट है।

---

[1] छन्दोनुशासन ५।३ दा मात्रा नो रासको ढः।—डॉ० व्यास का प्रा० पैं० भाग ४ पृ० ३७४।

[2] छन्दोनुशासन ५।२६ षोडजचः षपौ रासावलयम्। कवि-दर्पण—२।२५।

[3] छन्दोनुशासन ५।४ चुगा वा। कविदर्पण २।२३ पंचचतुर्मात्रा लघुर्गुश्च रासकम्।

[4] हिन्दी छन्दःशास्त्र पृ० ७६।

[5] आ० हि० काव्य में छंदयोजना पृ० २८४।

[6] आ० हि० काव्य में छंदयोजना पृ० २८३।

इस लय-वैषम्य पर ध्यान नहीं दे कर केवल लक्षण के आधार पर पद्धरि-पदपादाकुलक के आगे षण्मात्रिक छंद के योग से बने हुए उक्त छन्द को रास मान लेना ठीक नहीं। इसी आधार पर 'निराला' के 'तुलसीदास' की तीसरी और छठी पंक्तियाँ रास छंद की नहीं कही जा सकतीं। उनका निर्माण पद्धरि अथवा पदपादाकुलक के आगे षष्ठक के योग से हुआ है। अतः वे राधिका छन्द की पंक्तियाँ कहीं जायँगी। यथा—

**सोचता कहाँ रे किधर कूल**
**बहता तरंग का प्रमुद फूल?**
**यों इस प्रवाह में देश मूल | खो बहता;** —१६+६
**'छल-छल-छल' कहता यद्यपि जल,**
**बह मंत्र-मुग्ध सुनता 'कल-कल';**
**निष्क्रिय; शोभा-प्रिय कूलोपल | ज्यों रहता।**[1] —१६+६

रासक छंद अपभ्रंश का काफी प्रसिद्ध छंद है। इस छन्द का प्रयोग जिनदत्तसूरि ने 'चाचरि' काव्य में किया है।[2] २१ मात्रा वाले रासक के अतिरिक्त २२ मात्रापादी रास का प्रयोग भी अब्दुर्रहमान के सन्देशरासक में मिल जाता है। जैसे—

**तं संवरि अणु सरिय पहिय पावयणमणा,**
**फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गिय दर सिहणा।**
× × ×
**णयरणामु सामोरु सरोरुह दलनयणी;**
**णावर-जन-संपुन्नु हरिस ससिहर वयणी।**[3]

इन पंक्तियों के गुर्वन्त को राहुल जी ने लघ्वंत मान कर इस प्रकार ( ˘ ) चिन्हित नहीं किया है। अतः हम इसे २२ मात्रापादी रास मान सकते हैं। किंतु अपभ्रंश काव्य में दीर्घ का ह्रस्वोच्चारण मान्य था, इस दृष्टि से यह स्वयंभू का २१ मात्रापादी रास ही कहा जायगा। हो सकता है, ऐसे प्रयोगों को देख कर ही हिन्दी के आचार्यों ने रास में २२ मात्राओं का विधान कर दिया हो। पृथ्वीराज रासो में रासा नामक छंद पाया जाता है, जिसकी कुछ पंक्तियों में

---

[1] **तुलसीदास : पद्य १०।**
[2] **हिन्दी काव्यधारा : राहुल पृ० ३४८-३५४।**
[3] **हिन्दी काव्यधारा : राहुल पृ० २६४।**

२१ मात्राओं और तीन लघु की व्यवस्था है। यह रासा निस्सन्देह उक्त रास या रासक ही है। यथा—

**अलस नयन अलसायत आतुर प्रप्पकिय।**

**किम बुद्धिय मो तात सकिज्जिय एक हिय।**[1]—**छं० २२ स० ५०**

विद्यापति तथा कबीर में रास छंद नहीं मिलता। सूरदास ने इस छंद में दो पदों की रचना की है और तुलसीदास ने भी दो पदों में इसका प्रयोग किया है।[2] केशवदास की छन्दोमंजूषा रामचन्द्रिका में रास उपलब्ध नहीं होता। भारतेन्दु ने अपने काव्य-नाटकों में इसे स्थान नहीं दिया। आधुनिक काव्य में रास की छिट-पुट पंक्तियाँ मिल जाती हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है।

इस प्रकार अपभ्रंश काव्य का बहु-प्रचलित रास छंद हिन्दी काव्य में एक प्रकार से उपेक्षित ही रहा। एक मात्रा की वृद्धि कर इसे नया रूप तो दिया गया, किंतु इसका प्रचलन नहीं हो सका। २१ मात्रापादी प्लवंगम-चांद्रायरण और २२ मात्रापादी लावनी-राधिका के विशेष प्रचलन ने रास को आगे बढ़ने नहीं दिया, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। उन चारों छन्दों में कवियों को वाणी की नई भंगिमा दिखलाई दी। इसीलिए प्राचीन रास वहिष्कृत-सा हो गया।

## (२०) कुण्डल

**नर देही पाइ चित्त चरण कमल दीजै।**
**दीन वचन, संतनि सँग दरस परस दीजै।**
**लीला गुन अमृत रस स्रवननि पुट पीजै।**
**सुन्दर मुख निरखि, ध्यान नैन माँहि लीजै।** —**पद ७२**

सूरसागर के ६१ पदों में ( सूरसागर ६०, परिशिष्ट १ ) कुण्डल का प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार कुण्डल में १२-१० पर यति और अंत में दो गुरु होते हैं। 'भानु राग कर्ण देखि, कुंडल पहिरायो।'[3] डॉ० शुक्ल इस छंद का निर्माण षष्ठक की तीन आवृत्तियों और चतुष्कल के योग से मानते हैं। यह षष्ठक अधिकांशतः दो त्रिकलों (ऽ।ऽ।) और कभी-कभी चौकल तथा द्विकल के योग से बनता है।[4] सूरदास के अधिकांश पदों में यह नियम घटित होता है। कहीं-कहीं अन्त में दो गुरु की जगह एक ही गुरु मिलता है। जैसे—

---

[1]**चंदबरदाई और उनका काव्य : डॉ० बिपिन बिहारी त्रिवेदी पृ० २३४।**
[2]**विनयपत्रिका—पद २१२, २१३।** [3]**छन्दःप्रभाकर पृ० ६०।**
[4]**आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २८३।**

**किलकि किलकि बैन कहत, मोहन मृदु रसना। —पद ७०८**

कुंडल के इस भेद को भानु ने उड़ियाना छंद कहा है, और उदाहरण में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**ठुमकि चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ।**
**धाय मातु गोद लेत दशरथ की रनियाँ।**[१]

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास की निम्न पंक्तियों को—

**आज हो निसान बाजै, नन्द जू महर के।**
**आनन्द-मगन नर गोकुल सहर के। —पद ६४८**

उड़ियाना का उदाहरण माना है।[२] ये उड़ियाना की नहीं, मनहरण की आधी पंक्ति, मिताक्षरी छंद की पंक्तियाँ हैं। इन दोनों पंक्तियों में न तो षष्ठक का आधार है, और न २२ मात्राएँ हैं। पहली में २३ और दूसरी में १९ मात्राएँ हैं। अतः ये उड़ियाना की पंक्तियाँ कभी नहीं हो सकतीं। मिताक्षरी के लक्षणानुसार इन दोनों में १५ अक्षर हैं और ८-७ अक्षरों पर यति हैं। सूरदास ने कुंडल के अंत में कहीं-कहीं दो लघु का भी व्यवहार किया है—

**अहो कान्ह तुम्हें चहौं, काहे नहिं आवहु।**
**तुम ही तन, तुम ही धन, तुमही मन भावहु। —पद १७३५**

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कुंडल के अन्त में ऽऽ, ।ऽ, अथवा ।। कोई भी आ सकता है; किंतु ऽ। नहीं आ सकता। कुंडल की लय हीर या हीरक[३] छन्द से बिलकुल मिलती है। हीर में २३ मात्राएँ होती हैं और कुंडल में २२ मात्राएँ। बस, इतना ही अंतर है। हीर के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने से कुंडल छन्द बन जाता है। भानु द्वारा उदाहृत हीर की निम्न पंक्ति—

**काम तजौ, धाम तजौ, वाम तजौ साथ हीं।**[४]

कुण्डल का उदाहरण हो जायगी, यदि इसका अन्त्य 'हीं' 'हिं' में परिणत हो जाय। इस प्रकार कुण्डल का संबंध संस्कृत के चामर वृत्त ( र ज र ज र ) से, जिसका मात्रिक रूप हीर छन्द है, आसानी से जुट जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के मत्तमयूर ( म त य स ग ) से कुण्डल का यत्किंचित् लय-साम्य स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इस मत्तमयूर का उल्लेख संस्कृत के अनेक प्राचीन आचार्यों

---

[१]छन्दःप्रभाकर पृ० ६१। [२]सूरदास पृ० ५७९।
[३]हीर छन्द। पृ० १४५। [४]छन्दःप्रभाकर पृ० ६२।

ने किया है ।[1] प्राकृत पैंगलम् में इसे ही माया कहा है ।[2] भिखारीदास ने माया और मत्तमयूर नाम के दो छन्दों का उल्लेख २२ मात्रा वाले छन्दों के अन्तर्गत किया है और लक्षण वर्णवृत्तों के समान दिये हैं ।[3] दोनों की वर्ण-व्यवस्था एक-सी है । केवल 'वेई बर्ना नृत्यगती मत्तमयूरो' कह कर मत्तमयूर का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया है ।[4] भानु ने माया का ही अन्य नाम मत्तमयूर बतलाया है ।[5] भिखारीदास ने माया का जो निम्नांकित उदाहरण दिया है—

**काहै को कीजै मन एती दुचिताई ।**
**काहू सौं वाकी लिपि मेटी नहिं जाई ।**
**ताही को ध्यावै मन वाचा अरु काया ।**
**कोई पालैगो जिन देही निरमाया ।[6]**

उससे कुंडल का कितना लय-साम्य है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार कुण्डल प्राचीन मत्तमयूर का मात्रिक रूप सहज ही माना जा सकता है ।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दः-परंपरा में इस लय वाला कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता; यों विरहांक और स्वयंभू ने २२ मात्रा वाले अनेक छन्दों का उल्लेख किया है । प्रा० पैं० में २२ मात्रा वाला कोई छन्द ही नहीं है । हिन्दी के प्राचीन आचार्यों के यहाँ भी कुण्डल की प्राप्ति नहीं होती । संभवतः इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने ही किया है । भानु के बाद प्रायः सभी आधुनिक छन्दःशास्त्रियों के द्वारा यह उल्लिखित हुआ है ।

कुण्डल छन्द का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख चाहे पुराना नहीं हो, किंतु इसका काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है । गोरखवानी में कुण्डल के दो पद मिलते हैं । यथा—

**दूधै धोया कोइला उजला न होइला ।**
**कागा कंठै पहुप माल हंसला न भैला ।**

× ×

---

[1] पिंगल ७।३, भरत १६।७२, जयदेव ७।३, जयकीर्त्ति २।१५२, केदार ३।६८, हेमचन्द्र २।१६६ ।

[2] प्रा० पैं० २।१४ ।

[3] छन्दार्णव ५।१६५–१६६ ।

[4] छन्दार्णव ५।१८८ ।

[5] छन्दःप्रभाकर पृ० १५९ ।

[6] छन्दार्णव ५।१६५ ।

**गङ्गा जमुना कूले पैसि करिलै असनानं ।**
**छूटै जब ब्रह्म गाँठि भरिये मेर नाला ।[1]**

अवश्य इन पंक्तियों में कहीं-कहीं लघु का दीर्घोच्चारण तथा दीर्घ का लघूच्चारण करना पड़ता है । मात्राओं की न्यूनता तथा अधिकता भी है; किंतु इनकी लय कुण्डल की है, इसमें सन्देह नहीं । चन्दबरदाई और विद्यापति ने कुण्डल का प्रयोग नहीं किया । कबीर के पदों में कुण्डल का प्रयोग मिलता है ।[2] यथा—

**दारा सुत ग्रेह नेह संपति अधिकाई ।**
**यामैं कछु नाहिं तेरौ, काल अवधि आई ।—पद ३२०**

कबीर के बाद सूरदास ने कुण्डल का विशद प्रयोग किया । मीराबाई ने पाँच पदों की रचना कुण्डल छन्द में की है ।[3] तुलसीदास ने भी अपने पद-साहित्य में इसका प्रयोग किया है ।[4] आधुनिक काल में भारतेन्दु ने कुण्डल में अनेक पद लिखे ।[5] छन्दों के सफल प्रयोगकर्त्ता मैथिलीशरण ने यशोधरा में कुण्डल को भी स्थान दिया है । जैसे—

**सत्प्रकाश और अमृत एक साथ पा तू ।**
**बुद्ध शरण, धर्म शरण, संघ-शरण जा तू ।[6]**

निराला ने कुण्डल के स्वतंत्र तथा प्रणय-मिश्रित दोनों प्रकार के प्रयोग किये हैं—

**जननि, जनक-जननि-जननि**
**जन्म-भूमि-भाषे ।[7]**

---

[1]गोरखबानी : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल पद ३४ और ५४ ।
[2]कबीर ग्रंथावली—श्याम सुन्दर दास, पद १६०, २१०, २१६, ३२०, ३२१ ।
[3]मीराबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी पद ६, १२, १८, १६३, १८४ ।
[4]विनयपत्रिका—पद ७८, ७९, ८० । कृष्ण गीतावली—पद १, ७ ।
[5]भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रेम प्रलाप, पद १९, राग संग्रह पद १० ।
[6]यशोधरा पृ० २१३ ।
[7]गीतिका: गीत ७८ ।

शब्द सुना हो, तो अब—१२ मात्राएँ
लौट कहाँ जाऊँ—१० मात्राएँ
उन | चरणों को छोड़, और—२+१२ मात्राएँ
शरण कहाँ पाऊँ—१० मात्राएँ } कुण्डल

बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—२१ मात्राएँ
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार[1] २१ मात्राएँ } प्रणय

संगीतात्मक होने के कारण कुण्डल छन्द मुक्तक काव्य के अधिक अनुकूल है। इसकी गति-लय प्रबंधात्मकता के प्रतिकूल पड़ती है। इसीलिए प्राचीन काव्यों में इसका प्रयोग गेय पदों में हुआ है और आधुनिक काव्यों में प्रगीत मुक्तकों में। संगीतात्मक होने के कारण ही कवियों ने इसे कोमल रसों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। यों सूरदास ने दो-एक पदों में वीर भावों की अवतारणा में भी इसका प्रयोग किया है।[2]

## (२१) उपमित

गोकुल को कुल देवता, श्री गिरधर गोपाल।
कमल-नयन घन साँवरो, वपु बाहु विसाल।
हलधर ठाढ़े कहत है, हरि के ये ख्याल।
करता हरता आपु ही, आपहि प्रतिपाल। —पद १४४१

सूरसाहित्य में इस छंद का प्रयोग ६ पदों में हुआ है। (सूरसागर ८, परि० १ ) इसमें १३ पर यति दे कर २२ मात्राएँ होती हैं और अंत में ऽ। रहता है। वस्तुतः यह छंद उपमान के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने से बन जाता है। सूरसागर के ऐसे पदों में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने राधिका छंद बताया है और निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

ललिता कौं सुख दै चले, अपने निज धाम।
बीच मिली चंद्रावली, उन देखे स्याम।
मोर मुकुट कछनी कछै, नटवर गोपाल।
रही वदन तनु हेरि कै, अति हित ब्रजबाल।[3] —पद ३११०

राधिका नाम का छन्द प्राचीन छन्दःशात्रों में नहीं मिलता। हिन्दी

[1] गीतिका: गीत ६।
[2] सूरदास पृ० ५८०।
[3] छंद और काव्यांग पृ० ५७५।

साहित्य-कोश भाग १ के संपादक भी इसके संबंध में एक छंद विशेष लिख कर छुट्टी पा गये हैं।[१] इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है। उनके अनुसार राधिका छन्द में २२ मात्राएँ होती हैं और १३-९ पर यति होती है। 'तेरा पै सज नव कला, राधिका रानी।'[२] भानु के बाद रघुनन्दन[३], परमानन्द[४], अवध उपाध्याय[५], दत्त[६], डॉ० शिवनन्दन[७] तथा डॉ० शुक्ल[८] ने इसका उल्लेख किया है। डॉ० शुक्ल के अतिरिक्त सब ने इसमें १३-९ पर ही यति मानी है। शुक्ल के अनुसार आजकल प्रायः १० मात्राओं के बाद यति का प्रयोग होता है; और अंत में ऽऽ, ।।ऽ या ऽ।। ही आते हैं। उदाहरण-रूप में उन्होंने साकेत की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**पाकर विशाल कच | भार एड़ियाँ धँसतीं।**
**तब नख-ज्योति मिष | मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।**
**पर, पग उठने पर | भार उन्हीं पर पड़ता।**
**तब अरुण एड़ियों | से सुहास सा झड़ता।**

किंतु, ये ही पंक्तियाँ डॉ० शिवनन्दन द्वारा भी उद्धृत की गई हैं। जिनके मत से राधिका में १३-९ पर यति होती है। जिह्वा के अभीष्ट विश्राम को यति कहते हैं।[९] अतः ऊपर की पंक्तियों में भार, मृदुल और भार के बाद भी जिह्वा को विश्राम दिया जा सकता है। चौथी पंक्ति में अवश्य १० पर यति है। दत्त द्वारा उदाहृत पंक्तियाँ अवश्य १० पर यति होने का उद्घोष करती हैं—

**गोकर्ण निवासी शिव को गान सुनाने।**
**दक्षिण-सागर-तट, वीणामृत बरसाने।**
**उस समय सूर्य का उदय-अस्त पथ धारे।**
**नारद मुनि दूजे सूर्य समान सिधारे।** (मैथिलीशरण गुप्त)

इस प्रकार राधिका छंद में १३ अथवा १० पर यति दे कर २० मात्राएँ होती हैं, और अंत में ऽऽ, ।।ऽ अथवा ऽ।। तो रह सकते हैं, ऽ। नहीं रह सकता। यही

---

[१]हिन्दी साहित्य कोश, भाग पृ० ६९६।
[२]छन्दःप्रभाकर पृ० ६०। [३]हिन्दी छन्दप्रकाश पृ० ६३।
[४]पिंगल-पीयूष पृ० १७५। [५]नवीन पिंगल पृ० ९३।
[६]हिन्दी छन्दःचन्द्रिका पृ० ३१। [७]हिन्दी छन्दःशास्त्र पृ० ८०।
[८]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २८२।
[९]छंदोमंजरी—यतिर्जिह्वेष्ट विश्रामम्-प्रथम स्तवक १२।

इसका पूर्ण लक्षण कहा जा सकता है। यही बात लावनी के साथ भी कही जा सकती है। जैसे—

**रोवहु सब मिलि कै | आवहु भारत भाई। १०-१२**
**अब सब के पीछे | सोई परत लखाई। १०-१२**
**करि कलह बुलाई जबन | सैन पुनि भारी। १३-९**
**छाई अब आलस कुमति | कलह अँधियारी।[1] १३-९**

इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल की लावनी ही भानु की राधिका बन बैठी। 'लावनी में इस छंद का प्रचार है' ऐसा कह कर डॉ० शुक्ल भी इस ओर निर्देश करते हैं।[2] भानु ने लावनी को ताटंक (३० मात्राएँ) के अन्तर्गत माना है, जिसमें अंतिम लघु-गुरु का कोई विशेष नियम नहीं है।[3]

अब यदि इस राधिका और लावनी से हम डॉ० वर्मा द्वारा उदाहृत सूर के पद्य का मिलान करते हैं, तो यह राधिका का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इसके प्रत्येक पाद के अंत में ऽ। है, जो राधिका में नहीं रह सकता। साथ ही, यह छंद उपमान या दोहे (उपमान का प्रथम खंड दोहे का विषम चरण होता है) की लय पर चलता है। अतः न तो लय के आधार पर और न अंतिम मात्रा-विधान के बल पर यह राधिका छंद कहा जा सकता है। केवल १३-९ के आधार पर इसे राधिका छंद कह देना कथमपि युक्तिसंगत नहीं। राधिका छन्द का निर्माण पद्धरि पदपादाकुलक के आगे छः मात्राओं के योग से हुआ है। अतः दिनकर बहुत दूर तक सही दिखलाई पड़ते हैं, जब वे पंत की निम्न पंक्ति को—

**वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।**

राधिका से ही निकली हुई बताते हैं और निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' नामक कविता को इसी छद में रची हुई मानते हैं।[4] पंत और निराला दोनों की कविताओं का मूलाधार एक है। इसके चरणों का निर्माण पद्धरि-पदपादाकुलक के आगे अष्टमात्रिक मधुभार (छवि)[5] अथवा अखंड[6] के योग से हुआ है। देखिए—

**शतघूर्णावर्त्त तरंग भंग | उठते पहाड़,**
**जल राशि राशि जल पर चढ़ता | खाता पछाड़।**

---

[1]भारत दुर्दशा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
[2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २८२।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७२। [4]मिट्टी की ओर : पृ० ११५।
[5]छन्दःप्रभाकर पृ० ४३। [6]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २४४।

**तोड़ता बंध प्रति संघ धरा | हो स्फीत वक्ष**
**दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ | बढ़ता समक्ष ।**[1] **—निराला**

इसकी पहली पंक्ति का पूर्वांश पद्धरि की ही पंक्ति है । यति के नियम का पालन नहीं हुआ है, अतः यति-भंग दोष से ग्रस्त है । दूसरी और तीसरी पंक्ति के पूर्वांश स्पष्टतः पदपादाकुलक हैं । चौथी पंक्ति का पूर्वांश दोष-रहित पद्धरि है । सभी के उत्तरांश मधुभार की पंक्तियाँ हैं—

**भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित**
**जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलंबित ।**[2]**—पंत**

इसमें पहली पंक्ति पदपादाकुलक और अखंड के योग से तथा दूसरी पद्धरि और अखंड के योग से निर्मित हुई है । इसी प्रकार 'वाणी मेरी......' वाली पंक्ति का निर्माण पदपादाकुलक और मधुभार के योग से हुआ है । हिन्दी में इसका सर्वप्रथम प्रयोग निराला या पंत चाहे जिसने किया हो,[3] किंतु अपभ्रंश कवि पुष्पदंत के आदिपुराण में ऐसा प्रयोग पाया जाता है । यथा—

**पारस-बब्बर-गुज्जर वराड, कण्णाड लाड**
**आहीर-कीर-गंधार गउड़, णेवाल चोड ।**
**चेईस-चेर मरु दद्दु रंडि, पंचाल पंडि**
**कोंकण-करेल कुरु काम रूव, सिंहल पहूय ।**[4]
**—आदिपुराण (पृ० २३०-३१)**

इन पंक्तियों में बीच में तुक है, जो पंत या निराला की कविता में नहीं है । पर छंद एक है, लय एक है ।

उपमान की एक मात्रा कम कर इसका निर्माण किया गया है; अतः इसका नाम उपमित रक्खा गया । किसी छन्दःशास्त्र में इस लय वाले छंद का उल्लेख नहीं हुआ । किन्तु प्राचीन हिन्दी काव्य में इसकी पंक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । कबीरदास के एक पद में हम उपमित, सरसी तथा दोहे का मिश्रित प्रयोग देख सकते हैं, यदि 'हो' 'रे' को संगीत की दृष्टि से समाविष्ट समझ कर

---

[1]अनामिका पृ० १५३ (द्वितीय संस्करण) [2]आधुनिक कवि पृ० १०१ ।
[3]निराला जी इस छन्द के निर्माता हैं । डॉ० शुक्ल । आ० हि० काव्य में छन्दयोजना पृ० २६० । हमें यह ज्ञात नहीं कि इसका प्रयोग दोनों में से किसने पहले किया—दिनकर । मिट्टी की ओर पृ० ११५ ।
[4]हिन्दी काव्यधारा : राहुल पृ० १८८ ।

छन्द के बाहर समझें। उपमित के निर्दोष उदाहरण में तो उनकी केवल निम्नांकित दो ही पंक्तियाँ आ सकती हैं—

**आठ कुआँ नव बावड़ी सोरह पनिहार।**

× ×

**कह कबीर सुन साइयाँ मोर याहिय देस।**[1]

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण कबीर-साहित्य में खोजने पर भी यह छन्द नहीं मिलता। कबीर के पूर्व ऐसा प्रयोग कहीं प्राप्त नहीं होता। कबीर के बाद संतों में गुरु अंगद ( सं० १५२६-१६०९ )[2] के काव्य में उपमित की दो पंक्तियां मिलती हैं—

**नानक परखें आप कउ, ता पारख जाणु।**

**रोग दारु दोवै बुझै, ता वैद्य सुजाणु।**[3]

तथा संत गरीबदास (दादू पंथी) (सं०१६३२-१६९३)[4] के पद में उपमित और उपमान का मिश्रित प्रयोग प्राप्त होता है।[5] सूरदास का समय १५४० से १६२० माना गया है।[6] अतः गरीबदास तो इनके परवर्त्ती और गुरु अंगद समसामयिक हुए। कबीर-काव्य में पाई जाने वाली उपमित की दो पंक्तियाँ कवि के सचेतन प्रयोग का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। संभव है, ये दोहे की ही पंक्तियाँ हों, जिनमें दो मात्राओं की कमी है। सूर साहित्य में ९ पद उपमित के हैं और एक पद में उपमान और उपमित का मिश्रण हुआ है। इसलिए सूरदास का यह प्रयोग सचेतन प्रयास ही कहा जायगा। और इसीलिए इसका प्रथम प्रयोक्ता सूरदास को कहना सत्य से दूर जाना नहीं है। सूर के बाद तुलसीदास ने दो पदों की रचना इसी छंद में की है।[7] तुलसी के बाद किसी कवि का प्रेम यह छन्द नहीं पा सका। आधुनिक युग में जब उपमान का

---

[1]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद १७१।

[2]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २२४-२२५।

[3]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, साखी ४।

[4]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी पृ० २८२।

[5]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी पद १।

[6]हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल पृ० १२७-२९।

[7]विनयपत्रिका, पद १०७, १०८।

ही प्रयोग नहीं हुआ,[1] तो उपमित पर कौन कृपा करता। निष्कर्षतः उपमित छंद में कविता करने वाले मुख्यतः दो ही कवि हैं—सूर और तुलसी।

सूरदास ने उपमित का उपयोग विशेषतः विप्रलंभ भावों के प्रकटीकरण में तथा तुलसी ने राम के गुण-कथन तथा अपने दैन्य प्रदर्शन में किया है—

**सब प्रकार समरथ प्रभो, मैं सब विधि दीन।**
**यह जिय जाति द्रवौ नहीं, मैं करम-बिहीन।**[2]

इस प्रकार उपमित कोमल भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ है।

## (२२) सुखदा

**धनि-धनि नंद-जसोमति, धनि जग पावन रे।**
**कनक-थार रोचन-दधि, तिलक बनावन रे।**
**मागध, सूत, भाँट, धन लेत जुरावन रे।**
**ब्रह्मादिक, सनकादिक, गगन भरावन रे।** —पद ६४६

सम्पूर्ण सूरसाहित्य में सुखदा की ये ही चार पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इन पंक्तियों में १२-१० पर यति दे कर २२ मात्राएँ हैं। भानु ने सुखदा में १२-१० पर यति और अंत में गुरु माना है।[3] डॉ० शिवनन्दन के अनुसार भी सुखदा का यही लक्षण है।[4] किन्तु उन्होंने सूरदास की जिन पंक्तियों को उदाहरण-रूप में उद्धृत किया है, उनमें दो पंक्तियों में ११-११ पर यति है। यथा—

**धनि-धनि नंद जसोमति, धनि जग पावन रे।** १२-१०
**धनि हरि लियौ अवतार, सुधनि दिन आवन रे।** ११-११
**बनि ब्रज सुन्दरि चलीं, सु गाई बधावन रे।** ११-११
**कनक-थार रोचन दधि, तिलक बनावन रे।**[5] १२-१०

इनमें १२-१० वाली पंक्तियाँ तो सुखदा की हैं, किन्तु ११-११ मात्रा वाली पंक्तियाँ सुखदा की किस प्रकार कही जायँगी? लक्षण से पूर्णतया सामंजस्य नहीं रखने वाली पंक्तियों को उदाहरण-रूप में उद्धृत कर आचार्य लोग छंद के जिज्ञासुओं को बड़ी उलझन में डाल देते हैं। रघुनन्दन शास्त्री ने पादांत गुरु

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल पृ २८६।
[2]विनयपत्रिका पद १०६। [3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६१।
[4]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ८१। [5]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ८१।

की जगह दो लघु का विधान किया है और केशव का निम्न पद्य उदाहरण-रूप में उद्धृत किया है—

ज्यों अति प्यासो पावै मग में गंगाजलु।
प्यास न एकहु बुझाइ, बुझै जै ताप बलु।
त्यों तुम सों हम्को कछु, न भयो एकहु सुख।
पूरे सकल मन काम, जु देख्यो राम मुख।[1]

केशव के उक्त पद्य में यति-संबंधी कोई उलझन नहीं है, सभी पंक्तियों में १२-१० पर विश्राम है। किन्तु इसका पाठ सर्वत्र एक समान नहीं है। लाला भगवान 'दीन' की 'केशव-कौमुदी' और विश्वनाथ मिश्र की 'केशव ग्रंथावली' के पाठों में मात्राओं तथा यति की गड़बड़ी स्पष्ट है।[2] डॉ० शुक्ल ने सार और विष्णुपद के द्वितीय खण्डों के क्रमिक योग से सुखदा का निर्माण बता कर इसकी गति का बोध सम्यक् रूपेण करा दिया है।[3] इस प्रकार सुखदा छंद भी सार आदि की तरह समप्रवाही छंद है। सुखदा के सारे लक्षण सूरदास की उपर्युद्धृत चारों पंक्तियों पर पूर्णतया घटित होते हैं। पद की शेष १८ पंक्तियों में ११-११ पर यति है। अतः वे सुखदा की पंक्तियाँ नहीं कही जा सकतीं। उन्हें किसी नये नाम से अभिहित करना चाहिए। अतः उन्हें हमने उल्लास कहा है।[4]

प्राचीन छंदःशास्त्रों में सुखदा की लय पर चलने वाला कोई वर्णवृत्त नहीं है। प्राकृत छंदःशास्त्री विरहांक ने २२ मात्रापादी एक द्विपदी विच्छत्ती का उल्लेख किया है, जिसकी गण व्यवस्था २+४+४+४+४+४ है, और जिसमें १२ पर यति होती है—द्विमात्राः प्रमुखे नियुक्ताः पश्चाच्चतुर्मात्राः पञ्च। अस्या मात्राभ्यो द्वादशभ्यो यतिः कार्या।[5] इसकी गणव्यवस्था बताती है कि विच्छत्ती छंद समप्रवाही है। १२ पर यति भी है, अतः सुखदा से इसका लय-साम्य स्पष्ट है। यथा—

विच्छित्तीअ कुणसं सह पंच अ जोहा।
मुद्धे परवइरहिआ कइसत्थणिउत्ता।[6]

---

[1]हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ६४। [2]केशव कौमुदी—प्रथम भाग पृ० ७८। केशव ग्रंथावली—खंड २, रामचंद्रिका ६।१७।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८४। [4]उल्लास छंद पृ० १३९।
[5]वृत्तजाति समुच्चय ४।६१ पर टीका। [6]वृत्तजाति समुच्चय ४।६१।

हिन्दी के प्राचीन छंदःशास्त्रों में केशव की छंदमाला में 'सुखदा' का उल्लेख हुआ है। किन्तु यह सुखदा ६ अक्षरों का वर्णवृत्त है, जिसकी गण व्यवस्था ऽऽ।।ऽऽ है।[1] अतः इसका संबंध न तो रामचन्द्रिका में प्रयुक्त सुखदा से है, और न सूर-द्वारा प्रयुक्त सुखदा से। २२ मात्रापादी सुखदा का सर्वप्रथम उल्लेख संभवतः भानु ने ही किया है। उनके पश्चात् यह रघुनंदन शास्त्री, डॉ० शिवनन्दन तथा डॉ० शुक्ल द्वारा उल्लिखित हुई है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं।

सुखदा का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। संवत् १३०० के श्री देल्हण कवि ने 'गय-सुकुमाल-रास' में सुखदा छन्द का विशद प्रयोग किया है।

**नयरिहि रज्जु करेई, नहिं कन्हु नरिन्दू।**
**नरबइ मंति सणाहो, जिव सुरगण इन्दू।**[2]

१४वीं शताब्दी के विद्यापति के एक पद में इसका आद्योपांत प्रयोग हुआ है—

**लोचन धाए फेधायल**
**हरि नहिं आयल रे।**
**सिव-सिव जिबओ न जाए**
**आस अरुझाएल रे।**[3]

विद्यापति के बाद सूरदास ने चार पंक्तियों में इसका प्रयोग किया। बाबा धरनीदास ने भी एक पद की रचना सुखदा छन्द में की है—

**असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो।**
**पल-पल समुझि सुरति मन, गहवरि आवै हो।**[4]

केशवदास की रामचन्द्रिका में भी एक स्थल पर इसका प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सुखदा छन्द का प्रयोग विशेष रूप से कवियों ने कभी नहीं किया। आधुनिक काल में २२ मात्रापादी लावनी (भारतेन्दु) और राधिका (मैथिलीशरण) का तो विशेष प्रचलन रहा, किन्तु सुखदा की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सुखदा छंद में प्रबन्धात्मकता का वह गुण नहीं है, जो राधिका

---

[1] केशव ग्रंथावली खंड २, छंदमाला १।१३।

[2] राजस्थान-भारती, वर्ष ३, अंक २, पृ० ८७ अगरचंद नाहटा का लेख। डॉ० शुक्ल के आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २८४ से उद्धृत।

[3] बेनीपुरी, विद्यापति की पदावली, पद १९३।

[4] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २।

छंद को सहज प्राप्त है। १२ मात्राओं पर किंचित् ठहर कर आगे १० मात्राओं की मंजिल तय करने वाली इसकी पंक्ति गीति-काव्यों के लिए विशेष उपयुक्त है। इसकी इसी गति-भंगिमा पर रीझ कर विद्यापति ने विप्रलम्भ भाव की और सूरदास ने कृष्ण-जन्मोत्सव के उल्लास की व्यंजना इसमें की। इस प्रकार हर्ष और विषाद—दोनों प्रकार के भावों को वहन करने की पूरी क्षमता इसने प्रकट कर दी। इसकी यह गति-भंगिमा आधुनिक गीतकारों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी, यह आश्चर्य का विषय है।

## (२३) उल्लास

**नंद घरहिं चलि गई, महरि जहँ पावन रे।**
**पाइन परि सब वधू, महरि बैठावन रे।**
**जुग-जुग जीवहु कान्ह, सबनि मन भावन रे।**
**गोकुल-हाट-बजार करत जु लुटावन रे।** —पद ६४६

उल्लास छन्द का प्रयोग सूरसागर में तीन स्थलों पर हुआ है। २२ चरणों के उक्त पद में ४ चरण तो सुखदा के हैं, शेष १८ चरण उल्लास के। एक पद में निम्नांकित उल्लास की दो पंक्तियों—

**बदत बिरंचि, बिसेष सुकृत ब्रजवासिन के।**
**श्री हरि तिनकैं वेष, सुकृत ब्रजवासिन के।**

के बाद २२ पंक्तियाँ सरसी की हैं।[1] इसी प्रकार एक पद में गीतिका की १२ पंक्तियों के पहले उल्लास की दो पंक्तियाँ हैं।[2] उल्लास छन्द में २२ मात्राएँ होती हैं और ११ पर यति होती है। जिस प्रकार रोला (११-१३) की अंतिम चार मात्राओं को निकाल कर हंसगति (११-९)[3] का आविष्कार किया गया है, उसी प्रकार रोला की अंतिम दो मात्राओं को हटा कर इसका निर्माण कर लिया गया है। रोला छन्द तो बहुत प्राचीन है, किंतु २२ मात्रापादी इस लय का कोई छन्द प्राचीन या नवीन छंदःशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। इसका लय-साम्य न तो किसी संस्कृत वर्णवृत्त से है, और न प्राकृत-अपभ्रंश के २२ मात्रापादी छन्दों से, जिनकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। इस छन्द में सूरदास ने कृष्ण-जन्मोत्सव

---

[1] सूरसागर, पद ११०५—मिश्र छन्द पृ० ३५२।
[2] सूरसागर, पद ३४२८—मिश्र छन्द पृ० ३५१।
[3] छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० ५७।

के उल्लास का वर्णन किया है अतः इसका नाम उल्लास रक्खा गया। डॉ० शुक्ल ने उल्लास नामक एक छन्द का उल्लेख किया है और यह उदाहरण दिया है—

लीन हुई रस-रंग में। ८+५=१३ मात्राएँ
डूबी रूप-तरंग में।
जग की सुधि-बुधि खो गई।
मैं उनकी ही हो गई।[1]

किंतु यह वस्तुतः १३ मात्रावाली उल्लाला छन्द है। डॉ० शुक्ल के अनुसार भी उल्लाला की गरण व्यवस्था यही ६+४+३ और ४+४+५ है।[2] अतः इसे नया नाम देना व्यर्थ है।

उल्लास का सबसे प्राचीन प्रयोग विद्यापति की पदावली में मिलता है। एक सम्पूर्ण पद की रचना उन्होंने इसी छन्द में की है—

आज नाथ एक व्रत मोहि सुख लागत हे।
तोहें सिव धरि नट वेष कि डमरु बजाएब हे।[3]

इस पद में एकाध पंक्ति रोला की भी आ गई है। यथा—

भल न कहल गउरा रउरा आजु सु नाचब हे।

कबीर-साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता। सूरदास में २२ पंक्तियाँ उल्लास की उपलब्ध होती हैं। सूरदास के बाद बाबा धरनीदास के एक पद में सुखदा के साथ उल्लास की दो पंक्तियाँ मिलती हैं—

धरनी गति नहिं आन, करहु जस जानहु हो।
मिलहु अपट पट खोलि, भरम जनि मानहु हो।[4]

तुलसी के पद-साहित्य में ऐसा कोई छन्द नहीं। आगे भी किसी कवि ने इसे नहीं अपनाया। 'जयभारत' के 'वन-गमन' में मैथिलीशरण ने इसका प्रयोग अवश्य किया है। इस प्रकार विद्यापति तथा सूरदास का यह प्रयोग प्रयोग मात्र ही रह गया। रोला के आगे इसका प्रचलन नहीं हो सका।

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४६८।
[2] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५२।
[3] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २४५।
[4] संत साहित्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २।

## (२४) उपमान

सुता महर वृषभानु की, नँद सदनहिं आई।
गृह द्वारे हीं अजिर मैं, जो दुहत कन्हाई।
स्याम चितै मुख राधिका, मन हरष बढ़ाई।
राधा हरि-मुख देखि कै, तन सुरति भुलाई। —पद १३३२

सूर-साहित्य में उपमान छन्द का प्रयोग ९८ पदों में (सूरसागर ९६, परिशिष्ट २) हुआ है। भानु ने इसमें १३-१० पर यति और अंत में दो गुरु की व्यवस्था बतलाई है। 'तेरह दस उपमान रच, दै अन्ते कर्णौ'। अंत में कर्ण (ऽऽ) का प्रयोग कर्णमधुर होता है, परंतु अंत में एक गुरु रहने से भी हानि नहीं। इसका अन्य नाम दृढ़पद या दृढ़पट भी है।[1] सूरदास ने अधिकांश चरणों में दो गुरु ही रक्खे हैं; किंतु कहीं-कहीं एक ही गुरु है। जैसे—

मुख ते पट न्यारौ कियौ, माता कर अपनें।
देखि बदन चकित भई, सौंतुष कैं सपनें।[2]

इसी पद में ऐसे चरण भी हैं, जिनके अंत में दो लघु हैं।

ग्वाल-बाल सब टेरहीं, गैया बन चारन।
लाल उठौ मुख धोइयै, लागी बदन उघारन।
('ला' और 'गी' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

पद सं० ७४० के सभी चरण द्विलघ्वंत ही हैं। इससे यह सहज ही कहा जा सकता है कि उपमान के चरणांत में ऽऽ, ।ऽ या ।। तो आ सकते हैं, पर ऽ। नहीं आ सकता।

प्राचीन संस्कृत छन्दः परंपरा में ऐसा कोई छन्द नहीं, जिसका उपमान से लय-साम्य हो। अपभ्रंश छन्दः परंपरा में २३ मात्रा वाले छः छन्द पाये जाते हैं। (१) विगलितक (हेम० ४।२०) (२) खंजक—(हेम० ४।४२ और कवि-दर्पण २।२३) (३) श्यामा (विरहांक ३।२८) (४) महातोणक (हेम० ४।४३) (५) पवनोद्धुत (हेम० ४।६७) (६) रासक (हेम० ५।४ और कवि-दर्पण २।२३)[3] स्वयंभू ने भी खंजक का उल्लेख किया है—खंजअम्मि तजुअं तिचआरा त गुरुणो अ।[4] इन सभी छन्दों की गण-व्यवस्था तथा लय उपमान

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६१। [2]सूरसागर, पद १०५७।
[3]प्रा० पै० भाग ४—डॉ० भोलाशंकर व्यास पृ० ४८९।
[4]स्वयंभूच्छन्द : (पूर्वभाग) ३।२।

से भिन्न है। उपमान की लय दोहे की लय से पूरी समता रखती है। भिखारीदास ने इसके लक्षण में लिखा है—

**न ल म ल भ भ कर्ना हृदै, दृढ़पट आनहु चित्त**

**(अर्थात् नगरण, लघु, मगण, लघु, २ भगण तथा दो गुरु)**

उनके उदाहरण-पद्य की पहली पंक्ति में तो यह क्रम ठीक है, शेष तीनों पंक्तियों में इस क्रम का उल्लंघन है। यथा—

**पहिरत जामा झीन के, चहुँधा लगि झूम्यो।**
**बंदनि बाँधतहूँ दुहूँ, हाथनि में घूम्यो।**
**डारि दयो री पेंच में, मेरो मन आली।**
**दृढ़ पटुको कटि कसतहीं, मोहन बनमाली।**[1]

किंतु, दोहे की लय सभी पंक्तियों में है, पहली में भी। इसी दोहे के सम चरण के अंतिम लघु को निकाल कर उपमान छन्द का निर्माण कर लिया गया है। 'मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय' के अंतिम 'य' को हटा देने पर उपमान छंद बन जाता है। दोहे से इसकी उत्पत्ति मानने के बाद प्रश्न उपस्थित होता है कि अर्द्धसम दोहे से समछन्द उपमान का उद्भव कैसे संभव है? जब आधुनिक काल में किसी समछन्द का अर्द्धसमरूप में प्रयोग हो सकता है[2] तो क्या प्राचीन काल में अर्द्धसम का समरूप में प्रयोग नहीं हो सकता? फिर उपमान में १३ मात्राओं पर जैसी पाद-पूरक यति मिलती है, कि उसे देख कर इसे अर्द्धसम छन्द कहने को जी चाहने लगता है। यों आचार्यों ने इसे समछन्द के अंतर्गत स्थान दे दिया है। इस प्रकार दोहे के आधार पर चलने वाले उपमान का षष्ठक के आधार पर चलने वाले कुण्डल से काफी अन्तर है। इस बात पर ध्यान नहीं देने के कारण ही विद्वानों ने सूर की कुण्डल-निबद्ध निम्नांकित पंक्तियों को—

**बार-बार कहति मातु जसुमति नँदरनियाँ।**
**नैंकु रहौ माखन देउँ मेरे प्रान-धनियां।**[3]

उपमान की पंक्तियाँ मान ली हैं।[4]

---

[1]भिखारीदास ग्रंथावली, भाग १, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : छन्दार्णव ५।१९८, १९९।

[2]आ० हि० काव्य में छंदयोजना—डॉ० शुक्ल, पृ० २८४।
(समकुंडल का अर्द्धसम रूप में 'निराला' की 'गीतिका' का ७८वाँ गीत)

[3]सूरसागर पद ७६३। [4]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५८०।

न तो प्राकृत-अपभ्रंश के छन्दःशास्त्रों में इस प्रकार का कोई छन्द है, और न अपभ्रंश काव्यों में ही इसका प्रयोग मिलता है। हिन्दी के प्राचीन छन्दः शास्त्रों में इसका उल्लेख मिलता है और हिन्दी के प्राचीन कवि भी इसका प्रयोग करते पाये जाते हैं। प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में मुरलीधर (दृढ़पद)[1], सुखदेव (दृढ़पद-पिंगल ४)[2], भिखारीदास (दृढ़पट), अयोध्या प्रसाद (निसेनी)[3] तथा जानी बिहारी लाल ने (निसानी)[4] (पृथ्वीराजरासो में प्रयुक्त 'निसानी' को डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी ने आजकल का उपमान छन्द ही माना है)[5] उपमान का उल्लेख किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु के बाद केवल डॉ० शिवनन्दन ने दृढ़पट के नाम से इसका उल्लेख किया है और उदाहरण में सूरदास की चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।[6] आधुनिक युग में प्रयुक्त नहीं होने पर भी डॉ० शुक्ल ने इसे याद किया है।[7]

उपमान हिन्दी का एक पुराना छन्द है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग पृथ्वीराजरासो में निसानी नाम से मिलता है। यथा—

पुब्ब राह पढ़मप्परा हिंदू तुरकाना।
दोई राजसु दीन दो गोरी चहुआना। छं० १५० स० ५८[8]

विद्यापति ने इसका प्रयोग नहीं किया। कबीर ने १२ पदों में इसका स्वतंत्र प्रयोग किया है।[9] उपमान संतों का प्रिय छन्द रहा है। संत सधना, रैदास, धन्नाभगत, गुरु अंगद, संत सिंगाजी, दादूदयाल, गरीबदास, मलूकदास सब ने उपमान छन्द में अपने हृदयोद्गार प्रकट किये हैं।[10] सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्ण भक्त—

---

[1]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ७२।

[2]वही ४। [3]वही ६४। [4]वही ६६।

[5]चन्दबरदाई और उनका काव्य : पृ० २२४।

[6]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ८२।

[7]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८६।

[8]चन्दबरदाई और उनका काव्य : पृ० २४४ से उद्धृत।

[9]कं० ग्रं०, श्यामसुन्दरदास पद १५६, १८८, १९०, ३६३, ३७३ आदि
क० व०, हरिऔध पद ७१, ७२, १०३, १७७।

[10]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी { सधना (पद १) रैदास (पद ५, २८)
धन्ना (पद १) अंगद (साखी ३)
सिंगाजी (पद १, ३) दादू (पद १०)
गरीब (पद १) मलूक (पद ४, ६)।

जैसे परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, मीराबाई आदि ने इस छन्द में अपनी भक्तिभावना प्रदर्शित की है। तुलसीदास के पद-साहित्य में १३ पद उपमान के मिलते हैं। उपमान पद-रचयिताओं का प्यारा छन्द रहा, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रबन्ध और मुक्तक लिखने वालों ने इसे नहीं अपनाया। वैसे भावों को प्रकट करने की शक्ति इसमें है भी नहीं। आधुनिक युग में भारतेन्दु के प्रेमप्रलाप, रागसंग्रह तथा वर्षाविनोद में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। उनके बाद फिर यह दिखलाई नहीं पड़ता।

## (२५) अवतार

> ब्रज भयो महर के पूत, जब यह बात सुनी।
> सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल नगर गुनी।
> अति पूरन पूरे पुन्य, रोपी सुथिर थुनी।
> ग्रह-लगन-नषत-पल सोधि, कीन्हीं बेद धुनी। —पद ६४२

६० पंक्तियों का एक ही पद अवतार छन्द का सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है। अवतार छन्द का लक्षण भानु ने यों दिया है—

> **अवतार राम की कथा, सब दोष गंजनी।**

अवतार १०, राम ३, दोष १० अर्थात् १३-१० का अवतार छन्द होता है। इसके अन्त में रगण ऽ।ऽ कर्णमधुर होता है।[1] रगण कर्णमधुर होता है—इसका अर्थ यह हुआ कि रगण हो तो अच्छा, नहीं हो, तो उपमान की तरह ।ऽ रहने से भी विशेष हानि नहीं।[2] भानु ने इसकी परिभाषा में और कुछ कहा नहीं, जिससे इसका गति-निर्धारक तत्व स्पष्ट नहीं हो सका। और इस प्रकार अवतार और उपमान के लक्षण एक हो गये। इसी धोखे में डॉ० महेश ने उपमान की निम्नांकित पंक्तियों को—

> करनी करुना-सिंधु की, मुख कहत न आवै।
> कपट-हेत परसैं बकी, जननी-गति पावै।
> बेद-उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
> सोइ सगुन ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै।[3]

---

[1] छंदःप्रभाकर : पृ० ६२।

[2] उपमान का लक्षण, छंदःप्रभाकर, पृ० ६१।

[3] सूरसागर, पद ४।

अवतार छंद मान लिया है।[1] यदि ये पंक्तियाँ अवतार की हैं, तो उपमान के उदाहरण-रूप में उद्धृत निम्न पंक्तियाँ—

**बाजत अवध गहागहे आनंद बधाए।**
**नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए।**
**धाय रजायसु राय को ऋषिराज बोलाए।**
**सिष्य-सचिव-सेवक-सखा सादर सिर नाए।**[2]

**(तुलसी की गीतावली, पद ६)**

उपमान की कैसे हो गयीं ? लय-साम्य के कारण दोनों को एक ही छन्द होना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि जब १३-१० और अंत में गुरु की बात उपमान और अवतार दोनों छंदों में है, तो फिर ये दो छंद कैसे कहे गये ? ये दो छंद अवश्य हैं, और दोनों की लय का भेदक तत्व भी स्पष्ट है। कदाचित् अवतार और राम—१० और ३ मात्राओं की स्थापना द्वारा साफ़ इसी ओर संकेत करते हैं। सूरदास के इस पद को आद्योपांत पढ़ जाने पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि प्रत्येक चरण के प्रथम खंड की १२वीं मात्रा लघु है। इतना ही नहीं प्रत्येक चरण के प्रथम खंड के अंत में एक त्रिकल है। कहीं-कहीं 'अनेक' और 'कपूर' जैसे शब्द भी आ गये हैं, पर यहाँ भी त्रिकल 'नेक' और 'पूर' के रूप में विद्यमान है। प्रत्येक चरण का प्रारंभ पद्धरि और पदपादाकुलक के समान द्विकल (ऽ वा ।।) से होता है। इसलिए ऐसा अनुमान करना कि ये १३ मात्रा वाले अंश पद्धरि या पदपादाकुलक की पंक्तियाँ हैं, जिनके अंत का एक त्रिकल (।ऽ या ऽ।) निकाल दिया गया है, युक्तिसंगत ही कहा जायगा। एक त्रिकल रख कर इन पंक्तियों की परीक्षा की जा सकती है।

**सुनि धायीं सब ब्रजनारि (वृन्द)**
**तन पहिर नूतन चीर (पीत या नील)**
**मनु भोर भए रवि देखि (पेखि)**
**जे चरहि जमुन के तीर (स्वच्छ)** —पद ६४२

त्रिकल के योग से ये सारी पंक्तियाँ पद्धरि की हो जाती हैं। उपमान के १३

---

[1] The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. P. 48.

[2] The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody P. 47.

मात्रा वाले खंड के साथ ऐसी बात नहीं है । वह दोहे का विषम चरण है । इस प्रकार समान मात्रा वाले होने पर भी दोनों के चरणों की लय बिलकुल भिन्न है । दोनों की लय के इस भेदक तत्व की ओर ध्यान नहीं देने के कारण भानु के लक्षणोदाहरण-पद्य की दो पंक्तियों में गण-व्यवस्था दूसरी हो गई है । जैसे—

**अवतार राम की कथा, सब दोष गंजनी ।**
**नहि ता समान आन है, त्रय ताप भंजनी ।**
**प्रभु नाम प्रेम से जपे, हे राम हे हरे ।**
**गणिकाहु अजामील से पापी घने तरे ।**[1]

इसमें प्रथम और तृतीय पंक्तियों के प्रथम खंड में पद्धरि या पदपादाकुलक की लय है और दूसरी और चौथी के खंड में उससे भिन्न लय । चौथी पंक्ति में दो गुरु (जा और मी) एक साथ आ कर गति में शैथिल्य उत्पन्न करते हैं । यदि इन दोनों पंक्तियों को निम्न रूप दिया जाय—

**नहिं ता समान है आन, त्रय ताप भंजनी ।**
**गणिकाहु अजामिल-सदृश पापी घने तरे ।**

तो क्रम भी ठीक हो जाय और शैथिल्य भी नहीं रहे ।

अब इस छन्द के १० मात्रा वाले अंश लिये जायँ । सूर के सभी चरणों के अंत में दो त्रिकलों की व्यवस्था है । केवल एक चरण में 'रुचि अपनी-अपनी' आया है । यहाँ भी 'नी अ । पनी' में दो त्रिकल विद्यमान हैं । इस प्रकार भानु के उपरिलिखित पद्य की प्रथम तीन पंक्तियों में भी दो त्रिकलों की व्यवस्था हो जाती है । चतुर्थ पंक्ति में तो यह स्पष्ट ही है । सूरसागर के पद १८०० में इसी प्रकार की चार पंक्तियाँ हैं, जिनकी लय विष्णुपद के दूसरे खंड के समान है और जिन्हें हमने शशिवदना छंद माना है । इस छंद का दूसरा खंड भी शशिवदना छंद ही है ।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पद्धरि या पदपादाकुलक की अंतिम तीन मात्राओं को हटा कर (१६—३=१३ मा०) उसमें शशिवदना (१० मात्राएँ) छंद जोड़ देने से अवतार छंद बन जाता है । गण व्यवस्था को ध्यान में रख कर इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है । जिसके प्रथम खंड में एक द्विकल, एक षट्कल (दो त्रिकल या एक चतुष्कल+एक द्विकल या एक द्विकल+एक चतुष्कल) एक द्विकल और एक

---

[1]छंदःप्रभाकर, पृ० ६२ ।      [2]पीछे शशिवदना छन्द ।

त्रिकल हों, और द्वितीय खंड में एक चतुष्कल और दो त्रिकल हों, वह अवतार छंद है। मात्रिक छंद में केवल मात्रा-निर्देश कर देने पर उसकी रचना-प्रक्रिया (गति) का बोध नहीं हो पाता। इसीलिए प्राचीन आचार्य विरहांक-स्वयंभू आदि ने मात्रिक छंदों की परिभाषा में द्विकल-त्रिकल आदि मात्रा-गणों का सहारा लिया था। किन्तु, यति का निर्देश नहीं होने से छन्दःशास्त्र के विद्यार्थी को वहाँ भी थोड़ी कठिनाई का अनुभव होने लगता है।[१] मात्रिक छन्दों के लक्षण की इस विडम्बना को दृष्टि में रख कर ही भिखारीदास ने मात्रिक छन्दों में लघु-गुरु वर्णों का विधान किया। पर उन्होंने इस नियम को ऐसा कसा कि उनके मात्रिक छन्दों ने वर्णवृत्तों का रूप धारण कर लिया। उनके उदाहरण के पद्य हमारे कथन के साक्षी हैं।

प्राचीन छन्दःशास्त्रियों ने २३ मात्रा वाले जिन छन्दों का उल्लेख किया है, उनकी चर्चा हम पीछे उपमान छन्द के अन्तर्गत कर चुके हैं। उनमें अवतार नाम का कोई छन्द नहीं। साथ ही इसकी जो गण व्यवस्था हमने स्थापित की है, वैसी गण-व्यवस्था भी किसी छन्द की नहीं पाई जाती। अतः उनमें किसी छन्द के साथ अवतार का संबंध नहीं है। स्वयंभू ने मदनावतार नामक एक छन्द का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु वह २० मात्रापादी है और उसकी गण-व्यवस्था भी भिन्न है।[२] हिन्दी के किसी प्राचीन छन्दःशास्त्री ने अवतार का उल्लेख नहीं किया। भानु के छन्दःप्रभाकर में ही यह सर्वप्रथम उल्लिखित है। भानु के बाद डॉ० शुक्ल ने इसे याद भर कर लिया है[३], और किसी छन्दःशास्त्री ने नाम तक नहीं लिया।

अवतार का काव्यगत प्रयोग सूरदास के पहले नहीं मिलता। भारतेन्दु के रागसंग्रह में आसावरी राग में गाने योग्य एक पद है। (सूर का उक्त पद

---

[१]Curiously enough, Virhanka prescribes a Yati after the 12th Matra and this is practically the only place where a Yati is mentioned by him.
—Svyambhocchandas : Brief notes, Velankar P. 166

[२]स्वयंभूच्छन्दः—चत्तारिपगणाइं मग्रणावग्रारए। ८।२।

[३]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८६।

भी आसावारी राग में ही गेय है) जिसमें अधिकांश पंक्तियाँ २३ मात्राओं की हैं (२०, २२, २४ की पंक्तियाँ भी हैं) पर उसकी लय अवतार से भिन्न है। उपमान की-सी लय नहीं होने के कारण उसे उपमान भी नहीं कह सकते। ब्रजभाषा के नियमानुसार अनेक अक्षरों का यदि ह्रस्वोच्चारण किया जाय, तो इसे कुण्डल छन्द (२२ मात्राएँ) कह सकते हैं, क्योंकि तब इसकी लय कुण्डल के समान हो जाती है। पद की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

**बृज को उजियारो मेरो छोटो सो लाला।**
**मानै मेरोई कह्यो ऐसो सुभ चाला।**
**तुम्हरे हित खोजूँ लाल दुलही एक छोटी।**
**मिलि खेलैं लालन के रहैं संग जोटी।**[1]

आधुनिक युग में तो इसका प्रयोग हुआ ही नहीं।[2] इसका कारण भावों के प्रकटीकरण में इसकी असमर्थता नहीं, वरन् मात्रिक गणों की यत्किंचित् कठोरता हो सकती है। इस प्रकार अवतार का अवतार एक बार ही—वह भी एक ही पद में—सूरसागर में हुआ। आधुनिक युग में दो छन्दों के चरणों के योगात्मक प्रयोग की प्रवृत्ति अवश्य देखी जाती है, किंतु अवतार छन्द की ओर कवियों की दृष्टि नहीं गयी। अवश्य महादेवी के एक गीत में एक ऐसे छन्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें पद्धरि की अन्तिम ३ और शृंगार की अन्तिम ५ मात्राओं को निकाल कर दोनों के चरणों के योग से एक चरण बना लिया गया है। जैसे—

**तम ने धोया नभ-पंथ (स्वच्छ)**
**सुवासित हिम-जल से (सब काल)**
**सूने आँगन में दीप (दिव्य)**
**जला दिए झिलमिल से (तत्काल)**[3]

('दिए' के 'ए' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है। कोष्ठक के शब्द हमारे हैं। इन शब्दों के योग से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि महादेवी की ये पंक्तियाँ पद्धरि और शृंगार की कुछ मात्राओं को निकाल कर निर्मित हुई हैं।)

वर्णनात्मकता इस छन्द की विशेषता कही जा सकती है। सम्पूर्ण पद

---

[1] **भारतेन्दु ग्रंथावली, रागसंग्रह पद ६१।**
[2] **आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८६।**
[3] **नीरजा,** गीत १६, पृ० ३४।

में कृष्ण-जन्म के बाद ब्रज में होने वाले उल्लास का वर्णन है। पर मानसिक उल्लास की अभिव्यक्ति के स्थान पर उल्लासमय परिस्थिति और वातावरण का चित्र ही अधिक अंकित किया गया है। पद ६४६ में भी इसी उल्लास का वर्णन है, और इसीलिए उस छन्द का नाम उल्लास रक्खा गया है। पर वहाँ उल्लास छन्द का निर्माण रोला के आधार पर हुआ है। इसीलिए उसकी गति में निर्झर के समान एक वेग है—एक प्रवाह है। इस छन्द का निर्माण पद्धरि-पदपादाकुलक के अंतिम त्रिकल को निकाल कर, उसमें शशिवदना को जोड़ कर हुआ है। इसीलिए इसकी गति में वेग नहीं—एक मन्थरता है। उसमें ऐसा लगता है, जैसे कोई उल्लासमय वातावरण का चित्र प्रस्तुत करने को उत्सुक है, इसीलिए शीघ्रतापूर्वक अपनी बातों को कहता चलता है; और इसमें अपने हृदय के उल्लास को सँभाले हुए उसके वर्णन में रस लेता हुआ आगे बढ़ता है।

## (२६) रजनी

रही इकटक साँस बिनु, तनु बिरह-बिबस भई।
बार बार हु सखि बुलावहिं, कहा भई दई।
नारि नीकी दसा पहुँची, ह्वै अचेत गई।
स्याम व्याकुल धरनि मुरछे, सिया सोच हुई।—पद ३३७५

सूरसागर के ११ पदों में रजनी छन्द का प्रयोग हुआ है। इस नाम और लय का छन्द हिन्दी के प्राचीन अथवा नवीन किसी छन्दःशास्त्र में नहीं मिलता। केवल डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—'यह नवीन छन्द सतक (ऽ।ऽऽ) की तीन आवृत्तियों और गुरु के योग से बनता है। इसकी तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है।'[1] इसी सतक की तीन आवृत्तियों और ऽ। के योग से रूपमाला छन्द बनता है। तीसरी, दसवीं तथा सत्रहवीं मात्रा के लघुत्व की शर्त वहाँ भी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि रूपमाला के अंतिम लघु को निकाल कर इसका निर्माण कर लिया गया है। रूपमाला में २४ मात्राएँ होती हैं; अंतिम लघु के निकल जाने पर शेष २३ मात्राएँ बच गयीं। यही रजनी की मात्रा-संख्या है। सूरदास के इन सभी पदों में रजनी के नियम का पूर्णतः पालन हुआ है। एकाध स्थल पर तीसरी, दसवीं या सत्रहवीं मात्रा अवश्य गुरु हैं।

---

[1] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २८५।

सूरसागर में अनल्प प्रयोग देख कर रजनी को नवीन छन्द नहीं कह सकते। पद-साहित्य छन्दोदृष्टि से उपेक्षित रहा, इसीलिए आचार्यों की दृष्टि इस पर नहीं पड़ी। आधुनिक युग में छन्दों के विविध प्रयोग हुए। संभव है, प्रयोगकर्ता की दृष्टि सूरसागर की ऐसी पंक्तियों पर पड़ी हो और उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर इस प्रकार की पंक्तियाँ उसने भी लिख डाली हों। फिर ऐसी पंक्तियाँ जब आचार्य के सम्मुख आयीं, तो उसने उनका नामकरण किया और इस प्रकार यह नवीन छन्द कहलाया।

प्राचीन काव्य में सर्वप्रथम विद्यापति की पदावली में रूपमाला के साथ रजनी की कतिपय पंक्तियाँ मिलती हैं—

**(क) दमन कालो कएल जे जन चरन जुगल-बरे।—२३ मा०**
**अब भुजंगम भरम भूलल हृदय हार न धरे।[१]—२४ मा०**

**(ख) एक मास विहि तोहि सिरिजए**
**दए सकल ओ बल।—२३ मा०**
**दोसर दिन पुनु पुर न रहसी**
**एही पाप क फल।[२]—२३ मा०**

इसके अतिरिक्त उन्होंने मनोरम और रजनी का मिश्रित प्रयोग किया है—

**(ग) कनक-भूधर-शिखर वासिनि,**
**चन्द्रिका चय चारु हासिनि, } —मनोरम**
**दशन कोटि विकास वंकिम-**
**तुलित चन्द्रकले। } —रजनी।[३]**

**(घ) तुरए कोटिअ चाप चूरिअ**
**चारि दिसि सों बिदिस पूरिअ } —मनोरम**
**विषम सार असाढ़ धारा**
**धरनि भरिओ रे। } —रजनी[४]**

(क) की दूसरी पंक्ति स्पष्टतः रूपमाला की है (रूपमाला के अंत में ।ऽ का प्रयोग यद्यपि आचार्य द्वारा वर्जित माना गया है[५], किंतु प्राचीन कवियों में ऐसे

---

[१]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १४२।
[२]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १११।
[३]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २३०।
[४]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २५८।
[५]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० २६०।

प्रयोग भी मिलते हैं)[1]। (ख) में अन्त्य ।ऽ की जगह ।। है। अतः कहा जा सकता है कि यह प्रयोग रूपमाला की रचना में कवि-प्रयत्न-शैथिल्य का परिणाम है। किंतु (ग) और (घ) के प्रत्येक अनुच्छेद में मनोरम के साथ रजनी की योजना के पीछे कवि का सचेतन प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित होता है। सूरदास ने ११ पदों में रजनी का स्वतंत्र और २० पदों में रूपमाला के साथ मिश्रित प्रयोग किया है। अतः इसे हम कवि-प्रयत्न-शैथिल्य से उद्भूत नहीं मान सकते। सूरदास ने ऐसा प्रयोग जान-बूझ कर ही किया है।

विद्यापति और सूर द्वारा प्रयुक्त इस छन्द को फिर किसी प्राचीन कवि ने नहीं अपनाया। तुलसीदास ने प्रणय और उपमित जैसे नये छन्दों का प्रयोग तो किया, पर रजनी का नहीं। डॉ० शुक्ल के अनुसार रजनी छन्द शृंगार रस के लिए अधिक उपयुक्त है।[2] विनयपत्रिका में शृंगार के लिए स्थान नहीं। गीतावली और कृष्णगीतावली में इसके लिए स्थान निकल आ सकता था, फिर भी तुलसीदास ने इसे स्थान नहीं दिया। भारतेन्दु ने कितने ही पद प्रेम और शृंगार के लिखे, पर उनमें रजनी को एक पद की दो पंक्तियों में ही स्थान मिला—

**आजु प्रकट भई श्री राधा आजु प्रकट भई।**
**गोपिका मिलि घर-घरन सों भानु-नगर गईं।**[3]

यों उन्होंने रूपमाला छन्द भी बहुत कम लिखा। रूपमाला शृंगार और करुणा दोनों रसों में अपनी छटा दिखा सकती है।[4] यह केवल शृंगार में अपनी शोभा सरसा सकती है। अपने इस एकांगीपन के कारण भी यह रूपमाला से होड़ नहीं ले सकी। अंतिम ऽ। से रूपमाला की पंक्ति का अंत एक ऐसी स्थिति या वातावरण उपस्थित कर देता है, जो प्रबन्ध काव्य के लिए भी उपयुक्त ठहरता है। इसीलिए अनेक प्रबन्ध काव्यों में रूपमाला छन्द का व्यवहार हुआ है। रजनी का गुर्वन्त गीतात्मकता के अधिक उपयुक्त है। रजनी के 'विरह-बिबस-भई' और रूपमाला के 'विरह-बिबस-मलीन' से यह सत्य हृदयंगम किया जा सकता है। पहले में वाणी की हलकी भंगिमा का आभास मिलता है, दूसरे में उसकी

---

[1] आगे रूपमाला छन्द, पृ० १६८।

[2] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८५।

[3] भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खंड : वर्षाविनोद पद ८३।

[4] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६०।

गंभीर मुख-मुद्रा का दर्शन होता है। रूपमाला अपनी छवि-छटा दिखला कर जैसे ठिठक जाती है, रजनी अपनी शोभा दिखाती हुई अभिसारिका-सी आगे बढ़ जाती है। आधुनिक युग ठिठक कर, मुड़ कर देखता भी है और आगे बढ़ने के लिए सतत यत्नशील भी रहता है। इसीलिए इस युग के कवियों की दृष्टि एक बार फिर रजनी की ओर आकर्षित हुई। फलस्वरूप बहुत दिनों के बाद फिर इसे गीतों में स्थान मिला। महादेवी का निम्नलिखित गीत :—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में;
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पदचिह्न जीवन में;
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।[1]

रजनी छन्द में ही निबद्ध है। डॉ० शुक्ल ने देवराज के 'प्रणय-गीत' से निम्नलिखित पंक्तियाँ रजनी छन्द के उदाहरण में उद्धृत की हैं—

मधु रची पुलकित क्षणों से शुचि सुवासित-सी,
इन्दुकर-आलिंगिता-सी अमृत भावित-सी,
सब दिशाओं में सरस उल्लास-सा भरती।
जा रही चंचल हृदय को देह को करती।[2]

निराला के एक गीत में रूप माला और माधव मालती के साथ रजनी का भी पंक्तियाँ मिलती हैं।[3]

## (२७) हीर

कान्हहिं पठै, महरि कौ कहति है पाइनि परि।
आजु कहूँ कान्ह नाहिं, खाई है काम-कुँवरि।
सब दिन आवै सुजाइ, जहाँ-तहाँ फेरि-फिरि।
अबहीं खरिक गई आइ रही है जिय बिसरि।
निसि के उनींदे नैन, तैसे रहे ढरि ढरि।
कीधौं कहुँ प्यारी कौ, लागी टटकी नजरि।
तेरौ सुत गारुड़ी, सुन्यौ, है बात री महरि।
सूरदास देखैं प्रभु, जैहै री गरद झरि। —पद १३७०

---

[1] नीरजा, गीत १०।
[2] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८५।
[3] गीतिका, गीत ४७।

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

हीर छन्द में निबद्ध सूरसागर में बस यही एक पद है। इसके प्रत्येक पाद में २३ मात्राएँ हैं, और अंत में नगण (।।।) है। इसकी दूसरी, तीसरी, छठी और आठवीं पंक्तियों में कुंडल की षष्ठक-व्यवस्था का पूर्णतः पालन हुआ है। कुण्डल के अंतिम गुरु को लघु बना कर उसके आगे एक दीर्घ रख देने से हीर छन्द बन जाता है। एक गुरु की जगह दो लघुओं के प्रयोग की स्वच्छन्दता कवियों द्वारा मान्य है। इसीलिए कुण्डल की लय पर आधारित २३ मात्रा वाले इस छन्द को हमने हीर माना है।

प्राकृत पैंगल के पूर्व किसी छन्दःशास्त्र में हीर नाम का छन्द नहीं मिलता। प्रा० पै० के अनुसार इसमें तीन षट्कल और एक रगण (ऽ।ऽ) रहते हैं। प्रत्येक षट्कल के आदि में गुरु और शेष मात्राएँ लघु होती हैं।

**हार सुपिअ भण विप्पगण तीए भिण्ण सरीर।**
**जोहल अंते संठवहु तेइस मत्तह हीर।**[1]

केशवदास की छन्दमाला में भी हीर का यही लक्षण है।[2] भिखारीदास ने भी तीन टगण (ऽ।।।।) और रगण (ऽ।ऽ) की व्यवस्था प्रतिपाद में मानी है।[3] किंतु अपने उदाहरण-पद्य की सभी पंक्तियों में इस नियम का पालन नहीं किया है। यथा—

**जाहु न पर | देस ललन | लालच उर | मंडिकै।**
**रत्ननि की | खानि सुतिय | मंदिर में | छंड़िकै।**[4]

दूसरी पंक्ति के प्रथम और तृतीय षट्कल में स्पष्टतः नियमोल्लंघन है। श्रीधर कवि के अनुसार हीर छन्द में छः मात्राओं पर तीन बार विश्राम दे कर अंत में रगण की योजना होती है।

**तेइस कल राखि अमल अंत रगन राजई।**
**छह विराम छह विराम छह सु पाँच साजई।**[5]

---

[1]प्राकृतपैंगलम १।२००।
[2]केशव ग्रंथावली, खंड २, छंदमाला २।४७ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
[3]भिखारीदास ग्रंथावली—खंड १, छन्दार्णव ५।१९८ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
[4]भिखारीदास ग्रंथावली—खंड १, छन्दार्णव ५।२०० सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।
[5]प्रा० पै० भाग ४ : पृ० ४८० डॉ० भोलाशंकर से उद्धृत।

उन्होंने न तो गुर्वादि षट्कल की व्यवस्था दी है, और न अपने उदाहरण-पद्य में उसका पालन ही किया है। भानु ने फिर हीर के आदि और अंत में गुरु का होना आवश्यक माना है—

**आदि गुरु अंतहि रू ऋतु रस हर हीर में।**

उनके अनुसार हीर में ६-६-११ मात्राएँ होती हैं, आदि में ऽ और अंत में रगण (ऽIऽ) रहते हैं।[१] उक्त सभी आचार्यों द्वारा दिये गये लक्षणों से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हीर छन्द में २३ मात्राएँ होती हैं, ६-६-११ पर विश्राम होता है तथा अंत में रगण रहता है। प्रारंभ में गुरु का होना अनिवार्य नहीं है। सूर के उक्त पद में अन्त्य रगण की जगह नगण का प्रयोग है, कुछ पंक्तियों में यति-दोष भी स्पष्ट है, तथा पहली, चौथी, पाँचवीं और सातवीं पंक्तियों में षष्ठक के नियम का भी पालन नहीं हुआ है, किंतु छन्द हीर ही है, क्योंकि उसकी लय सभी पंक्तियों में व्याप्त है।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में, प्राकृत पैंगल को छोड़ कर, किसी में न तो यह नाम है, और न इसके लय-साम्य पर चलने वाला कोई छन्द। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने प्राचीन छन्दः परम्परा में उल्लिखित २३ मात्रापादी छन्दों की एक सूची दी है।[२] जिसमें एक 'रासक' नामक छन्द है, जो २३ मात्राओं का है और २१ मात्रा वाले रासक से भिन्न है। इसे उन्होंने द्वितीय रासक कहा है। हीर छन्द इन दोनों रासकों से गति, लय और गूँज में भिन्नता रखते हुए भी प्रथम रासक का प्ररोह है, ऐसा उन्होंने निष्कर्ष निकाला है।[३] साथ ही इसे उन्होंने भट्ट कवियों की देन कहा है।[४] यह पंक्ति हमें यह सोचने को बाध्य करती है कि क्या यह छन्द भट्ट कवियों की अपनी निर्मिति है या इसका कोई प्राचीन आधार भी है? यदि हम संस्कृत छन्दःशास्त्र की ओर बढ़ते हैं, तो इसका आधार 'चामर' वर्णवृत्त में मिल जाता है। इस चामर की गति, लय, गूँज सब हीर की तरह ही हैं। यथा—

**रोज रोज राधिका सखीन संग आइ कै।**
**खेल रास कान्ह संग चित्त हर्ष लाइ कै।**[५]

कहा जा सकता है कि चामर (र ज र ज र) का पहला उल्लेख प्राकृतपैंगल

---

[१] छन्दः प्रभाकर, पृ० ६२।
[२] उपमान छन्द पृ० १४१।
[३] प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ४८३।
[४] प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ४८३।
[५] छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० १७१।

में है और प्राकृत पैंगलकार सिद्धान्तवादी हेमचन्द्र[1] के विपरीत एक व्यवहारवादी छन्दःशास्त्री थे,[2] जिन्होंने व्यवहार में आये छन्दों को ही अपने ग्रंथ में संकलित किया है। इसलिए चामर वही छन्द है, जिसका निर्माण भट्ट कवियों ने किया था और व्यवहार में आये इस छन्द को प्राकृत पैंगलकार ने अपने ग्रंथ में स्थान दिया। किंतु, बात ऐसी नहीं है। चामर का इतिहास प्राकृत पैंगल से पुराना है। जयकीर्त्ति ने इसी लक्षण (र ज र ज र) वाले छन्द को महोत्सव नाम से अभिहित किया है—राज्जरौ जरौ यदा महोत्सवो गतागतम्।[3] और हेमचन्द्र ने इसे ही तूणक कहा है—र्जर्जरास्तूणकम्।[4] डॉ० व्यास ने भी हेमचन्द्र के तूणक की ओर इन पंक्तियों में संकेत किया है—'वे (माधवराव पटवर्धन) बताते हैं कि तूणक वृत्त के विशिष्ट स्थानों के गुरु के स्थान पर दो लघु देने से हीर वृत्त सिद्ध होता है।'[5] बात वस्तुतः यही है। यह हीर छन्द जयकीर्त्ति के महोत्सव और हेमचन्द्र के तूणक का मात्रिक रूप है। इसे मात्रिक रूप में परिवर्तित करने वाले डॉ० व्यास के तथाकथित भट्ट कवि हो सकते हैं। इस प्रकार इस हीर को गति, लय और गूँज में भेद होते हुए भी प्रथम रासक का प्ररोह मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। अब इसी हीर के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने पर कुंडल बन जाता है। इस प्रकार कुंडल और प्रणय का संबंध भी जयकीर्त्ति के महोत्सव और हेमचन्द्र के तूणक से जुट जाता है।

हीर या हीरक का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख जितना प्राचीन है; इसका काव्यगत प्रयोग भी उतना ही पुराना है। अपभ्रंश कवि बब्बर ने नियम की पूरी पाबन्दी के साथ हीर का प्रयोग किया है यथा—

**विक्क दलण थोंग-दलण तक्क-दलण रिंगए।**
**णं ण णुकट दिग दुकट रंग चल तुरंगए।[6]**

ये ही पंक्तियाँ प्राकृत पैंगल में हीर के उदाहरण में उद्धृत की गई हैं।[7] प्राकृत

---

[1]कविदर्पणकार व्यवहारवादी हैं, हेमचन्द्र सिद्धान्तवादी। मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन पृ० ५५।
[2]प्रा० पैं० का छन्दः सम्बन्धी दृष्टिकोण शास्त्रीय की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास पृ० ३८५।
[3]छन्दोनुशासन २।१६०। [4]छन्दोनुशासन २।२५४।
[5]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ४८३। [6]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ३२६।
[7]प्रा० पैं० १।२०१।

पैंगल की गण-व्यवस्था के अनुसार हीर को वर्णवृत्त मानना ही युक्तिसंगत है, मात्रावृत्त नहीं। क्योंकि इसके प्रत्येक चरण में गुरु-लघु का क्रम और वर्ण-संख्या समान है। पृथ्वीराज रासो में वृद्ध नाराच (अन्य नाम पंचचामर) के अन्तर्गत चामर की पंक्तियाँ तो मिल जाती हैं—

**हयं गयं अनेक भाँति जोध जोध राजयं।—१६ अक्षर (पंचचामर)**

**म्लेच्छ दुष्ट तेज ताम ता कुरान साजयं।[1]—१५ अक्षर (चामर)**

किन्तु उसके मात्रिक रूप हीर की नहीं। विद्यापति और कबीर ने भी हीर का प्रयोग नहीं किया। सूरदास ने इसका प्रयोग एक पद में किया और तुलसीदास ने विनयपत्रिका की केवल दो पंक्तियों में। जैसे—

**स्वामी को सुभाव कह्यौ सो जब उर आनि हैं।**

**सोच सकल मिटिहैं राम भलो मन मानिहैं।[2]**

केशवदास ने चामर तो लिखा ही, हीर का प्रयोग भी छः पद्यों में किया।[3] रीतिकाल के अन्तर्गत श्रीधर (जंगनामा) तथा सूदन (सुजान चरित्र) ने भी इसका प्रयोग किया है।[4] भारतेन्दु के प्रेम-प्रलाप में एक जगह हीर और कुण्डल (हीर ६ पंक्तियाँ+कुंडल २ पंक्तियाँ) का मिश्रित प्रयोग पाया जाता है।

**भौंह की कमान तान गुन अंजन छाकि कै।**

**काम जहर सौं बुझाइ मार्‌यौ मोहिं ताकि के।[5]**

आधुनिक हिन्दी में हीर छन्द का बहुत कम प्रयोग हुआ है। निराला के दो गीतों में इसकी चार पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

**कण-कण कर कंकण प्रिय,**

**किण्-किण् रव किंकणी।**

**रणर-रणन नुपुर, उर लाज,**

**लौट रंकिणी।[6]**

---

[1]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २७२।

[2]विनयपत्रिका, १३५।

[3]रामचन्द्रिका—१।४३, ८।८, १३।३३, १५।४०-४१, १९।४४।

[4]हिन्दी वीर काव्य : टीकमसिंह तोमर, पृ० १२७, तथा हिन्दी साहित्य कोष भाग १, पृ० ९७९।

[5]भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खंड, प्रेमप्रलाप, पद ४०।

[6]गीतिका, गीत ६।

साथ-साथ नृत्य-परा कलि-कलि की अप्सरा।
ताल लताएँ देतीं करतल-पल्लव-धरा।[1]

हीर के उदाहरण-रूप में विद्वानों के द्वारा उद्धृत पंत की निम्नांकित पंक्तियाँ[2]—

सोए तरु-वन में खग सरसी में जलजात
सजग गगन के तारक भू प्रहरी प्रख्यात
सोओ जग-दृगतारक भूलो पलक-निपात
चपल वायु सा मानस पा स्मृतियों के घात।

—पल्लविनी, निद्रा के गीत, पृ० २२२

समात्मक प्रवाह और गलात्मक अंत के कारण निश्चल (१६-७ अंत में ऽ।)[3] की पंक्तियाँ हैं, हीर की नहीं। डॉ० शुक्ल ने इसके संबंध में लिखा है—'पहले इसके (हीर के) अंत में रगण अनिवार्य माना जाता था। इस युग में इसका परिवर्तित स्वरूप प्रयुक्त हुआ है, जिसके अंत में तगण के आधार पर पाँच मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं।' रगण (ऽ।ऽ) के अन्तिम गुरु की जगह दो लघुओं की स्वच्छन्दता तो समझ में आ जाती है, पर लघु-गुरु का गुरु-लघु में होने वाला विपर्यय समझ में नहीं आता। इसे हम कवि की स्वच्छन्दता नहीं कह सकते। वस्तुतः कवि ने अपने भावों को हीर में नहीं निश्चल छन्द में अभिव्यक्त किया है। गति, लय अथवा गूँज किसी के आधार पर उक्त पंक्तियाँ हीर की नहीं कही जा सकतीं। 'निद्रा के गीत' की ऐसी ही अन्य चार पंक्तियाँ उद्धृत कर डॉ० व्यास ने लिखा है कि इसमें ६-६-६-५ वाली गणव्यवस्था तो मिलती है, किन्तु यति १२-११ पर पाई जाती है। साथ ही अन्त में रगण की व्यवस्था भी सर्वत्र नहीं है।[4] १२-११ पर यति मान लेने के फलस्वरूप वे इसके छन्द के संबंध में कोई निर्णय नहीं दे सके। यति जिह्वा के अधीन है। साथ ही यति-विषयक स्वेच्छाचार आज मनोहारी विविधता में परिगणित हो रहा है।[5] ऐसी दशा में पंत की उपरिलिखित पंक्तियों को निश्चल छन्द मानना ही युक्तिसंगत है।

कुण्डल के अंतिम दीर्घ की जगह ।ऽ रख देने से हीर छंद बन तो जाता

---

[1]गीतिका, गीत ८६।

[2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल पृ० २८६।

[3]छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ६३। [4]प्रा० पैं० भाग ४ पृ० ४८३।

[5]'दोष और उनका परिहार', पृ० ५६४।

पिंगल की गण-व्यवस्था के अनुसार हीर को वर्णवृत्त मानना ही युक्तिसंगत है, मात्रावृत्त नहीं। क्योंकि इसके प्रत्येक चरण में गुरु-लघु का क्रम और वर्ण-संख्या समान है। पृथ्वीराज रासो में वृद्ध नाराच (अन्य नाम पंचचामर) के अन्तर्गत चामर की पंक्तियाँ तो मिल जाती हैं—

**हयं गयं अनेक भाँति जोध जोध राजयं।—१६ अक्षर (पंचचामर)**

**म्लेच्छ दुष्ट तेज ताम ता कुरान साजयं।[1]—१५ अक्षर (चामर)**

किन्तु उसके मात्रिक रूप हीर की नहीं। विद्यापति और कबीर ने भी हीर का प्रयोग नहीं किया। सूरदास ने इसका प्रयोग एक पद में किया और तुलसीदास ने विनयपत्रिका की केवल दो पंक्तियों में। जैसे—

**स्वामी को सुभाव कह्यौ सो जब उर आनि हैं।**

**सोच सकल मिटिहैं राम भलो मन मानिहैं।[2]**

केशवदास ने चामर तो लिखा ही, हीर का प्रयोग भी छः पद्यों में किया।[3] रीतिकाल के अन्तर्गत श्रीधर (जंगनामा) तथा सूदन (सुजान चरित्र) ने भी इसका प्रयोग किया है।[4] भारतेन्दु के प्रेम-प्रलाप में एक जगह हीर और कुण्डल (हीर ६ पंक्तियाँ+कुंडल २ पंक्तियाँ) का मिश्रित प्रयोग पाया जाता है।

**भौंह की कमान तान गुन अंजन छाकि कै।**

**काम जहर सौं बुझाइ मार्‌यौ मोहिं ताकि के।[5]**

आधुनिक हिन्दी में हीर छन्द का बहुत कम प्रयोग हुआ है। निराला के दो गीतों में इसकी चार पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

**कण-कण कर कंकण प्रिय,**
**किण्-किण् रव किंकणी।**
**रणर-रणन नुपुर, उर लाज,**
**लौट रंकिणी।[6]**

---

[1]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २७२।

[2]विनयपत्रिका, १३५।

[3]रामचन्द्रिका—१।४३, ८।८, १३।३३, १५।४०-४१, १९।४४।

[4]हिन्दी वीर काव्य : टीकमसिंह तोमर, पृ० १२७, तथा हिन्दी साहित्य कोष भाग १, पृ० ९७९।

[5]भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खंड, प्रेमप्रलाप, पद ४०।

[6]गीतिका, गीत ६।

साथ-साथ नृत्य-परा कलि-कलि की अप्सरा।
ताल लताएँ देतीं करतल-पल्लव-धरा।[1]

हीर के उदाहरण-रूप में विद्वानों के द्वारा उद्धृत पंत की निम्नांकित पंक्तियाँ[2]—

सोए तरु-वन में खग सरसी में जलजात
सजग गगन के तारक भू प्रहरी प्रख्यात
सोओ जग-दृगतारक भूलो पलक-निपात
चपल वायु सा मानस पा स्मृतियों के घात।

—पल्लविनी, निद्रा के गीत, पृ० २२२

समात्मक प्रवाह और गलात्मक अंत के कारण निश्चल (१६-७ अंत में ऽ।)[3] की पंक्तियाँ हैं, हीर की नहीं। डॉ० शुक्ल ने इसके संबंध में लिखा है—'पहले इसके (हीर के) अंत में रगण अनिवार्य माना जाता था। इस युग में इसका परिवर्तित स्वरूप प्रयुक्त हुआ है, जिसके अंत में तगण के आधार पर पाँच मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं।' रगण (ऽ।ऽ) के अन्तिम गुरु की जगह दो लघुओं की स्वच्छन्दता तो समझ में आ जाती है, पर लघु-गुरु का गुरु-लघु में होने वाला विपर्यय समझ में नहीं आता। इसे हम कवि की स्वच्छन्दता नहीं कह सकते। वस्तुतः कवि ने अपने भावों को हीर में नहीं निश्चल छन्द में अभिव्यक्त किया है। गति, लय अथवा गूँज किसी के आधार पर उक्त पंक्तियाँ हीर की नहीं कही जा सकतीं। 'निद्रा के गीत' की ऐसी ही अन्य चार पंक्तियाँ उद्धृत कर डॉ० व्यास ने लिखा है कि इसमें ६-६-६-५ वाली गणव्यवस्था तो मिलती है, किन्तु यति १२-११ पर पाई जाती है। साथ ही अन्त में रगण की व्यवस्था भी सर्वत्र नहीं है।[4] १२-११ पर यति मान लेने के फलस्वरूप वे इसके छन्द के संबंध में कोई निर्णय नहीं दे सके। यति जिह्वा के अधीन है। साथ ही यति-विषयक स्वेच्छाचार आज मनोहारी विविधता में परिगणित हो रहा है।[5] ऐसी दशा में पंत की उपरिलिखित पंक्तियों को निश्चल छन्द मानना ही युक्तिसंगत है।

कुण्डल के अंतिम दीर्घ की जगह ।ऽ रख देने से हीर छंद बन तो जाता

---

[1] गीतिका, गीत ८६।
[2] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल पृ० २८६।
[3] छन्द:प्रभाकर, भानु, पृ० ६३।  [4] प्रा० पैं० भाग ४ पृ० ४८३।
[5] 'दोष और उनका परिहार', पृ० ५६४।

है, पर अन्त्य रगण के कारण कुण्डल की गीतात्मक क्षमता इसमें नहीं रह जाती। इसीलिये पद-साहित्य में हीर का प्रयोग कुण्डल के सामने बिलकुल नगण्य है। षण्मात्रिक पादांश को रखने और फिर दूसरे को उठाने वाली पैरेड के लेफ्ट-राइट के समान इसकी गति वीर भावों को अभिव्यक्त करने में अवश्य कृतकार्य है। प्रसाद का 'अमर्त्य वीर पुत्र हो बढ़े चलो, बढ़े चलो' सफल अभियान गीत माना जाता है। इसकी रचना पंचचामर वृत्त में हुई है। चामर के आदि में एक लघु के योग से पंचचामर बन जाता है। अतः यह चामर का सजातीय है। अभियान-गीत के रूप में इसकी सफलता का यही रहस्य है कि इसमें पैरेड की लेफ्ट-राइट वाली गति की गूंज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हीर वर्णवृत्त चामर से रूपांतरित हो कर मात्रिक अवश्य बन गया, पर इसके ऊपर वर्णवृत्त का संस्कार बहुत कुछ अक्षुण्ण रहा। लघुगुरु के बंधन के आधिक्य के कारण यह वर्णवृत्त के समान ही रहा।[1] वर्णवृत्त हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता। उसमें भावों की अभिव्यक्ति उस सरलता से नहीं हो पाती, जिस सरलता से मात्रिक छंद में। हीर के प्रयोग की अल्पता का कारण उसका वर्णवृत्त से बहुत कुछ चिपक कर रहना भी हो सकता है।

## (२८) रोला

**चलि सखि देखत जाँहि, पिया अपने की खोरी।**
**बाजत ताल, मृदंग और किन्नरि की जोरी।**
**गावति दै-दै गारि, परस्पर भामिनि भोरी।**
**बूका सुरँग अबीर, उड़ावत भरि-भरि-झोरी।** —पद ३४८८

रोला छंद का प्रयोग सूरसागर में स्वतंत्र रूप में केवल ५ पदों में हुआ है। इसके अतिरिक्त मिश्र छंद के अंग-रूप में भी इसका प्रयोग हुआ है।[2] रोला का सर्वप्रथम उल्लेख प्राकृत पैंगल में पाया जाता है। उसके अनुसार इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं—

**पढम होइ चउबीस मत्त अंतर गुरु जत्ते।**[3]

इस लक्षण में यति का कोई निर्देश नहीं है। पर छप्पय की जो परिभाषा दी गई है, उसमें ११-१३ पर यति का विधान है।

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० २३५।
[2] मिश्र छन्द, पृ० ३५४, ३८६, ३६३। [3] प्रा० पैं० १।६१।

एग्रारह तसु विरह त पुणु तेरह णिब्भंतई ।[1]

इसके बाद 'वाणीभूषण' में भी रोला का यही नियम निर्धारित है—

प्रतिपदमिह चतुरधिककलविंशति परिगणितम ।
एकादशमधि विरतिः.................... ।[2]

केशवदास ने इसे कवित्त संज्ञा दे कर इसमें केवल २४ मात्राओं की व्यवस्था दी है, यति का संकेत नहीं किया है—

प्रतिपद केसवदास मनि, करि मत्ता चौवीस ।[3]

उनके उदाहरण-पद्य की प्रथम दो पंक्तियों में तो ११-१३ की व्यवस्था मिलती है, पर अंतिम दो पंक्तियों में १४-१२ का यति-विधान लक्षित होता है। केशव के बाद मुरलीधर ने 'छन्दोहृदयप्रकाश' में इसका उल्लेख प्राकृत पैंगल के अनुसार ही किया है।[4] सुखदेव मिश्र ने इसमें केवल चौबीस मात्राओं का विधान किया है—

बारह पुब्बहँ होय, सुकवि सुखदेव सु आछे ।
ग्रह सुतीरथ अंक बढ़ै, द्वैकला सो पाछे ।
सकल कला चौबीस होंहि गुरु अंतहि आवै ।
पिंगल मति यों कहैं छन्द रोला सुकहावै ।
—वृत्तविचार, ना० प्र० सभा की प्रति, पृ० ३६[5]

किन्तु पद्य के चारो चरणों में ११ पर यति है। भिखारीदास ने २४ मात्रापादी छन्दों के अन्तर्गत रोला को अनियम माना है—अनियम ह्वै है रोला।[6] उनके उदाहरण-पद्य से प्रतीत होता है कि वे रोला में १२-१२ पर यति मानने के पक्ष में थे। रामसहाय ने 'वृत्ततरंगनी' में ११वीं मात्रा पर यति का विधान किया है।[7] हरदेवदास ने रोलावत्थु के एक पाद का परिमाण उपदोहा (कवि दर्पण का अवदोहक) के अर्द्धांश के बराबर मान कर ऐसे चार पादों का विधान किया

---

[1]प्रा० पैं० १।१०५।  [2]वाणीभूषण—दामोदर मिश्र १।५६।
[3]केशवग्रंथावली खण्ड १, छन्दमाला—२।२३।
[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ३६१।
[5]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना से उद्धृत। पृ० २८८।
[6]भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, छन्दार्णव ५।२०२।
[7]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३६१।

है—अर्थात् ११-१३, ११-१३ सम पाद तुकांत ।[1] भानु ने रोला में ११-१३ पर यति मानी है—

**रोला को चौबीस कला यति शंकर तेरा ।**[2]

प्राकृत पैंगल में रोला के १३ भेदों का उल्लेख है ।[3] ये भेद पादगत गुरु और लघु की संख्या पर निर्भर करते हैं । भानु ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया । उन्होंने उस रोला को काव्य छन्द कहा है, जिसके चारों पादों की ११वीं मात्रा लघु हो । भिखारीदास ने भी यही बात कही है—रोला में लघु रुद्र पर काव्य कहावै छन्द ।[4]

रोला नाम का कोई छन्द प्राकृत पैंगल के पहले किसी छन्दःशास्त्र में नहीं मिलता । प्राचीन अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में २४ मात्रापादी अनेक छन्द उपलब्ध होते हैं ।[5] इन छन्दों में हेमचन्द्र तथा कविदर्पणकार द्वारा उल्लिखित वस्तु-वदनक (६+४+४+४+६) ही रोला का पूर्व रूप माना गया है ।[6] प्राकृत पैंगल में रोला और काव्य का एक नाम वत्थु भी आया है—

**दुक्कल अंत णिबद्ध सेस कइ वत्थु णिवुत्तउ ।**[7]

**पचतालीसह वत्थुआ छंदे छंद विअंभ ।**[8]

यह वत्थु हेमचन्द्र का वस्तुवदनक ही है । यों नंदिताढ्य के गाथालक्षणम् में भी वत्थुओ छन्द का उल्लेख मिलता है[9] पर उसकी गण-व्यवस्था हेमचन्द्र के वस्तुवदनक से थोड़ी भिन्न है । रत्नशेखर सूरि ने भी वत्थुय छन्द का उल्लेख किया है और देशी भाषा में रचित होने पर उसे ही रोडक कहा है—

**सुच्चिय छप्पयबंधु चरम उल्लालइ वज्जिउ ।**
**वत्थुयनामि हवेइ छंदु चहुँ चहुँ पइ सज्जिउ ।**
**सो पुणु देसी भास सरस बहु सद्दसमाउल ।**
**रोडक नामि पसिद्धु छंदु कवि पढहि रसाउल ।**[10]

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३६१ ।
[2] छंदःप्रभाकर, पृ० ६३ ।  [3] प्रा० पै० १।६३ ।
[4] छंदार्णव ७।३७ ।  [5] प्रा० पै० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ४८५-४८६ ।
[6] प्रा० पै० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ४८६, मात्रिक छंदों का विकास—डॉ० शिवनंदन, पृ० ३६० ।  [7] प्रा० पै० १।१०७ ।
[8] प्रा० पै० १।११५ ।  [9] गाथालक्षणम् ८० ।
[10] छन्दःकोश १३ ।

यही रोडक आगे चल कर रोला हो गया। हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में यति का कोई संकेत नहीं किया है, पर गण-व्यवस्था से १४–१० पर यति समझी जा सकती है। पर उनके लक्षणानुसार[1] तीसरा चतुर्मात्रिक गण जगण (।ऽ।) या सर्वलघु (।।।।) होने के कारण ११-१३ पर भी यति की संगति बैठ जाती है, जिसे डॉ० व्यास गौण यति कहते हैं। जैसे—

**माया-दिअहँ विरुद्ध वाय—वसवंचिअ लोअहँ।**
**परतित्थि अहं असार सत्थ—संपाइ अ मोहहं।**[2]

इनमें तीसरा चतुर्मात्रिक गण 'द्धवाय' और 'र सत्थ' जगण है, इसलिये 'विरुद्ध' और 'असार' पर जिह्वा को आसानी से विश्राम मिल जाता है। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने रोला में ११–१३ की यति का विधान कर दिया।

संस्कृत छन्दःपरम्परा में चौबीस मात्रा वाला कोई मात्रिक छन्द नहीं मिलता,[3] यह तो ठीक है। किन्तु २४ मात्रापादी दो वर्णवृत्त वासंती (म त न म ग ग) और तीव्र (भ भ भ भ भ स) भानु के छन्दःप्रभाकर में मिलते हैं। वासंती का गंगादास ने (मात्तो नो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्)[4] और तीव्र का अश्वगति नाम से केदारभट्ट ने उल्लेख किया है—

**पंचभकारकृताश्वगतिर्यदि चान्तसरचिता।**[5]

इसी का उल्लेख मणिमाला नाम से जयकीर्ति और हेमचन्द्र ने किया है।[6] इन दोनों छन्दों की लय रोला से बहुत मिलती-जुलती है। जैसे—

**वासंती—माता ! नौ मैं गंग, चरण तोरे त्रैकाला।**
**नासौं वेगी दुःख, विपुल औरो जंजाला।**
**जाके तीरा राम, पहिर भूर्जा की छाला।**
**भूकन्या को देत, सुमन वासन्ती माला।**
**तीव्र—भू गति सोधत पंडित जो बहु तीव्र गणित में।**
**आदर योग्य वही पुनि जो कह राम भणित में।**

---

[1]**षचिषा पुज्यजच ओजे जो लीर्वा वस्तुवदनक्—छन्दोनुशासन ५।२५।**

[2]**प्रा० पैं०, भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ४८७।**

[3]**मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३६०।**

[4]**छन्दोमंजरी पृ० ७५।** [5]**वृत्तरत्नाकर ३।१००।**

[6]**जयकीर्ति २।२२२, तथा हेमचन्द्र २।३०१।**

**जो मद मत्सर मोह असार तिन्हें सब दहिये ।**
**मंगल मोद-निधान प्रभू शरणौ नित लहिये ।[१]**

इन दोनों के अतिरिक्त छन्दोमंजरी के एक रसाला नामक वर्णवृत्त (भ न ज भ ज ज ल) का उल्लेख भानु ने किया है, जिसका रोला के साथ लय-साम्य है। यथा—

**मोहन मदन गुपाल, राम प्रभु शोक निवारन ।**
**सोहन परम कृपाल, दीन जन पाप उधारन ।[२]**

किन्तु यह रसाला वृत्त संस्कृत के किसी छन्दःशास्त्र में हमें उपलब्ध नहीं हो सका, गंगादास की छन्दोमंजरी में भी नहीं। भानु ने जिस रसाल (ज स त य र ल) का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है[३], उससे रोला का किंचिदपि लय-साम्य नहीं।

गंगादास अर्वाचीन हैं, और प्राकृत पैंगलकार के बाद हुए हैं। केदार भट्ट प्राकृत पैंगलकार और हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।[४] डॉ० शिवनन्दन प्रसाद भी इन्हें १३०० ई० के बाद नहीं रखते।[५] जयकीर्ति तो निर्विवादतः इन दोनों के पूर्ववर्त्ती थे। इस प्रकार अश्वगति या मणिमाला की प्राचीनता तो सिद्ध हो जाती है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि रोला का उद्भव इसी अश्वगति या मणिमाला से हुआ। क्योंकि रोला का प्रयोग जयकीर्त्ति आदि के बहुत पूर्व सरहपा में ही प्राप्त होता है। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने अडिल्ल के पाद-परिवर्द्धन द्वारा (अडिल्ल का एक सम्पूर्ण पाद + उसका अर्द्धपाद) इसके उद्भव की जो कल्पना की है[६], वह सत्य हो सकती है। पर उससे भी रोला का संबंध संस्कृत छन्दः परंपरा से जुट जाता है, क्योंकि अडिल्ल वास्तव में पादाकुलक का ही एक भेद है[७], और पादाकुलक का सर्वप्रथम उल्लेख पिंगल के छन्दःशास्त्र में ही मिलता है। गणव्यवस्था पर ध्यान रख कर भी तीव्र छन्द (अश्वगति-मणिमाला) अरिल्ल (पादाकुलक) तथा उसके अर्द्धपाद के योग से निर्मित माना जा सकता है। रोला के यति-संबंधी जो विभिन्न मत आचार्यों के बीच हैं, उनका

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० १६५ और १८६। [२]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६३।
[३]छन्दःप्रभाकर पृ० १७८। [४]जयदामन (भूमिका) वेलंकर, पृ० ४३।
[५]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ५१।
[६]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ३६८।
[७]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास पृ० ४६३।

बहुत कुछ समाधान तीव्र छन्द का उपर्युद्धृत उदाहरण कर देता है। वासंती और तीव्र छन्दों को सुन कर (वर्णों की संख्या अथवा व्यवस्था पर ध्यान नहीं दे कर) कोई भी इन्हें रोला कह सकता है। पर जहाँ वासंती में ११-१३ (८-१० अक्षर) मात्राओं की यति-व्यवस्था चारों चरणों में मिलती है, वहाँ तीव्र में केवल तीसरे और चौथे में ही। पहले और दूसरे चरणों में स्पष्टतः १२ मात्राओं (६-६ अक्षर) पर यति हैं। भिखारीदास आदि परवर्त्ती आचार्य जब रोला में १२ पर यति देते हैं, तो ऐसा करने में उनका ध्यान सूरदास-नन्ददास आदि के लक्ष्य ग्रंथों के अतिरिक्त तीव्र छन्द (अश्वगति-मणिमाला) पर भी रहा हो, ऐसा अनुमान निराधार नहीं कहा जा सकता। फिर आचार्यों के यति-विषयक नियम-शैथिल्य को देख कर कवियों की यह धारणा हो गई कि 'रोला छन्द की ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है, यदि हो, तो अच्छी बात हो।'[1] निष्कर्षतः रोला में ११वीं, १२वीं और १४वीं तीनों मात्राओं पर यति मानी जा सकती है। १४ पर यति वाले चरण में हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट तीसरे चतुर्मात्रिक को जगण अथवा सर्वलघु होना आवश्यक है। क्योंकि इससे रोला का प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है। जैसे—

**तरनितनूजा-तट तमाल | तरुवर बहु छाये।** —१४-१०
**झुके कूल सों जल परसन | हित मनहुँ सुहाये।[2]** —१४-१०
**गिरि खोहनि, खाड़नि गँभीर | सौ सुभ करि सोग्यौ।[3]** —१४-१०
**उठी माण्डवी कर प्रणाम | प्रिय चरण भिगो कर।[4]** —१४-१०

यहाँ दूसरी पंक्ति का तीसरा चतुर्मात्रिक सर्वलघु है और सभी का जगण है इसीलिए प्रवाह अप्रतिहत है। १२ पर यति वाले चरण में १२वीं मात्रा के बाद चतुष्कल आने से गति में शैथिल्य नहीं आता। यथा—

**घर-घर ते सुनी गोपी | हरि सुख देखन आई।** —१२-१२
**जरासिंधु हूँ ह्वां तें | पुनि निज देश सिधायौ।[5]** —१२-१२

---

[1] **नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं १९८१, कविवर रत्नाकर, पृ० ८१, आ० हि० का० में छन्दयोजना से उद्धृत।**

[2] **चन्द्रावली : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।**

[3] **गंगावतरण—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' सर्ग ३।**

[4] **साकेत : मैथिलीशरण गुप्त—सर्ग १२ पृ० ४००।**

[5] **सूरसागर : पद ३४९९ और ४७८१।**

जब बारहवीं मात्रा के बाद त्रिकल का प्रयोग होता है, तब रोला का प्रवाह किंचित् क्षुण्ण हो जाता है। यथा—

**रबि छबि देखत घूघू-घुसत जहाँ तहँ बागत। —१२-१२**
**कोकिन को ताही सों-अधिक हियो अनुरागत। —१२-१२**
**त्यों कारे कान्हहिं लखि-मनु न तिहारो पागत। —१२-१२**
**हमको तौ बाही तें-जगत उज्यारो लागत।[१] —१२-१२**

सूरदास में रोला के ११-१३ वाले चरणों की ही प्रचुरता है। १२-१२ और १४-१० वाले चरणों की संख्या बहुत ही अल्प है। १२-१२ वाले चरणों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। नीचे १४-१० वाले चरणों के उदाहरण दिये जाते हैं।

**उग्रसेन सब लै कुटुंब | ता ठौर सिधायौ।**
**आदि निरंजन, निराकार | कोउ हुतौ न दूसर।[२]**

साथ ही इस रोला छन्द का बहुत बड़ा भाग, शास्त्रीय दृष्टि से, काव्य छन्द कहा जायगा, क्योंकि इसके अधिकांश चरणों में ११वीं मात्रा लघु है। पद ३४८२ तो शुद्ध काव्य छन्द का उदाहरण है। किन्तु, ११वीं गुरुवाली पंक्तियाँ भी सूरसागर में उपलब्ध होती हैं। यथा—

**हँसि-हँसि बोले तबै, प्रेम सों जननि पठायौ।**
**त्रिभुवन नायक भयौ, आनि गोकुल अवतारी।[३]**

रोला का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। सिद्ध कवि सरहपा में इसके दोनों रूप देखे जा सकते हैं—

**जइ णग् गाविअ होइ मुत्ति | ता सुणह सिआलह। —१४-१०**
**लोम्म पाडणें अत्थि सिद्धि | ता जुवइ णिअम्बह।[४] —१४-१०**
**सरु पुडअणि दल कमल | गन्ध केसर वर णालें।[५]—११-१३**

कण्हपा में भी रोला की कतिपय पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

**सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड़ काण्ह परिजाणइ।**
**सत्थागम बहु पढ़इ सुणइ बढ़ किम्पि ण जाणइ।[६]**

---

[१]छन्दार्णव : भिखारीदास, ५।२०७।
[२]सूरसागर, पद ४७८१ तथा ३७८।
[३]सूरसागर, पद १०५५ तथा १११०। [४]दोहा-कोश : राहुल ६-७।
[५]दोहा-कोश : राहुल ९८। [६]हिंदी काव्यधारा : राहुल १२ पृ० १४६।

इनके अतिरिक्त अपभ्रंश कवि स्वयंभू[1], धनपाल[2], शालिभद्र[3], जिनपद्म[4], अंबसूरि[5], तथा राजशेखर[6] ने रोला छन्द का प्रयोग किया है। चन्दबरदाई ने छप्पय (जो पृथ्वीराज रासो में कवित्त कहा गया है) के अंश रूप में तथा स्वतंत्र रूप में रोला का प्रयोग किया है।[7] गोरखबानी में रोला छन्द नहीं मिलता। विद्यापति की कीर्तिलता में छप्पय के अंश-रूप में इसका प्रयोग मिलता है।[8] संत साहित्य में रोला को महत्व नहीं दिया गया। कबीर-साहित्य में रोला का एक भी पद नहीं मिलता। कृष्णभक्त कवियों में सूरदास ने वर्णनात्मक प्रसंगों में रोला को स्थान दिया है। नन्ददास रोला के सिद्धहस्त कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने रासपंचाध्यायी की रचना रोला छन्द में की है तथा भँवरगीत में रोला की अर्द्धाली के साथ एक दोहे का प्रयोग कर १० मात्राओं की टेक की योजना की है।[9] तुलसीदास ने कवितावली में छप्पय के अन्तर्गत तो रोला का प्रयोग किया ही है, विनयपत्रिका में भी एक पद की रचना रोला छन्द में की है।[10] केशवदास की रामचन्द्रिका में रोला स्वतंत्र रूप में तथा छप्पय के अंग-रूप में उपलब्ध होता है।[11] वीर-काव्य के प्रणेता मान ने 'राजविलास'[12] में, श्रीधर या मुरलीधर ने 'जंगनामा' में[13], सूदन ने 'सुजानचरित'[14] में, जोधराज ने हम्मीररासो[15] में, चन्द्रशेखर ने 'हम्मीर हठ' में[16], पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' में[17] तथा भूषण ने 'शिवराज भूषण'[18] और 'शिवाबावनी'[19] में छप्पय के अन्तर्गत रोला का प्रयोग किया है। भारतेन्दु ने अपने काव्य प्रेमप्रलाप, प्रबोधिनी, स्वरूपचिंतन (छप्पय के अन्तर्गत), भारतभिक्षा, विजयवल्लरी,

---

[1]हिंदी काव्यधारा, राहुल रामायण १।३ पृ० २४।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद पृ० ३६३।

[3]से [6]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ४०४, ४२२, ४६८, ४७८।

[7]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २५२ तथा २३६।

[8]कीर्ति-लता १।५२-५७।

[9]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, पृ० ५५ और ६६।

[10]विनयपत्रिका पद ११०।

[11]रामचन्द्रिका, रोला १।२२, छप्पय १।१७-२४।

[12]से [16]वीरकाव्य : उदय नारायण तिवारी, पृ० २५३, ३४३, ३६८, ४३५, ४८३। [17]वीरकाव्य : उदय नारायण ति० ४५८, ४६०, ४६३।

[18]शिवराज भूषण—पद्य २, २३। [19]शिवाबावनी पद्य, ३३।

विजयिनी विजयपताका तथा अपने नाटक—सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, धनंजय-विजय, चंद्रावली, भारतदुर्दशा आदि में कहीं स्वतंत्र रूप से और कहीं छप्पय के अन्तर्गत रोला का प्रचुर प्रयोग किया है।

भारतेन्दु के बाद भी रोला कवियों का प्रिय छन्द रहा। हरिऔध के 'वैदेही-वनवास'[1] और मैथिलीशरण के 'साकेत' में[2] रोला का विशद प्रयोग हुआ है। 'रत्नाकर' का 'गंगावतरण' आद्योपांत रोला में ही निबद्ध है। छायावाद का महाकाव्य 'कामायनी' का 'संघर्ष' सर्ग रोला में ही लिखा गया है। इसके अतिरिक्त निराला, पन्त, दिनकर आदि कवियों ने भी रोला का प्रयोग किया है। इन कवियों ने रोला के यति-नियम में कुछ स्वच्छन्दता दिखाई है और चरण में तीन अष्टकों का प्रयोग किया है।[3] किन्तु यदि शास्त्रोक्त अमृतधुनि[4] में प्रयुक्त रोला छन्द को दृष्टि में रखें, तो आधुनिक कवियों का यह प्रयोग नूतन नहीं कहा जायगा। भानु ने अमृतधुनि में दोहे के बाद प्रयुक्त होने वाले चतुष्पादी छन्द को रोला की संज्ञा नहीं दी है, पर डॉ० शिवनन्दन ने कुंडलिया से अन्तर बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि अमृतध्वनि में रोला के पाद में यति ११–१३ के अनुसार नहीं हो कर ८+८+८ के अनुसार होती है।[5] अतः यदि हम ८+८+८ वाली यति-व्यवस्था आधुनिक कवियों में पाते हैं, तो वह बहुत दूर तक शास्त्रानुमोदित ही है। पर अब देखना यह है कि वस्तुतः यह रोला छन्द है या नहीं। डॉ० व्यास ने निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' कविता से निम्नांकित पंक्तियाँ—

> **है अमा निशा उगलता गगन घन अंधकार;**
> **खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार;**
> **अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,**
> **भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।**

उद्धृत कर इन्हें रोला के ही वजन पर बनी हुई बताया है, यद्यपि कई छन्दों में पादांत में ऽ। या ।ऽ। की व्यवस्था मिलने के कारण शास्त्रीय रोला से भिन्न लय और प्रवाह को जन्म देने वाली कहा है।[6] हम पहले लिख आये हैं कि ऐसे

---

[1]वैदेही वनवास, सर्ग १। [2]साकेत : द्वादश सर्ग।
[3]प्रा० पै० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ४६०, आ० हि० काव्य में छन्द-योजना—डॉ० शुक्ल, पृ० २८६। [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६६।
[5]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ११९। [6]प्रा० पै० भाग ४ पृ० ४६०।

छन्द का निर्माण पद्धरि अथवा पदपादाकुलक की पंक्ति के आगे मधुभार की पंक्ति के योग से हुआ है। इसमें रोला का आधार ढूंढ़ना सर्वथा भ्रममूलक है। उक्त छन्द में पहली और दूसरी पंक्ति में द्विकल के बाद दो-दो त्रिकल हैं। अतः स्पष्टतः ये दोनों पंक्तियाँ क्रमशः पदपादाकुलक और पद्धरि की हैं, और 'घन अंधकार' आदि मधुभार की। तीसरी और चौथी पंक्तियाँ हैं तो उसी जाति की, पर निराला की शास्त्र-नियमोल्लंघनप्रियता ने बिगाड़ दिया है—इनकी गति कुंठित कर दी है। ये ही पंक्तियाँ किंचित् परिवर्तित हो कर पदपादाकुलक और पद्धरि की निर्दोष पंक्तियाँ हो जायँगी। जैसे—

**अप्रतिहत पीछे गरज रहा अम्बुधिविशाल।**
**ज्यों ध्यान-मग्न भूधर, केवल जलती मशाल।**

और पादांत में दो लघुवाला निम्न छन्द भी पदपादाकुलक अथवा पद्धरि के आगे (पदपादाकुलक अथवा पद्धरि का अर्द्ध चरण) जोड़ देने से बना है—

**लख शंकाकुल हो गये अतुलबल शेष-शयन।**
**खिच गये दृगों में सीता के राममय नयन।**
**फिर सुना हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल।**
**भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ताफल।**

**—डॉ० व्यास द्वारा उद्धृत, पृ० ४६१।**

इसमें 'राममय नयन' में क्रम-व्यवस्था ठीक नहीं, अतः यहाँ गतिभंग दोष है। इसी प्रकार डॉ० शुक्ल द्वारा उद्धृत पंत की निम्न पंक्तियाँ—

**मैं पूषण हूँ | जगती का ज्यो | तिमय ईश्वर,**
**स्वर्ण रजत का | चिर प्रकाश बर | साता भूधर।**[1]

८+८+८ वाले रोला के चरण कही जा सकती हैं; क्योंकि रोला के उद्भव की डॉ० शिवनन्दन द्वारा की गयी कल्पना को हम मान्यता दे आये हैं। साथ ही अमृतधुनि में प्रयुक्त रोला के आधार पर ऐसे प्रयोग को शास्त्रानुमोदित भी कह आये हैं। किन्तु, उन्हीं के द्वारा रोला के उदाहरण-रूप में उद्धृत दिनकर की अधोलिखित पंक्तियों—

फावड़े और | हल राजदंड | बनने को हैं।
धूसरता सो | ने से शृंगा | र सजाती है।

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८६।

**दो राह, समय | के रथ का घ | र्घर नाद सुनो ।**
**सिंहासन खा | ली करो कि जन | ता आती है ।**

को रोला कहने में जी हिचकिचाने लगता है । ये सारी पंक्तियाँ दूसरी विभाजक रेखा तक पद्धरि और पदपादाकुलक की हैं । पहली और तीसरी पंक्ति की गरण-व्यवस्था (द्विकल + २त्रिकल) जिसका स्पष्ट निर्देश कर रही है । फिर उनके आगे पदपादाकुलक की अर्द्धपंक्ति (८ मात्राएँ) जोड़ दी गई हैं, जिसका संकेत 'घर नाद सुनो' कर रहा है । लय और गूंज भी इन सारे पद्यों की ऐसी है, जिनका साम्य रोला की लय-गूँज से कथमपि नहीं है । अतः ऐसे पद्यों में रोला छन्द कहना बिल्कुल ठीक नहीं ।

रोला की गति घोड़े की सरपट चाल जैसी है । इसीलिए ऐसी गति वाले वर्णवृत्त को केदार भट्ट ने अश्वगति और भानु ने तीव्र संज्ञा प्रदान की । पंत जी ने रोला की गति की तुलना बरसाती नाले से की है, जो अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है ।[१] इस प्रकार का छन्द वीर-रौद्र जैसे परुष रसों के लिये विशेष उपयुक्त है । इसीलिए अपभ्रंश काव्यों में तथा पृथ्वीराज रासो में (स्वतन्त्र तथा छप्पय के अंगरूप में) इसका प्रचलन अधिक रहा । भक्ति की शांत भावनाओं को अभिव्यक्त करने में इसकी निर्बन्ध सरपट चाल कदाचित् विशेष समर्थ नहीं प्रतीत हुई, इसीलिये संतों तथा भक्तों ने अपने पदों में इसका प्रयोग नहीं किया । पर, किसी दृश्य, घटना वा वस्तु के वर्णन में इसकी कृतकार्यता इससे सिद्ध है कि सूरदास ने वर्णनात्मक प्रसंगों में इसका प्रयोग किया और नन्ददास ने रास आदि के वर्णन में । नवीन युग के नवीन भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ होने के कारण भारतेन्दु के काव्य-नाटकों में इसने यथेष्ट सम्मान अर्जित किया । छायावाद के कवियों ने इसके इस गुण पर आकर्षित हो कर अपने काव्यों में इसे नये रूप-रंग से भी सँवारा । इस प्रकार रोला प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल तक कवियों की भावाभि-व्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा—किंचित् काल के लिए इसे भले ही संतों की उपेक्षा सहनी पड़ी हो ।

## (२९) रूपमाला

**नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग ।**
**लिये जात अगाध जल को गहे ग्राह अनंग ।**

---

[१] पल्लव की भूमिका, पृ० ४६ ।

**मीन इन्द्री तनहि काटत, मोट अघ सिर भार।**

**पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार। —पद ६६**

सूरसाहित्य में ३७६ (सूरसागर ३२४, परि० ११, सा० लहरी ३७, परि० ७) पदों में रूपमाला छन्द का स्वतंत्र प्रयोग हुआ है। रूपमाला नाम का छन्द प्राकृत पैंगल के पहले नहीं मिलता। प्राकृतपैंगल की रूपमाला वर्णवृत्त (म म म) है[1], जिसका इस रूपमाला से कोई संबंध नहीं। केशवदास ने भी एक रूपमाला का उल्लेख किया है, जो है तो सप्तदशाक्षर वर्णवृत्त (र स ज ज भ ग ल)[2] पर लय उसकी इस रूपमाला से बिलकुल मिलती है।

**रामचन्द्र चरित्र को जु सुनै सदा सुख पाइ।**
**ताहि पुत्र कलत्र संपति देत हैं रघुराइ।**
**स्नान दान अशेष तीरथ पुन्य को फल होइ।**
**नारि को नर विप्र क्षत्रिय बैसु सूद्र चु कोइ।[3]**

केशवदास ने अष्टादशाक्षर 'चंचरी' का भी उल्लेख किया है, जिसकी गण-व्यवस्था बिलकुल यही है, केवल अंत में एक गुरु अधिक है, जिससे वह र स ज ज भ र का हो जाता है।[4] इसकी लय मात्रिक गीतिका (२६ मा०) के समान है। यह चंचरी प्राचीन छन्दःशास्त्री जयकीर्ति द्वारा मालिकोत्तरमल्लिका के नाम से उल्लिखित है।[5] इसी चंचरी के अंतिम गुरु को निकाल कर केशवदास ने रूपमाला का आविष्कार कर लिया होगा। केशवदास के बाद भिखारीदास ने मात्रामुक्तक छन्द के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया है, और इसका नाम रूपमाल दिया है। इसके लक्षण में उन्होंने लिखा है—'चौबिस कल गति चच्चरी, रूपमाल पहिचानि'।[6] इस रूपमाल या रूपमाला को केशव की रूपमाला का मात्रिक रूप कह सकते हैं; क्योंकि २४ मात्रापादी इस छन्द में न तो वर्णवृत्त के समान कोई गण-व्यवस्था है और न सभी चरणों में समान अक्षर हैं। इसी

---

[1]प्राकृत पैंगल—२।८८। [2]छन्दमाला १।५७।

[3]छन्दमाला १।५७ तथा रामचन्द्रिका ३६।३८। [4]छन्दमाला १।५६।

[5]'गीतिका' छन्द, पृ० १६४।

[6]छन्दार्णव–६।३६, (लक्षण में 'रूपमाल' और उदाहरण में रूपमाला (दास परम अनूप सगुन सुरूपमाला ठाउ) का प्रयोग यह सूचित करता है, ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं। केवल छन्द की सुविधा के लिए दो रूपों में व्यवहृत हुए हैं।

को निकाल कर रूपमाला का निर्माण हुआ है। स्वयं गीतिका हरिगीतिका के प्रारंभिक दीर्घ को निकाल देने से बनी है। इस प्रकार ये सभी छन्द आपस में एक दूसरे से गुम्फित-से हैं। फिर भी एक की लय से दूसरे में सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। शोभन छन्द से भानु का अभिप्राय रूपमाला से भिन्न गति पर चलने वाले इसी छन्द से था, जिसका उद्घोष उनके उदाहरण-पद्य की तीन पंक्तियाँ कर रही हैं। पर भानु ने अपने लक्षण में इसका कोई निर्देश नहीं दिया। उलटे उदाहरण में एक पंक्ति रूपमाला की डाल कर विद्वानों को भ्रमित कर दिया।

सूरसाहित्य में एक भी शोभन छन्द नहीं है। रूपमाला की अधिकांश पंक्ति जगणांत हैं। पद ५६ में १४ पंक्तियाँ हैं, जिनमें १३ जगणांत हैं। जगणांत के अतिरिक्त नगणांत पंक्तियाँ भी सूर साहित्य में पाई जाती हैं। यथा—

**बूड़तहि ब्रज राखि लीन्हौं, नखहिं गिरवर धरन।**
**सूर प्रभु कौ सुजस गावत, नाम-नौका तरन।**[1]

अंत में ऽ। की जगह ।ऽ भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

**लोक-लज्जा, निकसि, निदरी, नहीं काहूँ डरीं।**
**ये महा अति चतुर नागरि, चतुर नागर हरी।**
**रहति डोलति संग लागी, छाँह ज्यों नहिं टरी।**
**सूर जब हम हटकि हटकति, बहुत हम पर लरीं।**[2]

आचार्यों ने रूपमाला के अन्त्य ऽ। के स्थान पर नगण (।।।) के प्रयोग को तो अपवाद-रूप में स्वीकृत कर लिया है पर ।ऽ को वर्जित माना है।[3] पर कवियों ने इस प्रकार का प्रयोग भी किया है। जैसे—

(क) **बूंद कहा तिआगि चात्रिक, मीन रहत न घरी।**
**महानाद कुरंग मोहिउ, बोधि तीखन सरी।**[4]

(ख) **लोक लाज बिसारि डारी, तबहीं कारज सर्यौ।**
**दासि मीरा लाल गिरिधर, छान ये वर वर्यौ।**[5]

---

[1]सूरसागर, पद २०२। [2]सूरसागर पद ३०२२।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६०।
[4]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, गुरु अर्जुनदेव, पद १३।
[5]मीराबाई की पदावली, चतुर्वेदी, पद १७२।

(ग) जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने।[1]

सूर साहित्य में नगणांत और गुर्वन्त पंक्तियों की संख्या अत्यंत विरल है। इन्हीं कतिपय स्थलों को छोड़ कर सर्वत्र अंत में ऽ। का प्रयोग हुआ है। एक पद की अंतिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

निकट आए गोप-बालक, देखि हरि सुख पाए।
सूर प्रभु के चरित अगनित, नेति निगमनि गाए।[2]

इन पंक्तियों के अंत में दो गुरु हैं। इस प्रकार इनमें २५ मात्राएँ हैं। शास्त्रों में उल्लिखित २५ मात्रापादी किसी छन्द का इनसे लय-साम्य नहीं। अंतिम 'ए' का ह्रस्वोच्चारण मान कर इन्हें भी रूपमाला लेना समीचीन है, अन्यथा इन्हें किसी नूतन नाम से अभिहित करना पड़ेगा। रूपमाला की तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा का लघु होना अनिवार्य है, ऐसा आचार्यों का कथन है।[3] सूर-साहित्य में इस नियम का पालन अधिकांश स्थलों पर हुआ है। अपवाद-रूप में कुछ ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जहाँ इस नियम की अवहेलना हुई है। वस्तुतः इन मात्राओं के लघुत्व का विधान श्रुति-सुखदता के लिए किया गया है।

प्राकृत अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में २४ मात्रापादी जो छन्द पाये जाते हैं, उनमें किसी में रूपमाला की गण-व्यवस्था नहीं पाई जाती। संस्कृत छन्दःशास्त्र में २४ मात्रा वाला कोई मात्रिक छन्द उपलब्ध नहीं। निस्संदेह २६ मात्राओं का एक वर्णवृत्त चंचरी है, जिसके अंतिम दीर्घ को हटा कर रूपमाला के निर्माण की संभावना की जा सकती है, क्योंकि चंचरी छन्द बहुत प्राचीन है।[4] इस प्रकार इसका संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से जोड़ा जा सकता है। मात्रिक रूपमाला का उल्लेख भिखारीदास के पूर्व नहीं मिलता। उनके बाद भानु, रघुनन्दन, परमानन्द, सरस, दत्त, डॉ० शिवनन्दन तथा डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख किया है। इनमें रघुनन्दन, परमानन्द तथा सरस द्वारा उदाहृत केशव के पद्य वर्णिक रूपमाला में निबद्ध हैं।

रूपमाला का काव्यगत प्रयोग प्राचीन है। संस्कृत भाषा में इसका प्रयोग जयदेव में मिलता है—

---

[1]विनयपत्रिका, पद १६०। [2]सूरसागर पद १०४५।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल पृ० २६०।
[4]गीतिका छन्द, पृ० १६२।

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।
किं जनेन धनेन किं मम किं गृहेण सुखेन ।[१]

अपभ्रंश काव्य में रूपमाला का प्रयोग नहीं मिलता। विद्यापति ने स्वतंत्र और मिश्रित दोनों रूपों में इसका प्रयोग अपनी पदावली में किया है।[२]

सुमिरि मझु तन अबस भेल जनि अथिर थर-थर काँप ।
इ मझु गुरुजन नयन दारुण घोर तिमिरहि झाँप ।

—वि० प०—पद ११२

कबीर-साहित्य में भी दोनों रूपों में इसका प्रयोग मिलता है।[३] कबीर के बाद संतों में गुरु अर्जुन[४] और मलूक दास[५] के पदों में रूपमाला की पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में कृष्णदास[६] गदाधर भट्ट[७] तथा मीराबाई[८] ने रूपमाला को अपने काव्यों में स्थान दिया है। तुलसी के पद-साहित्य में रूपमाला के ४४ पद स्वतंत्र रूप में और एक गीता के साथ मिश्रित रूप में मिलते हैं।[९] केशवदास ने इसे रामचन्द्रिका में वर्णवृत्त के रूप में उपस्थित किया है। भारतेन्दु ने रूपमाला को विशेष महत्व नहीं दिया। फिर भी उनके काव्य-नाटक में कुछ पद रूपमाला के मिल जाते हैं। आधुनिक काल में इसका व्यवहार मुक्तक और प्रबंध दोनों क्षेत्रों में हुआ। निराला[१०] और महादेवी[११] ने कई गीतों की रचना रूपमाला में ही की है। प्रबंध-क्षेत्र में रामचन्द्र

---

[१]गीतगोविन्द, तृतीय सर्ग।

[२]बेनीपुरी : विद्यापति की पदावली, पद २१, ३२, ३७, ११४, २००, ५७, १११, १४२, १९९।

[३]क०ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद २३७, २४५, २८०, ३०१, ३०९, ३१५, २५८, २८६, परि० ७२।

[४]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—गुरु अर्जुन देव (अंत ।ऽ, देखिए ऊपर)

[५]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी पद ३।

[६]अष्टछाप-परिचय : प्रभुदयाल मीतल, पद १७।

[७]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पद ४, १३, १५, १७।

[८]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी पद, १, ४३, ६१, ६६, ९० आदि।

[९]विनयपत्रिका १२ पद, गीता० २९ पद, कृष्णगीता० ४ पद।

[१०]गीतिका, गीत २२, ५९। [११]नीरजा, गीत—६, ५३।

शुक्ल ने बुद्धचरित में, मैथिलीशरण ने जयभारत में (यदु और पुरु), प्रसाद ने कामायनी में (वासना सर्ग) तथा रामानंद तिवारी ने पार्वती में (योगीश्वर शिव, तपस्विनी उमा, कुमार जन्म) इसका प्रयोग किया है।

इस प्रकार रूपमाला छन्द प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल तक कवियों को प्रिय रहा। यह रोला की तरह द्रुतगति से भागने वाला नहीं, रुक-रुक कर चलने वाला छन्द है। यह 'दिन भर के काम-धंधे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर आता है'[1] अपनी गति की मन्थरता के कारण यह छन्द वीर भावों को प्रकट करने में असमर्थ है। और इसी मन्द-गामिता के कारण शृंगार-करुणा आदि कोमल रसों की व्यंजना पूर्ण रूप से कर सकता है। पृथ्वीराज रासो जैसे वीर-रस-प्रधान काव्यों में यह इसीलिए स्थान नहीं पा सका, जब कि इसी के सजातीय हरिगीतिका छन्द को वहाँ स्थान मिल गया है। संतों और भक्तों के भावों का यह सफ़ल वाहक बना। सूफियों के प्रेमकाव्यों में और रीतिकालीन मुक्तक शृंगारिक काव्यों में इसीलिए यह स्थान नहीं पा सका कि अपभ्रंश काव्यों से ही कथा-काव्य पर चौपाई-दोहे ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और शृंगारिक मुक्तक काव्य को अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए सवैया एवं कवित्त का विस्तृत मैदान मिल गया था। साथ ही शृंगारिक उद्दाम भावना को सहन करने की शक्ति भी इसमें नहीं। आधुनिक युग भाव-शवलता का युग है। अतः रूपमाला को इस युग में फिर वही महत्व प्राप्त हुआ, जो इसे संतों तथा भक्तों के काव्य में प्राप्त था।

## (३०) सारस

**जद्यपि अक्रूर सूर परम गति पठावै री।**
**प्राननाथ कमल नैन, बाँसुरी बजावै री।**
**कहा कहौं कहत कठिन, कहै कौन मानै री।**
**सूरदास प्रेम-पीर, विरहि, मिलै जानै री। —पद ४०२०**

सूरसागर के केवल दो पदों में (सूरसागर १, परिशिष्ट १) सारस छन्द का प्रयोग हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरम्परा में सारस नाम का कोई छन्द नहीं है। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में केवल रामसहाय

---

[1] पल्लव की भूमिका : पंत, पृ० ४६।

ने 'वृत्ततरंगिनी' में सारस का उल्लेख किया है।[1] इनके बाद भानु ने सारस का उल्लेख किया और यह लक्षण दिया—

**भानु कला राशि कला गादि भला सारस है।**

अर्थात् सारस में १२–१२ पर यति और आदि में गुरु होता है। ऐसा उन्होंने पृथक् रूप से भी लिखा है। फिर २४ मात्रापादी दिगपाल से इसका अन्तर बतलाते हुए लिखा है—दिगपाल के आदि में समकल और सारस के आदि में विषमकल होता है।[2] डॉ० शुक्ल का यह कथन कि १२ मात्राओं पर यति और अंत में गुरु का होना भानु जी ने माना है,[3] बिलकुल गलत है। भानु की परिभाषा का 'गादि' शब्द स्पष्टतः आदि गुरु का संकेत करता है, अंत गुरु का नहीं। डॉ० शुक्ल ने इसे त्रिकलों के आधार पर चलने वाला मान कर इसमें चार त्रिकलों के बाद पहली यति मानी है, और उदाहरण में पंत की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**प्रतीति प्रीति प्राण में चरण धरो, चरण धरो।**
**हृदय सुमन, प्रणय सुरभि, ग्रहण करो, ग्रहण करो।**
**लिये हो हाथ हाथ में, न तुम डरो, न तुम डरो।**
**सृजन-विकास की शिखा, वहन करो, वहन करो।**[4]

पंत का उपरिलिखित छन्द स्पष्टतः पंचचामर (लघु-गुरु की आठ बार आवृत्ति) का मात्रिक रूप है। भानु के आदि गुरु के अनुसार यह सारस नहीं कहा जा सकता। शुक्ल की परिभाषा के अनुसार यह निस्सन्देह सारस छन्द है।

सूरसागर के उपर्युद्धृत पद में (४०२० में) एक चरण के अतिरिक्त (कहा कहत कहौं कठिन) सभी चरणों के आदि में गुरु है। किंतु पहली पंक्ति में विषम कल की जगह समकल (वे दिन इहि देह अछत) का प्रयोग किया गया है। परिशिष्ट वाले पद में[5] तीन चरणों के आदि में गुरु और तीन के आदि में लघु है। इसमें आदि में विषम कल के नियम का पालन भी केवल दो ही चरणों में हुआ है। इस प्रकार यह षष्ठक की चार आवृत्तियों से बनता है। यह षष्ठक दो त्रिकलों अथवा चौकल और द्विकल के योग से बन सकता

[1] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६२।
[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६५। [3] आ० हि० का० में छंदयोजना, पृ० २६०।
[4] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २६१।
[5] सूरसागर, परिशिष्ट, २१४।

है। यही सारस की सामान्य परिभाषा हो सकती है। इस परिभाषा के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुंडल छन्द के अन्त में दो मात्राएँ जोड़ देने से सारस छन्द बन जाता है।

**बुद्ध शरण, धर्म शरण, संघ शरण जा तू।[1]** —कुंडल
**बुद्ध शरण, धर्म शरण, संघ शरण जा तू अब** —सारस

सूरदास की उपर्युद्धृत पंक्तियों से यदि 'री' हटा दी जाय, तो वे कुंडल की पंक्तियाँ हो जायँगी।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दः परंपरा में २४ मात्रापादी एक छन्द उत्साह है,[2] किन्तु उसकी गणव्यवस्था भिन्न है। (४+४+४+४+४+४) अतः सारस के साथ उसका कोई संबंध नहीं। संस्कृत छन्दःपरंपरा में प्राप्त पंचचामर से इसका बहुत-कुछ लयसाम्य है। इस पंचचामर का उल्लेख जयकीर्त्ति[3] तथा हेमचन्द्र[4] ने किया है। प्राकृत पैंगल में यही पंचचामर 'नाराच' नाम से उल्लिखित है।[5] जयकीर्त्ति का समय १००० के लगभग है।[6] इससे पंचचामर की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार सारस का संबंध प्राचीन संस्कृत छन्दः परपरा से जुट जाता है।

सारस छन्द का काव्यगत प्रयोग सूरदास से पहले नहीं मिलता। पृथ्वीराज रासो में कमंध नाम से तीन छन्द मिलते हैं[7]—

**त्रिम्मली नेह नासा; दिष्ट एन लग्गी सु त्रासा।**
**छेहंग कामी रसा, संधान भग्गी त्रसा। छं० ३३३**
**हंसावती संकुची, दासी प्रीति संवची।**
**पुस्तिका पढ़ि विस्तरी, कथा गाथा प्रेम विस्तरी। छं० २३४**
**दंत फंडक निस्तरी, हास विलास सुस्तरी। छं० २३५ स० ३६**

---

[1]यशोधरा : मैथिली शरण गुप्त।

[2]स्वयंभूच्छन्दः ४।४, हेमचन्द्र ५।२, कविदर्पण २।२६ (षट्चतुर्मात्रा उत्साहः। अत्रापवादः। तृतीयपंचमौ मध्यकौ। जगणरहिताः शेषाः। —कविदर्पण की टीका)।

[3]छन्दोनुशासन—२।२३० जरौ जरौ जगाविदं वदन्ति पंचचामरम्।

[4]छन्दोनुशासन—२।७८ ज्र ज्र ज्गाः पंचचामरम्।

[5]प्रा० पैं० २।१६८। [6]जयदामन (भूमिका, पृ० ३७) वेलंकर।

[7]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २४६।

इन तीनों छन्दों की परीक्षा कर के, १२ मात्राओं के आधार पर (यद्यपि २ पंक्तियों में १५ मात्राएँ हैं) डॉ० त्रिवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन्हें भानु के सारस छन्द की संज्ञा देनी चाहिये। क्योंकि कमंद नाम का जो छन्द भानु के छन्दःप्रभाकर में मिलता है, वह ३२ मात्राओं का है, और उससे इसकी कोई समता नहीं। पता नहीं, प्रक्षेपक तुकबाजों ने सारस छन्द को कमंध संज्ञा क्यों दे डाली ?[१] डॉ० साहब ने इस सारस छन्द की प्राचीनता-अर्वाचीनता पर भी विचार नहीं किया और तुकबाजों को अपने कोप का भाजन बना डाला। अब प्रश्न यह उपस्थिति होता है कि क्या ये पंक्तियाँ सारस की कही जा सकती हैं ? सारस में १२ पर यति होती है, पर ये पंक्तियाँ १२ पर समाप्त हो जाती हैं, जिसका संकेत पंक्तियों का अन्त्यानुप्रास कर रहा है। इसलिये यह सारस छन्द नहीं है, यहाँ १२ मात्रापादी कोई दूसरा छन्द प्रयुक्त हुआ है। सारस की लय और गूंज भी इनमें नहीं है, यदि होती तो अन्त्यानुप्रास के होते हुए भी किसी प्रकार ये पंक्तियाँ सारस की मान ली जातीं। हमारे विचार से नीचे की चार पंक्तियाँ हरिगीतिका या गीतिका के दूसरे खंड की लय पर चलती हैं। 'कथा गाथा प्रेम विस्तरी' में कथा शब्द निरर्थक है। उस स्थान पर 'प्रेम' होना चाहिये। 'प्रेम गाथा विस्तरी'। हरिगीतिका की निम्न पंक्तियों—

> **पर जान पड़ती है मुझे यह बात मन में भ्रम-भरी।**
> **मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी।[२]**

के दूसरे खंड से तुलना करने पर हमारे कथन में संदेह नहीं रह जायगा। प्राचीन छन्दःशास्त्रों में १२ मात्रापादी अनेक छन्दों के[३] बीच इस प्रकार का कोई छन्द नहीं पा कर आश्चर्य होता है कि ऐसी सुन्दर गति वाला छन्द आचार्यों के प्रस्तार-भेद के विस्तार में क्यों नहीं आ सका ? आधुनिक युग में इसका प्रयोग देख कर आचार्य की दृष्टि इस पर गई और उसने सप्तक (ऽ।ऽऽ) तथा रगण (ऽ।ऽ) के आधार पर बने इस छन्द का नाम मालिका रखा और यह उदाहरण दिया—

---

[१]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २४६।

[२]जयद्रथ वध—मैथिलीशरण गुप्त—सर्ग २ पृ० २४।

[३]शेष, मदलेखा आदि द्वादशमात्रापदी १५ छंद, छन्दार्णव : भिखारीदास ५।८२ से ६८ तक।

प्रिय, शरद की यामिनी,
ये नयन अभिरामिनी।
क्षीर सागर-स्नात-सी।
सौम्य अति अभिजात-सी।[1]

छन्दों का नूतन प्रयोग कवि सदा से करते आये हैं। जिस प्रकार आज के कवि ने इस छन्द का नूतन प्रयोग किया, क्या यह संभव नहीं कि चन्दबरदाई ने भी इस तरह का प्रयोग किया हो। फिर पीछे कवि या आचार्य ने उसका नाम कमंध रख दिया हो। भानु का 'कमंद' तो हाल की चीज है। छन्दों के नामों के संबंध में आचार्यों ने कितनी धींगाधींगी की है, वह किसी छन्द के जानकार से छिपी नहीं है।[2] अब यदि हम—

छेहंग कामी रसा, संचान भग्गी त्रसा।
SSI SS IS SSI SS IS
हंसावती संकुची दासी प्रीति संबची।
SSIS SIS SS SI SIS

इन पंक्तियों की परीक्षा करते हैं, तो सब में १२ मात्राएँ पाते हैं। इनकी वर्णव्यवस्था बतलाती है कि यह कोई सप्ताक्षर वर्णवृत्त है। इसकी वर्णव्यवस्था त त ग है। तीन पंक्तियों में यही गणव्यवस्था है। चौथी पंक्ति में तीसरे लघु वर्ण की जगह गुरु और चौथे गुरु वर्ण की जगह लघु आ गया है। इसका कारण शब्दचयन की कठिनता हो सकती है। अवश्य इस प्रकार का छन्द किसी छन्दःशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। यह चन्दबरदाई की ईजाद माना जा सकता है। इसी प्रकार—

त्रिम्मली नेह नासा। दिष्ट एन लग्गी सु त्रासा।

भी वर्णवृत्त है। यदि 'एन' अथवा 'दिष्ट' हटा दिया जाय, तो दोनों पंक्तियों की गणव्यवस्था र र ग हो जायगी, जिसका नाम हेमचन्द्र ने हंसमाला दिया है।[3] यदि प्रक्षेपक तुकबाजों की कृपा से नाम में परिवर्तन हो सकता है, तो लिपिकारों की असावधानी से शब्दों का हेरफेर और वृद्धि भी हो सकती है, तथा अनेक प्रकार के छन्दों को एक कोटि में रखने की गलती भी हो सकती है।

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५०।
[2]पीछे रूपमाला छन्द, पृ० १६८।
[3]छन्दोनुशासन—रौ गो हंसमाला २।५८।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि पृथ्वीराजरासो में सारस छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा होना आश्चर्यकर भी नहीं; क्योंकि इसी जाति के कुंडल छन्द का भी प्रयोग चन्दबरदाई ने नहीं किया है। सूर के पूर्ववर्त्ती विद्यापति और कबीर में यह छन्द नहीं मिलता। सर्वप्रथम इसके प्रयोग का श्रेय सूरदास को ही दिया जा सकता है। सूरदास के बाद न तो किसी कृष्ण-भक्त कवि में, और न तुलसीदास में ही यह छन्द प्राप्त हो सका। रामचन्द्रिका में इस जाति का हीर तो मिलता है, पर कुंडल और सारस नहीं। भारतेन्दु के काव्य-नाटकों में भी इसका पता नहीं। द्विवेदी युग में भी यह छन्द कवियों की वाणी का वाहक नहीं बन सका। छायावादी कवियों ने छन्द के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। अनेक प्राचीन छन्दों का नवीन संस्कार किया तथा अनेक छिपे छन्दों को प्रकाश में ले आये। आज जो पंचचामर के मात्रिक रूप का प्रयोग हो रहा है, सारस का उसके साथ बहुत कुछ तादात्म्य हो गया है।

इस छन्द की गति की द्वयात्मकता भी ध्यान देने योग्य है। यह पंचचामर से उद्भूत हो कर कुंडल के संस्कार से अभिसिंचित है। इसीलिये जब पंचचामर के संस्कार की प्रबलता रहती है, तो इसकी गति से सैनिकों की अभियान-गति का आभास मिलता है, और इससे वीर भावों की अभिव्यंजना होती हैं। जब कुंडल के संस्कार की प्रबलता रहती है, तब बालकों के समान यह ठुमुक-ठुमुक कर चलता है। कुंडल की गति का संकेत तुलसीदास की 'ठुमुक चलत रामचंद्र बाजत पैंजनियाँ' में पूरा-पूरा मिलता है। कुण्डल के संस्कार की प्रबलता वीर भावों को वहन करने की इसकी सारी क्षमता का हरण कर लेती है, और यह कोमल रसों का व्यंजक हो जाता है। सूरदास के पदों में पंचचामर की गणव्यवस्था, लघु-गुरु, लघु-गुरु की पाबंदी विशेष रूप में नहीं है, साथ ही अंत में त्रिकल नहीं आया है। इसके विपरीत कुंडल के षष्ठक की व्यवस्था अधिक है तथा अंत में चौकल का प्रयोग है, इसी से यह कुंडल के संस्कार की प्रबलता के कारण विप्रलंभ श्रृंगार का वाहक है। पंत के उपरिलिखित पद्य में पंचचामर का संस्कार प्रबल है, इसी से उसमें वीर भावों की व्यंजना हो सकी है।

## (३१) मुक्तामणि

(गोपाल) तुम्हरी माया महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौं (हो)।
नैकु चितै, मुसक्याइ कै, सब को मन हरि लीन्हौं (हो)।

**पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहै (हो)।**
**कटि लहंगा नीलो बन्यो, को जो देखि न मोहै (हो)।**

—पद ४४

सूरसागर में मुक्तामणि के केवल दो पद हैं। पद ४४ में २२ और पद ३२६१ में केवल ४ पंक्तियाँ हैं। ४४वें पद के प्रारंभ में 'गोपाल' और सभी चरणों के अंत में 'हो' है। इन्हें सम्पादक ने कोष्ठक के अन्दर रखा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये शब्द संगीत के लिए समाविष्ट हैं, इनका छन्द से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार के ऊपरी शब्दों का गेय पदों में सदा से व्यवहार होता आया है, जो संगीत की सुविधा के लिए किया जाता है। इस संबंध में सीता बिम्ब्रा का मत ध्यातव्य है—'संगीत का छन्द से सुदृढ़ संबंध है। आदि ग्रंथ में इकतुके, दुतुके, तितुके, चौतुकी, दुपदे, तिपदे, चौपदे, पंचपदे, छपदे, अष्टपदियाँ, सोलहे, उखणा आदि छन्द प्रकार तथा गीतिका, उल्लाला, उपमान या निशानी, सार, चौपई, अडिल्ल, छप्पय, दोहा, सोरठा, हाकलि, सीहर्फी आदि, सवैया छन्द के वीर' बाण, सौम्य, दंडकला आदि प्रकार, पउडी छन्द के दोहारूप पउडी, चौपदी रूपी पउडी, निशानी छन्द रूप पउडी, सुगीता छन्द रूप पउडी आदि अनेक छन्द मिलते हैं। किंतु संगीत की प्रधानता के कारण ये छन्द संगीत के नियमों से आबद्ध हैं, जैसे छन्दबोध हेतु पदावली के आए राम, जीउ, मेरी जिंदड़ीए, प्यारिआ आदि शब्दों को छन्द की सीमा से बाहर रखना होगा।'[१] यही बात सूरदास के उक्त पद के साथ भी है। कबीर और मीरा के अनेक पदों के साथ भी यही बात है।

**(क) मन के मोहन बीठुला, यह मन लागौ तोहि रे।**
**चरन कंबल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे।**[२]

**(ख) तन मन धन करि वारणै, हिरदै धरि लीजै, हो।**
**अब सखी मुख देखिये, नैणां रस पीजै, हो।**[३]

यहाँ (क) के 'रे' और (ख) के 'हो' को छन्द से बाहर मान कर ही हम इन्हें क्रमशः दोहा और उपमान छन्द कह सकते हैं। सूरदास के उक्त पद के 'हो'

---

[१]विश्वभारती पत्रिका (अप्रैल-जून १९६६, पृ० ६०) आदि ग्रंथ में संगीत : एक परिचयात्मक दृष्टि।

[२]क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास, पद ४।

[३]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १६।

को छोड़ देने पर प्रत्येक चरण में १३ पर यति देकर २५ मात्राएँ हैं। भानु ने मुक्तामणि छन्द के प्रत्येक चरण में १३-१२ पर यति और अंत में कर्ण (ऽऽ) माना है।

**तेरह रवि कल कर्ण सह, मुक्तामणि रवि लीजै।**[1]

भानु का यह लक्षण सूरदास के दोनों पदों में पूर्ण रूप से घटित होता है। किंतु उन्होंने इस लक्षण में भी गति-निर्धारक कोई बात नहीं कही। वस्तुतः यह छन्द दोहे के समचरण के अंत के लघु को दीर्घ कर देने से बनता है।[2]

**मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।** —दोहा।

**मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोई।** —मुक्तामणि।

सूरदास के पद ४४ के साथ यह नियम पूर्ण रूप से घटित होता है। पद ३२६१ की दो पंक्तियों के साथ भी यही बात है। पर निम्नांकित दो चरणों—

**आजु लालन लटपटात, माई आए अनुरागे**

**लटपटी सिरपेंच पाग, छूटे बन्धन पागे।**

**(मा और ई का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)**

के उत्तरांश तो ठीक हैं। पूर्वांश में दोहे के विषम चरण की गति नहीं है। सूरदास की २६ पंक्तियों में २४ इस नियम के प्रमाण हैं कि दोहे के अन्तिम ह्रस्व को दीर्घ कर देने से मुक्तामणि छन्द बन जाता है। इन दो पंक्तियों का नियम-शैथिल्य कवि की असावधानी का परिणाम कहा जा सकता है।

मुक्तामणि की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए रघुनन्दन शास्त्री ने सुगीत (भानु की सुगीतिका—१५-१० आदि। अंत नंद ऽ।)[3] के अंतिम लघु की जगह गुरु हो जाने से मुक्तामणि का बन जाना बताया है, यदि यति १३-१२ पर हो।[4] सुगीतिका रूपमाला के आदि में एक लघु रखने से बनता है।[5] इसलिये सुगीतिका से दोहे का किंचित् लय-साम्य नहीं। 'सनाढ्य जाति गुनाढ्य है' सुगीतिका के इस पूर्वांश में दोहे के विषम चरण की मात्रा-व्यवस्था

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६५।

[2]हिंदी छंदप्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री, पृ० ६८ पिंगलपीयूष : परमानंद शास्त्री, पृ० १८१।

[3]छंदःप्रभाकर, पृ० ६६। [4]हिन्दी छंदप्रकाश, पृ० ६८।

[5]आ० हि० का० में छन्दयोजना—डॉ० शुक्ल, पृ० २९२।

छन्दार्णव भिखारीदास ६।३५।

(४+४+३+२)[१] भले ही प्राप्त हो जाती हो, दोहे की गति बिलकुल नहीं है। दोहे के विषम चरण में जगण का निषेध है; क्योंकि इससे दोहे की सहज लय प्रतिहत हो जाती है। आदि में जगण का रहना तो और भी दोषयुक्त है। आ जाने से दोहे की संज्ञा चंडालिनी हो जाती है।[२] शास्त्री द्वारा उद्धृत केशव के निम्न पद्य में—

**सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध सुद्ध स्वभाव।**
**कृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पण्डित राव।**
**गनेस सो सुत पाइयो, बुध काशिनाथ अगाध।**
**अशेष शास्त्र विचारि कै, जिन जानियो मत साध।[३]**

चारों चरणों के पूर्वांशों में छः जगण हैं। इसलिये ये दोहे के विषम चरण कथमपि नहीं हो सकते। इसलिये केवल १३ मात्राओं के बल पर सुगीत को एक मात्रा की वृद्धि को प्राप्त दोहे का समचतुष्पादी रूप मान लेना सर्वथा असंगत है।[४]

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरम्परा में २५ मात्रापादी अनेक छन्द मिलते हैं। विरहांक ने मेधा (४×५, ।ऽऽ) चित्रा (२, ४, ।ऽ। या ।।।।, ४, ४, ५, ऽ) ललित (५, ४, ५, ४, ५, ऽ) अधिकाक्षरा (४, ४, ।ऽ। या ।।।।, ४, ४, ५) तथा नलिनी (४, ५, ५, ।ऽ।, ४, ।ऽ) छन्द का उल्लेख किया है।[५] स्वयंभू ने २५ मात्रापादी किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। कवि-दर्पण में अधिकाक्षरा और मधुकरी (५×५) दो छन्द मिलते हैं।[६] किन्तु इनमें से किसी छन्द से मुक्तामणि का लय-साम्य नहीं। प्रा० पैं० में २५ मात्राओं का एक ही छन्द है—गगनांग[७]। जिससे इसकी कोई समता नहीं है। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में केवल जानी बिहारी लाल ने 'छन्दःप्रभाकर पिंगल' में इसका उल्लेख किया है।[८] उनके बाद भानु के छन्दःप्रभाकर में ही यह उल्लिखित है। भानु के उपरांत रघुनंदन और परमानंद के ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता

---

[१]छन्दःप्रभाकर पृ० ८४। [२]छन्दःप्रभाकर पृ० ८६।
[३]हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ६८। [४]हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ६८।
[५]वृत्तजाति समुच्चय—३।३१-४०, ४६, ४।२४-६६।
[६]कविदर्पण की टीका २।२२। [७]प्रा० पैं० १।४६।
[८]मा० छंदों का विकास—डॉ० शिव० पृ० ६६।

है। डॉ० शुक्ल ने आधुनिक युग में इसके अप्रयोग का कारण वतलाते हुए लिखा है—मुक्तामणि का अंतिम गुरु दोहा के अभ्यस्त कानों को नहीं रुचता।[1]

सरहपा के दोहाकोश में मुक्तामणि का प्रथम रूप देखा जा सकता है, हालाँकि इसके चरणों के अंत में दो गुरु नहीं मिलते। दोहे के बाद एक लघु का प्रयोग मिलता है, जिससे अंत में चार मात्राएँ हो जाती हैं।

**रस परिभुञ्ज ण मूल रस, कमल वणें पण मज्जइ।**
**बहु सन्तावें सम्रलें, चित्त-गएन्द ण रज्जइ।**[2]

यहाँ द्वितीय पंक्ति के प्रथम खंड में एक मात्रा कम है। गोरखबानी में मुक्तामणि की छिटपुट पंक्तियाँ मिल जाती हैं। पद में दोहे की पंक्तियों के साथ। जैसे—

**डूँगरि मंछा जलि सुसा, पाणी मैं दो लागा।**
**अरहट बहै तृसालवाँ, सूलै काँटा भागा।**

और सबदी में स्वतंत्र रूप में।[3] चन्दबरदाई और विद्यापति ने इसका प्रयोग नहीं किया। कबीर के साहित्य में तीन पदों में इसका स्वतंत्र रूप से प्रयोग हुआ है, तीन पदों में सार के साथ तथा दो पदों में उपमान के साथ मिश्र रूप में।[4] रैदास के एक पद में उपमान के साथ मुक्तामणि की दो पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं—

**जैसे कामी देखि कामिनी, हृदय सूल उपजाई।**
**कोटि वेद विधि ऊचरैं, वाकी विथा न जाई।**[5]

संत रामचरन (१७७६–१८५५) का एक पूरा पद मुक्तामणि में निबद्ध है।[6] सूरदास ने दो पदों की रचना इसमें की। तुलसी के काव्य में इसकी पंक्ति नहीं मिलती। पर मीराबाई में कतिपय पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

---

[1] आ० हि० का० में छंदयोजना, पृ० २६२।
[2] दोहा-कोश : राहुल, पृ० ३०।
[3] गोरखबानी : पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पद २०, सबदी ६८।
[4] कबीर ग्रंथावली : श्यामसुंदर दास—पद १२७, १५४, ३६८, १६१, १७८ परि० ६० कबीर वचनावली: हरिऔध—२०६, २११।
[5] संतकाव्य: परशुराम चतुर्वेदी पद ५ पृ० १८७।
[6] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी पद १, पृ० ४५५।

**म्हारी गलियाँ ना फिरे, बाके आँगण डोले, हो।**
**म्हारी अंगुली ना छुवे, बाँकी बहियाँ मोरे, हो।**[1]

भारतेन्दु के काव्य-नाटकों में यह छन्द नहीं मिलता। आधुनिक काल में तो इसका प्रयोग हुआ ही नहीं। इस प्रकार सरहपा से ले कर आधुनिक काल तक दृष्टि दौड़ा कर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इस छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। उपमान छन्द के आगे दो मात्राओं को जोड़ कर एक नूतन प्रयोग किया गया, पर उपमान के आगे यह छन्द अपना महत्व स्थापित नहीं कर सका। उपमान को संतों और भक्तों का जो प्रेम मिला था, उनके द्वारा वह उसे बराबर मिलता ही रहा। दोहे के अभ्यस्त कानों को इसका अंतिम दीर्घ नहीं रुचा। संभव है, प्राचीन युग में भी इसने ही इसे लोकप्रिय नहीं होने दिया हो।

## (३२) मधुरजनी

**सत जज्ञ नाहिन नाम सम, परतीति करि करि करि।**
**हरिनाम हरिनाकुस बिसार्‌यौ, उठ्यौ बरि बरि बरि।**
**प्रह्लाद-हित जिहिं असुर मार्‌यौ, ताहि डरि डरि डरि।**
**गज-गीध-गनिका-व्याध के अघ गए गरि गरि गरि।**
**रस चरण-अंबुज बुद्धि-भाजन, लेहिं भरि-भरि भरि।** —पद ३०६

रजनी के छः चरणों के साथ इस छन्द के ये ही पाँच चरण सम्पूर्ण सूरसागर में उपलब्ध हैं। यह सूरदास का नूतन प्रयोग है। रजनी के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है। इसीलिये रजनी के प्रारंभ में दो मात्राएँ जोड़ कर इसका नाम मधुरजनी रखा गया। उपरिलिखित पंक्तियों से प्रारंभ के दो लघु—सत, हरि आदि हटा देने पर ये रजनी की पंक्तियाँ हो जायँगी। रजनी के लक्षण में डॉ० शुक्ल ने सप्तक (ऽ।ऽऽ) की तीन आवृत्तियाँ और एक गुरु बतलाया है, तथा तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा का लघु होना अनिवार्यतः माना है।[2] इन पाँचो पंक्तियों में इस नियम का पालन हुआ है, केवल दो चरणों में सत्रहवीं मात्रा गुरु है। अंत में गुरु नहीं है, पर एक गुरु की जगह दो लघुओं का प्रयोग कवि-प्रणाली-विहित है। इनकी लय रजनी का है, यह असंदिग्ध है। रजनी में २३ मात्राएँ होती हैं। उसमें दो मात्राएँ

---

[1]**मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी पद, १८१।**
[2]**आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८५।**

जोड़ कर इसका निर्माण हुआ है। इस प्रकार मधुरजनी में २५ मात्राएँ और १६ पर यति होती है।

किसी प्राचीन छन्द में दो एक मात्रा घटा-बढ़ा कर नये छन्द का निर्माण कर लेना कवि-परंपरा-सिद्ध है। इस प्रकार के अनेक छन्द संस्कृत-हिन्दी छन्दःशास्त्रों में विद्यमान हैं। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।[1] यहाँ मधुरजनी की रचना-प्रक्रिया पर थोड़ा और प्रकाश डालना अपेक्षित है। यह मधुरजनी छन्द सप्तक के आधार पर चलने वाले छन्दों की जाति का है। जिस प्रकार गीतिका (२६ मात्राएँ) के अंतिम दीर्घ को निकाल देने से रूपमाला (२४ मात्राएँ) छन्द बन जाता है, और रूपमाला के अंतिम लघु को निकाल देने से रजनी (२३ मात्राएँ); उसी प्रकार हरिगीतिका (२८ मात्राएँ) के अंतिम दीर्घ को हटा देने से गीता (२६ मात्राएँ) बन जाता है और गीता का अंतिम लघु निकाल देने से मधुरजनी (२५ मात्राएँ)। इस प्रकार ये सारे छन्द एक ही छन्द के वंशज हैं। फलतः ये सभी एक ही लय पर चलते हैं। इसी से एक की पंक्ति दूसरे में मिल जाती है। यहाँ रजनी और मधुरजनी का जो मिश्रण कवि ने किया है, उसमें एक क्रम है। छन्दक-सहित मधुरजनी के ये पाँच चरण प्रारंभ में आये हैं, इनके बाद रजनी के छः चरण रखे गये हैं। यह क्रम गीता और रूपमाला के मिश्रण में नहीं है। वहाँ कभी उसके और कभी इसके चरण आ गये हैं।[2] इस पद में दोनों छन्दों के निश्चित क्रम के पीछे सूरदास के सचेतन नूतन प्रयोग का आभास हम देख सकते हैं।

इस प्रकार का छन्द प्राचीन छन्दःपरंपरा में ढूँढ़ना व्यर्थ है। वस्तुतः मधुरजनी का इतिहास रजनी-रूपमाला और उससे भी आगे गीतिका (चंचरी) का इतिहास है। इसी गीतिका के नाते इसका संबंध संस्कृत-परम्परा से जोड़ा जा सकता है। यों इससे लयसाम्य रखने वाला २५ मात्रापादी कोई वर्णवृत्त नहीं। सूरदास के पहले तो इसका प्रयोग हुआ ही नहीं, पीछे भी किसी कवि ने इसे नहीं अपनाया। केवल गुरु अर्जुनदेव के एक पद में रजनी और रूपमाला (अंत ।ऽ) के साथ मधुरजनी की निम्नांकित दो पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं—

---

[1]आगे नूतन छन्द प्रकरण।

[2]सूरसागर, पद ३४५१, ३४५९, ३४६०, ३८४६, ४१७९, ४२०२, ४०४९।

**अब इह प्रीति महा प्रबल भई, आन विषै जरी।**

× × ×

**प्रभु चरन कमल रसाल नानक, गाँठि बाँधि परी।**[1]

जो संभवतः कवि-प्रयत्न-शैथिल्य के फलस्वरूप ही आ गई हैं। इस प्रकार सूरदास का यह प्रयोग सूरसागर की पाँच पंक्तियों में ही सिमट कर रह गया।

## (३३) विष्णुपद

**समदरसी है नाम तिहारो, सोई पार करौ।**
**इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।**
**सो दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।**
**इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ।** —पद २२०

सूरसाहित्य में २८४ पदों में (सूरसागर २६०, परिशिष्ट २३, साहित्य लहरी १) विष्णुपद का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त सरसी, सार, ताटंक, समान सवैया आदि छन्दों के साथ भी इसका मिश्रण हुआ है।[2] भानु के अनुसार विष्णुपद में १६-१० पर यति और अंत में गुरु होता है।

**सोरह दस कल अंत गहो भल, सब तें विष्णुपदै।**[3]

इसके लक्षण में सभी आचार्यों का मतैक्य है।[4] उपाध्याय, परमानन्द और डॉ० शिवनन्दन ने तो उदाहरण में सूरदास की ही पंक्तियाँ रखी हैं। सूरदास के पदों में यह लक्षण पूर्ण रूप से घटित होता है। पर कतिपय पंक्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनके अंत में गुरु नहीं पाया जाता। एक गुरु की जगह दो लघु मिलते हैं।[5] कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनके अंत में दो गुरु का प्रयोग हुआ है। यथा—

---

[1] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १३। [2] आगे मिश्रछन्द।

[3] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६६।

[4] छन्दार्णव : भिखारीदास, ५।२१२-२१४; हिन्दी छन्दप्रकाश : रघुनंदन शास्त्री, पृ० ६६; पिंगल पीयूष : परमानन्द शास्त्री—पृ० १८३; नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय—पृ० ६५; हिन्दी छन्दःशास्त्र : डॉ० शिवनंदन प्रसाद—पृ० ८६; आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल—२६२।

[5] सूरसागर, पद ५५, ३००, १२३८।

ताल पखावज चले बजावत, समधी सोभा को।
सूरदास की भली बनो है, गजी गई अरु पौ।[1]

अन्त्य दो गुरु वाली पंक्तियों को रघुनन्दन शास्त्री ने 'हरिपदी' छन्द माना है।[2] हरिपदी तो नहीं, हरिपद नामक छन्द का उल्लेख भिखारीदास ने अवश्य किया है, जो २७ मात्राओं का है और जिसे आजकल लोग सरसी कहते हैं।[3] भानु ने भी अर्द्धसम के प्रकरण में एक हरिपद का उल्लेख किया है और इसे सरसी का आधा माना है।[4] अतः इन दोनों के हरिपद से शास्त्री की हरिपदी का कोई संबंध नहीं। शास्त्री ने ब्रह्मभट्ट की निम्न पंक्तियाँ हरिपदी के उदाहरण रूप में उद्धृत की हैं—

झूठा है संसार इसे सब मत समझो भाई।
जैसे कोइ बादिगिर अपनी रचना बगराई।
देख-देख चक्कृत भइ दुनिया, हाथ न कछु आई।
लख हिरनी सूरज की किरनी, जल का भ्रम खाई।

यह वस्तुतः विष्णुपद ही है। अंत में दो गुरु देख कर इसे एक नये नाम से अभिहित करना ठीक नहीं। विष्णुपद का निर्माण सार (२८ मात्राएँ) के अंतिम गुरु को हटा कर हुआ है।[5] और सार के अंत में एक साथ तीन गुरु भी रह सकते हैं। जैसे—

जनता सुन कर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।[6]

× × ×

जहाँ स्वार्थवश लोग प्यार करते हैं अन्यायी का।
होता है नर जहाँ स्वार्थवश शत्रु सगे भाई का।[7]

उक्त पंक्तियों के अंतिम तीन गुरुओं में एक को हटा देने पर विष्णुपद बन जाता है। फिर इसे एक नया नाम देना छन्दों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि करना है। सार छन्द के अंत में दो गुरु का होना आवश्यक नहीं है। ऐसा विधान केवल

---

[1] सूरसागर, पद १५१। [2] हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ७०।
[3] छन्दार्णव, ५।२१६। [4] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६१।
[5] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २९३।
[6] पथिक : रामनरेश त्रिपाठी, सर्ग २, पृ० ३२।
[7] पथिक : रामनरेश त्रिपाठी, सर्ग १, पृ० २३।

कर्ण-मधुरता के लिए है। सार के अंत में ऽ और ।। भी रह सकते हैं।[1] कवियों ने भी ऐसे प्रयोग स्वच्छन्दता से किये हैं—

**मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।[2]**
**और न कोई लायक देखौं, सत-सत अघ प्रति रोमनि।[3]**

इस प्रकार सूरदास की पादांत में ऽऽ अथवा ।। वाली पंक्तियाँ भी विष्णुपद की ही पंक्तियाँ मानी जायँगी।

उपमा सभी अलंकारों की प्राण-स्वरूपा मानी गई है। कहा गया है कि काव्य-रूपी रंगभूमि में उपमा रूपी नटी अनेक भूमिका-भेद से नृत्य करती हुई काव्य-मर्मज्ञों का चित्त रंजन करती है—

**उपमैवा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका-भेदात्।**
**रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।[4] —चित्रमीमांसा**

उपमा के साथ यह बात चाहे जितनी सत्य हो; चौपाई के साथ तो यह बात उससे भी बढ़ कर सत्य है। प्रायः समस्त समप्रवाही छन्दों में चौपाई नृत्य करती नजर आती है। सभी समप्रवाही छन्द इसी की लय पर चलते हैं। इस दृष्टि से यदि हम विष्णुपद की रचना-प्रक्रिया पर विचार करें, तो यह स्पष्टतया प्रतीत होगा कि विष्णुपद चौपाई (१६ मात्राएँ) और शशिवदना (१० मात्राएँ) के चरणों का संयुक्त रूप है। शशिवदना भी समप्रवाही छन्द है और इसका निर्माण भी चौपाई की अंतिम छः मात्राओं को निकाल कर हो जाता है।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में २६ मात्रापादी ऐसा कोई वर्णवृत्त नहीं, जिसका विष्णुपद के साथ लय-साम्य हो। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में प्राप्त २६ मात्राओं के तीन छन्द चित्रा[5], भद्रा[6] तथा चन्द्रलेखिका[7] से विष्णुपद का कोई संबंध दिखलाई नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी गणव्यवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। हिन्दी के प्राचीन आचार्यों में सर्वप्रथम भिखारीदास ने विष्णुपद का उल्लेख

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६६। [2]पथिक, सर्ग १, पृ० १७।
[3]सूरसागर, पद १६२।
[4]काव्य कल्पद्रुम भाग २ : कन्हैया लाल पोद्दार, पृ० ५० से उद्धृत।
[5]वृत्तजाति समुच्चय : विरहांक ३।४०।
[6]वृत्तजाति समुच्चय : विरहांक ३।४२।
[7]स्वयंभूच्छन्दः—स्वयंभू—पूर्वभाग ३।६।

किया है। उनके पश्चात् जानी बिहारी लाल के 'छन्दःप्रभाकर पिंगल' में यह उल्लिखित हुआ है।[1]

अपभ्रंश साहित्य में विष्णुपद का प्रयोग नहीं मिलता। केवल भूसकुपा (८०० ई०) की निम्नांकित पंक्तियों में—

**जइ तुम्ह भूसुक अहेरी जाइब मारिहसि पंच जना। —२६ मा०**
**णलिणीवन पइसन्ते होहिसि एक्क मणा।[2] —२२ मा०**

पहली पंक्ति विष्णुपद की कही जा सकती है, दूसरी सुखदा की है। गोरखबानी और पृथ्वीराजरासो में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। विद्यापति ने भी विष्णुपद का प्रयोग नहीं किया। उनकी पदावली के एक पद में सार-सरसी के साथ ऐसी दो पंक्तियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं, जिनमें कुछ दीर्घ वर्णों का ह्रस्वोच्चारण और कुछ का अनुच्चारण करने पर विष्णुपद की लय स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसे—

**प्रथम ज (उ) वन नव गरुअ मनोभव**
**छोटि मधुमास रजनि।**
**जागे गुरुजन गेह राखए चाह नेह**
**संसअ पड़ल सजनि।[3]**

मात्रा-पूर्ति और लय के निमित्त इसमें कोष्ठकगत वर्ण का अनुच्चारण तथा रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है। कबीरदास ने स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में विष्णुपद का प्रयोग किया है।[4] कबीर वचनावली का निम्न पद—

**अपनपो आपही बिसरो।**
**जैसे सोनहा काँच मंदिर में भरमत भूँकि मरो। —पद ८८**

तो किंचित् परिवर्तन के साथ सूरसागर में भी पाया जाता है।[5] अन्य संतों में

---

[1]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ६६।

[2]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३२।

[3]विद्यापति पदावली : बेनीपुरी, पद ११५।

[4]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद २४८, ३०४, ३६६, परि० १०२, १२६, १७२; कबीर वचनावली : हरिऔध, पद ८८, ११४।

[5]सूरसागर पद ३६६।

गुरु अर्जुन[1] तथा तेग बहादुर[2] के पदों में विष्णुपद का प्रयोग हुआ है। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में कुंभनदास[3], परमानन्ददास[4], कृष्णदास[5], छीत स्वामी[6], चतुर्भुजदास[7], हितहरिवंश[8], मीराबाई[9] आदि ने इसे अपनी वाणी का वाहक बनाया। तुलसीदास ने १४ पदों में इसे स्थान दिया।[10] विष्णुपद का प्रयोग प्रायः पदों में ही हुआ है। रीतिकालीन प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों के प्रणेताओं ने इसे बिलकुल नहीं अपनाया। आधुनिक काल में भारतेन्दु के पदों में इसने फिर एक बार अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। आधुनिक प्रबंध काव्यों में भी विष्णुपद का प्रयोग हम पदों में ही पाते हैं। साकेत[11] और यशोधरा[12] के कुछ गीत विष्णुपद में ही निबद्ध हैं। निराला और महादेवी ने अपने गीतों में अन्य छन्दों के साथ विष्णुपद की पंक्तियों की भी योजना की है—

दुःख-भार भारत तम-केवल, —१६ मात्राएँ, चौपाई
वीर्य-सूर्य के ढंके सकल दल —१६ मात्राएँ, चौपाई
खोलो उषा-पटल निज कर अयि
छविमयि, दिन-मणि के।[13] } १६+१०=२६, विष्णुपद
तारकमय नव वेणी-बंधन; —चौपाई
शीश फूल कर शशि का नूतन; —चौपाई
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन; —चौपाई
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।[14] —विष्णुपद

---

[1]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १७।

[2]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद ४, ६, १८।

[3] से [7] तक अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, कुं० पद १६, १७, पर० पद १४, कृ०, १२, छी० १८, च० २१।

[8]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पद ७।

[9]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १४, २६, ५२, ६०, ८२ आदि।

[10]विनयपत्रिका, पद ८६, ८६, ६१, १८६, २२६, २३६। गीतावली, बा० ४७, ५७, ५६ आदि।

[11]साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २६।

[12]यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ४।

[13]गीतिका : निराला, गीत १५।

[14]नीरजा : महादेवी, गीत २।

इस प्रकार विष्णुपद का प्रयोग प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल तक बराबर होता रहा। यह सार के अंतिम दीर्घ को त्याग कर एक नये छन्द के रूप में प्रतिष्ठित तो हुआ, पर सार की प्रबंधोचित गरिमा खो बैठा। सार का वेग इसमें नहीं आ सका। दो मात्राओं को खो कर यह उस दीन व्यक्ति की तरह हो गया, जो बोलता-बोलता अपने सारे दुखड़े को एकबारगी उभल देता है। इसीलिए इससे वर्णन-प्रधान प्रबंध-काव्य में काम नहीं लिया गया। हृदय के उमड़ते हुए भावों के प्रकटीकरण में ही इससे सहायता ली गयी। और इस प्रकार यह संतों और भक्तों की भावोच्छ्वसित वाणी की अभिव्यक्ति का सफल वाहक बना। आज भी प्रबंध और मुक्तक काव्य में इससे यही काम लिया जा रहा है।

## (३४) गीता

**षट अष्ट अंबुज कीर षट मुख कोकिला सुर एक।**
**दस दोइ विद्रुम, दामिनी पट, तीन व्याल विशेष।**
**षट त्रिवलि श्री फल षट, विराजत परसपर वर नारि।**
**ब्रज कुँवरि, गिरिधर कुँवर पर है सूर जन बलिहारि।**

**—पद २०८६।**

सूरसागर में गीता छन्द के दो पद हैं।[1] इन दोनों में आद्योपांत गीता छन्द का प्रयोग हुआ है। इन दोनों के अतिरिक्त और भी पद हैं, जिनमें रूपमाला और सरसी के साथ इसके चरण पाये जाते हैं। भानु ने गीता के लक्षण में १४-१२ पर यति और अंत में ऽ। बताया है।

**कृष्णारजुन गीता भुवन रवि सम प्रगट सानंद।**[2]

भानु के लक्षणोदाहरण-पद्य की लय-परीक्षा करने पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि हरिगीतिका (२८ मा०) के अंतिम दीर्घ को निकाल देने से गीता छन्द बन जाता है। हरिगीतिका में १६-१२ पर यति का विधान है। सूरदास के पदों के चरणों में प्रायः १६-१० पर ही यति है। यों १४ पर भी जिह्वा को विश्राम दिया जा सकता है। हरिगीतिका छन्द के चरणों में भी १४ पर यति कवियों

---

[1] सूरसागर, २०८६, ३४४८।  [2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६७।

के काव्य-प्रयोग के बीच मिलती है।[1] अतः सूरदास के ऐसे पदों में गीता छन्द मानना सर्वथा युक्ति-युक्त है।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में प्राप्त २६ मात्रापादी जिन तीन छन्दों का उल्लेख किया गया है,[2] गीता के साथ उनका लय-साम्य नहीं। भानु ने शारद (त भ र स ज ज) और मणिमाल (स ज ज भ र स ल) नामक दो वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है[3], जिनकी लय से गीता का साम्य है। केशवदास ने भी मूल (स ज ज स र स ल) नामक एक छन्द का उल्लेख किया है;[4] जिसकी लय गीता से मिलती है। किंतु, ये तीनों वर्णवृत्त प्राचीन शास्त्रों में अनुपलब्ध होने के कारण प्राचीन नहीं माने जा सकते। प्राचीन छन्दःशास्त्रों में गीता से लय-साम्य रखने वाला कोई छन्द नहीं। अवश्य गीता नाम से एक छन्द का उल्लेख रत्नशेखर सूरि ने किया है—

**अट्ठबीस मत्त निरुत्त जहि पयबंधु सुन्दरु दीसए।**

× × ×

**सो छन्दु गीयउ मुणहु गुणियण विमलमइहि जु भासिओ।**[5]

जो वास्तव में आजकल का हरिगीतिका छन्द है। प्राकृतपैंगल की गीता (स ज ज भ र स ल ग) वर्णवृत्त है, जिसकी लय हरिगीतिका के समान है।[6] प्राचीन हिन्दी छन्दःशास्त्रों में छन्दार्णव से पूर्व गीता नामक छन्द का उल्लेख नहीं मिलता। भिखारीदास ने गीता प्रकरण में उन अनेक छन्दों का उल्लेख किया है, जो सप्तक के आधार पर चलते हैं, और एक-दो मात्राओं की घट-बढ़ से नये छन्द बन जाते हैं।

**चौबिस कल गति चच्चरी, रूपमाल पहिचानि।**
**लघु दै आदि पचीस कल, सुगीतिका उर आनि।**
**द्वै द्वै आदि छबीस करि, गीता कहौं विसेषि।**
**गुरु दै अंत सुगीति के, सुभगीता अवरेखि।**
**करि गीता गुरु अंत हरिगीता अट्ठाईस।**
**अंत लहू अति गीति करि, सताइसौ उनतीस।**[7]

---

[1] **आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २९८।**
[2] **पीछे विष्णुपद छन्द, पृ० १८९।** [3] **छन्दःप्रभाकर, पृ० १८८, १९४।**
[4] **छन्दमाला १।६१।** [5] **छन्दःकोश, १८।**
[6] **प्राकृतपैंगल २।१९६।** [7] **छन्दार्णव : भिखारीदास ६।३५, पृ० २२०।**

भिखारीदास की अतिगीता ही भानु के यहाँ शुद्धगीता (१४-१३ अंत में ऽ।) बन गई है।[१] भानु के परवर्ती छन्दःशास्त्रियों ने गीता का उल्लेख नहीं किया, पर २६ मात्रापादी छन्दों में झूलना का नाम दिया है।[२] ७-७-७-५ पर यति और अंत में ऽ। मात्रा वाले छन्द को भानु ने भी प्रथम झूलना के नाम से उल्लिखित किया है—

**मुनि राम गुनि, बान युत गल, झूलन प्रथम, मतिमान।[३]**

भानु की इस यति-व्यवस्था को सब ने माना है। केवल रघुनंदन शास्त्री ने ७-७-७-५ पर अथवा १४-१२ पर यति मानी है। पादटिप्पणी में उन्होंने लिखा है— यद्यपि लक्षण-आचार्यों ने ७-७-७-५ पर इसकी यति बतलाई है, तथापि केशव के बीसियों 'झूलना' छन्दों को देख कर १४-१२ की यति ही ठीक बैठती है। लक्ष्य को देख कर ही लक्षण किया जाना चाहिए।[४] रघुनंदन, परमानन्द, उपाध्याय तथा शिवनन्दन इन चारों छन्दःशास्त्रियों ने केशव के दो पद्यों को झूलना के उदाहरण में उद्धृत किया है। केशव की रामचन्द्रिका में ढूँढ़ने पर हमें ९ से अधिक पद्य झूलना के नहीं मिले। इनमें ८ तो वर्णवृत्त (१९ अक्षर) हैं, जिनकी गण-व्यवस्था स ज ज भ र स ल (भानु की 'मणिमाल' की भी यही गणव्यवस्था है) है। इन पद्यों के केवल दो चरणों में गणव्यवस्था में किंचित् त्रुटि है। यथा—

**सिव ब्रह्म धर्म समेत श्री पितु साखि बोल्यो आनि।[५]**

इसमें १८ वर्ण हैं। 'साखि बोल्यो जु आनि' (ल्यो का ह्रस्वोच्चारण) कर देने से गण-व्यवस्था ठीक हो जाती है।

**और—सुर लोक को सुर राज को किय दोह निरभय राइ।[६]**

इसमें एक वर्ण अधिक है। 'निरभय' को 'निर्भय' कर देने से गणव्यवस्था की त्रुटि दूर हो जाती है। उक्त आचार्यों द्वारा उद्धृत केशव के निम्नांकित दोनों पद्य—

---

[१] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६८।

[२] हिन्दी छन्दप्रकाश (रघुनंदन) पिंगल पीयूष (परमानन्द) नवीन पिंगल (उपाध्याय) हिन्दी छन्दःशास्त्र (डॉ० शिवनंदन)।

[३] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६७। [४] हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ६९।

[५] रामचन्द्रिका ३३।३२। [६] रामचन्द्रिका २६।३०।

तब लोक नाथ विलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ।[1]—१६ अक्षर
अभिषेक की यह गाथ श्री रघुनाथ की नर कोइ।[2]

वर्णवृत्त झूलना के उदाहरण हैं। किन्तु, निम्नांकित झूलना छन्द वर्णवृत्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें न तो वर्णों की क्रम-व्यवस्था है, और न वर्णों की समानता ही।

| | |
|---|---|
| यही भाँति पूजा पूजि जीव सु भक्त परम कहाइ। | —१६ अ० |
| भव भक्ति रस भागीरथी महँ देइ दुखनि बहाइ। | —२० अ० |
| पुनि महाकर्त्ता महात्यागी महाभोगी होइ। | —१६ अ० |
| अति सुद्ध भाव रमै रमापति पूजिहैं सब कोइ।[3] | —१६ अ० |

रामचन्द्रिका में मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के झूलना का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि केशव दोनों प्रकार के पक्ष में थे। उक्त पद्य में तो ७-७-७-५ वाली यति-व्यवस्था भी नहीं मिलती। इसलिए झूलना में १४-१२ अथवा १६-१० पर यति मानना ही युक्तिसंगत है। इस प्रकार लय-साम्य और मात्रा-व्यवस्था के आधार पर गीता और झूलना दो छन्द नहीं रह जाते। ७-७-७-५ वाली यति-व्यवस्था इसमें कोई व्याघात उपस्थित नहीं कर सकती, क्योंकि जिह्वा प्रायः ७ पर नहीं ठहर कर १४ पर ही विश्राम लेती है। भानु के झूलना छन्द का लक्षणोदाहरण-पद्य भी इस बात की पुष्टि करता है—

मुनि राम गुनि, बान युत गल, झूलन प्रथम, मतिमान।
हरि राम विभु, पावन परम, जनहिय वसंत, रति जान।
यदुवंश प्रभु, तारण तरण, करुणायतन, भगवान।
जिय जानि यह, पछिताय फिर, क्यों रहत हौ, अनजान।[4]

इस पद्य के दूसरे, तीसरे और चौथे चरणों की मात्रा-व्यवस्था तथा लय गीता के बिलकुल अनुरूप हैं। पहले चरण में 'बान' शब्द गणव्यवस्था को बिगाड़ कर गति-शैथिल्य उत्पन्न करता है। यदि 'बान युत गल' की जगह 'सर सहित गल' रहता, तो उपर्युक्त दोष भी नहीं आ पाता, और लक्षण में भी किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता। 'बान' की जगह उसका पर्यायवाची शब्द

---

[1]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ६६, हिन्दी छन्दःशास्त्र ८७ (रामचन्द्रिका २६।३०)।

[2]नवीन पिंगल, पृ० ६५, पिंगल-पीयूष—१८२ (रामचन्द्रिका २७।२६)।

[3]रामचन्द्रिका, २५।३४। [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६७।

'शर' का प्रयोग भानु द्वारा भी अनुमोदित है।[1] जब गीता और झूलना एक ही छन्द है, तो इनमें कौन-सा नाम ग्रहण किया जाय ? झूलना नाम का एक और छन्द है, जिसमें १०-१०-१०-७ के क्रम से ३७ मात्राएँ होती हैं। इसका उल्लेख भिखारीदास ने 'मात्रा दंडक वर्णन' के अन्तर्गत किया है।[2] भानु ने इसे झूलना (द्वितीय) कहा है।[3] यों ७-७-७-५ वाले झूलना का उल्लेख भानु के बहुत पूर्व सुखदेव मिश्र ने अपने वृत्तविचार नामक ग्रंथ में किया है,[4] पर दण्डक झूलना (१०-१०-१०-७) का उल्लेख उससे प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख प्रा० पैं० में पाया जाता है।[5] इस दंडक को झूलना कह कर और २६ मात्रा-पादी झूलना को गीता नाम दे कर भिखारीदास ने एक ही नाम के दो छन्दों की समस्या को सुलझा दिया था। एक ही नाम के दो छन्द पाठकों को उलझन में डाल देते हैं। अतः २६ मात्रापादी झूलना को गीता कहना ही हमारे विचार से युक्तिसंगत है।

गीता छन्द का काव्यगत प्रयोग सूरदास के पहले विद्यापति और कबीर के काव्यों में, स्वतंत्र रूप में नहीं, रूपमाला के साथ मिश्र रूप में दिखलाई पड़ता है।

**की लागि कौतुक देखलौं सखि**
**निमिख लोचन आध।**
× ×
**गोरस बिरस बासी बिसेखल**
**छिकहु छाड़ल गेह।[6]**
**संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समान।**
× ×
**उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ।[7]**

इन मिश्रित पदों में विद्यापति में २ और कबीर में करीब १६ चरण गीता के हैं, शेष रूपमाला के। गीता और रूपमाला दोनों छन्दों की लय ऐसी हैं, कि

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११। [2]छन्दार्णव, ६।२-३।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७८।
[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनंदन प्र०, पृ० ७७।
[5]प्रा० पैं० १।१५६। [6]विद्यापति पदावली : बेनीपुरी, पद ३७।
[7]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद २४५, २८०।

एक के प्रयोग में दूसरे के चरण का आ जाना सहज संभव है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि गीता के ये चरण रूपमाला में आप ही आप समाविष्ट हो गये हैं। विद्यापति और कबीर ने जान-बूझ कर इनका प्रयोग नहीं किया है। इनके विपरीत सूरदास ने दो पदों में गीता का स्वतंत्र प्रयोग किया है, इन दो पदों में रूपमाला का एक भी चरण नहीं है। इन दोनों पदों के ३९ चरणों में रूपमाला के एक भी चरण का नहीं आना यह सिद्ध करता है कि कवि ने जान-बूझ कर गीता का प्रयोग किया है। इन दोनों पदों के अतिरिक्त गीता का प्रयोग रूपमाला के साथ भी हुआ है। इस प्रयोग-बाहुल्य के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस छन्द की कुछ पंक्तियाँ विद्यापति और कबीर के द्वारा—जाने-अनजाने चाहे जिस रूप में हो—प्रयुक्त हो गई थीं, उसे एक छन्द के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य सूरदास ने ही किया। सूर द्वारा प्रस्थापित इस छन्द का विशेष प्रचार नहीं हो सका। गदाधर भट्ट और मीराबाई के एक-एक पद में रूपमाला के साथ इसका केवल एक-एक चरण मिलता है।

**दधि मथति नंद नरिन्द रानी, करति सुत गुन गान।[1] —गदाधर भट्ट**

**अभिमान टीला किये बहु कहु जल कहाँ ठहरात।[2] —मीराबाई**

तुलसीदास ने एक पद में अवश्य गीता के स्वतंत्र प्रयोग का प्रयास किया है। हालाँकि इसके २४ चरणों में २ चरण रूपमाला के हैं।[3] केशव की रामचन्द्रिका में झूलना के नाम से इसका प्रयोग मिलता है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। भारतेन्दु के सारे काव्य-नाटक में केवल तीन पद ऐसे मिलते हैं, जिनमें रूपमाला के साथ गीता के चरण उपलब्ध होते हैं।[4] आधुनिक युग में भी इसका स्वतंत्र प्रयोग दिखलाई नहीं पड़ता। रूपमाला के साथ मिली छिट-पुट पंक्तियों के मिल जाने की संभावना की जा सकती है। रामचरित उपाध्याय ने अवश्य रामचन्द्रिका[5] में इसका स्वतंत्र रूप से प्रयोग किया है।

---

[1]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पद १३।

[2]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १५८।

[3]गीतावली : उत्तरकांड, पद १८।

[4]भारतेन्दु ग्रंथावली : प्रेमाश्रुवर्षण, पद २२, २३, ३४।

[5]रामचंद्रिका—मारीच, पृ० ४८।

गीता छन्द हरिगीतिका के अंतिम दीर्घ को खो कर और रूपमाला के प्रारम्भ में दो मात्राओं को पा कर बना है, इसीलिये यह दोनों छन्दों के बीच झूलता हुआ नजर आता है। रूपमाला की ठिठकती चाल में प्रारम्भिक दो मात्राएँ जैसे एक झटका मार कर थोड़ा कम्पन भर देती हैं, तो हरिगीतिका के अंतिम दीर्घ का निष्कासन हरिगीतिका के स्वाभाविक स्वरारोह को रोक कर जैसे ऊपर चढ़ा देता है। दोनों छंदों का अवलंब ले कर यह झूलने (Swing) की तरह पेंगें भरता है। आचार्यों द्वारा दिया हुआ इसका झूलना नाम इसकी गति का बहुत कुछ निर्देश करता है और अपनी इसी प्रकृति के कारण यह रूपमाला और हरिगीतिका से होड़ नहीं ले सका। शृंगार रस आदि कोमल रसों की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ होते हुए भी यह रूपमाला आदि के समान कवियों के द्वारा नहीं अपनाया गया।

## (३५) गीतिका

**मधुप आये जोग गथ लै, हाँसि औ दुख को सहै।**
**दंड मुद्रा भसम कंथा मृग त्वचा, आसन रहै।**
**स्याम तें कोउ निठुर नाहीं, सखा जिनके रावरे।**
**जरे ऊपर लौन लावहिं, कौन तिनतें बावरे। —पद ४४८३**

गीतिका छन्द का प्रयोग सूरदास ने अधिक नहीं किया। दो पदों में[१] आद्योपांत गीतिका का प्रयोग है और एक पद में गीतिका के पहले दो चरण सार के हैं।[२] भानु ने इसका लक्षण १४-१२ पर यति और अंत में ।ऽ बताया है।

**रत्न रवि कल धारि कै लग, अंत रचिये गीतिका।**

पृथक रूप से यह भी संकेतिक किया है कि इसमें कभी-कभी १२-१४ में भी यति आ पड़ती है। मुख्य नियम तो यह है कि इस छन्द की तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ सदा लघु रहती हैं। अंत में रगण कर्णमधुर होता है।[३] भानु के परवर्ती सभी आचार्यों ने उन्हीं के लक्षण को दुहराया है। डॉ० शुक्ल ने उसमें इतना जोड़ दिया है—यह छन्द सप्तक (ऽ।ऽऽ) की तीन आवृत्तियों और रगण के योग से बनता है। इसका अन्य नाम चंचरी या

---

[१]सूरसागर, पद ११६५, ४४८३। [२]सूरसागर, पद ३४१८।
[३]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६७।

चर्चरी भी है।[1] सूरदास के पद इस लक्षण पर पूरे उतरते हैं। अवश्य मात्रा-विशेष के लघुत्व की शर्त कहीं-कहीं पूरी नहीं होती। अंत में रगण का प्रयोग कर्णमधुरता के लिये हैं, गीतिका का सामान्य लक्षण नहीं। सूर के चरणों में कहीं-कहीं रगण नहीं मिलता। जैसे उक्त पद के 'आसन रहै' में।

भानु के पूर्व प्राचीन छन्दःपरंपरा में गीतिका नाम का छन्द केवल केशव और भिखारीदास में मिलता है। केशव की गीतिका २० वर्णों वाली वर्ण वृत्त है। यथा—

**आदि चंचरी छन्द के लघु द्वै देहु सुजान।**
**होइ गीतिका छन्द यह अक्षर बीस प्रमान।**[2]

भिखारीदास ने रक्खा है तो इसे मात्रिक छन्द के अन्तर्गत, पर लक्षण और उदाहरण से यह स्पष्टतः वर्णवृत्त प्रतीत होता है। यथा—

**चारि सगण—धुज गीतिका।**[3]

अर्थात् सगण और धुज की चार आवृत्तियों से गीतिका बनती है। धुज आदि लघु त्रिकल (।ऽ) का नाम है।[4] इस प्रकार केशव और भिखारीदास की गीतिका एक ही छन्द है। दोनों की वर्ण-व्यवस्था एक सी है और दोनों में २८ मात्राएँ हैं। अतः इस गीतिका का संबंध भानु की गीतिका से नहीं, हरि-गीतिका से है। भानु की गीतिका का संबंध केशवदास और भिखारीदास द्वारा उल्लिखित चंचरी छन्द से है। दोनों की चंचरी वर्णवृत्त है।

**रगन जगन द्वै भगन पुनि रगन आदि अरु अंत।**
**अष्टादस अक्षरन को चंचरी छन्द कहन्त।**[5] **—केशवदास**

केशव के इसी लक्षण को भिखारीदास दूसरे ढंग से कहते हैं—

**तीन रगनना पियहिं दै, रांत चंचरी चारु।**[6]

अर्थात् रगण और पिय (।।) को तीन वार दे कर अंत में रगण रक्खो। इस २६ मात्रापादी चंचरी का गीतिका से पूरा लय-साम्य है। यह चंचरी प्रा० पैं० में चर्चरी नाम से उल्लिखित है।[7] इसी चंचरी का पिंगल ने विवुधप्रिया के नाम से—

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २९३।
[2] छन्दमाला १।६२। [3] छन्दार्णव, ५।२१८।
[4] छन्दार्णव २।९। [5] छन्दमाला : १।५९।
[6] छन्दार्णव ५।२१२। [7] प्रा० पैं० २।१८४।

**विबुधप्रिया रसौ जौ भरौ वसुदिशः ।**[१]

जयकीर्ति ने मालिकोत्तर मल्लिका के नाम से—

**मालिकोत्तरमल्लिका रसजाज्भरैश्च गतागता ।**[२]

और हेमचन्द्र ने उज्ज्वल के नाम से—

**सौ जौ आवुज्ज्वलं जैः ।**[३]

उल्लेख किया है। इस प्रकार यह चंचरी छन्द अत्यन्त प्राचीन है, और गीतिका इसी का मात्रिक रूप है। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में प्राप्त २६ मात्रापादी जो छन्द उपलब्ध होते हैं[४], उनमें किसी से गीतिका का लय-साम्य नहीं। अतः इसका संबंध संस्कृत छन्दःशास्त्रों में प्राप्त चंचरी से जोड़ना ही युक्तिसंगत है।

सप्तक के आधार पर चलने वाले छन्दों में जितना प्रचार हरिगीतिका और रूपमाला का हुआ, उतना और किसी छन्द का नहीं। अपभ्रंश-काव्य में गीतिका का नहीं, उसके वर्णिक रूप चंचरी का प्रयोग बब्बर के काव्य में मिलता है—

**पाअ णेउर झंझणक्कइ, हंस सद्द-सुसोहणा।**
**थोर-थोर-थणग्ग णच्चइ, मोत्तिदाम मणोहरा।**[५]

गोरखनाथ ने सप्तक के आधार पर चलने वाले किसी छन्द का प्रयोग नहीं किया। उनकी खरी-खोटी तथा सीधी-सपाट वाणी में रुक-रुक कर चलने वाले ऐसे छन्दों के लिए स्थान भी नहीं था। पृथ्वीराज रासो में हरिगीतिका तो मिलती है, पर गीतिका नहीं। विद्यापति की पदावली में रूपमाला और हरिगीतिका के साथ गीतिका के चरण उपलब्ध होते हैं।[६] कबीर के तीन पदों में गीतिका और हरिगीतिका के चरणों का मिश्रण है।[७] सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में गीतिका के दर्शन नहीं होते। तुलसीदास ने भी अपने पद-साहित्य में गीतिका का उपयोग नहीं किया। केशव की रामचन्द्रिका में इसका वर्णिक रूप चंचरी का प्रयोग हुआ है।[८] भारतेन्दु के काव्य-नाटकों में हरि-

---

[१]छन्दःशास्त्रम् ८।१६। [२]छन्दोनुशासन २।२२०।
[३]छन्दोनुशासन २।३१३। [४]पीछे विष्णुपद छन्द, पृ० १८९।
[५]हिन्दी काव्य धारा : राहुल, पृ० ३१८।
[६]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद ११२, १९९, १४१।
[७]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद ३९०, ३९१, ३९२।
[८]रामचन्द्रिका, ३।१२।

गीतिका तो मिलती है, पर गीतिका नहीं। उनके बाद भी इसका विपुल प्रयोग नहीं हुआ। मैथिलीशरण ने 'रंग में भंग' में अवश्य इसका प्रयोग किया है। नाथूराम शंकर शर्मा ने 'केरल की तारा' नामक कविता इसी छन्द में लिखी है।[1] छायावादी काव्यों में सप्तक के आधार पर चलने वाले छन्दों में रूपमाला को विशेष आदर मिला। गीतिका-हरिगीतिका का प्रयोग अत्यंत विरल है। कामायनी जैसे महाकाव्य में इन दोनों छन्दों का एकांत अभाव है। महादेवी और निराला के कुछ गीतों में अवश्य गीतिका का उपयोग हुआ है।[2] दिनकर ने कुरुक्षेत्र के प्रथम और द्वितीय सर्ग में गीतिका का भिन्नतुकांत प्रयोग किया है।[3]

हरिगीतिका की प्रारम्भिक दो मात्राओं को हटा कर गीतिका का निर्माण हुआ है। इसलिये इन दोनों छन्दों की गति में बहुत कम अन्तर है। दोनों रुक-रुक कर चलने वाले पथिक हैं। पर गीतिका में जैसे उसने अपने दुपट्टे को अच्छी तरह सँभाल लिया है, और हरिगीतिका में उसका छोर किंचित् शिथिल हो गया है—थोड़ा सरक गया है। श्रृंगार तथा करुण रसों की अभिव्यक्ति में दोनों ही सक्षम हैं; किन्तु हरिगीतिका ने कवि को शब्द-योजना में थोड़ी स्वच्छन्दता प्रदान की है। वह प्रारंभ में चौकल पचकल दोनों रख सकता है। गीतिका के प्रारम्भ में त्रिकल का अनिवार्यतः प्रयोग कवि-स्वातंत्र्य पर अंकुश का काम करता है। इसीलिए हरिगीतिका का जितना प्रयोग हुआ, उतना गीतिका का नहीं। छायावाद के अन्दर इन दोनों छन्दों के ऊपर विशेष ध्यान नहीं देने का एक और कारण है। इन दोनों छन्दों को गुप्त जी ने जैसे अपनी सीमा पर पहुँचा दिया था। द्विवेदी-युग के प्रमुख छन्दों में इन्होंने अपना स्थान बना लिया था। छायावाद भाषा, भाव, कला, छन्द सभी क्षेत्रों में क्रांति का शंख बजाता हुआ आया। इसीलिये द्विवेदीकालीन कवियों-द्वारा अत्यधिक प्रयुक्त इन दोनों छन्दों को उसने विशेष महत्व नहीं दिया। साथ ही गीतिका के आगे एक दीर्घ के योग से बने हुए माधवमालती[4] जैसे अप्रचलित छन्द को अपना कर नवीन छन्दोनिर्माण की क्षमता का परिचय दिया। इसीलिये छायावाद-युग में इन दोनों छन्दों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ।

---

[1] कविता-कलाप—सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
[2] नीरजा, गीत २३, ३६, बेला, गीत ५८, ५६, ६०, ६६, ८७।
[3] कुरुक्षेत्र—पृ० ४, १८-१६।
[4] माधव मालती छन्द।

## (३६) सरसी

> **हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया, पारधि साधे बान।**
> **ताके डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।**
> **दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारे प्रान?**
> **सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।** —पद ६७

सूरसाहित्य में सरसी का स्वतंत्र प्रयोग ५७५ पदों में (सूरसागर ५२६, परि० ३२, साहित्यलहरी १४) हुआ है। इसके अतिरिक्त मिश्र रूप में भी इसके प्रयोग की बहुत बड़ी संख्या है।[1] भानु के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६-११ पर यति और अंत में ऽ। होता है।

> **सोरह संभु यती गल कीजै, सरसी छन्द सुजान।**

इसका अन्य नाम उन्होंने क़बीर और सुमंदर बताया है।[2] परवर्त्ती आचार्यों के भी यही लक्षण हैं। डॉ० शुक्ल ने इस छन्द का आधार समप्रवाही अष्टक पर्व माना है।[3] सूरदास के पदों में इस लक्षण का पूर्णतया पालन हुआ है। किन्तु, कुछ पदों में ऽ। की जगह नगण (।।।) भी मिलता है।[4] इतने पदों के बीच छः पदों के ऐसे प्रयोग को चाहे एक गुरु की जगह दो लघु के सिद्धान्तानुसार ठीक मानें, या इसे अपवाद-रूप में रक्खें, किन्तु, पद-साहित्य के अन्तर्गत तो नगणांत के अतिरिक्त सरसी का लगात्मक अंत भी देखा जाता है। भारतेन्दु के दो-एक पदों में ऐसा प्रयोग उपलब्ध होता है।[5] यथा—

> **जब लौं रवि ससि भूमि समुद ध्रुव तारा गन थिर कियो।**
> **'हरीचन्द्र' तब लौं तुम प्रीतम अमृत पान नित पियो।**
>
> **—होली, पद ४७**

सूर-साहित्य में ऐसा प्रयोग नहीं मिलता; किन्तु, संस्कृत कवि जयदेव ने लघु-गुरु अन्त वाले एक २७ मात्रापादी छन्द का प्रयोग किया है—

---

[1]आगे मिश्र छन्द। [2]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६८।

[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८४।

[4]सूरसागर, पद ४८ (एक पंक्ति), ३४२२, ३५२६ (दो पंक्तियाँ), ३७४०, ४५७०, ४६३०।

[5]भारतेन्दु ग्रंथावली—होली, पद ४७, मधुमुकुल, पद ३५।

रतिगृहजघने विपुलापघने मनसिज कनकासने ।
मणिमयरशनं तोरणहसनं विकिरति कृतवासने ।[1]

सरसी के अन्त में ऽ। का विधान तो सभी लक्षणकारों ने किया, पर अंत में ।ऽ वाले २७ मात्रापादी किसी छन्द का उल्लेख किसी ने नहीं किया । छन्दों के नामों की संख्या में वृद्धि नहीं कर इसे सरसी का ही एक रूप मान लेना चाहिये; क्योंकि सरसी के और लक्षण इस पर घटित हो जाते हैं । इस प्रकार के प्रयोग-वैविध्य को देख कर सरसी के लक्षण को थोड़ा ढीला करना पड़ेगा, कि सरसी के अंत में ऽ। होता है, पर ।ऽ और ।।। भी रह सकते हैं ।

सरसी नाम का छन्द प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रों में नहीं मिलता । केवल गंगादास ने सरसी (न ज भ ज ज ज र) का उल्लेख किया है ।[2] इसी को जयकीर्ति चम्पकमालिका[3] और हेमचन्द्र सिद्धि कहते हैं ।[4] वर्णिक छन्दों में भिखारीदास और भानु ने जिस सरसी का उल्लेख किया है[5], वह गंगादास की ही सरसी है । इस वर्णिक सरसी से हमारे इस मात्रिक सरसी का कोई संबंध नहीं है । प्राचीन हिन्दी छन्दःशास्त्रों में मात्रिक सरसी नाम का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता । भिखारीदास ने २७ मात्रापादी हरिपद का उल्लेख किया है[6], जो भानु की सरसी ही है । इस हरिपद का उल्लेख भिखारीदास के पूर्व सुखदेव मिश्र ने अपने ग्रंथ 'पिंगल' में और अयोध्या प्रसाद ने 'छंदानंद पिंगल' में किया है ।[7] भानु ने भी अर्द्धसम छन्दों के अन्तर्गत हरिपद (विषम चरण १६, समचरण ११) का उल्लेख किया है, और इसे सरसी का आधा माना है ।[8] इससे यह सिद्ध है कि भिखारीदास के हरिपद को ही भानु ने सरसी नाम से अभिहित कर दिया । सरसी नामक वर्णवृत्त के रहते हुए भी हरिपद को सरसी की संज्ञा उन्होंने क्यों दे डाली ? कहा नहीं जा सकता । आज हरिपद पदच्युत हो गया है, और यह छन्द सरसी नाम से ही प्रसिद्ध है ।

प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रों में इस गति-लय का कोई छन्द नहीं मिलता ।

---

[1]गीतगोविन्द : सप्तम सर्ग, पृ० ४१ । [2]छन्दोमंजरी २।२१-२ ।
[3]छन्दोनुशासन २।२३६ । [4]छन्दोनुशासन २।३५० ।
[5]छन्दार्णव १२।१०८, पृ० २६५ । छन्दःप्रभाकर, पृ० १६८ ।
[6]छंदार्णव ५।२१६ ।
[7]मात्रिक छंदों का विकास : डॉ० शिवनंदन प्र०, पृ० ७४ और ६४ ।
[8]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६१ ।

भानु ने अवश्य ऐसे दो वर्णवृत्तों—शूर (भ म स त य ग ल) और अचल (ज त भ य स त) का उल्लेख किया है[1], जिनकी लय सरसी से मिलती-जुलती है । संभवतः ये दोनों छन्द भानु की ही ईजाद हों । प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में २७ मात्रापादी कामलेखा[2], मल्लिका[3], मालती[4], भद्रा[5], उपगीति[6] और कुंकुम[7] नामक छन्द मिलते हैं । पर इनकी लय और गणव्यवस्था से सरसी का कोई साम्य नहीं । सरसी छन्द सार के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने से बनता है । चौपाई और अहीर (११मात्राएँ) के चरणों के योग से भी इसका एक पाद निर्मित हो जाता है । हो सकता है, सार के पाद-निर्माण में शब्द-संकट के कारण इसका उद्भव हो गया हो ।

सरसी का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है । सरहपा के दोहा-कोश में इसकी कतिपय पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं—

**जइ दृढाण ण घेप्पइ दुट्ठ मणु, इन्द्री काइ चरेइ ।**
**पसुधरें चोरह मन्तण पेच्छइ, तो तइ लोअ हरेइ ।**
**ए जे करुण मुणन्ती मागहि, दिढ़ लाग्गइ ते भव-पास ।**
**अइ अण्णो सो अणक्खरु णव, सुण्णहि चित्त णिरास ।**[8]

इनमें दो-एक मात्राओं की घट-बढ़ अवश्य है, पर लय सरसी की ही है । गोरख-बानी में भी इसकी पंक्तियाँ यत्र-तत्र मिल जाती हैं । जैसे—

**जरणा जोगी जुगि जुगि जीवै झरणा मरि मरि जाय ।**
**षोजै तन मिलै अविनासी अगह अमर पद पाय ।**[9]

चन्दबरदाई ने सरसी का प्रयोग नहीं किया । विद्यापति ने सरसी का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में किया है ।[10] कबीर के पदों में भी इसके दोनों रूप मिलते हैं । कबीर वचनावली के सात पदों में सरसी का स्वतंत्र प्रयोग

---

[1] छंदःप्रभाकर, पृ० १८४ और १८६ ।
[2] स्वयंभूच्छन्दः पूर्वभाग ३।४ । [3] स्वयंभूच्छन्दः पूर्वभाग ३।१० ।
[4] वृत्तजाति समुच्चय, ३।३५ । [5] वृत्तजाति समुच्चय, ३।४२ ।
[6] कविदर्पण, २।६ । [7] कविदर्पण, २।२ ।
[8] दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायन, पद १२५, १२६ ।
[9] गोरखबानी : पीतांबर दत्त बडथ्वाल, सबदी २५२, पृ० ७८ ।
[10] विद्यापति पदावली, बेनीपुरी—पद २, १६, २२, २६, ३८, ३९, ४३ आदि ।

हुआ है ।[1] इनमें दो पद ऐसे हैं, जिनके अंत में ऽ। की जगह ।ऽ मिलते हैं। जैसे—

> **कहा भये नर कासि बसे से का गंगाजल पिये ।**
> **कहा भये नर जटा बढ़ाये का गुदरी के लिये ।** —पद १५०

कबीर के अतिरिक्त अन्य संतों में नानक, गुरुरामदास, संत धर्मदास, दादू दयाल, गुरु अर्जुन, तेग बहादुर आदि ने भी सरसी का प्रयोग किया है। कृष्णभक्त कवियों का यह प्यारा छन्द है। सूरदास ने तो इसका प्रचुर प्रयोग किया ही है, अन्य अष्टछापी कवियों तथा गदाधर भट्ट ने भी इस छन्द में पदों की रचना की है। मीराबाई की पदावली में प्रयुक्त छन्दों में सार के बाद सरसी की ही संख्या सब से अधिक है। सरसी के ५८ पद उनकी पदावली में मिलते हैं। तुलसीदास ने २२ पदों (वि० प० ५, गीता १३, कृ० गी० ४) की रचना सरसी में की है। केशव की रामचन्द्रिका में इसकी प्राप्ति नहीं होती। भारतेन्दु ने प्रायः प्रत्येक काव्य-नाटक में इसका प्रयोग किया है। द्विवेदीकालीन कवियों के बीच भी इसका महत्व अक्षुण्ण रहा। मैथिलीशरण ने 'द्वापर' (कंस) और जयभारत (एकलव्य, राजसूय, मद्रराज) में इसका विशद प्रयोग किया है। 'यशोधरा' के अनेक पद सरसी में ही लिखे गये हैं।[2] हरिऔध के 'पारिजात' का एक गीत सरसी में ही निबद्ध है।[3] छायावाद के काव्य में भी इसका स्थान सुरक्षित रहा। पंत की प्रसिद्ध 'अप्सरा' कविता इसी छन्द में लिखी गई है।[4] निराला ने 'क्या दूँ' कविता की रचना इसी छन्द में की है।[5] महादेवी ने कई गीतों में सरसी का प्रयोग किया है।[6] प्रसाद ने 'भिखारी' कविता के दो पदों की रचना सार और सरसी की अर्द्धालियों के योग से की है।[7] सार और सरसी की अर्द्धालियों का सर्गान्त प्रयोग दिनकर ने अपने प्रबंध-काव्य 'रश्मिरथी' में किया है।[8] रामानन्द तिवारी ने 'पार्वती' में तीन-तीन सर्गों की रचना इसी छन्द में की है।[9] इस प्रकार प्राचीनकाल से ले कर आधुनिक काल तक सरसी का प्रयोग बराबर होता रहा।

---

[1]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद, ९६, १४१, १४५, १५०, १५८, १७६, १९५।
[2]यशोधरा, पृ० ८, २६, ३८, ९९।
[3]पारिजात, पृ० १९।
[4]गुंजन, पृ० ८४।
[5]परिमल, पृ० ७०।
[6]नीरजा, गीत १५, ३९, ५०।
[7]लहर, पृ० ५१।
[8]रश्मिरथी : प्रथम सर्ग १।
[9]पार्वती : स्वर्ग की पुकार, राजतपुर वर्णन, शिवनीति वर्णन।

सरसी और सार दोनों ही अष्टक के आधार पर चलने वाले समप्रवाही छन्द हैं। अंतिम लघु-गुरु के अतिरिक्त दोनों में कोई भेद नहीं है। समप्रवाही होने के कारण दोनों की गति में क्षिप्रता है। दोनों ही क्षिप्रगामी गृहोन्मुख प्रवासी हैं। पर सार अपना घर पहुँच कर जैसे अपनी यात्रा का अनुभव रस ले-ले कर सुनाता है, और सरसी थोड़ा सुना कर मौन हो जाती है—शेष श्रोताओं को अनुभव करने के लिये छोड़ देती है। इसीलिए अधिकांशतः गंभीर भावों की अभिव्यक्ति सरसी के द्वारा और हास-विलास, उल्लास-आनन्द की अभिव्यंजना सार के द्वारा कवि लोग करते आये हैं। एक ही पद में सार और सरसी के प्रयोग द्वारा सूरदास ने भावों में जो मोड़ ला दिया है, वह निम्नांकित पंक्तियों द्वारा कुछ दूर तक हृदयंगम किया जा सकता है।

**भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हें।**
**बाँह मरोरि जाहुगे कैसें, मैं तुम नीके चीन्हें।**
**माखन चोरी करत रहे तुम, अब भए मन के चोर।**
**सुनत रहो मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियो मन मोर।[1]**

यों ये दोनों छन्द सर्वरस-सिद्ध हैं। फिर भी कोमल रसों की अभिव्यंजना में ये अधिक सफल सिद्ध होते हैं। भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ होने के कारण ही ये दोनों प्राचीन काल के संतों तथा भक्तों की भावाभिव्यक्ति के माध्यम रहे और आधुनिक युग के मुक्तक और प्रबंधकारों की वाणी के वाहक बने।

## (३७) हरिगीतिका

**बाजहिं जु बाजन सकल सुर नभ पुहुप अंजलि बरषहीं।**
**थकि रहे व्योम-विमान मुनिजन जय सबद करि हरषहीं।**
**सुनि सूरदासहिं भयौ आनँद, पूजि मन की साधिका।**
**श्री लाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका। —पद १६६०**

हरिगीतिका छन्द का स्वतंत्र प्रयोग सूर-साहित्य में नहीं हुआ है। अन्य कई छन्दों के साथ सूरदास ने इसका प्रयोग किया है।[2] हरिगीतिका छन्द में १६-१२ पर यति और अंत में ।ऽ होता है। भानु ने इसका रचना-क्रम २, ३, ४, ३, ४, ३, ४, ५ बता कर चौकल में जगण (।ऽ।) का होना निषिद्ध माना

---

[1]सूरसागर, पद २५५०। [2]आगे मिश्र छंद।

है तथा अंत में रगण (ऽ।ऽ) को कर्णमधुर बताया है।[1] वस्तुतः गीतिका के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है। इस प्रकार इसमें सप्तक (ऽऽ।ऽ) की चार आवृत्तियाँ होती हैं, और गीतिका के नियमानुसार पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्रा लघु होती है।[2] इन मात्राओं के लघुत्व की बात तो सभी आचार्य लिखते हैं, पर कवियों के काव्यों में कहीं-कहीं इस नियम का उल्लंघन भी मिलता है। उपरिलिखित पद्य में ही द्वितीय चरण की पाँचवीं और तृतीय चरण की बारहवीं मात्रा गुरु है। १६-१२ वाला यतिनियम भी कहीं-कहीं काव्य-प्रयोग में खंडित होता दिखाई पड़ता है। जैसे—

**बैठे जु स्यामा स्याम वर—त्रैलोक की सोभा सची।** —पद १६६०

इस प्रकार की १४-१४ वाली यति-व्यवस्था का शास्त्रीय आधार यह है कि १४ मात्राओं के बाद दो सप्तक पूरे हो जाते हैं।[3]

हरिगीतिका का प्रथम उल्लेख 'हरिगीता' नाम से प्राकृत-पैंगल में पाया जाता है, जिसके अनुसार इसके प्रत्येक चरण में पंचकल, षट्कल, ३ पंचकल और गुरु होते हैं।[4] प्रा० पैं० में एक वर्णवृत्त इसी लय का है, जो गीता कहा गया है। इसकी गण-व्यवस्था स ज ज भ र स ल ग है।[5] केशव की छन्दमाला में प्रा० पैं० के ये दोनों छन्द मिलते हैं। केशव ने 'हरिगीता' को 'हरिगीत' और 'गीता' को 'गीतिका' कहा है। इनके अनुसार हरिगीत के चरण में आदि में दो मात्राएँ और अंत में रगण रहते हैं, शेष मात्राएँ किसी क्रम से रक्खी जा सकती हैं।[6] गीतिका का लक्षण इन्होंने दिया है तो भिन्न प्रकार से; पर गण-व्यवस्था वही है, जो प्रा० पैं० की गीता की।[7] केशव के ये दोनों छन्द भिखारी दास द्वारा भी उल्लिखित हैं, यद्यपि लक्षण-निरूपण इन्होंने भिन्न ढंग से किया है। 'चारि सगण-धुज गीतिका' अर्थात् सगण और धुज (त्रिकल ।ऽ) को क्रमशः चार बार रखने से गीतिका छन्द होता है।[8] इसी प्रकार हरिगीता का लक्षण दिया है—

---

[1]छंदःप्रभाकर : पृ० ६६। [2]आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २६८।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६८।
[4]प्राकृत पैंगलम् १।११६। [5]प्राकृत पैंगलम् २।१६६।
[6]केशव ग्रंथावली भाग २ छन्दमाला २।४५।
[7]केशव ग्रंथावली भाग २ छन्दमाला १।६२—गीतिका छंद
[8]छंदार्णव : भिखारीदास ५।२१८।

करि गीता गुरु अंत हरिगीता अट्ठाईस ।[1]

भानु ने भी हरिगीतिका को मात्रिक और गीतिका को वर्णिक छन्दों के अन्तर्गत उल्लिखित किया है।[2] इस प्रकार हरिगीतिका छन्द के मात्रिक और वर्णिक दोनों रूप बहुत प्राचीन काल से चलते आ रहे हैं।

इन दोनों रूपों में कौन पूर्ववर्त्ती है, और कौन परवर्त्ती ? इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। डॉ० शुक्ल ने हरिगीतिका का विकास संस्कृत के मन्दाकिनी वृत्त से माना है। मन्दारमरन्दाचम्पू के 'मन्दाकिनीत्मयर्ता गोवेदै-वेदयतिर्भवेत्' सूत्र के अनुसार इसकी गणव्यवस्था त म य र त ग है।[3] यह वही गणव्यवस्था है, जो प्रा० पैं० में बतलाई गई है। त=पाँच, म=छः, य=पाँच, र=पाँच, त=पाँच और गुरु। यह मदारमरन्दाचम्पू डा० वेलंकर के मतानुसार प्राचीन नहीं, आधुनिक ग्रंथ है। उनके अनुसार प्रा० पैं० इससे पुराना है।[4] इसलिए मन्दारमरन्दाचम्पू के मन्दाकिनी छन्द से हरिगीतिका का विकास मानने से उसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती, और उसका संबंध संस्कृत की प्राचीन छन्दःपरंपरा से नहीं जोड़ा जा सकता। ऐसी कल्पना कर ली जा सकती है कि प्रा० पैं० की मात्रिक हरिगीतिका छन्द ही आगे चल कर वर्णवृत्त के बन्धन में बाँध दिया गया। ऐसी ही कल्पना के आधार पर डॉ० व्यास ने वर्णिक गीतिका (गीति) छन्द को हरिगीतिका (मात्रिक) का परवर्त्ती रूप माना है।[5] ऐसी कल्पना यथार्थ के कितने ठोस आधार पर टिकी है, इसका विवेचन हम आगे करेंगे। अभी हमें हरिगीतिका का संस्कृत छन्दःपरंपरा से संबंध देखने के लिए प्रा० पैं० से और पीछे जाना पड़ेगा। प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रों में इस लय का कोई मात्रिक या वर्णिक छन्द नहीं है। पर हम पीछे गीतिका छन्द के प्रकरण में यह देख आये हैं कि चंचरी का उल्लेख अत्यंत प्राचीन है। इसी चंचरी के पहले दो लघु जोड़ कर प्रा० पैं० की गीता और केशव की गीतिका का निर्माण हुआ है, जिसकी ओर केशव का लक्षण स्पष्टतया संकेत करता है। यदि हरिगीतिका छन्द इसी गीतिका का वर्णबंधन उतार कर मात्रिक हो गया हो, तो इसका संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से सहज ही जुड़ जाता है। अब प्रश्न उठता

---

[1]छंदार्णव : भिखारीदास ६।३५। [2]छंदःप्रभाकर, पृ० ६९ और १९६।
[3]प्रा० हि० का० में छंदयोजना, पृ० २९८।
[4]जयदामन : डॉ० वेलंकर, पृ० ११५।
[5]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० ५०३।

है कि यह हरिगीतिका (मात्रिक) प्रा० पैं० से भी पुराना है। इसका संबंध 'गोसल' नामक किसी पुराने छन्दःशास्त्री से है, जिसकी गीता के, जो वस्तुतः हरिगीतिका ही है, लक्षण को रत्नशेखर ने उद्धृत किया है—'जो अत्थलीगाउ जमगसुद्धउ गोसलेण पयासिओ'[1] इस छन्दःकोश के छप्पय का लक्षण किंचित् परिवर्तन के साथ प्रा० पैं० में भी पाया जाता है।[2] रत्नशेखर ने गुल्ह या गोसल को उसका रचयिता कहा है। इस प्रकार गोसल प्राकृत पैंगलकार से प्राचीन सिद्ध होते हैं। अतः दोनों ग्रंथकारों ने पूर्ववर्ती गुल्ह से ही यह पद्य उधार लिया है, ऐसा विद्वानों का मत है।[3] गोसल का न तो कोई ग्रंथ उपलब्ध है, न समय का ही कोई पता है। पर केदारभट्ट के वृत्तरत्नाकर के टीकाकार रामचन्द्र विबुध ने एक प्रमदानन नामक वृत्त का उल्लेख किया है—

**स ज जा भरौ सलगाश्च चेदुदितं तदा प्रमदाननम्।**[4]

इसकी गण-व्यवस्था वही है, जो प्रा० पैं० की गीता की है। इस टीका के संबंध में डॉ० वेलंकर का कथन है कि इसके तृतीय अध्याय में ३० अतिरिक्त छन्द हैं, जो आलोचित होने के कारण रामचन्द्र के द्वारा मूल (Genuine) माने जाते हैं।[5] इस प्रकार यदि यह प्रमदानन छन्द केदार का माना जाय, तो निस्संदेह गीता या गीतिका, हरिगीता या हरिगीतिका से पहले का ठहरता है। और फिर इसी वर्णवृत्त से मात्रिक हरिगीतिका का विकास हुआ, यह कहने में किसी प्रकार की शंका नहीं रहती।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में गीता, या हरिगीता छन्द नहीं मिलता। पर २८ मात्राओं के जो छः छन्द (द्विपदी, रचिताप्रथम, रचिता द्वितीय, कोद्-दुम्भक, दीपक तथा विद्रुम (रासक) मिलते हैं[6], उनमें विद्रुम का संबंध हरि-

---

[1]छंदःकोश, १८। [2]छंदःकोश १२, प्रा० पैं० १।१०७।

[3]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ३८८। मात्रिक छंदों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६०।

[4]जयदामन : वेलंकर, वृत्तरत्नाकर ३।६८-३ (पादटिप्पणी) पृ० ८५।

[5]This contains about 30 additional metres in Ch. 3, all of which are commented upon and hence regarded as genuine by Ramchandra.

—Jaydaman, P. 51.

[6]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५००।

गीतिका से जोड़ने का प्रयास डॉ० व्यास ने किया है। उन्होंने हेमचन्द्र का निम्नांकित उदाहरण

**भ्रूवल्लिं चावयं मणोहवस्स ससितुल्लं वयणं।**
**अंगं चामी अरप्पहं अहिणव कमलदलं नयणं।—छंदोनुशासन ५।११**

सामने रख कर उद्घोषित किया है कि यदि ४ लघ्वक्षरों वाली परिपाटी का पालन नहीं किया जाय, तो यह छन्द स्पष्टरूप से हरिगीता हो सकता है।[1] छन्द की परीक्षा तद्गत लय के आधार पर होती है। एकाध निर्दिष्ट लघु के स्थान पर गुरु आ जाने पर भी लय में विशेष बाधा नहीं पड़ती। सूरदास के ही उपरिलिखित पद में दो स्थानों पर इस नियम का पालन नहीं हुआ है, पर हरिगीतिका की लय पर कोई आघात नहीं पड़ता। हेमचन्द्र की उपर्युद्धृत पंक्तियों की लय हरिगीतिका से थोड़ी भिन्न है। हरिगीतिका की लय में लाने के लिये इन्हें निम्न रूप देना पड़ेगा।

**भ्रू वल्लि चावय मणोहवसा ससी तुल्लं वायणं।**
**अंगं चमी अरप्पह अहिणव कमलदालं नायणं।**

यहाँ भी लध्वक्षर वाली परिपाटी का 'मणो' और 'ससी' द्वारा खंडन होता है, पर लय हरिगीतिका की हो जाती है। इसलिए थोड़े परिवर्तन के बाद हेमचन्द्र का विद्रुम हरिगीतिका बन सकता है, इसमें सन्देह नहीं। पर केदार के प्रमदानन में लय के लिये परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। केवल वर्णबंधन को ढीला कर देने पर ही वह हरिगीतिका बन जायगा।

हिन्दी छन्दःशास्त्रों में हरिगीतिका का सर्वप्रथम उल्लेख जैन कवि राजमल्ल की अप्रकाशित रचना 'छन्दःशास्त्र' में मिलता है, जो केशव की छन्दमाला से २५-३० वर्ष पुरानी मानी गई है।[2] फिर केशव के बाद मुरलीधर (हरिगीता)[3], सुखदेव (हरिगीत)[4], जयदेव (हरिगीत)[5], भिखारीदास (हरिगीत)[6], रामसहाय (हरिगीत)[7], अयोध्या प्रसाद (हरिगीत)[8] तथा जानी बिहारी (हरिगीत)[9] ने अपने-अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है। जिस प्रकार इसका छन्दःशास्त्रीय

---

[1]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५०१। [2]वही।
[3] से [5]—मात्रिक छंदों का विकास, पृ० ७२, ७४, ८३।
[6]छंदार्णव : ६।३५।
[7] से [9] तक मात्रिक छंदों का विकास, ९२, ९४, ९६।

उल्लेख पुराना है, उसी प्रकार इसका काव्यगत प्रयोग भी प्राचीन है। अपभ्रंश कवि बब्बर ने हरिगीतिका का प्रयोग वर्णवृत्त के रूप में किया है—

**जइ फुल्ल केअइ चारु चंपअ-चूअ मंजरि-वंजुला।**
**सब दीस दीसइ केसुका रारा णाण बाउल मम्मरा।**
**वह पोम्म गंध विबंधु बंधुर मंद मंद समीरणा।**
**णिअ केलि कौतुक लास लंगिम लग्गि आ तरुणी जणा।**[१]

गोरखबानी में हरिगीतिका की पंक्ति उपलब्ध नहीं होती। चन्दबरदाई के रासो में गीतामालती और माधुर्य नाम के जो दो छन्द मिलते हैं, वे आजकल के मात्रिक हरिगीतिका छन्द ही हैं।[२] जैसे—

**माधुर्य—जग ज्योति जिगिनि विसि अभिगिनि रत्त रत्तति अंबरं।**
**सामंत सूर सुधान निद्रा अमित क्रोध सु उत्तरं॥**

विद्यापति की कीर्त्तिलता में जो गीतिका छन्द है, वह भी मात्रिक हरिगीतिका ही है।[३] कीर्त्तिलता के अतिरिक्त उनकी पदावली में गीतिका के साथ प्रयुक्त हरिगीतिका के दो चरण मिलते हैं।

**निज पाणि पल्लव मूँदि लोचन धरनि पड़ असँभार रे।**
× × ×
**जय प्रलय कालक प्रबल पावक दहइ सून शरीर रे।**[४]

कबीर ने १४-१४ पर यति दे कर हरिगीतिका का स्वतंत्र प्रयोग किया है।

**सुनता नहीं धुन की खबर, अनहद्द बाजा बाजता।**
**रसमन्द मन्दिर गाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ।**[५]

इसके अतिरिक्त भी गीतिका के साथ हरिगीतिका के चरण मिलते हैं।[६] सूरदास ने हरिगीतिका का प्रयोग बहुत कम किया है। कृष्णभक्त कवियों में इसकी पंक्ति दिखलाई नहीं पड़ती। किंतु, हरिगीतिका तुलसीदास का प्रिय छन्द प्रतीत होता है। अपने रामचरितमानस में उन्होंने स्थलविशेष पर इसका प्रयोग किया है। विनयपत्रिका के दो और कृष्णगीतावली का एक पद इसी छन्द में लिखे

---

[१]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३२२।
[२]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २४०, २४३।
[३]कीर्त्तिलता, वासुदेव शरण अग्रवाल, २।१७, पृ० ५८, ६५।
[४]विद्यापति पदावली : बेनीपुरी, पद १४१।
[५]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद १९४।
[६]कबीर ग्रंथावली : श्याम सुंदर दास, पद ३९०, ३९१, ३९२।

गये हैं।[१] इसके अतिरिक्त विनयपत्रिका के दो पदों में सूरदास के समान इन्होंने भी चौपाई आदि छन्दों के साथ हरिगीतिका का मिश्र प्रयोग किया है। गीतावली में दोहे, नाग तथा दोहरे के साथ हरिगीतिका के चरण मिलते हैं। जानकी-मंगल में भी जगह-जगह पर इसका प्रयोग हुआ है। केशवदास की रामचन्द्रिका में इसके मात्रिक (हरिगीत)[२] और वर्णिक (गीतिका)[३] दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत भूषण (शिवराज-भूषण)[४], श्रीधर (जंगनामा)[५], सूदन (सुजानचरित)[६] तथा पद्माकर (हिम्मतबहादुर विरुदावली)[७] ने हरिगीतिका छन्द का प्रयोग किया है। भारतेन्दु के काव्य और नाटक दोनों में इसका प्रयोग हुआ है। द्विवेदी युग के काव्यों में इसे विशेष सम्मान मिला। मैथिलीशरण ने जयद्रथ-वध और भारत-भारती की रचना तो आद्योपांत इस छन्द में की ही, जयभारत की अनेक कविताओं (रणनिमंत्रण, केशों की कथा, कुरुक्षेत्र) में भी इसका प्रयोग किया है। रामचरित उपाध्याय के प्रबंध-काव्य 'रामचरित-चिन्तामणि' में भी हरिगीतिका का विशद प्रयोग पाया जाता है। छायावाद में इसका सम्मान अवश्य घट गया (जिसके कारण की ओर हम पीछे गीतिकाप्रकरण में संकेत कर आये हैं) किन्तु छायावादी प्रगीतों में इसका एकांत अभाव नहीं है। महादेवी का निम्न गीत हरिगीतिका छन्द में ही निबद्ध है—

**तू स्वप्न सुमनों से सजा तन**
**विरह का उपहार ले;**
**अगणित युगों की प्यास का**
**अब नयन अंजन सार ले।[८]**

इस प्रकार बब्बर से (१०५० ई०)[९] ले कर आधुनिक काल तक इसका

---

[१]विनयपत्रिका, ४—१३५, कृ० गी० २३।
[२]रामचंद्रिका ६।३०-३६।  [३]रामचंद्रिका ४।६।
[४]शिवराजभूषण, पद १६ से २२।
[५]वीरकाव्य : उदयनारायण तिवारी, पृ० ३४७।
[६]वीरकाव्य : उदयनारायण तिवारी, पृ० ३६३, ३६८।
[७]हिम्मतबहादुर विरुदावली पद २, ४६, ६२, ७७ से १७६, १८१, २११।
[८]नीरजा : गीत ६।
[९]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ३१४ और ४३४।

प्रयोग होता रहा। बब्बर ने इसका प्रयोग वर्णवृत्त रूप में किया और उनके बाद चंदबरदाई (१२०० ई०) ने मात्रिक रूप में। चन्दबरदाई से ले कर आज तक इसके मात्रिक रूप का ही प्रयोग होता रहा। बीच में संस्कृताभिमानी पंडित-कवि केशव ने इसका दोनों रूपों में अवश्य प्रयोग किया। बब्बर के काव्य में प्रयुक्त वर्णवृत्त रूप और उसके बाद के काव्य में मात्रिक रूप को देख कर क्या हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि वर्णिक गीतिका छन्द ही आगे चल कर मात्रिक हरिगीतिका में परिणत हो गया। डॉ० व्यास का गीतिका को हरिगीतिका का परवर्ती मानना कहाँ तक युक्तिसंगत है[1], इसका विवेचन हम दूसरे ढंग से भी कर सकते हैं। मात्रिक छन्दों की अपेक्षा वर्णों के क्रमायोजन के कारण वर्णिक छन्दों की रचना करना कवियों के लिये थोड़ा कठिन होता है। संभवतः वर्णवृत्त के रचनाकाठिन्य को ध्यान में रख कर ही हरिऔध ने फारसी का निम्नांकित शेर उद्धृत कर कवि-कर्म को अत्यंत दुरूह बताया है—

**बराय पाकिये लफ्जे शरे बरोज आरन्द।**
**कि मुर्ग माही वाशन्द खुफ्ता ऊवेदार।**

(कवि एक शब्द को परिष्कृत करने के लिये उस रात्रि को जाग कर दिन में परिणत करता है, कि जिसको चिड़ियाँ और मछलियाँ तक निद्रा देवी के शांतिमय अंक में शिर रख कर व्यतीत करती हैं।[2])

मात्रिक छन्दों की रचना वर्णवृत्तों की अपेक्षा बहुत सरल है। प्राणिमात्र का यह स्वभाव है कि वह सदा अपने श्रम का परिमित व्यय करना चाहता है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में वह चाहता है कि उसे कम-से-कम श्रम उठाना पड़े। इसी प्रयत्न-लाघव अथवा सुविधा के कारण प्राकृत के अट्ठ, अज्ज, सत्त और दुद्ध शब्द हिन्दी में आठ, आज, सात और दूध कहे जाने लगे।[3] इस प्रकार भाषा के विकास का मूल कारण यही प्रयत्न-लाघव अथवा सुविधा है। संस्कृत-प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश भाषा की व्याकरणिक सरलता इस बात का स्पष्ट संकेत करती है। अपभ्रंश ने संस्कृत व्याकरण के विस्तार को अत्यंत संक्षिप्त कर के भाषा के ढाँचे को बहुत सरल बना दिया। अपभ्रंश तक आते-आते संस्कृत और प्राकृत की तरह शब्द-रूप और धातु-रूप को रटने से जान बची।[4] विकास-क्रम

---

[1]प्रा० पै० भाग ४, पृ० ५०३। [2]प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० २६।
[3]भाषा-विज्ञान : मंगलदेव शास्त्री, पृ० १२०-१२१।
[4]हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : नामवर सिंह, पृ० ३४।

की यह जो सरलता की ओर प्रवृत्ति है, इसी के प्रकाश में छन्दों का विकास ढूंढना हमें समीचीन प्रतीत होता है। इसलिये मात्रिक छन्द से कवि-समुदाय वर्णवृत्त की ओर बढ़े, यह बात कुछ विपरीत प्रतीत होती है। पांडित्य-प्रदर्शन अथवा नवीनता उपस्थित करने के लिये यदि कभी कोई कवि भटक जाय, तो बात दूसरी है। आचार्यों की बात हम नहीं करते। उनके यहाँ तो प्रस्तार-भेद से छन्दों की संख्या लाख तक पहुँच गई है। शास्त्रों में उल्लिखित वर्णवृत्तों की संख्या भी ६०० से ऊपर है, जबकि काव्य-प्रयोग में १०० से अधिक छन्द नहीं मिलते।[१]

हरिगीतिका छन्द को पंत जी ने करुण रस के लिए अच्छा कहा है।[२] पर यह सभी रसों में सफल सिद्ध हुआ है। पृथ्वीराज रासो में वीर तथा शृंगार रस के स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में वीर, शृंगार, करुणा, भयानक, वीभत्स रसों की अभिव्यंजना इसके सहारे सफलतापूर्वक की है। सूदन तया पद्माकर ने वीर रस में इसका प्रयोग किया है तथा सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञान सुमुद्र' तथा 'भजनख्याल अष्टक' में शान्त रस में इसका उपयोग किया है।[३] मैथिलीशरण के जयद्रथ-वध में भी इसके द्वारा अनेक रसों का सम्यक् परिपाक् हुआ है। इसी सर्वरससिद्धता के कारण प्राचीन काल से ले कर आधुनिक काल तक यह कवियों की भावाभिव्यक्ति का अमोघ साधन बना रहा।

## (३८) सार

**परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।**
**मन-बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।**
**रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।**
**सब बिधि अगम बिचारहि तातैं सूर सगुन-पद गावै। —पद २**

सूर-साहित्य में प्रयुक्त छन्दों में सर्वाधिक संख्या सार छन्द की है। सूर-सागर (मूल ११९०, परि० ८५) और साहित्य लहरी (३५, परि० १) दोनों में प्रयुक्त सार की संख्या १३११ है। सूरसारावली तो आद्योपांत सार और

---

[१]जयदामन : एच० डी० वेलंकर, पृ० ५६।
[२]पल्लव की भूमिका, पृ० ४६।
[३]हिन्दी साहित्य-कोश : सं० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० ९६१।

सरसी छन्दों में ही लिखी गई है। केवल ३ अर्द्धालियाँ विष्णुपद की हैं।[1] इसके अतिरिक्त अन्य छन्दों के साथ सार का मिश्र प्रयोग भी सूर-साहित्य में पाया जाता है।[2] इस प्रकार सार सूरदास का अत्यंत प्रिय छन्द है। अन्य पद-रचयिताओं के पदों में भी इसकी संख्या कम नहीं है। कदाचित् ही कोई ऐसा पद-रचयिता मिले, जिसके पदों में सार का प्रयोग नहीं हुआ हो। सार के लक्षण में भानु ने इसके प्रत्येक चरण में १६-१२ पर यति और अंत में ऽऽ माना है—

**सोरह रवि कल अंतै कर्णा, सार छन्द अति नीको।**

पर पृथक् रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि अंत में ऽऽ कर्णमधुर होते हैं। इसके अन्त में एक गुरु अथवा दो लघु भी रह सकते हैं।[3] अंत में एक गुरु वाले दो गण हैं—रगण (ऽ।ऽ) और सगण (।।ऽ) और अंत में दो लघु वाले भी दो हैं—भगण (ऽ।।) और नगण (।।।) इनमें सगणांत और भगणांत चरणों का प्रयोग सूर-साहित्य में मिलता है, यद्यपि मगणांत (ऽऽऽ) और यगणांत (।ऽऽ) चरणों का ही बाहुल्य है। नगणांत चरण देखने में नहीं आया और रगणांत चरण का प्रयोग तो अपभ्रंश साहित्य में ही उपलब्ध है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में ऐसा प्रयोग बिलकुल नहीं मिलता।[4]

प्राचीन छन्दःशास्त्रों में सार नाम के दो छन्द मिलते हैं। प्रा०पैं० में दो वर्णों का एक छन्द सार नाम से उल्लिखित है।[5] इसी का उल्लेख जयकीर्ति ने 'जत्रु'[6] नाम से और हेमचन्द्र ने 'दुःख'[7] नाम से किया है। इसी का प्रयोग केशवदास ने रामचन्द्रिका के प्रारंभ में किया है।[8] दूसरा सार दण्डक है, जिसका उल्लेख पिंगल के टीकाकार ने पाद-टिप्पणी में किया है।[9] स्पष्टतः इन

---

[1]सूरसारावली : प्रभुदयाल मीतल, पद्य सं० २४१, २४२, ९५८।

[2]आगे मिश्र छन्द। [3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६९।

[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ३०१।

[5]प्राकृत पैंगलम्—२।९।

[6]छन्दोनुशासन : ग्ले तु यत्र। जातु जत्रु। २।६।

[7]छन्दोनुशासन : ग्लौ दुःखम्। २।९। [8]रामचन्द्रिका १।९-१०।

[9]आदि पदात् पंचदशादिभी रगणैर्घटिता पादाः क्रमेण—आराम-संग्राम-सुराम-बैकुण्ठ-सार-कासार..............इत्येते ग्राह्या इति तर्क वाचस्पतिः। पिंगल कृत छन्दःशास्त्रम्। ७।३५ (पाद टिप्पणी) पृ० १७७।

दोनों सार छन्दों से इस सार का कोई संबंध नहीं है। २१ अक्षर वाले नरेन्द्र (भ र न न ज ज य) से अवश्य इसका लयसाम्य है। इस नरेन्द्र का उल्लेख प्राकृत पैंगलम्[१] भिखारीदास[२] तथा भानु[३] ने किया है। पर प्राकृत पैंगलम् से पूर्व किसी संस्कृत छन्दःशास्त्री द्वारा यह उल्लिखित नहीं, अतः नरेन्द्र के आधार पर प्राचीन संस्कृत छन्दःपरंपरा से सार का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता।

प्राकृत-अपभ्रंश छंदःपरम्परा में २८ मात्रापादी अनेक छन्द मिलते हैं। जैसे—रचिता (विरहांक ३।२५) कौद्दुम्भक (विरहांक ४।५३), उपभ्रमरपद (स्वयंभू ६।१३४), भ्रमर पद (स्वयंभू ६।१३३), लय (स्वयंभू ६।१३२), कर्पूर (कविदर्पण २।२), द्विपदी (कविदर्पण २।२४, नंदिताढ्य ७८) और गीत (रत्नशेखर-छंदकोश १८) इनमें गीत तो हरिगीतिका छन्द है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है, और कर्पूर उल्लाला छंद है, जिसकी चर्चा आगे उल्लाला-प्रकरण में की जायगी। शेष छन्दों में गण-व्यवस्था और लय-साम्य के आधार पर सार का संबंध द्विपदी के साथ जोड़ा गया है।[४] द्विपदी की गण-व्यवस्था कविदर्पण के अनुसार ६+(४×५)+२, और प्रा० पै० के अनुसार ६+(४×४)+६ है। हमारे विचार से गणव्यवस्था के अनुसार लय छन्द (४×७) के साथ भी सार का संबंध जुट सकता है। सार के उदाहरण रूप में दी गई भानु की निम्न पंक्ति को लय का उदाहरण मानने में क्या आपत्ति हो सकती है—

**राधा राधा राधा राधा राधा राधा राधा।**[५]

चौकल की व्यवस्था होने के कारण इसमें १६ पर यति का भी अवकाश मिल जाता है। किंतु दोवई (द्विपदी) को परवर्त्ती आचार्यों द्वारा उल्लिखित होने का जो दृढ़ आधार प्राप्त है, वह लय को नहीं। मुरलीधर (दोबई)[६], सुखदेव (दोबै)[७], भिखारीदास (दोबै)[८], अयोध्या प्र० (दोबई)[९], सभी ने इस द्विपदी

---

[१]प्रा० पै० २।२०२। [२]छन्दार्णव ५।२१८-२२०।

[३]छन्दःप्रभाकर, पृ० १६८।

[४]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० २८५।

[५]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६६।

[६] और [७]—मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ७२ और ७४।

[८]छन्दार्णव—५।२१८, २२१। [९]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ६४।

का उल्लेख किया है। जानी बिहारी लाल ने गणबद्धदोबई के अतिरिक्त १६-१२ वाले एक ललितपद छन्द का भी उल्लेख किया है।[1] जानीबिहारी लाल का यही ललितपद भानु के यहाँ सार कहलाया। यों भिखारीदास ने दोबै को भी अनियम उद्‌घोषित कर दिया था—

**अनियम बरन नरिन्द्रगति दोबै कह्यौ फनिन्द।**

भानु ने इसीलिये इसका अन्य नाम ललितपद और दोबै दोनों ही बतलाया है।

द्विपदी का प्राचीनतम उल्लेख नंदिताढ्य के गाथालक्षण में मिलता है। डॉ० वेलंकर के अनुसार ७४ से लेकर अंत तक के पद्य नंदिताढ्य की रचना नहीं, वरन् परवर्त्ती क्षेपक है।[2] यदि ऐसी बात हो, तो द्विपदी के प्रथम उल्लेख का श्रेय स्वयंभू को दिया जायगा, क्योंकि स्वयंभूच्छन्दः में इसका उदाहरण प्राप्त होता है[3], लक्षण भले ही नहीं उपलब्ध होता हो।[4] फिर उनके पश्चात् अपभ्रंश के अन्य छन्दःशास्त्रियों ने इसका उल्लेख किया। अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियों के इस उल्लेख के आधार पर डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने द्विपदी को संस्कृत वर्णवृत्त का विकास-रूप नहीं माना है। क्योंकि उनकी दृष्टि में पिंगल, कालिदास, क्षेमेन्द्र, जयकीर्त्ति, जयदेव, केदार आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया है।[5] अन्य संस्कृत आचार्यों द्वारा यह अवश्य अनुल्लिखित है, पर जयकीर्त्ति ने इसका उल्लेख किया है—

**षट्कलतश्चतुष्कलागणाः पञ्चैव गुरूत्तरास्तथा**

× × ×

**स्याद् द्विपदीति षटकलगणे ल्न समोऽत्र परेण युज्यते।**[6]

और इसे संस्कृत छन्द माना है। अवश्य हेमचन्द्र इसे प्राकृत छन्द कहते हैं।[7]

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २३८।

[2] कविदर्पण की भूमिका : पृ० ३०। [3] स्वयंभूच्छन्दः ८।२०-२।

[4] Svayambhu's difination of Dvipadi is lost. स्वयंभूच्छन्दः की टीका, डॉ० वेलंकर, पृ० २३३।

[5] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २८७। [6] छन्दोनुशासन, ६।२८।

[7] Jaykirti regards this and the next two as Sanskrit metres, but Hemchandra considers these as Prakrit metres.

—Jaydamana, Velankar, Page 159.

स्वयंभू के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० वेलंकर ने स्वयंभू और जयकीर्त्ति दोनों का समय १०वीं शताब्दी माना है। यदि ऐसा हो, तो यह कहना कठिन हो जाता है कि द्विपदी का उल्लेख पहले किसने किया।

सार छन्द का काव्यगत प्रयोग बहुत पुराना है। इसकी छिट-पुट पंक्तियाँ सर्वप्रथम सरहपा में उपलब्ध होती हैं। जैसे—

**सरह भणइ वर सुन्न गोहाली की मो दूठ बलन्दे।[1] —चर्यापद**
**बाद्धह सअल मणे देइ मुक्का मल्ल माण सो बाज्झइ।**
**सा होइ सुब्बोच्छिन्नं अब्बोच्छिन्नं मुन आणंतरण।[2]**

इसके अतिरिक्त भूमिका में उद्धृत एक गीत में सार के दो चरण मिलते हैं।

**मोरंगी पिच्छि प रहि सबरो, गीवत गुजरी माला।**
**ऊमत सबरो पागल सबरो, मा कल गुली-गुहाड़ा।[3]**

अन्य सिद्धों में डोम्बिपा[4], दारकिपा[5], शान्तिपा[6] आदि में भी सार का प्रयोग मिलता है। इन सिद्धों में पाये जाने वाले सार के पादान्त में रगण (ऽ।ऽ) नहीं मिलता, जैसा अपभ्रंश के छन्दःशास्त्रियों (स्वयंभू, कविदर्पणकार, नंदिताढ्य तथा प्राकृत पैंगलकार) के उदाहरण-पद्यों तथा पुष्पदन्त (पावस-ऋतु वर्णन)[7], धनपाल (युद्ध-भविष-दत्तका)[8] आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त दुवई के चरणों में अक्सर पाया जाता है। साथ ही अनेक चरणों में दुवई की गणव्यवस्था भी (६+(४+५)+२) नहीं मिलती। जैसे उपर्युद्धृत पंक्ति के 'गुली-गुहाड़ा' में। पर गणमुक्त सार के नियम (सम के बाद सम और विषम के बाद विषम) का पालन प्रायः सर्वत्र हुआ है। मात्राओं की न्यूनता या अधिकता का जो दोष है, वह ह्रस्वोच्चारण अथवा दीर्घोच्चारण से दूर हो जाता है।

गोरखबानी में सबदी और पद में सार का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

---

[1] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० १८।

[2] दोहाकोश : राहुल, पृ० ८७-८८, पृ० २०।

[3] दोहाकोश : राहुल, भूमिका, पृ० २४ (यही गीत हिन्दी-काव्यधारा में शबरपा के नाम पर मिलता है), पृ० २०।

[4] से [6] तक-हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० १४०, १४२, २४०।

[7] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० १८२।

[8] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २८४ (घत्ता के बाद की दो पंक्तियाँ)।

अनेक स्थलों पर मात्रा की कमी-बेशी मिलती है, पर पादांत में रगण का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है।

**सारमसारं गहरगंभीरं गगन उछलिया नादं।**
**मानिक पाया फेरि लुकाया, झूठा बाद-बिवादं।**[1]

चन्दबरदाई के काव्य में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं मिलता। विद्यापति की पदावली में ३० पदों में सार का स्वतंत्र प्रयोग हुआ है।[2] और सरसी के साथ मिश्र-रूप में ४१ पदों में। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने गेय पदों के लिये दुबई छन्द का प्रथम उपलब्ध प्रयोग कबीर द्वारा किया गया बतलाया है।[3] पर कबीर के पहले विद्यापति गेय पदों में दुबई (सार) का प्रयोग कर चुके थे। यों सरहपा आदि सिद्धों के गेय पदों में भी इसकी कतिपय पंक्तियाँ मिल जाती हैं, और गोरखनाथ के राग रामग्री और राग असावरी में गाने योग्य कितने ही पदों में इसका प्रयोग हो चुका था। कबीर ने सार का प्रचुर प्रयोग किया है। उनके काव्य में २०० से अधिक पद सार छन्द में निबद्ध हैं। अन्य संतों के काव्यों में भी इसका प्रमुख स्थान है। सूरदास ने तो इसका प्रचुर प्रयोग किया ही, अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के बीच भी इसे बराबर सम्मान मिलता रहा। मीराबाई ने सब से अधिक सार का ही प्रयोग किया है। उनकी पदावली में इसके ६१ पद मिलते हैं। तुलसी के पद-साहित्य में भी इसकी संख्या सब छन्दों से अधिक है। विनयपत्रिका, गीतावली तथा कृष्णगीतावली—तीनों में १७७ पद सार छन्द के हैं। सार का छन्द के रूप में प्रयोग करने वालों में केशव (रा० च०) और रघुराज (रा० स्व०) के नाम हिन्दी साहित्यकोश, भाग-१ में गिनाये गये हैं[4], पर हमें रामचन्द्रिका में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं हो सका। कदाचित् पंडित कवि केशव ने इसे गेय पदों का छन्द जान कर अपने प्रबन्धात्मक काव्य में इसे स्थान नहीं दिया। किन्तु रीतिकाल के सन्त और भक्त तो अपने पदों में इसका प्रयोग बराबर करते ही रहे। आधुनिक काल में भारतेन्दु के काव्यों में इसको काफी प्रतिष्ठा मिली। उन्होंने

---

[1] गोरखबानी : पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, सबदी १२।

[2] विद्यापति पदावली : बेनीपुरी, पद ३, ११, १२, १४, १५, १८, ३१ आदि।

[3] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २६१।

[4] हिन्दी साहित्यकोश, भाग-१, पृ० ६१८।

अपने नाटकों में भी इसे प्रमुख स्थान दिया। द्विवेदी युग में तो इसका सम्मान और भी बढ़ा और इसमें पूरा-का-पूरा ग्रंथ लिखा गया। रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' आद्योपांत इसी छन्द में लिखा गया है। मैथिलीशरण ने 'जय-भारत' (बन्धुविद्वेष, जयद्रथ, अन्त) और 'द्वापर' (विधृता, बलराम) में, गुरु-भक्त सिंह 'भक्त' ने 'नूरजहाँ' में,[1] श्यामनारायण पांडेय ने 'हल्दीघाटी' में,[2] प्रसाद ने 'कामायनी' में,[3] तथा रामानन्द तिवारी ने 'पार्वती' में[4] इसका सर्ग-गत प्रयोग किया है। गुप्त जी ने 'यशोधरा' के अनेक गीतों की रचना सार छन्द में ही की है।[5] छायावाद के अनेक प्रगीत मुक्तक इसी छन्द में लिखे गये हैं। पन्त की 'याद' और 'महात्मा जी के प्रति' कविताएँ सार में ही निबद्ध हैं।[6] निराला ने 'नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली'[7] नामक गीत सार छन्द में ही रचा है। प्रसाद ने भी 'लहर' की एक कविता में इसका प्रयोग किया है। जैसे—

**अरे, आ गई है भूली-सी-**
**यह मधु-ऋतु दो दिन को,**
**छोटी-सी कुटिया में रच दूँ,**
**नई व्यथा साथिन को।[8]**

हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा के कवियों की वाणी का भी वहन इस सार ने किया है। संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्द में सार का प्रचुर प्रयोग मिलता है। गीतगोविन्द में गेय पदों में सब से अधिक इसको ही स्थान मिला है। डॉ० भोलाशंकर व्यास द्वारा उद्धृत गीतगोविन्द की निम्न पंक्तियाँ—

**विगलितवसनं, परिहृतवसनं, घटयजघनमपिधानं।**
**किशलयशयने, पंकजनयने, निधिमिव हर्षनिधानं।**
**धीर समीरे, यमुनातीरे, वसति वने वनमाली।**

सार छन्द की ही हैं। उनके मतानुसार यह छन्द परवर्ती हरिगीतिका के ढंग पर है।[9] किंतु ऐसा बिलकुल नहीं है। हरिगीतिका की गण-व्यवस्था ८-८-१२

---

[1] नूरजहाँ : सर्ग ६, पृ० ४६-५१, सम्पूर्ण ६वां सर्ग।
[2] हल्दीघाटी, सर्ग ५।
[3] कामायनी—कर्म सर्ग।
[4] पार्वती—अर्चना।
[5] यशोधरा : राहुलजननी गीत, ६, ७।
[6] आधुनिक कवि, पृ० ८२, ८३।
[7] गीतिका, गीत ४१।
[8] लहर, पृ० ४४।
[9] प्रा० पैं० भाग-४, पृ० ३५०।

नहीं, सप्तक (ऽऽ।ऽ) की चार आवृत्तियाँ हैं (हरिगीतिका, हरिगीतिका, हरि-गीतिका, हरिगीतिका)। साथ ही हरिगीतिका के अन्त में ऽऽ नहीं रह सकते। जयदेव के अनुकरण पर भारतेन्दु ने भी इस प्रकार का एक पद लिखा है—

**हरिरिह विलसति सखि ऋतुराजे।**
**मदनमहोत्सव वेषविभूषित वल्लवरमणिसमाजे।**
**प्रकटित वर्षावधि हृदयाहित युवतिसहस्रविकारे।**
**स्वावेशावृतमत्तीकृत नरलोक - भयापहमारे।**[1]

संस्कृत के अतिरिक्त बंगाल के वैष्णव कवि चण्डीदास, गोविन्ददास और भानुसिंह (रवीन्द्रनाथ) ने पदों में सार छन्द का प्रयोग किया है।

**तोमार चरणे-आमार पराणे बांधिल प्रेमेर फाँसि।**
**सब समर्पिया एक मन हैया निश्चय हइलाम दासी।**[2]

**—चण्डीदास**

**कुच-युग-कलस महेश सम जानिये तापर धरि हाम पाणि।**
**नहे जानि धरम घटहुँ करि परिखइ उचित कहिये एइ वाणी।**[3]

**—गोविन्ददास**

इन पंक्तियों का सार के साथ स्पष्ट लय-साम्य है। अवश्य कुछ वर्णों का उच्चारण ह्रस्व और कुछ का दीर्घ-रूप में करना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ के प्रसिद्ध राष्ट्र-गीत (जन-मन-गण-अधिनायक जय हे, भारत-भाग्य-विधाता) में अनेक पंक्तियाँ सार छन्द की हैं। यह तो खासा हिन्दी का सार छन्द है, इसमें तो बँगला की गन्ध तक नहीं मालूम पड़ती।

आदिकाल से ले कर आधुनिक काल तक हिन्दी काव्य पर सार छंद का यह आधिपत्य तथा इतर भाषा के कवियों का इसकी ओर यह आकर्षण हमें यह सोचने को विवश करते हैं, कि आखिर इस छन्द में ऐसी कौन-सी खूबी है, जो यह कवियों के बीच, विशेषतः पद-रचयिताओं के बीच, इतना लोकप्रिय हुआ। हमारी समझ में यह खूबी इसकी गति में निहित है। सार छन्द अष्टक के आधार पर चलने वाला समप्रवाही छन्द है। इसलिये इसके चरणों में भाव हरिगीतिका आदि की तरह उलझता हुआ नहीं, द्रुतगति से भागता चलता है।

---

[1]भारतेन्दु ग्रंथावली, मधुमुकुल, पद ७४।
[2]कविता-कौमुदी, भाग-७, सं० कृपानाथ मिश्र, पृ० २१५।
[3]कविता-कौमुदी, भाग-७, सं० कृपानाथ मिश्र, पृ० २५२।

दुबई (द्विपदी) के गण-बंधन से मुक्त हो कर इसकी चाल कुछ और फुर्तीली हो गई है। साथ-ही इसका पाद-संगठन इतना सीधा है कि कवियों को इसके निर्माण में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता और भावाभिव्यक्ति बहुत सहज रूप में हो जाती है। चौपाई के साथ भी यही बात है, पर चौपाई का छोटा चरण कभी-कभी कवि के पूरे भाव को अपने में नहीं समेट पाता। कवि का भाव उससे आगे बढ़ जाता है और रोला, विष्णुपद, सरसी, सार आदि छन्दों में ढल जाता है। वस्तुतः ये सभी छन्द चौपाई के ही विस्तार हैं। चौपाई के दो चरणों के योग से ही तो समानसवैया का उद्भव हुआ है। इस समानसवैया की अन्तिम चार मात्राएँ निकल देने से सार बन जाता है। चौपाई मात्रासमक आदि का ही गणमुक्त रूप है[1], और मात्रासमक का सर्वप्रथम उल्लेख पिंगल के ग्रंथ में हुआ है। इस प्रकार सार का संबंध संस्कृत की छन्दःपरंपरा से जुट जाता है। मात्रासमक की पंक्तियों को इस प्रकार रख कर, संभव है, किसी संस्कृत कवि ने प्रयोग किया हो; जिस आधार पर जयकीर्त्ति ने इसे संस्कृत छन्द माना। अपभ्रंश साहित्य में इस छन्द का प्रयोग देख कर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि या तो कवि-प्रयत्न-शैथिल्य के कारण ऐसी पंक्तियाँ निकल आई हों, या कवि ने जान-बूझ कर ही ऐसा प्रयोग किया हो। जब इस छन्द को अपभ्रंश का छंद मानते हैं[2], और अपभ्रंश छन्द के निर्माण का श्रेय भट्ट कवि को देते हैं[3], तो यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि आखिर इस छन्द के निर्माण में भट्ट कवियों के पास कौन-सा आधार था? किसी नई चीज के निर्माण के पीछे उसका कुछ आधार होता है। अतः यदि सार छन्द के निर्माण में मात्रासमक आधार रूप में लिया जाय, तो क्या आपत्ति हो सकती है? मात्रासमक से उद्भूत सार छन्द अपनी इसी द्रुतगामिता तथा सरल पादसंगठन के कारण सभी प्रकार के भावों को प्रकट करने में सफल हो सका है। सूर-साहित्य में इसका सहस्राधिक पदों में प्रयोग देख कर यह सत्य सहज ही हृदयंगम किया जा सकता है। दृश्य-वर्णन, घटना-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, भावावेग की अभिव्यक्ति, हास-परिहास की व्यंजना—सब में सूरदास को सहारा दे कर सार छन्द ने अपनी सर्वरस-व्यापिनी शक्ति का परिचय दिया है।

---

[1]छन्दःशास्त्र, गन्ता द्विवसवो मात्रासमकं ल् नवमः ४।४२।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० २०२।

[3]प्रा० पै०, भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० २०२।

## (३९) माधवमालती

कृपा-सागर गुननि आगर, दासि दुःख दिन ही बहायौ।
भक्त के बस भक्तवत्सल, बिदुर सातू साग खायौ।
मुदित ह्वै गई गौरि मंदिर, जोरि कर बहु विधि मनायौ।
प्रगट तिहिं छन सूर के प्रभु, बाँह गहि कियौ वाम भायौ। —पद ४७६८

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

सम्पूर्ण सूरसागर में माधवमालती का १२ चरणों वाला एक ही पद है। प्राचीन संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में इस लय का कोई छंद उपलब्ध नहीं। प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दी छन्दःशास्त्रियों ने भी ऐसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। केवल डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने इसका उल्लेख किया है, और इसे नवीन छन्द माना है। उनके अनुसार सप्तक (ऽ।ऽऽ) की चार आवृत्तियों से इसका निर्माण होता है। इसकी तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है, और अंत में दो गुरु श्रुति मधुर होते हैं।[1] गीतिका छन्द का निर्माण भी इसी सप्तक की तीन आवृत्तियों और रगण के योग से होता है। इसी गीतिका के अन्त में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है। छायावाद-युग के पूर्व इस प्रकार का छन्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। इससे यह अनुमान कर लेना कि इस छन्द का आविष्कार छायावाद-युग में हुआ और यह नवीन छन्द है, युक्तिसंगत ही है। पर पद-साहित्य में अनेक ऐसे छन्द छिपे पड़े हैं, जिनके प्रकाश में आने पर छायावादी नवीन छंद प्राचीन सिद्ध हो जायँगे। इसी प्रकार एक तथाकथित नवीन छन्द 'रजनी' का उल्लेख हो चुका है। रजनी की कुछ पंक्तियाँ तो सूरदास से पूर्व विद्यापति में भी प्राप्त हो जाती हैं, पर यह छन्द तो सूर के पहले और बाद भी—छायावाद के पहले तक—कहीं भी हमारे देखने में नहीं आया। अतः इस छन्द का निर्माण सर्वप्रथम सूरदास ने ही किया, यह असंदिग्ध है। पर उन्होंने इसका प्रयोग केवल एक ही पद में किया है। संयोग-वियोग दोनों के भावों को प्रकट करने की पूरी क्षमता रखने वाले ऐसे छन्द का आविष्कार कर फिर वे इससे विरत क्यों हो गये? यह पद किसी परवर्त्ती प्रक्षेपककार की कृपा से तो सूरसागर में स्थान नहीं पा गया? इस प्रकार की शंका सहज ही उपस्थित हो सकती है। पर इस प्रकार की शंका एक तो इसी से निर्मूल हो जाती है, कि सूरसागर के

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३००।

संपादक ने ऐसे संदेहास्पद पदों को पहले ही छाँट कर परिशिष्ट में रख दिया है। फिर भाषा, भाव, प्रसंग आदि पर विचार करने पर भी यह पद सूर का ही प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसका आविष्कार उन्होंने तब किया, जब सूरसागर समाप्तप्राय हो रहा था। इसी से आगे इस छन्द में कहने लायक कोई प्रसंग उन्हें नहीं मिला। यदि यह मान ही लिया जाय कि यह प्रक्षेपककार का प्रसाद है, तो भी इस छन्द की प्राचीनता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती। कम-से-कम छायायुग के पहले तो इसका आविष्कार हो चुका था।

छायावाद के कवियों ने इसी छन्द से प्रेरणा पा कर इस प्रकार के छंद का प्रयोग किया, यह हम नहीं कह सकते। सूरसागर में यदि ऐसे पद संख्या में अधिक होते, तो शायद इस प्रकार की बात सोची भी जा सकती थी। पर एक पद के बल पर—वह भी उस पद के बल पर जो अब तक छान्दसीय उपेक्षा के अंधकार में पड़ा हुआ था—इस तरह का निष्कर्ष निकालना कथमपि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। छंदों के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयोग निरंतर चलते रहते हैं। इसलिये छायायुग के कवियों ने भी इसका उसी प्रकार (गीतिका के अंत में दो मात्राएँ जोड़ कर) निर्माण कर लिया होगा, जिस प्रकार सूरदास ने। अब प्रश्न उठता है कि छायावाद के किस कवि ने इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया? पत्र-पत्रिकाओं के इस विस्तृत संसार में इसका उत्तर ढूंढ़ निकालना सरल नहीं। पर जहाँ तक हमारी जानकारी है, इसका प्रथम प्रयोग महादेवी ने किया है। जैसे—

**गूँजता उर में न जाने**
**दूर के संगीत सा क्या!**
**आज खो निज को मुझे**
**खोया मिला विपरीत सा क्या।**[1]

फिर तो बच्चन ने इस छन्द में अनेक कविताएँ लिखीं। 'मधुकलश' की अधिकांश कविता इसी छन्द में रचित है।[2] नरेन्द्र शर्मा ने 'प्रवासी के गीत' में इस छन्द का विशद प्रयोग किया।[3] इस प्रकार इस छंद का इतना प्रचार हुआ कि पुराने

---

[1]नीरजा, गीत ७।

[2]मधुकलश : कवि की वासना, कवि की निराशा, री हरियाली, कवि का गीत, पथभ्रष्ट, कवि का उपहास, माँझी, लहरों का निमंत्रण, मेघदूत के प्रति। [3]प्रवासी के गीत, पद्य १, ३, ४, ७, ८, १०, ११।

कहे जाने वाले कवि भी इसके आकर्षण से बच नहीं सके। मैथिलीशरण की भी कुछ कविताएँ इस छन्द में देखी गई हैं।[1] हरिऔध ने इसे नहीं अपनाया। किन्तु प्रसाद[2], निराला[3], पंत[4] के काव्यों में इसके दर्शन हो जाते हैं। उस काल के कवियों में कदाचित् ही ऐसा कोई कवि होगा, जिसने इस छन्द में अपनी कोई कविता नहीं रची हो।

डॉ० शुक्ल के मतानुसार इसका विकास 'व्योमगंगा' वृत्त से सिद्ध किया जा सकता है, जिसका लक्षण है—तैम्यौर्गौ व्योमगंगा जैः। अर्थात् ऽ।ऽऽऽ।ऽऽऽ। ऽऽऽ।ऽऽ। ऐसा उन्होंने मराठी छन्दःशास्त्री माधवराव पटवर्द्धन की छन्दोरचना के आधार पर कहा है (पाद-टिप्पणी से ऐसा प्रतीत होता है)[5] किंतु इस गण-व्यवस्था का कोई छन्द हमें प्राचीन छन्दःशास्त्रियों के यहाँ नहीं मिला। भानु ने भी ऐसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया है। संभव है, इस छन्द का आविष्कार पटवर्द्धन ने ही किया हो। अतः माधवमालती का विकास-सूत्र उसी चंचरी छन्द में देखना पड़ेगा, जिसका मात्रिक रूप गीतिका है।

जिस प्रकार गीतिका के अंत में एक गुरु जोड़ देने से माधवमालती बन जाती है, उसी प्रकार माधवमालती के आदि के दीर्घ को निकाल कर एक नये छन्द का आविष्कार आधुनिक युग में कर लिया गया है। २६ मात्रापादी इस छंद का प्रयोग दिनकर ने अपनी 'दिगम्बरी' कविता में किया है, और इसीलिये डॉ० शुक्ल ने इसे 'दिगम्बरी' नाम से अभिहित किया है।[6] दिनकर का यह छन्द इस प्रकार है—

**तिमिर के भाल पर चढ़कर विभा के बाण वाले।**
**खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियान वाले।**
**प्रतीक्षा है सुनें कब व्यालिनी फुंकार तेरा।**
**विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा।**[7]

डॉ० शुक्ल के अनुसार यह छन्द सप्तक (।ऽऽऽ) की तीन आवृत्तियों और यगण (।ऽऽ) के योग से बनता है। उर्दू में यह बहर अधिक प्रयुक्त होती है, पर हिन्दी

---

[1] कुणाल-गीत—देख लो यह रहट चलता।
[2] कामायनी—तुमुल कोलाहल कलह में—निर्वेद सर्ग, पृ० २१६।
[3] गीतिका—गीत ८६। [4] स्वर्णधूलि—स्वप्नदेही, पृ० ६६।
[5] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३००।
[6] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६४।
[7] हुंकार : दिनकर, पृ० २४।

में यह नवीन प्रयोग है। उर्दू में इसका वजन 'मफाईलुन्, मफाईलुन्, मफाईलुन्, फ़उलुन्' है।[1] यह अवश्य नवीन प्रयोग है। इस लय का छन्द न तो प्राचीन छन्दःपरंपरा में मिलता है, और न आधुनिक छन्दःशास्त्रों में। दिनकर ने उर्दू से प्रभावित हो कर यह प्रयोग किया हो, यह भी संभव है। पर गीतिका से भी इसके विकास की संभावना कम संतोषप्रद नहीं। गीतिका के प्रारंभिक दीर्घ को हटा कर अंत में दो मात्राएँ जोड़ देने से दिगम्बरी छन्द बन जाता है। किन्तु, यह माधवमालती के समान लोकप्रिय नहीं हो सका। रामानंद की 'पार्वती' में इसका प्रयोग अवश्य हुआ है।[2] प्रस्तुत लेखक ने भी अपने खण्डकाव्य 'सावित्री' में इस छन्द का प्रयोग किया है।[3] माधवमालती के समान इसके लोकप्रिय नहीं होने का कारण यह हो सकता है कि गीतिका के अंत में दो मात्राएँ जोड़ देने पर—अंत में दो गुरु हो जाने पर माधवमालती का अंत कुछ ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देता है कि संयोग का हर्ष-उल्लास मानो पाठक को घेर कर अपनी उछल-कूद से आनंदविभोर कर देता है और वियोग का विरह-विषाद दो गुरु के सहारे हाहाकार कर पाठकों के हृदय को आलोड़ित कर डालता है। माधवमालती के समान दिगम्बरी का अंत भी दो गुरु में होता है, इसके साथ भी वही बात होनी चाहिये थी। पर प्रारंभिक दो मात्राओं के त्याग से इसकी गति में कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे दो मात्रा-रूप पुराने पंखों को झाड़ कर भाव एक ही झपट्टे में पाठक के पास पहुँच जाना चाहता हो। क्योंकि दो मात्राओं के त्याग से इसके सप्तक का ढंग बदल जाता है, वह ऽ।ऽऽ की जगह ।ऽऽऽ हो जाता है। फलतः इसकी गति में मंथरता की जगह थोड़ी त्वरा आ जाती है। इस त्वरा के कारण इसमें वह गरिमा नहीं रह पाती, जो माधवमालती को सहज प्राप्त है। इसी से यह संयोग-वियोग की बातों से पराङ्मुख हो कर इतर भावों की अभिव्यंजना में अपनी कृतकार्यता दिखाता है।

इसके विशेष लोकप्रिय नहीं होने का कारण हमारे विचार में इसका पाद-गत संगठन भी है। इसके चरण के प्रारम्भ में एक लघु अनिवार्यतः होना चाहिये। यह अनिवार्यता कवि के स्वच्छन्द भावों पर अंकुश का काम करती है—आदि में त्रिकल रखने वाले छन्दों में इतनी स्वच्छन्दता तो है कि कवि चाहे तो नगण (।।।) रख सकता है, चाहे ऽ। या ।ऽ। इसी कठिनाई के कारण कदा-

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २९४। [2]पार्वती—कुमार-दीक्षा।
[3]सावित्री : सर्ग ७, पृ० ११२-११५।

चित् ऐसे छन्दों का प्रयोग कवियों द्वारा कम हुआ है। इसी सप्तक (ISSS) के आधार पर चलने वाले हिन्दी में दो प्रसिद्ध छन्द हैं—विधाता और सुमेरु। इसी सप्तक की चार आवृत्तियों से विधाता का निर्माण होता है। या यों कहा जाय कि विधाता के अन्तिम दीर्घ को हटा देने से दिगम्बरी छन्द बन जाता है। विधाता के अन्तिम दीर्घ को निकाल कर ही दिनकर ने इसका आविष्कार किया हो, तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि विधाता पुराने कवि नाथूराम शंकर शर्मा द्वारा भी प्रयुक्त हुआ है[1], और इस युग में अंचल ने इसका विशेष प्रयोग किया है —

> **बहे कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर,**
> **बहे प्रति रोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर।**
> **बुझा दिल का दिया शायद किरण-सा खिल उठा जलकर,**
> **ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख लें आखें।**[2]

समेरु भी इसी सप्तक (ISSS) की दो आवृत्तियों और यगण (ISS) के योग से बनने वाला १९ मात्राओं का छन्द है। इसका प्रयोग साकेत[3], और रश्मिरथी[4] में विशद रूप से हुआ है। समप्रवाही सार, सरसी आदि तथा सप्तक (SISS) के आधार पर चलने वाले गीतिका, हरिगीतिका आदि की अपेक्षा विधाता, सुमेरु आदि का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इसी सप्तक की तीन आवृत्तियों से सिंधु छन्द बनता है, जिसका प्रयोग साकेत के निम्न पद्य में हुआ है—

> **वचन पलटें | कि भेजें रा | म को वन में।**
> **उभय विधि मृत्यु निश्चय जान कर मन में।**
> **हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे।**
> **रहे बस अर्द्धजीवित, अर्द्धमृत-से वे।**[5]

डॉ० शुक्ल ने उक्त पद्य में 'प्रवासी' छन्द मान कर छन्दों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि की है। यह स्पष्टतः भानु का सिंधु छन्द है। यथा—

---

[1]अनुराग रत्न : नाथूराम शंकर शर्मा, रुद्रदण्ड, पृ० ४३, प्रचण्ड प्रण-पंचदशी, पृ० १८४।

[2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २११ से उद्धृत।

[3] साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, सर्ग ३।

[4]रश्मिरथी : दिनकर, सर्ग ७ (अंतिम अंश)।

[5]साकेत : मैथिलीशरण, सर्ग २, पृ० ५२।

**लखौ त्रय लो | क महिमा सिं | धु की भारी ।**[1]

फिर इसी प्रकार, 'जयभारत' के 'तीर्थयात्रा' में प्रयुक्त छन्द को प्रवासी (सिंधु) बतलाना भ्रमपूर्ण है ।[2] जयभारत की निम्नांकित पंक्तियाँ—

**आर्य, अर्जुन के बिना सब रिक्त-सा है,**
**काल कटु था ही, अधिक अब तिक्त-सा है ।**
**हाय ! जैसों के लिये वैसे न होकर,**
**आज हम ऐसे हुए सर्वस्व खोकर ।**[3]

पीयूषवर्षी के अन्त में दो मात्राएँ (दो लघु अथवा एक गुरु) जोड़ कर बनी हैं। इसी लय वाली निम्न पंक्तियों को—

**क्या नहीं नर ने इसे रौरव बनाया,**
**क्या न तुमने स्वर्ग है इस पर बसाया ।**

आधुनिक युग में सिंधु का प्रयोग ऽ।ऽऽ के आधार पर मान कर सिंधु बतलाना भी समीचीन नहीं ।[4] वस्तुतः यह नवीन छन्द है और पीयूषवर्षी के आधार पर इसका नाम पीयूषनिर्झर रक्खा जा सकता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि सूरसागर में ।ऽऽऽ के आधार पर चलने वाला कोई छन्द सम्पद के रूप में उपलब्ध नहीं होता ।

इस सप्तक (।ऽऽऽ) के आधार पर चलने वाले समस्त छन्दों का विकास प्राचीन परम्परा में प्राप्त वृद्धि (।ऽऽऽ—य ग) नामक चतुराक्षर छन्द से माना जा सकता है । इस वृद्धि का सर्वप्रथम उल्लेख जयकीर्त्ति के ग्रंथ में मिलता है ।[5] हेमचन्द्र इसी को व्रीड़ा कहते हैं ।[6] यही व्रीड़ा भिखारीदास और भानु के यहाँ क्रीड़ा बन गई ।[7] इस व्रीड़ा या क्रीड़ा की चार आवृत्तियों से विधाता छन्द बनता है, जिसकी ओर भानु ने संकेत भी किया है । चार आवृत्तियों से एक दीर्घ हटा देने पर दिगम्बरी छन्द, तीन आवृत्तियों से सिन्धु छंद, तीन आवृत्तियों

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५६ । [2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८२ ।
[3]जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (तीर्थयात्रा), पृ० १५५ ।
[4]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८२ ।
[5]छन्दोनुशासन—यगौ वृद्धि २,१७ ।
[6]छन्दोनुशासनः हेम०-यगौ व्रीड़ा २, २० ।
[7]छन्दार्णव १० | १७ । छन्दःप्रभाकर, पृ० ११८ ।

से एक दीर्घ निकाल लेने पर सुमेरु[1] छन्द और दो आवृत्तियों से विजात छन्द[2] (इसी का नाम डॉ० शुक्ल ने 'विधाता-कल्प दिया है[3]) बन जाते हैं। इस प्रकार इन सभी छन्दों का सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन छन्दःपरम्परा से जुट जाता है।

## (४०) मरहटामाधवी

**छिटक रहीं चहुंदिसि जु लटुरियाँ, लटकन-लटकनि भाल की।**
**मोतिन सहित नासिका नथुनी, कंठ-कमल-दल माल की।**
**कछुक हाथ, कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन विशाल की।**
**सूरदास प्रभु प्रेम मगन भई, ढिग न तजनि ब्रजबाल की।**
**—पद ७२३**

मरहटामाधवी के २५ पद (सूरसागर २३, परिशिष्ट २) सूरसाहित्य में मिलते हैं। मरहटामाधवी नामक छन्द किसी प्राचीन छन्दःशास्त्र में नहीं प्राप्त होता। मरहटा छन्द का उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने अवश्य किया है। केशवदास ने मरहटा का लक्षण प्रा० पैं० के अनुसार १०-८-११ पर यति और अन्त में ऽ। माना है।[4] भिखारीदास ने कोई लक्षण नहीं दिया। उनके उदाहरण-पद्य से प्रतीत होता है कि वे १८-११ पर यति मानने के पक्ष में थे। जैसे—

**सुनि मालवतिया-उरजन की नाई। निपटहि प्रगट न होइ।**
**अरु गुज्जरजुवति पयोधर की विधि। निपटहि न राखहु गोइ।**[5]

भानु ने मरहटा के अतिरिक्त २६ मात्रापादी मरहटामाधवी नामक छन्द का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार मरहटामाधवी में ११-८-१० पर यति तथा अन्त में ।ऽ होते हैं।

**शिव वसु दिसि जहँ कला, लगै अति भला, मरहटामाधवी।**[6]

डॉ० शुक्ल के अनुसार मरहटामाधवी ने आधुनिक काल में पुरानी झूलना-शैली (११-८-१०) का परित्याग कर दिया है, अब उसने नया रूप धारण किया

---

[1]छन्दःप्रभाकरः भानु, पृ० ५५। [2]छन्दःप्रभाकरः भानु, पृ० ४६।
[3]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५६।
[4]प्रा० पैं० १।२०८, छन्दमाला २।४९। [5]छन्दार्णव : ५।२२३।
[6]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७१।

है। इसके अन्त में लघु-गुरु तो ज्यों के त्यों रहते हैं, पर यति केवल सोलहवीं मात्रा के बाद आती है। यह सार छन्द के अंतिम गुरु के स्थान पर लघु-गुरु रखने से बनता है।[1] इसके निर्माण का और सरल तरीका यह है कि सरसी के आगे एक गुरु रख देने से यह छन्द बन जाता है।

मरहटामाधवी का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख नवीन है और यह उल्लेख उसकी भूलना-शैली की ओर अवश्य संकेत करता है। इस भूलना-शैली वाली मरहटामाधवी के दर्शन अपभ्रंश-साहित्य से ले कर आधुनिक काल तक हमें कहीं नहीं हुए। हो सकता है, कहीं किसी कवि के काव्य में भूलना-शैली वाले दो-चार छन्दों को देख कर डॉ० शुक्ल ने इसके नवीन रूप धारण करने की बात कही हो; किंतु, हमें तो केवल भानु के छन्द:प्रभाकर में ही ऐसा छन्द देखने को मिला। सर्वत्र हमें मरहटामाधवी का यही १६-१३, अंत में ।ऽ वाला रूप दिखलाई पड़ा। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि आधुनिक काल में इसने नया रूप धारण किया है। यह तो चिर काल से इसी रूप में चला आ रहा है, भले ही पद-साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण विद्वानों की दृष्टि इस पर नहीं पड़ी हो। मरहटामाधवी का सर्वप्रथम प्रयोग शबरपा के गीत की निम्नलिखित दो पंक्तियों में हुआ है—

**तिअ धाउ खाट पडिलो सबरो महासुहे सेज धाइली।**
**सबर भुजंग नैरामणि दारी पेक्ख पोहाइली।**[2]

ये ही दो पंक्तियाँ सरहपा के एक गीत में भी पाई जाती हैं।[3] ग्यारहवीं शताब्दी के संस्कृत कवि जयदेव ने भी मरहटा माधवी का प्रयोग इसी रूप में (१६-१३, अंत ।ऽ) किया है—

**कुरु यदुनंदन चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे।**
**मृगमद पत्रकमत्र मनोभव मंगल कलश सहोदरे।**[4]

विद्यापति की पदावली में एतद्रूपिणी मरहटामाधवी का प्रयोग दो पदों में हुआ है।[5]

**जुगल सैल-सिम हिमकर देखल**
**एक कमल दुइ ज्योति रे।**

---

[1] आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० ३०१-३०२।
[2] हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० २०।
[3] दोहाकोश : राहुल, भूमिका, पृ०।
[4] गीतगोविन्द, सर्ग १२।
[5] विद्यापति पदावली : बेनीपुरी, पद १३, २२२।

फुललि मधुरि फल सिंदुर लुटाएल
पाँति बइसलि गज मोति रे। —पद १३

कबीर के काव्य में मरहटा माधवी के ८ पद इसी रूप में पाये जाते हैं[१]—

**ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी ना मैं छुरी गड़ाँस में।**
**नहीं खाल में नहीं पोंछ में ना हड्डी ना मास में।**

**—पद २७ (क० व०)**

अन्य संतों में नामदेव[२], नानक[३], तेग बहादुर[४], धरनीदास[५], बूला साहब[६], सालिग्राम[७] आदि ने मरहटा माधवी का प्रयोग इसी रूप में किया है। सूरदास ने सर्वत्र १६-१३ वाली मरहटामाधवी का ही प्रयोग किया है। कृष्णभक्त कवियों में परमानन्द दास[८], गोविन्द स्वामी[९] तथा मीराबाई[१०] में भी इसका यही रूप दिखलाई पड़ता है। छन्दोदृष्टि से संपादन नहीं होने के कारण मात्राओं की घट-बढ़ अवश्य मिलती है, पर यति १६-१३ पर ही है, झूलना वाली शैली के अनुसार नहीं। तुलसी के २८ पदों में (विनयपत्रिका[११]—१०, गीतावली[१२]—१८) सर्वत्र इसका यही रूप दिखलाई पड़ता है। केशव की रामचन्द्रिका में मरहटा तो है, मरहटा माधवी नहीं। भारतेन्दु ने अपनी फुटकल रचनाओं में इसे स्थान नहीं दिया; किंतु उनके पदों के संग्रह—प्रेममालिका, प्रेमाश्रुवर्षण, होली आदि में १९ पद ऐसे हैं, जिनमें मरहटामाधवी का प्रयोग हुआ है। उनके नाटकों में भारत-दुर्दशा में भी दो चरण इसके उपलब्ध होते हैं।

**अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की।**
**कलह अविद्या मोह मूढ़ता सबै नास के साज की।**[१३]

---

[१]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद ३०७, ३५०, परि० १५।
कबीर वचनावली : हरिऔध, पद २७, ९४, १००, १४७, १४८।
[२] से [७] तक, संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—नाम०—१५, १६, ना०—१०, ते०—२१, ध०—३, बु०— ६, सा०—१५।
[८]और[९]—अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल—पर० २३, गो० २०।
[१०]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद—३०, ८५, १५७, १६२, १६७, १७३। [११]पद ३०, ३१, ९९, १५५, १५७ आदि।
[१२]पद—बा० २१, ४८, ७०, ८०, सु० २८ से ३७, ३९ से ४२।
[१३]भारतदुर्दशा—दृश्य ४, पृ० २१ (भारतेन्दु नाटकावली—खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)।

मैथिलीशरण ने जयभारत (कौरव पांडव), द्वापर (ग्वाल-बाल) तथा यशोधरा (पृ० १६८) में इसे इसी रूप में प्रयुक्त किया है। छायावादी कवियों का ध्यान मरहटा माधवी आकर्षित नहीं कर सकी। यों इस छन्द में लिखित एकाध कविता आजकल भी यत्र-तत्र मिल जाती है।

इस प्रकार अपभ्रंश काल से ले कर आधुनिक युग तक इस छन्द के जो काव्यगत प्रयोग मिलते हैं, उस आधार पर यही कहा जा सकता है कि मरहटा माधवी का सामान्य लक्षण १६-१३ पर यति और अंत में ।ऽ है। सूरदास के सभी पदों में इस नियम का पालन हुआ है। भानु ने मरहटामाधवी का जो लक्षण दिया है, उसका आधार लक्षण-ग्रंथ नहीं है। संभवतः वह उनका एक नूतन निर्माण है, क्योंकि उनके पूर्व किसी के द्वारा यह छन्द उल्लिखित नहीं। उनके बाद भी कवियों ने इसका प्रयोग नहीं किया। इसका कारण यह है कि इसमें वह लय-प्रवाह नहीं, जो इस समप्रवाही मरहटामाधवी (१६-१३ मा०) में है। भानु की मरहटामाधवी से तो अधिक प्रवाह मरहटा छन्द में है। दोनों की पंक्तियों को आमने-सामने रख कर पढ़ने से हमारे कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी।

**दिसि बसु शिव यति धरि, अंत ग्वाल करि, रचिय मरहटा छन्द।**
**भजु मन शिवशंकर, तू निसि बासर, तब लह अति आनन्द।**

**(मरहटा छन्द)**

**शिव वसु दिसि जहँ कला, लगै अति भला, मरहटा माधवी।**
**अति कोमल चित सदा, सकल कामदा, चरित किय मानवी।[1]**

**(मरहटा माधवी छन्द)**

इस मरहटामाधवी से अधिक प्रवाह-युक्त होने पर भी मरहटा छन्द का विशेष प्रयोग नहीं हुआ। केशव की रामचन्द्रिका में यह अवश्य उपलब्ध है। डॉ० व्यास ने मरहटामाधवी (१६-१३) को इसी मरहटा छन्द का परिवर्तित रूप माना है।[2] नाम-साम्य के आधार पर ऐसी धारणा बना लेना सहज संभव है। पर इसका जितना निकट संबंध सरसी से है, उतना मरहटा छन्द से नहीं। मरहटा छन्द की यति-व्यवस्था भंग कर, आदि की दो मात्राओं को निकाल कर अंत में एक दीर्घ जोड़ने से मरहटामाधवी बनती है; पर सरसी के अंत में केवल एक दीर्घ के योग से यह निर्मित हो जाती है। संतों और भक्तों के अनेक पद ऐसे हैं, जिनसे अन्तिम 'हो' 'रे' को निकाल देने पर सरसी छन्द सहज ही बन जाता है।

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७१। [2]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ५०७।

प्राकृत-अपभ्रंश की छन्दःपरंपरा में मरहटा के अतिरिक्त २९ मात्रापादी तीन छन्द पाये जाते हैं—मेघ (ऽ।ऽ) + ४ मगण[1], गरुड़ पद (४ × ६ + ५)[2] तथा उपगरुड़पद (६ + ४ × ५ + ३)[3]। रगणात्मक प्रारंभ के कारण मेघ का संबंध मरहटामाधवी से नहीं हो सकता। मात्रा तथा गण-व्यवस्था के आधार पर गरुड़पद तथा उपगरुड़पद का संबंध इससे हो सकता है। किंतु, यति-निर्देश नहीं रहने के कारण इन दोनों छन्दों का यति-स्थल प्रकट नहीं। साथ ही अंतिम पंचकल और त्रिकल के स्वरूप का भी कोई संकेत नहीं। स्वयंभू के लक्षणोदाहरण पद्य को दृष्टि में रखते हुए इन दोनों का संबंध मरहटामाधवी से किसी प्रकार (यदि यति के लिये पद्य का निम्नांकित ढंग से विभाजन किया जाय) जोड़ा जा सकता है—

**सत्तम पगणक अंतं गरुड़व | अं भणिअं अवहंसए।**

× × ×

**पढ़भछ आरकअं सत्तमपग | अं उवगरुड़वअं इमं।**

इनमें गरुड़वअं और सत्तमपगअं का विभाजन उपरिलिखित ढंग से नहीं करने पर, यति १६।१३ पर नहीं हो कर १८-११ पर हो जाती है।

मरहटा-माधवी की लय से साम्य रखने वाला कोई मात्रिक या वर्णिक छन्द संस्कृत छन्दःशास्त्रों में नहीं मिलता। इसका निर्माण सार छन्द से भी हो सकता है, और सार का उल्लेख द्विपदी के नाम से जयकीर्त्ति ने किया है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। इस प्रकार इसका संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से जुट जाता है। एक दूसरे ढंग से भी इसका संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से जोड़ा जा सकता है। दो छन्दों के चरणों के योग से एक चरण बना लेने की प्रवृत्ति कवियों में देखी जाती है। सूरदास के काव्य में भी ऐसा प्रयोग देखा जाता है।[4] चौपाई (१६ मा०) और चण्डिका (१३ मा०) के चरणों के योग से भी मरहटामाधवी के एक चरण का निर्माण हो जाता है। चौपाई मात्रासमक का रूपान्तर है और चण्डिका[5] नाराचिका (त र ल ग) का मात्रिक रूप। पिंगल द्वारा उल्लिखित मात्रासमक की प्राचीनता तो सिद्ध है ही।

---

[1]छन्दोनुशासन : हेमचन्द्र ५।१३। [2]स्वयंभूच्छन्दः ६।१३५।
[3]स्वयंभूच्छन्दः ६।१३६। [4]आगे नवीन छन्द प्रकरण।
[5]चण्डिका छन्द की विशेषता आगे उल्लाला छन्द के अंतर्गत।

नाराचिका छन्द का भी उल्लेख जयकीर्त्ति[1], हेमचन्द्र[2] तथा केदार[3] जैसे प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रियों ने किया है। अतः ऋजुरूप से मरहटामाधवी का संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से जोड़ा जा सकता है।

यदि सरसी भावाक्रान्त पथिक की तरह बोलती-बोलती मौन हो कर भावों की गंभीरता का अनुभव कराती है, तो मरहटा-माधवी अधरों पर मुसकान ला कर भावों की सारी स्थिति से अवगत करा देती है। इसकी अंतिम १३ वाली पंक्ति में, जो 'जय कन्हैया लाल की, ठाकुर बैठे पालकी' की लय पर है और बाल-विनोद के लिये उपयुक्त है[4], यह सस्मित मुखरता खेलती नजर आती है। इसी विनोदमयी स्थिति में संतों और भक्तों ने अपने आराध्य के सम्मुख अपना हृदय खोल कर रख दिया है। विनोद की इसी भंगिमा ने पद-रचयिताओं के बीच इस छन्द को इतना प्यारा बना दिया। प्रबंध और मुक्तक-प्रणेताओं का प्रेम यह उस रूप में प्राप्त नहीं कर सका। भारतेन्दु ने अपने प्रायः सभी पद्य-संग्रहों में इसको स्थान दिया है। पर किसी भी फुटकल काव्य में इसका प्रयोग नहीं किया। उनके समस्त नाटकों में केवल 'भारत-दुर्दशा' में ही इसके दो चरण प्रयुक्त हैं।

## (४१) ताटंक

**कब हँसि बात कहैगो मों सों, जा छवि ते दुख दूरि हरै।**
**स्याम अकेले आँगन छाँड़े, आपु गई कछु काज घरै।**
**इति अंतर अँधवाह उठ्यो इक, गरजत गगन सहित घहरै।**
**सूरदास ब्रज लोग सुनत धुनि, जो जहँ-तहँ सब अतिहिं डरै।—पद ६६४**

सूरसाहित्य के २३१ पदों में (सूरसागर २१६, परि० १५) ताटंक छंद का प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६-१४ मात्राएँ तथा अंत में मगण (ऽऽऽ) होते हैं। जिस चरण के अंत में दो गुरु हों, उसे कुकुभ और जिसके अंत में गुरु-लघु का कोई विशेष नियम नहीं हो, उसे लावनी

---

[1] छन्दोनुशासन—नाराचिकं तरौ लगौ २।७०।
[2] छन्दोनुशासन—त्रौ लगौ नाराचम् २।७८।
[3] वृत्तरत्नाकर—नाराचकं तरौ लगौ ३।१९-२ (जयदामन-वेलंकर)।
[4] आ० हि० का० में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० ३०२।

कहते हैं।[1] इसी बात को उनके परवर्त्ती सभी आचार्यों ने दुहराया है। डॉ० शुक्ल ने लिखा है—प्राचीन आचार्यों ने छन्द के अंत में मगरण आवश्यक माना है, अब ऽऽ, ।ऽऽ, ऽ।। समात्मक वर्ण-क्रम अंत में प्रयुक्त होते हैं।[2] वस्तुतः ऐसे प्रयोग प्राचीन काल से होते आ रहे हैं, और एक ही छन्द को अंतिम तीन गुरु के आधार पर ताटंक, दो गुरु के आधार पर कुकुभ और एक गुरु अथवा दो लघु के आधार पर लावनी संज्ञा देना कोई विशेष महत्व नहीं रखता। ऐसी दशा में तो सार के अंत में तीन गुरु आ जाने पर उसे भी दूसरे नाम से अभिहित करना पड़ेगा। छन्द की आत्मा लय है और इन सभी त्रिगुर्वन्त, द्विगुर्वन्त तथा एक गुर्वन्त चरणों की लय प्रायः एक-सी है, इसलिये इन तीनों को एक ही नाम देना युक्तिसंगत है। इस लय के लिये ताटंक नाम बहुत प्रचलित हो गया है। अतः इसे ताटंक कहना समीचीन है। सूरसागर में सभी तरह के चरण मिलते हैं। मगणांत का उदाहरण यह है—

**लै लिवाइ ग्वालिन बुलाइ कै, जँह-तहँ बन बन हेरैं हो।**[3]

एक ही पद में मगणांत और यगणांत चरण साथ-साथ मिलते हैं—

**चन्द्रचूड़, सिखि चन्द्र-सरोरुह जमुनाप्रिय, गंगाधारी। (मगण)**
**सुरभि-रेनु तन, भस्म-विभूषित, वृषवाहन, बन वृषचारी। (यगण)**[4]

ताटंक के उदाहरण-रूप में उद्धृत ऊपर की पंक्तियाँ सगणांत (।।ऽ) का उदाहरण है। कहीं-कहीं रगणांत (ऽ।ऽ) पंक्तियाँ भी मिलती हैं। जैसे—

**अब अंतर मों सों जनि राखहु, बार-बार हठ वृथा करौ।**[5]

नगणांत चरणों का भी प्रयोग उपलब्ध है—

**जित देखौं तितही मृदु मूरत, नैननि में नित लागि रहत।**[6]

भगणांत (ऽ।।) का प्रयोग केवल एक पद के दो चरणों में पाया जाता है—

**उड़त गुलाल अबीर अरगजा, चंदन खोरि कुंकुमा गर।**
**सब सिंगार नीके लागत हैं गिरत मुरत मोतिनि के लर।**[7]

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ७२-७३।
[2] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३०२।
[3] सूरसागर, पद १०७०।
[4] सूरसागर, पद ७८६।
[5] सूरसागर, पद १४०८।
[6] सूरसागर, पद १२८६।
[7] सूरसागर, परि० २५६।

इस प्रकार सूरदास ने पादांत में पूरी स्वच्छन्दता बरती है। इन सब की लय प्रायः समान है। अंतः सभी ताटंक के अन्तर्गत ही रक्खे गये हैं। आधुनिक युग में ताटंक के पादांत के संबंध में जिस स्वच्छन्दता का संकेत डॉ० शुक्ल ने किया है, उसका पूर्वाभास पदों के अन्दर छिपे हुए संतों और भक्तों के ताटंक बहुत स्पष्टता से दे रहे हैं। इस प्रकार ताटंक के चरणांत-वैविध्य को देखते हुए इसका सामान्य लक्षण यह होना चाहिये कि ताटंक के प्रत्येक चरण में १६-१४ पर यति होती है और अंत में ऽ। के अतिरिक्त सभी प्रकार के वर्ण-क्रम रह सकते हैं। वस्तुतः यह सार छन्द के आगे दो मात्राएँ रख देने से बन जाता है। चौपाई और हाकलि (मानव) के एक-एक चरण के योग से भी इसका निर्माण हो जाता है। इसलिये तगण (ऽऽ।) और जगण (।ऽ।) के अतिरिक्त सभी गण इसके पादांत में रह सकते हैं।

हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रों में ताटंक का उल्लेख सर्वप्रथम छन्दानंद-पिंगल में अयोध्या प्रसाद ने किया है।[1] भानु ने यह नाम संभवतः वहीं से लिया है। क्योंकि अयोध्या प्रसाद के पहले इसका नाम चौबोल था। ऐसा हम भिखारी-दास के चौबोल के आधार पर कह सकते हैं। भिखारीदास का लक्षण—

**तीस मत्त चौबोल है, सोरह चौदह तत्तु।**

और उदाहरण—

**सुरपति हित श्रीपति वामन ह्वै वलि भूपति सौं छलहिं चह्यौ।**
**स्वामि काज हित सक्र दानहूँ टोक्यो वरु दृगहानि सह्यौ।**
**सुमति होत उपकार लखहि तौ झूठो कहत न संक गहै।**
**पर उपकार होत जानहि तौ कबहुँ न साँचो बोल कहै।**[2]

स्पष्टतया सूचित करते हैं कि यह चौबोल वही छन्द है, जिसे आज ताटंक कहते हैं। प्रा० पैं० में भी एक 'चउबोल' छन्द का उल्लेख है, जो अर्द्धसम छंद है। इसके विषम चरणों में १६ और सम चरणों में १४ मात्राएँ होती हैं।[3] इसी प्रकार का एक अर्द्धसम 'मन्मथविलसित' हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन में मिलता है—समे चतुर्दश ओजे षोडश मन्मथविलसितम्।[4] यही मन्मथविलसित प्रा० पैं० में चउबोल बन गया और इसी चउबोल के विषम और सम चरणों

---

[1]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ६४।
[2]छन्दार्णव : ५।२२५ और २२८। [3]प्रा० पैं०, भाग २, १।१३१।
[4]प्रा० पैं०, भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५५२।

के योग से भिखारीदास के समचतुष्पदी चौबोल का निर्माण हुआ । इसी चौबोल को अयोध्या प्रसाद और भानु ने ताटंक की संज्ञा दी ।

प्राचीन प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ३० मात्रापादी कई छन्द मिलते हैं, जिनमें संगता (७ भगण+ऽ)[१] और आरनाल (१ षटकल+५ चतुष्कल +ऽऽ)[२] की गणव्यवस्था से ताटंक का बहुत कुछ मेल है । डॉ० व्यास ने संगता छन्द को चौपैया का प्राचीन रूप माना है और आरनाल को इसी का भेद ।[३] चौपैया की यति-व्यवस्था १०-८-१२ है और ताटंक की १६-१४ है। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में यति-व्यवस्था का निर्देश प्रायः नहीं मिलता । संगता का जो लक्षणोदाहरण पद्य है, उसके पाठ से १४-१६ पर यति प्रतीत होती है । जैसे—

**हार रसाण जुअस्स जुए | ठवि अम्मि ठविज्जओं णेउरअं ।**
**ठाइ पुणोवि सरूव जुअं | कडअं कर पल्लवअं च पिए ।**
**तेसु ठवेसु स सद्द जुअं | पस अच्छि णिउंजसु चामरअं ।**
**संग अपा अमणो हरए | विवहोज्जलवण्ण पसाहणए ।**

चौपैया छन्द के यति-नियम के अनुसार इसके चरण को इस प्रकार करना होगा—

**संग अपा अमणो | हरए विवहो | ज्ज्वलवण्ण पसाहणए ।**

फिर भी इसमें आभ्यंतर तुक का, जो चौपैया की एक विशेषता है, (प्रा० पैं० के उदाहरण-पद्य से भी इसकी यह विशेषता स्पष्टतः सूचित होती है)[४] अभाव खटकता ही रहेगा । ताटंक का पूर्व रूप मानने पर जिह्वा को किंचित् आगे बढ़ा कर विश्राम देना होगा । जैसे—

**संग अपा अमणो हरए विवि | हो ज्ज्वलवण्ण पसाहणए ।**

इस प्रकार संगता को चौपैया की अपेक्षा ताटंक का पूर्व रूप मानना अधिक युक्तिसंगत होगा । आरनाल छन्द तो संगता का ही भेद ठहरा । फिर जब द्विपदी (सार) के आगे एक गुरु रखने से आरनाल बन जाता है[५] तब तो आरनाल को ताटंक मान लेने में कोई हिचकिचाहट हो ही नहीं सकती । जयकीर्त्ति ने आरनाल को अब्जनाल कहा है और यही लक्षण दिया है—

---

[१]वृत्तजाति समुच्चय : विरहांक ३।३४ । [२]छन्दोनुशासन-हेमचन्द्र ४।६६ ।
[३]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ५११ । [४]प्रा० पैं० १ ।
[५]तथा द्विपद्येव गुरुणैकेनाधिका आरनालम् । कविदर्पण के सूत्र २।२४-२ पर टीका ।

**प्राक्तनलक्षणाद्द्विपदिकानियमः सकलः स वर्त्ततेऽस्मिन् ।**
**व्यक्तमतोऽधिके सति गुरौ प्रतिपादमितीदमब्जनालम् ।**[१]

जयकीर्त्ति ने द्विपदी तथा अब्जनाल को संस्कृत छन्द कहा है[२], इस प्रकार ताटंक का संबंध संस्कृत छन्दःपरंपरा से जुट जाता है ।

इसका संस्कृत छन्दःपरम्परा से संबंध दूसरे प्रकार से भी जोड़ा जा सकता है । भानु ने ३० मात्रा वाले अनेक वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है । जैसे—सारंगी या काम-क्रीड़ा (१५ अक्षर), मंजारी (१७ अ०), तरंग (१७ अ०), प्रज्ञा (१८ अ०), अहि (२१ अ०) तथा शैलसुता (२३ अ०)[३] । इनमें सारंगी और शैलसुता तो प्राचीन छन्द हैं । शेष का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता । सारंगी का उल्लेख प्रा० पैं० में है ।[४] इसी को हेमचन्द्र ने कामक्रीड़ा[५] तथा जयकीर्त्ति ने ज्योतिष या मित्र[६] कहा है । शैलसुता का उल्लेख हेमचन्द्र ने हंसगति[७] के नाम से और जयकीर्त्ति ने महातरुणीदयित[८] के नाम से किया है । इन दोनों वृत्तों का ताटंक के साथ पूरा लय-साम्य है । जैसे—

**मो प्राणों की संगी प्यारी, मीठी बाजै सारंगी ।**

× × ×

**जय जय हे महिषासुर मर्दिनि, रम्य कपर्दिनि शैलसुते ।**[९]

क्या यह संभव नहीं कि ये ही दोनों छन्द वर्णव्यवस्था के शिथिल हो जाने पर पीछे आरनाल या अब्जनाल हो गये हों, जो ताटंक का पूर्वरूप है ।

ताटंक छन्द का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है । अपभ्रंश कवि बब्बर के काव्य में इसका प्रयोग मिलता है जैसे—

**रे धणि ! मत्तमअंगज गामिणि, खंजण-लोअणि चंदमुही ।**
**चंचल जोब्बण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ णहीं ।**[१०]

यही पद्य चउबोल के उदाहरण-रूप में प्रा० पैं० में उद्धृत है । गोरखनाथ ने सबदी और पद दोनों में ताटंक का प्रयोग किया है ।[११]

---

[१]छन्दोनुशासन : ६।२६ । [२]जयदामन : वेलंकर, पृ० १५६ ।
[३]छन्दःप्रभाकर, तत्तत् छन्द । [४]प्रा० पैं०, २।१५६ ।
[५]छन्दोनुशासन २।२६२ । [६]छन्दोनुशासन २।१८८ ।
[७]छन्दोनुशासन २।२६१ । [८]छन्दोनुशासन २।२४६ ।
[९]छन्दःप्रभाकर, पृ० १७० और २०४ ।
[१०]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ३१६ ।
[११]गोरखबानी : पीतांबर दत्त बड़थ्वाल—सबदी १५१, पद २१, ५५, ५७ ।

**गुरु की वाचा षोजैं नाही अहंकारी अहंकार करै।**
**षोजी जीवै षोजि गुरू कौं अहंकारी का प्यंड परै।—सबदी १५१**

पृथ्वीराजरासो में ताटंक छन्द नहीं मिलता। विद्यापति ने स्वतंत्र रूप से किसी पद में इसका प्रयोग नहीं किया। मिश्र रूप में इसकी कतिपय पंक्तियाँ अन्य छन्दों के साथ मिलती हैं।

**सोरह सम्पुन बतिस लखन सह जनभ लेल ऋतुराई हे।**
**नाचए जुवति जना हरखित मन जनमल बाल मधाई हे।[१]**

कबीरदास ने इसका प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में किया है। इनके ३६ पदों में ताटंक का प्रयोग स्वतंत्र रूप में हुआ है।

**बिन बाजा झनकार उठे जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।**
**बिन चंदा उजियारी दरसै जहँ-तहँ हंसा नजर परै।[२]**

अन्य संतों में नामदेव, नानक, गरीबदास, हरिदास निरंजनी आदि की वाणियों में ताटंक छन्द उपलब्ध होता है।[३] कृष्णभक्त कवियों में सूरदास के अतिरिक्त कुंभनदास, गोविन्दस्वामी, नंददास, चतुर्भुज दास[४], मीराबाई[५] मे इसके प्रयोग मिलते हैं। तुलसीदास ने १५ पदों में ताटंक का स्वतंत्ररूप में प्रयोग किया है।[६] केशव की रामचन्द्रिका में चौपैया तो मिलता है, पर ताटंक नहीं। भारतेन्दु के प्रायः समस्त पद-संग्रहों में ताटंक उपलब्ध है। फुटकल काव्यों में उन्होंने ताटंक को स्थान नहीं दिया। नाटकों में केवल चन्द्रावली और सतीप्रताप में ही इसका प्रयोग मिलता है।

आधुनिक युग में इसे प्रबंध काव्य के बीच भी स्थान मिला। मैथिली-

---

[१]विद्यापति-पदावली : बेनीपुरी—वसंत-वर्णन, पद १७४।
[२]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद २६।
[३]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—नाम-३, ना०-२, ३, ग०-२, हरि-४।
[४]अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल—कुं०-१३, गो०-३, २३, २८, नं० ५ चतु०-२०।
[५]मीराबाई की पदावली—परशुराम—पद २, ८, १७, ३६, ७३ आदि।
[६]विनयपत्रिका, पद ६३, १३७, १३८, १४१, १८६।
गीतावली—बा०-३, ७, ४५, ५१, अ० ६, ८, लं०-२३, उ०-३८।
श्री कृष्णगीतावली—पद २४, ४२।

शरण ने पंचवटी, साकेत (११ सर्ग), द्वापर (राधा, नारद) तथा जयभारत (योजनगंधा, याज्ञसेनी, द्यूत, बृहन्नला) में स्वतंत्र तथा वीरछन्द के साथ मिश्र रूप में इसका प्रयोग किया है। कामायनी के तीन सर्ग (चिंता, आशा, स्वप्न) इसी छन्द में लिखे गये हैं। नूरजहाँ और हल्दीघाटी में (सर्ग १) भी इसका प्रयोग हुआ है। प्रबंध के अतिरिक्त मुक्तक तथा गीतों में भी निराला[१], पंत[२], दिनकर[३] तथा महादेवी[४] आदि कवियों ने इसका प्रयोग किया है।

सार यदि अपनी यात्रा का अनुभव रस ले-ले कर सुनाता है, तो ताटंक बोलता-बोलता भाव-विभोर हो उठता है। फलतः उसकी वाणी में सांगीतिक कम्पन आ जाता है। इसका आभास हमें संतों और भक्तों के उन अनेक पदों में मिल सकता है, जिनके चरणों के अंत में 'रे', 'हो', 'लो', 'जी' आदि जुटे हुए हैं। इन्हें निकाल देने पर ये पद सार के हो जायेंगे। इस ओर ध्यान नहीं देने के कारण ही मीरा के ऐसे पद विद्वानों की दृष्टि में सदोष सार के उदाहरण हैं।[५] इसी सांगीतिकता के कारण प्राचीन काल में ताटंक का प्रयोग पदों तक ही सीमित रहा। पर आधुनिक काल के प्रबंध काव्यों में इसने अपने स्वर का कम्पन खो दिया है, उसमें एक प्रकार की दृढ़ता आ गई है—इसकी भाव-विभोरता में एक आवेग आ गया है। इसीलिए इसका प्रयोग अब कोमल रसों के अतिरिक्त परुष रसों में भी किया जाता है। इस प्रकार यह आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक कवियों का प्यारा छन्द रहा और सभी प्रकार के भावों की अवतारणा में सफल होता आया।

## (४२) उत्कण्ठा

**प्रात प्रकट रति रबिहिं जनावत, हुलसत, आवत अंक दैन।**
**निसि दै द्वार कपाट सदल वधु-मधुपनि प्यावत परम चैन।**
**मिलिवे माँझ उदास अनत चित, बसत सदा जल एक ऐन।**
**सूर कपट फल तबहिं पाइहौं, अपनी अरप जब दहै मैन।**—पद ३१४२

उत्कण्ठा छन्द का प्रयोग सूरसागर में केवल तीन पदों (सूरसागर २,

---

[१]परिमल : वसंत समीर, पृ० ६४।
[२]पल्लव : अनंग, स्वप्न, छाया, बादल आदि।
[३]हुंकार—अनल किरीट। [४]नीरजा : गीत १७।
[५]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५७।

परि० १) में हुआ है। इस नाम का छन्द न तो प्राचीन छन्दःपरंपरा में प्राप्त है, और न आधुनिक छन्दःशास्त्रों में। केवल डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख किया है और उदाहरण-रूप में 'यशोधरा' की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**उठती है अन्तर में कैसी, एक मिलन जैसी उमंग,**
**लहराती है रोम-रोम में अहा! अमृत की-सी तरंग।**[1]

इस पद में अभिव्यंजित यशोधरा की उत्कण्ठा के आधार पर कदाचित् इस छन्द का नाम उत्कण्ठा रक्खा गया है। इस छन्द का प्रयोग उन्होंने बिलकुल नवीन माना है, और इसका लक्षण बतलाया है कि इसमें १६ मात्राओं के बाद यति आती है, पर सम चरण (१४ मात्राएँ) अष्टक और दो त्रिकलों के योग से बनता है। अंत में गुरु-लघु अनिवार्यतः आता है। १६ वाले यति खंड के संबंध में उन्होंने कुछ नहीं कहा। १६ वाला खण्ड समप्रवाही है। वह चौपाई का चरण है और १४ वाला खण्ड कज्जल का। इस प्रकार चौपाई और कज्जल के चरणों के योग से इसका निर्माण हुआ है।

प्राचीन काल से ले कर आधुनिक युग तक जितने छन्दःशास्त्र उपलब्ध हैं, किसी में इस लय वाला कोई छन्द उल्लिखित नहीं है। कवियों के काव्यों में भी इसका विशेष प्रचलन नहीं। जो कतिपय पद्य इसमें लिखे गये, वे सब पदों में पड़े हुए थे। पदों की गेयता ने आचार्यों की दृष्टि उन पर नहीं पड़ने दी। जब आधुनिक काल में गुप्त जी ने ऐसा छन्द लिखा, (वह भी गेय पद के रूप में ही) तब आचार्य की दृष्टि उस पर गई, और उसे यह बिलकुल नवीन छन्द प्रतीत हुआ। पर इस छन्द का आविष्कार आज से ३०० वर्ष पूर्व सूरदास द्वारा हो गया था। सूर के पूर्ववर्त्ती किसी कवि के काव्य में ऐसा छन्द हमें नहीं मिला। तुलसीदास के पद-साहित्य में अवश्य ऐसे पाँच पद प्राप्त हुए, जिनमें उत्कण्ठा छन्द का प्रयोग हुआ है।[2] जैसे—

**तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ राम-पद कमल माथ।**
**जनि डरपहि तो से अनेक खल अपनाये जानकी-नाथ।**

**—वि० प० पद ८४।**

संत यारी साहब ने भी एक पद में इस छन्द का प्रयोग किया है—

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० ३०३।
[2]विनयपत्रिका, पद ८३, ८४, १५४। गीतावली—अयो० पद ७, अर० १।

**जहँ नहि चंद सूर निसि वासर, सदा अगमपुर अगम बास।**
**कह यारी उह बधिक फाँस नहि, फल पायो जगमग प्रकास।**[1]

भारतेन्दु ने अपने ६ पदों में उत्कण्ठा को स्थान दिया है।[2]

**डरपावत मोरवा कूकि-कूकि।**
**पावस रितु बरसत कछु बादर पवन चलत है झूकि-झूकि।**
**पिय बिनु जानि अकेली मों कहँ देत मदन तन फूँकि-फूँकि।**
**'हरीचन्द' बिनु हरि कामिनि के उठत विरह की हूकि-हूकि।**
**—वर्षाविनोद, पद २९।**

उनके बाद 'यशोधरा' के एक गीत में इसका प्रयोग हुआ है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। 'हल्दीघाटी' के प्रथम सर्ग में ताटंक के साथ उत्कण्ठा की निम्नांकित अर्द्धाली प्रयुक्त हुई है।

**एक बार आलोकित कर हा,**
**यहीं हुआ था सूर्य अस्त।**
**चला यहीं से तिमिर हो गया**
**अंधकारमय जग समस्त।**[3]

इस प्रकार इस छन्द का प्रयोग काव्यों में अत्यंत विरल है। इसका कारण यह है कि २५-२६ मात्राओं तक द्रुतगति से भागने वाले इस छन्द के चरणों में अंतिम चार-पाँच मात्राएँ जगण (ISI) या तगण (SSI) के रूप में बेड़ी डाल देती हैं। प्रवहमान भाव-धारा २६ मात्राओं तक अप्रतिहत गति से चल कर अंत में जैसे कुंठित हो जाती है। भावों के उच्छल प्रवाह का यह निपात ताटंक के अभ्यस्त कानों को जैसे एक झटका मार देता है। इसीलिए ताटंक के सामने यह अपनी अस्तित्व-रक्षा में निर्बल सिद्ध हुआ। यों यह ताटंक का ही जगणांत अथवा तगणांत रूप है। इसीलिए हल्दीघाटी के एक पद्य में ताटंक की अर्द्धाली के साथ इसकी अर्द्धाली भी प्रयुक्त हो गई है। चौपाई और कज्जल के योग से इसका निर्माण उसी प्रकार संभव है, जैसे ताटंक का चौपाई और

---

[1] संतकाव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पद ५, पृ० ३५४।

[2] भारतेन्दु ग्रंथावली, खंड २—होली, पद १४, वर्षाविनोद, पद २९, ७५, ९०, ९९, ११०।

[3] हल्दीघाटी : श्याम नारायण पाण्डेय, प्रथम सर्ग, पृ० २५।

हाकलि से। पर वस्तुत: यह तांटक के अंतिम वर्णों में लघु-गुरु के व्यतिक्रम से बन जाता है। यदि ताटंक की निम्न पंक्तियों में—

> **कब हँसि बात कहैगी मोंसों, जा छवि ते दुख दूरि हरै।**
> **स्याम अकेले आँगन छाँड़े, आपु गई कछु काज घरै।**[1]

अंतिम 'दूरि हरै' और 'काज घरै' के स्थान पर 'हरै दूरि' और 'घरै काज' कर दिया जाय, तो ये पंक्तियाँ सहज ही उत्कण्ठा का उदाहरण हो जायँगी। इस प्रकार जब यह ताटंक का ही रूपान्तर है, तो इसको एक नया नाम देने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार के प्रश्न का उठना सहज संभव है। पर इसका जगणांत या तगणांत चरण ताटंक से किंचित् भिन्न लय रखता है। अत: इसे नया नाम दिया जा सकता है। किसी विशेष छन्द की गण-व्यवस्था में थोड़ा हेर-फेर कर एक भिन्न छन्द की कल्पना कर लेना आचार्यों द्वारा अनुमोदित है। इन्द्रव्रजा के आदि दीर्घ को लघु कर देने से उपेन्द्रव्रजा और वंशस्थ के आदि लघु को गुरु कर देने से इन्द्रवंशा वृत्त बन जाते हैं।[2] यों अन्त्य ।ऽ वाले २७ मात्रापादी छन्द को जिस प्रकार हमने सरसी का ही रूपान्तर मान लिया, अन्य नाम नहीं दिया[3], उसी प्रकार यह उत्कण्ठा छन्द भी ताटंक का ही एक अन्य रूप माना जा सकता है।

## (४३) वीरछन्द

> **फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग।**
> **खंजन धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।**
> **अंग-अंग प्रति और और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।**
> **सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस मानौ अधरन के बड़ भाग।**
>
> **—पद २७२८**

सूरसाहित्य में १७९ पदों में (सूरसागर १७०, परि० ७, सा० लहरी २) वीर छन्द का प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६-१५ पर

---

[1] **सूरसागर, पद ३१४२।**

[2] **श्रुतबोध : कालिदास—यदीन्द्रवज्रा चरणेषु पूर्वे भवन्ति वर्णा लघवः कदाचित्। कुशाग्रवत् तीक्ष्णमते ! तदानीमुपेन्द्रवज्रा कथिता कवीन्द्रैः। २२ वंशस्थपादागुरुवर्णकाः यत्र नूनं तामिन्द्रवंशा कवयः प्रचक्षते। ३४**

[3] **पीछे सरसी छन्द।**

यति तथा अंत में ऽ। होता है। इसे मात्रिक सवैया, पँवार तथा आल्हा भी कहते हैं।[१] भानु के परवर्त्ती आचार्यों ने इसी नियम को दुहराया है और सब ने अन्त्य ऽ। पर बल दिया है। सूरदास के समस्त पदों में इस नियम का पालन हुआ है। केवल दो पद ऐसे हैं, जिनके अंत में ऽ। की जगह ।।। है। दोनों पदों में चार-चार पंक्तियाँ हैं, और करति, परति, डरति, टरति[२] तथा भवन, पवन, गवन, रवन[३] की तुक है। ब्रजभाषा के नियमानुसार भौन, पौन, गौन तथा रौन कर दिये जाने पर इस पद में तो ऽ। के नियम का पालन हो जाता है, किंतु करति, परति आदि के साथ ऐसी बात नहीं। सूरदास के तो नहीं, नामदेव के एक पद में ३१ मात्राओं के एक छन्द का प्रयोग हुआ है, जिसके अंत में ऽ। की जगह ।ऽ है। यथा—

**कहत नामदेउ सुनहु त्रिलोचन, बालक पालन पउढीअले।**
**अंतरि बाहरि काज विरूधी, चीतु सुबारिक राषीअले।**[४]

छन्दःशास्त्रों में ३१ मात्रापादी एक ही छन्द 'वीर' उल्लिखित है। ऐसी दशा में नगणांत तथा लगात्मक अंत वाले इन छन्दों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय। सरसी छन्द के अन्तर्गत ऐसे प्रयोगों के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके हैं।[५] उस विचार के अनुसार ऐसे प्रयोग भी वीर छन्द के रूपान्तर माने जा सकते हैं। पर ऐसा प्रयोग कोमल रसों की अभिव्यंजना में ही उपयुक्त हो सकता है। सूरदास ने ऐसे दोनों पदों में शृंगार रस की ही व्यंजना की है। वीर रस की व्यंजना में वीर छन्द के ऐसे चरण सफल नहीं हो सकेंगे।

प्राकृत-पैंगल में कोई छन्द ३१ मात्रापादी नहीं है। उसके पूर्ववर्त्ती ग्रंथों में ३१ मात्रा के कई छन्द मिलते हैं। विनता[६], विलासिनी[७], कमलाकर[८], कुंकम-तिलकावली[९], रत्नकंठिक[१०] और शिखा[११] ऐसे ही छन्द हैं। पर गणव्यवस्था,

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७४। [२]सूरसागर, पद २८१६।
[३]सूरसागर, पद ३४२१।
[४]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद ६, पृ० १२७।
[५]पीछे सरसी छन्द। [६]विरहांक—३।१२।
[७]विरहांक—३।२६। [८]स्वयंभू ६।१४०, रत्नशेखर १४८, हेम ७।१३।
[९]स्वयंभू ६।१४१, रत्नशेखर १८५, हेम ७।१४।
[१०]स्वयंभू ६।१४२, रत्नशेखर १८६, हेम ७।१५।
[११]रत्नशेखर १८६, हेम ७।१६।

यतिव्यवस्था, लय आदि की दृष्टि से किसी के साथ वीर छन्द का साम्य नहीं है। संस्कृत छन्दःशास्त्रों में ऐसा कोई वर्णवृत्त नहीं, जिसकी लय वीर छन्द से मिलती हो। छन्दःप्रभाकर में गिरिजा (१६ अक्षर), सरिता (२० अक्षर) और चकोर (२३ अक्षर) नामक तीन छन्द ऐसे अवश्य हैं[1], जिनसे वीर छन्द का लय-साम्य है। पर ये तीनों किसी संस्कृत छन्दःशास्त्र में नहीं मिलते। इस प्रकार इसका सम्बन्ध संस्कृत छन्दः परम्परा से नहीं जुड़ पाता। ताटंक का संबंध संस्कृत छन्दः परम्परा से जुड़ जाता है, यह हम पीछे दिखला आये हैं। वीर छन्द ताटंक के अन्त में एक लघु रख देने से बन जाता है। चौपाई और चौपई के चरणों के योग से भी इसका निर्माण हो जाता है। चौपाई मात्रा-समक का रूपान्तर है और चौपई सान्द्रपद (भ त न ग ल)[2] नामक वर्णवृत्त का मात्रिक रूप। इस सांद्रपद का उल्लेख वृत्तरत्नाकर के अनेक टीकाकारों ने अवश्य किया है,[3] पर किसी मान्य लक्षणकार के द्वारा उल्लिखित नहीं होने के कारण इस सांद्रपद को प्राचीन स्वीकृत नहीं कर सकते। सरहपा के काव्य में उपलब्ध होने के कारण चौपाई और चौपई प्रयोग में भी प्राचीन हैं। अतः यह संभव है कि या तो इन्हीं दोनों के मेल से अथवा ताटंक के (अञ्जनाल के रूप में ताटंक की प्राचीनता सिद्ध हो चुकी है) अन्त में लघु रख कर इसका आविष्कार कर लिया गया होगा।

हिन्दी लक्षणकारों में भिखारीदास ने इसे सवैया नाम दिया है।[4] इसका लक्षण तो उन्होंने नहीं दिया, पर उनके उदाहरण-पद्य से पता लगता है कि वे भी १६-१५ पर यति और अन्त में ऽ। का नियम मानते हैं। भिखारीदास के बाद रामसहाय ने इसे 'वीर' नाम दिया है।[5] भानु का वह नाम वहीं से लिया हुआ प्रतीत होता है। रामसहाय के ग्रंथ में सवैया और सार सवैया नामक दो छन्द उल्लिखित हैं।[6] सार सवैया तो समान सवैया (३२ मा०) का

---

[1]छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० १६२, १६७, २०३।
[2]छन्दःप्रभाकर, पृ० १४४।
[3]जयदामनः वेलंकर, वृत्तरत्नाकर ३।४३-६ सांद्रपदं भ्तौनगलघुभिश्च।
[4]छन्दार्णव - ५।२२६-२३०।
[5]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६२।
[6]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६२।

नामान्तर है[1], किंतु वीर छन्द सवैया से भिन्न अवश्य कोई दूसरा छन्द है, क्योंकि डॉ० शिवनन्दन द्वारा दी गई सूची में इन दोनों के नाम पृथक्-पृथक् हैं। जानी बिहारी लाल ने सवैया और आल्हा दोनों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सवैया चतुष्पदी छन्द है, जिसमें पादांत लघु का बन्धन नहीं है। जब पादांत लघु हो और दो ही पाद हों, तब वह आल्हा कहा जाता है।[2] इन उपर्युक्त छन्दःशास्त्रियों के पूर्व मुरलीधर कवि भूषण ने 'छन्दोहृदय प्रकाश' में सवैया नाम से इसका उल्लेख किया है।[3] मुरलीधर द्वारा सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण वीर छन्द का इतिहास सं० १७२३ वि० (सन् १६६६ ई०) तक चला जाता है।

इस वीर या आल्हा का प्रयोग अपभ्रंश काव्यों में नहीं मिलता। गोरख-बानी और पृथ्वीराजरासो में भी यह उपलब्ध नहीं। कहा जाता है कि जगनिक (सं० १२३०) ने महोवे के दो देश-प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के वीर चरित्र का विस्तृत वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था। इस काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत आज भी सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रचलित हैं। आज भी अल्हैत के ढोल के गम्भीर घोष के साथ यह वीर हुंकार सुनाई देता है—

**बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।**
**बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार।**[4]

किंतु आज विद्वानों ने जगनिक के इस आल्हा के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। आल्हा खंड की रचना जगनिक ने की थी या नहीं ? यदि की थी तो उसका प्रचार बुन्देलखण्ड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घ काल तक नहीं हुआ था।[5] इसी से लोक-प्रचलित और जनता को आकृष्ट करने वाले सभी छन्दों और काव्य-रूपों को राममय करने वाले तुलसीदास ने आल्हा या वीर छन्द को नहीं अपनाया। तुलसी के नहीं अपनाने का कारण यह हो सकता है कि

---

[1] 'समानसवैया', पृ० २४६। [2] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४०।
[3] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४०।
[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४२-४३।
[5] हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६ (पाद टिप्पणी)।

उनके काल में आल्हा का प्रचार नहीं था।[1] जगनिक ने ऐसा काव्य लिखा था या नहीं? उसका प्रचार बुन्देलखण्ड से बाहर हुआ या नहीं? यह हमारे प्रबंध का विवेच्य नहीं। परन्तु तुलसीदास ने वीर छन्द को नहीं अपनाया, ऐसा कहना पदों को छन्दोदृष्टि से नहीं देखने का परिणाम है। पद-साहित्य में वीर छन्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। १३वीं शताब्दी के जगनिक का यह वीर छन्द १४वीं शताब्दी के नामदेव के उपर्युद्धृत पद में, पादांत ऽ के कारण, यदि नहीं माना जाय, तो १५वीं शताब्दी के विद्यापति और कबीर के पदों में इसकी विद्यमानता को कौन अस्वीकार कर सकता है? विद्यापति ने वसंतोल्लास के प्रसंग में एक पद में समानसवैया तथा सरसी के साथ वीर छन्द का मिश्र रूप में प्रयोग किया है—

**स्रम भर गलित लुलित कबरीयुत**
**मालति माल विथारल मोति।**
**समय वसंत रास-रस वर्णन**
**विद्यापति मति छोभित होति।**[2]

कबीर के काव्य में इसके स्वतन्त्र और मिश्र दोनों ही प्रयोग मिलते हैं।[3]

**रमैया की दुलहिन लूटा बजार।**
**सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मच हाहाकार।**
× × ×
**कहत कबीर सुनो भाई साधो इस ठगनी से रहो हुसिआर।**

**—क० व०, पद २१६**

१६वीं शताब्दी के कवियों ने भी इसका प्रचुर प्रयोग किया है। नानक (१५२६-१५६५) के एक सम्पूर्ण पद में इसका प्रयोग हुआ है।

**कवन-कवन जाचहि प्रभदाते, ताके अंतन परहि सुमार।**
**जैसी भूख होइ अभ अंतरि तूं समरथु सचु देवणहार।**[4]

१६वीं-१७वीं शताब्दी के कृष्णभक्तों में सूरदास ने वीर छन्द का प्रयोग १७६

---

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२०।
[2] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १८४।
[3] कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद ११३, ६८ (सरसी+वीर)।
कबीर वचनावली : हरिऔध, पद १२१, २१६।
[4] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १८।

पदों में किया है। मीराबाई (सं०१५५५-१६०३)[१] तथा अष्टछाप के सभा कवियों में यह प्राप्त है।

**सुणिओ मेरी बगड़ पड़ोसब, गेले चलत लागी चोट।**
**पहली ज्ञान मानहिं कीन्हों, मैं ममता की बाँधी पोट।**[२]

(रेखांकित वर्णों का दीर्घोच्चारण अपेक्षित)

तुलसीदास के समय में वीर छन्द का प्रचलन था, यह सिद्ध करने के लिये तुलसी के समसामयिक परमानन्ददास के पद में वीर छन्द दिखलाने का जो प्रयास डॉ० व्यास द्वारा किया गया है, और तुलसी की विनयपत्रिका और गीतावली में ढूंढे जाने पर वीर छन्द के नजर आने की जो संभावना उनके द्वारा प्रकट की गई है,[३] वे तब सफल और सार्थक प्रतीत होने लगते हैं, जब स्वयं तुलसीदास के पदों में ही ११ पद वीर छन्द के निदर्शन-रूप में आकर उपस्थित हो जाते हैं।[४] शिव-स्तुति-रूप में लिखे विनयपत्रिका के निम्नांकित तीसरे ही पद में तुलसीदास ने वीर छन्द का प्रयोग किया है। इस पर विद्वानों की दृष्टि का नहीं जाना छन्दोदृष्टि से पदों का उपेक्षित होना ही कहा जा सकता है।

**को जाँचिये संभु तजि आन।**
**दीन दयालु भक्त आरति हर, सब प्रकार समरथ भगवान।**

× × ×

**देहु कामरिपु रामचरन-रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान।**

केशव की रामचन्द्रिका में वीर छन्द उपलब्ध नहीं। भारतेन्दु ने अपने पदों में तो इसे स्थान दिया, परन्तु नाटकों और फुटकल कविताओं में नहीं। इस प्रकार वीर छन्द का प्रयोग अब तक पदों में ही सीमित रहा। भारतेन्दु युग के बाद इसकी महत्ता बहुत बढ़ गई। इसने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों पर अपना अधिकार जमाया। मैथिलीशरण ने 'गुरुकुल' की आद्योपांत रचना इसी छन्द में की है। हरिऔध के 'पारिजात' के कई पद्य इसी में लिखे गये हैं।[५] रामानन्द

---

[१]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २० और २७।

[२]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १८३।

[३]प्रा० पै० भाग ४, पृ० ३५२-३५३।

[४]विनयपत्रिका, पद ३, १५३। गीतावली : बा० ३५, ५४, अ० १३, १५, अर० ४, सुं० २०, २१, उ० १०।

[५]पारिजात : सर्ग ६, पद्य ११, १३, १४, १८।

तिवारी ने 'पार्वती' के कई सर्गों में इसका प्रयोग किया है।[1] प्रसाद (झरना—चिह्न), निराला (परिमल—यमुना के प्रति), पन्त (पल्लव—अनंग, स्वप्न, छाया, बादल आदि) सब ने इसे अपनी वाणी का वाहक बनाया।

वीर छन्द अन्वर्थ नाम है। इसने वीरता का परिचय शृंगार और वीर दोनों रसों की अवतारणा में दिया है। यदि एक ओर शृंगार-क्षेत्र में इसके उत्तरांश का अन्त गुरु-लघु में इस प्रकार होता है, मानों हृदय के स्वप्निल तारों पर किसी ने हाथ मार दिया हो, तो दूसरी ओर वीर रस के क्षेत्र में उसका निपात ऐसा प्रतीत होता है, जैसे ढाल पर तलवार की चोट पड़ गई हो। इसीलिये वीर रस की अवतारणा में इसके गुरु-लघ्वंत चरण ही सहायक हो सकते हैं। सम्भवतः इसीलिये जगनिक की पंक्तियों के आधार पर यह इसका सामान्य लक्षण मान लिया गया। इसके नगणांत या गुर्वन्त चरण निपात की भिन्नता के कारण वीर-रस की अभिव्यंजना में सफल नहीं हो सकते। ये चरण ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कोई हृदय के सोये भावों को स्पर्श कर या धीरे से हिला कर सजग कर देते हों। इसी से ऐसे चरण भावों की तन्मयता की अभिव्यक्ति में ही कृतकार्य हो सकते हैं। सूरदास ने नगणांत चरणों द्वारा राधा-कृष्ण की तन्मय दशा का ही चित्र अंकित किया है। पद-साहित्य में वीर छन्द का प्रयोग अधिकतर शृंगार आदि कोमल रसों के प्रसंगों में ही हुआ है। इसका कारण यह हो सकता है कि पदों में अधिकतर कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति हुई है, वीर भावों के लिये वहाँ बहुत कम स्थान है। आधुनिक काल में राष्ट्रीयता के विकास के फलस्वरूप वीरभावापन्न कविताओं की प्रचुरता रही। इसलिये इस युग के प्रबंध तथा मुक्तक काव्यों में वीर छन्द का जगनिक वाला वीर रसात्मक रूप ही दिखलाई पड़ा। इस प्रकार जगनिक से ले कर आधुनिक काल तक वीर छन्द कवियों के काव्यों में महत्वपूर्ण स्थान पाता रहा।

## (४४) समानसवैया

**बड़े बाप के पूत कहावत, हम वै बास बसत इक बगरी।**
**नंदहु तें ये बड़े कहैहैं फेरि बसैहैं यह ब्रज नगरी।**

---

[1]पार्वती—हिमालय-वर्णन, तारक-वध, त्रिपुर उपचार।

जननी कै खीझत हरि रोए, झूठहिं मोहि लगावत धगरी।
सूर श्याम मुख पोंछि जसोदा, कहति सबै जुवती है लँगरी।

—पद ६३७

सूर-साहित्य में समानसवैया के ५६१ पद हैं (सूरसागर ५५३, परि० ३३, साहित्य लहरी ५)। भानु के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६-१६ पर यति तथा अन्त में भगण (ऽ।।) रहता है। इसका अन्य नाम सवाई है।[1] रघुनन्दन शास्त्री ने इसे समान छन्द कहा है और यही लक्षण दिया है।[2] परमानन्द शास्त्री ने इसे चौपाई का द्विगुण रूप माना है, और यह बतलाया है कि कई आचार्य अंत में भगण का होना आवश्यक नहीं समझते। अंत में दो गुरु वाला चरण भी इसी छन्द का उदाहरण हो सकता है।[3] डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने जानी बिहारी लाल के आधार पर पादांत दो गुरु वाले छन्द को सुगत सवैया माना है, और रामसहाय के आधार पर केवल-केवल एक लघु वाले छन्द को सारसवैया। सुगतसवैया का उदाहरण कामायनी से दिया है और समानसवैया और सारसवैया के उदाहरण सूरसागर से।[4] यथा—

सुगतसवैया—घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चलचित्रों की संसृति छाया।
जिस आलोक विन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती माया।

कामायनी : रहस्य सर्ग।

समानसवैया—नव मनि मुकुट प्रभा अति उद्दित चित्त चकित अनुमान न पावति।
अति प्रकास निसि विमल, तिमिर छर, कर मलि-मलि निज पतिहिं जगावति।

—सूरसागर, पद ६२५

सारसवैया—देवनि दिवि दुंदभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादवपति।
विद्याधर किन्नर कलोल मन, उपजावत मिलि कंठ अमित गति।

—सूरसागर, पद ६२४

हमारे विचार से ये तीनों छन्द अभिन्न हैं। छन्दों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि नहीं कर सुगत और सारसवैया को समानसवैया ही मान लेना चाहिये। यह छन्द सम-मूलक मात्रा पर चलता है[5], और चौपाई का द्विगुण रूप है। अतः इसके

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ७६। [2] हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ७६।
[3] पिंगल पीयूष, पृ० १६१। [4] हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ६६-१००।
[5] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० ३०७।

अंत में वे सभी गण—मगण (SSS), यगण (ISS), सगण (IIS), भगण (SII), नगण (III) तथा रगण (SIS)—आ सकते हैं, जो चौपाई के अन्त में आते हैं। चौपाई के अंत में तगण (SSI) और जगण (ISI) नहीं आते। अतः ये दोनों समानसवैया के लिये भी वर्जित हैं। सूरसागर में उपलब्ध समानसवैया में मगणांत, यगणांत, भगणांत तथा नगणांत चरण ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। यों सगणांत[1] और रगणांत[2] चरण भी मिल जाते हैं। एक ही पद में मगणांत और यगणांत पादों की तथा नगणांत और भगणांत चरणों की तुक भी देखी जाती है। इन सभी विभिन्न गणांत चरणों को समानसवैया मानना ही समीचीन है। परन्तु पदपादाकुलक के दो चरणों के योग से बने हुए ३२ मात्रापादी छन्द को एक अन्य नाम 'मत्तसवैया' देना सर्वथा युक्तिसंगत है। क्योंकि इसकी पादगत मात्रा-मैत्री और लय समान सवैया से भिन्न हो जाती है। पदपादाकुलक का प्रारम्भिक द्विकल गति में कुछ अन्तर ला देता है। जैसे—

**कर भुवन कला कर भुवन कला, सज मत्तसवैया अलबेला।**
**सत्संगति कर ले साधुन की, जग चार दिनों का है मेला।**[3]

कर=२, भुवन=१४। इस प्रकार दो चौदह, दो चौदह मात्राओं की स्थापना से मत्तसवैया का निर्माण होता है। सूरदास ने मत्तसवैया का प्रयोग नहीं किया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर में मत्तसवैया को देखने का प्रयास किया है, और उदाहरण में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं[4]—

**ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहिं लिये चन्दा दिखरावत।**
**रोवत कत बलि जाऊँ तुम्हारी, देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत।**

**—पद ८०६**

इसको मत्तसवैया मानने का आधार यह है कि उन्होंने पादाकुलक के दो चरणों के योग से इसका निर्माण माना है। इसी आधार पर डॉ० शुक्ल ने भी निम्न **पंक्तियों को—**

**चिथड़ों में सुन्दरता देखी, सुन्दरता में दानव पाया।**
**निजपरता भी शक्ति-शील फिर, कंकालों में मानव पाया।**

---

[1]सूरसागर, पद ५४५।
[2]सूरसागर, पद ४६६८।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७६।
[4]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५८४।

मत्तसवैया माना है ।[1] जबकि मत्तसवैया के अर्द्धसम रूप का जो उदाहरण उन्होंने दिया है, वह पदपादाकुलक के दो चरणों के योग से बना है ।[2] यथा—

**सुरभित मेरा भी स्नेह-सुरभि, निशि गंधा के उन फूलों में ।**
**साड़ी का पल्ला थाम तुम्हें, जो बरबस थाम लिया करते ।**

यों उन्होंने प्राचीन काल में पदपादाकुलक के दो चरणों के योग से मत्तसवैया के निर्माण की बात भी लिखी है । इस प्रकार पादाकुलक और पदपादाकुलक दोनों के चरणों के योग का समर्थन पाठकों को भ्रम में डाल देता है । अतः हमारे विचार से पदपादाकुलक के चरणों के योग से बने हुए छन्द के लिये ही मत्त-सवैया नाम सुरक्षित रखना चाहिए । पादाकुलक से बने छन्द का नाम समान-सवैया ही होना ठीक है, क्योंकि चौपाई और पादाकुलक आज एक तरह से अभिन्न हो गये हैं । फिर प्राचीन काल की अपेक्षा आधुनिक काल में पदपादा-कुलक के दो चरणों के योग से बने हुए छन्द अधिक मिलते हैं । 'जयभारत' के 'स्वर्गारोहण' में प्रयुक्त छन्द को चौकलों की आवृत्तियों के आधार पर निर्मित[3] नहीं मान कर पदपादाकुलक के दो चरणों के योग से बना मानना ही ठीक है ।

प्राचीन छन्दःपरंपरा में ३२ मात्रापादी कई छन्द उपलब्ध हैं । अकेले प्रा० पै० में ही पद्मावती, दंडकला, त्रिभंगी, दुर्मिला, जलहरण और लीलावती इन छः छन्दों का उल्लेख है । इनमें जलहरण को छोड़ कर शेष सभी छन्दों का उल्लेख भानु ने भी किया है । जलहरण को जनहरण नाम से मुक्तक दंडक के अंदर रक्खा है । ये तीन-चार यति वाले पद्मावती (१०-८-१४ मा०), त्रिभंगी (१०-८-८-६) आदि छन्द वस्तुतः एक ही छन्द हैं । सब की लय प्रायः एक-सी है । थोड़ी-सी मात्रिक गणव्यवस्था की भिन्नता और पादांत लघु-गुरु के आधार पर आचार्यों ने एक ही छन्द को अनेक नाम दे दिये । पादांत वर्णों के विचार से दंडकला और त्रिभंगी, तथा पद्मावती और दुर्मिला को एक ही छन्द मान लेने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिये । इसीलिए निम्न पंक्तियों को—

**परसत पदपावन, सोक नसावन, प्रगट भई तपपुंज सही ।**
**देखत रघुनायक, जनसुखदायक, सनमुख होइ कर जोरि रही ।**

---

[1] आ० हिं० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३०७ ।

[2] पादाकुलक और पदपादाकुलक के चरण की भिन्नता का आधार । पृ० १०५ ।

[3] आ० हिं० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३०७ ।

भानु त्रिभंगी कहते हैं[1], और डॉ० शिवनन्दन प्रसाद 'दंडकला' मानते हैं[2]। इन सभी ३-४ यति वाले छन्दों से न तो समानसवैया का संबंध है, और न हमारे प्रस्तुत प्रबंध का। क्योंकि सूरदास ने इनमें किसी छन्द का प्रयोग नहीं किया है।

प्रा० पै० के पूर्ववर्ती प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में स्कंधक[3], स्कंधकसम[4], स्कन्धकसमा[5], मौक्तिकदाम[6], मौक्तिकदाम्नी[7], नवकदलीपत्र[8], नवकदलीपत्रा[9] जो सात छन्द मिलते हैं, इनमें स्कन्धक गाथा जाति का छन्द है, जिसकी गणव्यवस्था ४×५+जगण+४+४ है। अतः इससे समानसवैया का कोई संबंध नहीं। स्कन्धकसम, मौक्तिकदाम और नवकदलीपत्र का चरण आठ चतुष्कलों से बनता है और उनके स्त्री नाम का ६+४×६+२ से। इसलिए इनसे समानसवैया का संबंध स्थापित किया जा सकता था। पर इन सब की यति-व्यवस्था से समानसवैया की यति-व्यवस्था का मेल नहीं खाता। यदि स्कन्धकसम के निम्न चरण को—

अट्ठचआरकअं खंधअ सम। अं दस अट्ठचउद्दहछिण्णं।

यति-साम्य के लिये १६-१६ पर उपरिलिखित ढंग से विभाजित कर दें, तो यह निश्चय समानसवैया का उदाहरण हो जायगा। किंतु, १०-८-१४ पर यति वाला यह चरण पद्मावती का पूर्व रूप हो सकता है, समानसवैया का नहीं।

प्राचीन संस्कृत छन्दःपरंपरा से समानसवैया का संबंध इस प्रकार जोड़ा जा सकता है कि भानु द्वारा उल्लिखित अनेक वर्णवृत्त ऐसे हैं, जिनसे इसका लय-साम्य है। मंजीर (१८ अ०), शंभु (१९ अ०), हंसी (२२ अ०), मोदसबैया (२२ अ०), मत्तगयन्द (२३ अक्षर), तन्वी (२४ अ०), किरीट (२४ अ०) तथा क्रौंच (२५ अ०) ऐसे ही छन्द हैं। इनमें मोदसबैया का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता। मत्तगयन्द का उल्लेख मयूरगति के नाम से वृत्तरत्नाकर के टीकाकार ने किया है।[10] मंजीर, शंभु, हंसी तथा किरीट प्रा० पै० में उल्लिखित

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७४। [2]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ९७।
[3]वृत्तजाति समुच्चय—विरहांक ४।१९। [4]स्वयंभू ६।१४३ हेम० ७।१८।
[5]स्वयंभू ६।१४६ हेम० ७।२१। [6]स्वयंभू ६।१४४ हेम० ७।१९।
[7]स्वयंभू ६।१४६ हेम० ७।२१। [8]स्वयंभू ६।१४५ हेम० ७।२०।
[9]स्वयंभू ६।१४६ हेम० ७।२१।
[10]जयदामन : डॉ० वेलंकर, वृत्तरत्नाकर ३।१०२-१।

हैं ।[१] किरीट का उल्लेख हेमचन्द्र तथा कविदर्पणकार ने समुद्र नाम से किया है ।[२] तन्वी[३] तथा क्रौंच का[४] उल्लेख कई प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्रों में है। क्रौंच का उल्लेख सभी प्राचीन शास्त्रों में क्रौंचपद के नाम से हुआ है। मंजीर, शंभु, हंसी, क्रौंच तथा तन्वी का उल्लेख भिखारीदास ने मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत किया है ।[५] पर ये सभी वर्णवृत्त हैं और उनके यहाँ भी इनकी वर्ण-व्यवस्था वही है। पिंगल द्वारा उल्लिखित होने के कारण तन्वी तथा क्रौंच की प्राचीनता असंदिग्ध है। कालांतर में इन दोनों छन्दों से कविप्रयत्न-शैथिल्य-द्वारा मात्रिक समानसवैया का प्रादुर्भाव माना जा सकता है।

अपभ्रंश साहित्य में समानसवैया का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं हुआ। बब्बर[६] तथा अज्ञात कवि[७] के नाम से दो पद ऐसे अवश्य मिले, जिनकी लय, समानसवैया के समान है। पर ये दोनों क्रमशः हंसी और किरीट छन्द हैं। गोरखबानी में कतिपय ऐसी पंक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिन्हें लय के आधार पर समानसवैया कह सकते हैं—

**स्वामी बन षंडि जाऊँ तो षुध्या व्यापै नग्री जाऊँ त माया।**
**भरि-भरि षाउ त बिंद बियापै क्यों सीझति जल व्यंद की काया।[८]**
**आपा माँजिवा सतगुरु बोजिबा जोग पंथ न करिवा हेला।**
**फिरि-फिरि मनिषा जनम न पायवा करि लै सिध पुरिस सूँ मेला।[९]**

पृथ्वीराजरासो में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं मिलता। विद्यापति ने स्वतंत्र रूप

---

[१]प्रा० पैं० २।१८०, १९४, २०४, २१०।

[२]हेमचन्द्र—भूःसुभद्रम् २।३६८ कविदर्पण—४।९८।

[३]जयदेव ७।२८, जयकीर्ति २।२५३, हेम० २।३६५, केदार ३।१०३, विरहांक ५।४८ पिंगल ७।२९।

[४]पिंगल ७।३०, भरत १६।१०३-७, जयदेव ७।२९, जयकीर्ति २।२५८ हेम० २।३७२, केदार ३।१०४, विरहांक ५।४९।

[५]छन्दार्णव ५।२३५, २३६, २३७, २४०, २४१।

[६]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन : शरद वर्णन, पृ० ३२०।

[७]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन : रामस्तुति, पृ० ४५८।

[८]गोरखबानी : पीतांबर दत्त बडथ्वाल, सबदी ३०।

[९]वही, २०३।

से इसका प्रयोग नहीं किया है। मिश्र रूप में इसकी कुछ पंक्तियाँ पदावली में उपलब्ध होती हैं—

**नटति कलावति माति श्याम संग**
**कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया।**[1]
**बन-बन फिरथि मसान जगावथि, घर आँगन ऊ बनौलनि कहिआ।**
**सासु ससुर नहिं ननद जेठौनी जाए बैसति धिया केकरा ठहिया।**[2]

कबीरदास ने २० पदों में समानसवैया का प्रयोग किया है।[3] समानसवैया के अतिरिक्त मत्तसवैया के भी ३ पद इनके काव्य में मिलते हैं[4]—

**घट-घट में रटना लागि रही परगट हुआ अलेख है जी।**
**कहुँ चोर हुआ कहुँ साह हुआ कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख है जी।**
× × ×
**बहुरंगी प्यारा सब से न्यारा सब ही में एक भेख है जी।**
**कब्बीर मिला मुरशिद उसमें हम तुम नाहीं वह एक है जी।**
**(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)**
**—क० व०, पद ८५।**

अन्य संतों में संतवेणी[5], गुरु अर्जुन[6], हरिदास निरंजनी[7], संत आनंदघन[8] में भी समानसवैया का प्रयोग मिलता है। कृष्णभक्तों में सूरदास के अतिरिक्त कुंभनदास[9], परमानन्ददास[10], गोविन्दस्वामी[11], नंददास[12], छीतस्वामी[13], चतुर्भुजदास[14], गदाधर भट्ट[15] तथा मीराबाई[16] ने इसका प्रयोग किया है। तुलसीदास के पद-

---

[1]विद्यापति की पदावली : रामवृक्ष बेनीपुरी, पद १८४।
[2]विद्यापति की पदावली : रामवृक्ष बेनीपुरी, पद २०३।
[3]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास—पद २२६, २७४।
कबीर वचनावली : हरिऔध, ३७, ६५, ६६, १२० आदि १८ पद।
[4]कबीर वचनावली : हरिऔध, ८५, ८६, ११३।
[5]से [8]तक—संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २।२, ७, ६, २।
[9] से [14] तक—अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, कुं०—३, ४, ८, ११, १२, २२, २६, ३०, पर०—२, ४, ६, ११, १८, १६, २४, गो०—२८, १७, १६, २२, २६, नं०—८, छी०—३, ६, १६, च० २, ४, ५, १२, १३, १४, २२, २६।
[15]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पद १, २५, २६।
[16]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद ११, ६५, १७७, १८०।

साहित्य में सार के बाद समानसवैया की ही संख्या सर्वाधिक है। ८० पदों की रचना उन्होंने समानसवैया में की है।[1] केशव की रामचन्द्रिका में यह छन्द नहीं मिलता। भारतेन्दु ने अपने पदों तथा नाटकों में इसका प्रयोग किया है। उनके काव्य में मत्तसवैया का भी एक पद उपलब्ध होता है—

**सुनि कै मनमोहन देवी कै तब पूजन को सब साज कियो।**
**हरिचंद सु अवसर देहि तहाँ वरदान भक्ति को माँग लियो।**[2]

द्विवेदीकालीन कवियों में रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्न' नामक काव्य की रचना इसी छन्द में की है। मैथिलीशरण ने जयभारत (स्वर्गारोहण) में इसका प्रयोग किया है। छायावाद के महाकाव्य 'कामायनी' में भी (रहस्य सर्ग) समान-सवैया का प्रयोग हुआ है। छायावाद-युग में पदपादाकुलक और पद्धरि के विशेष प्रचलन के कारण मत्तसवैया भी विशेष रूप से लिखा गया। कामायनी के काम और लज्जा—इन दोनों सर्गों में मत्तसवैया का ही प्रयोग किया गया है। ध्रुव-स्वामिनी का 'पैरों के नीचे जलधर हों' गीत इसी छन्द में रचित है। आधुनिक काल के पूर्व इन दोनों छन्दों का पदों में ही प्रयोग होता रहा। इस युग में इन दोनों ने मुक्तक और प्रबंध दोनों पर अपना अधिकार जमाया।

समानसवैया और मत्तसवैया में मात्राओं की समानता है, पर दोनों की गति में अंतर है। समानसवैया की गति में शालीनता है, गरिमा है। मत्त-सवैया की गति में है अलबेलापन और लापरवाही। यह समानसवैया की तरह क्षिप्रता से पैर बढ़ाता हुआ धीर भाव से चल कर पाठकों को आकृष्ट नहीं करता, अपनी अंग-भंगी से उनके हृदय पर अपने अल्हड़पन की छाप छोड़ जाता है। कदाचित् इसकी गति की इसी भंगिमा के कारण भानु ने इसे अलबेला विशेषण से विभूषित किया है—'सज मत्तसवैया अलबेला।' (अलबेला संबोधन पद भी हो सकता है) समानसवैया ने तो सूरसागर में अपनी अनेक विषय-वर्णन की क्षमता प्रकट कर दी थी, मत्तसवैया अवश्य हलके-फुलके भावों की अभिव्यंजना में अपने को सीमित किये हुए था। परंतु आधुनिक युग में आकर यदि समानसवैया ने कामायनी में मानव-प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया, तो मत्तसवैया लज्जा और काम जैसी मनोवृत्तियों को रूप-प्रदान कर उन्हें मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर सका।

---

[1] विनयपत्रिका में १३ पद, गीता में ४८ पद और कृ० गी० में १९ पद।
[2] भारतेन्दु ग्रंथावली, देवीछद्म लीला, पद ५।

## (४५) जलतरंग

आँखिन में बसै | जिय में बसै | हिय में बसत | निसि दिवस प्यारौ ।
तन में बसै | मन में बसै | रसना हूँ में बसै | नन्दबारौ ।
सुधि में बसै | बुधि हूँ में बसै | अंग अंग बसै | मुकुट वारौ ।
सूर बन बसै | घरहुँ मैं बसै, | संग ज्यों तरंग | जल न न्यारौ ।

—पद २५३७

सूर-साहित्य में इस प्रकार का यही एक छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ हैं । प्रतिपाद में चार बार यति दी गई है । चार यति वाले ३२ मात्रापादी दो छन्द हैं—त्रिभंगी (१०-८-८-६ अंत में ऽ) और शुद्धध्वनि (१०-८-८-६ अंत में ऽ) पर इन दोनों की यति-व्यवस्था और लय से इस छन्द का कोई मेल नहीं । ३२ मात्राओं के त्रिभंगी, पद्मावती आदि जितने छंद हैं, सभी समप्रवाही हैं । विषम के बाद विषम और सम के बाद सम मात्राओं के रखने से इनके पाद का संगठन होता है । सब के चरणों में दूसरी यति १८ पर पड़ती है, इसलिये यदि प्रारंभ की दो मात्राएँ हटा दी जायँ, तो चरण ताटंक के (यदि यति-व्यवस्था पर ध्यान नहीं दे) हो जायँगे । जैसे—

सब | संत सुजाना, जाहि बखाना, सोइ पुराना, पंथ चलो । (त्रिभंगी)
पद | सुमिरि कालिका, शत्रुघालिका, कटक काटि कै, मग्ग भरै (शुद्धध्वनि)
रघु | नंदन ध्यावै, चित्त लगावै, एक पला नहिं आध पला (दंडकला)
है | शक्ति अनादी, मुनि सनकादी, महिमा नांहि सकत गाये (पद्मावती)
दस | कंठ विदारो, धर्म सुधारो, काज सुरन जन को कीनो (दुर्मिल)[1]

इन सारे चरणों में विषम के बाद विषम कल का प्रयोग कर समप्रवाहिकता लाई गई है । पर उपर्युद्धृत पद्य के साथ ऐसी बात नहीं है । सब से पहली बात इसमें यह ध्यातव्य है कि इसमें यति-व्यवस्था का क्रम सभी चरणों में एक-सा नहीं है । पहले चरण में ९, ७, ७, ९ पर, दूसरे में ७-७-११-७ पर, तीसरे में ७-९-९-७ पर तथा चौथे में ८-८-९-७ पर यति है । इसके चरण समप्रवाही नहीं हैं । सभी चरणों के चारों खण्डों का निर्माण भी समान आधार पर नहीं हुआ है । नवमात्रिक खंडों का निर्माण—

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७४, ७५, ७६, ७५, ७७ ।

(क) चतुष्कल और पंचकल के योग से—(आँखिन में बसै)

(ख) तीन त्रिकलों के योग से (अंग-अंग बसै)

तथा (ग) पंचकल और जगण के योग से (संग ज्यों तरंग) हुआ है। सप्तमात्रिक खंड भी दो तरह से बने हैं—

(क) चतुष्कल और त्रिकल के योग से (तन में बसै) और

(ख) त्रिकल और चतुष्कल के योग से (दिवस प्यारौ)

अष्टमात्रिक दो खंड हैं, और इन दोनों का निर्माण त्रिकल+द्विकल+त्रिकल (सूर बन बसै, घरहुँ में बसै) से हुआ है।
एक एकादशमात्रिक खंड भी है (रसना हूँ मैं बसै) जो २ चतुष्कल+१ त्रिकल के योग से बना है।

इस प्रकार इस छन्द का सामान्य लक्षण निर्धारित करना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि ३२ मात्रापादी इस छन्द के अंत में त्रिकल और कर्ण (SS) तो अनिवार्यतः आते हैं शेष २५ मात्राओं के खंड में तीन स्थानों पर यति अनियमित रूप से (कवि के इच्छानुसार) होती है और यति-खंडों का निर्माण मुख्यतः सप्तक (SSIS) के आधार पर होता है, पर अष्टक-नवक आदि भी आते हैं।

३२ मात्रापादी कई छन्द प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में मिलते हैं, जिनकी चर्चा पीछे हो चुकी है। उन सब छन्दों में एक नियम समान रूप से व्याप्त है। इस छंद की-सी अनियमितता किसी में नहीं पाई जाती। अतः उन सब के साथ इस छन्द का कोई संबंध नहीं। सूरदास के पहले किसी के काव्य में इस प्रकार का छन्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सूर ने उमंग में आ कर जिस नूतन छन्द में इस पद की रचना की, उसमें किसी प्रचलित छन्द का आधार भी ग्रहण नहीं किया। कदाचित् यति की अव्यवस्था और यति-खंडों की अनियमितता के कारण परवर्ती कवियों ने भी इसका प्रयोग नहीं किया। सूरकाव्य में पाये जाने वाले अनेक नये छन्दों का प्रयोग तुलसी के पदों में मिलता है, पर इसका प्रयोग उनके यहाँ भी प्राप्त नहीं।

इस छंद का प्रत्येक पाद-खंड कानों में उसी प्रकार आ कर टकराता है, जस प्रकार तरंगें निकटवर्त्ती कूल से। इस पद में राधाकृष्ण की अभिन्नता का निरूपण जल-तरंग की उपमा द्वारा किया गया है। अतः इस छन्द का नाम जल-तरंग रक्खा गया है।

## (४६) वदनसवैया

बड़े-बड़े बार जु एँडिनि परसत, स्यामा अपने अंचल में लिएँ।
बेनी गूथन फूल सुगँध भरे डोलत हरि बोलत न सकुच हिएँ।
कुसुभी सारी अलक झलक मनो, अहि कुल बंदन सों पूजा किएँ।
सूरदास प्रभु नैन प्रान सुख, चितए मिलि प्रिया कनखियनि दिएँ।

—पद ३२३५

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

इस प्रकार का छन्द इसी एक पद में सम्पूर्ण सूरसाहित्य में प्रयुक्त हुआ है। इसमें ३३ मात्राएँ हैं और १६-१७ पर यति है। षोड़शमात्रिक खंड चौपाई का चरण है और सप्तदशमात्रिक खंड उपवदनक छन्द का। इन दोनों छन्दों के चरणों के योग से इसका उसी प्रकार निर्माण हुआ है, जिस प्रकार चौपाई के दो चरणों के योग से समानसवैया का।

३२ मात्राओं से अधिक मात्रा वाले छंद को आचार्यों ने मात्रिक दण्डक नाम दिया है। 'वत्तिस तें बढ़ि मत्त जो, मत्ता दण्डक लेखि।'[1] परन्तु ३३, ३४, ३५, ३६ मात्रापादी छन्दों का नामोल्लेख न तो भिखारीदास ने किया है, और न भानु ने। भानु के परवर्त्ती आचार्य फिर क्या करते? सब ने दण्डक-वर्ग के छन्दों का प्रारम्भ झूलना से किया है जो ३७ मात्राओं का छंद है। अवश्य जानी बिहारी लाल ने ३३ से ले कर ४० मात्रा वाले दण्डकों का नामोल्लेख किया है। परन्तु ३७ मात्रा के झूलना-करखा और ४० के उद्धत-मदनहर को छोड़ कर उनके सभी दण्डक वर्णवृत्त हैं। ३३ मात्रापादी मंजीर और सालू की गण-व्यवस्था क्रमश: (१ लघु + ७ भगण + २ गरु) और (१६-१७, आदि २ ग, अंत २ ग, बीच में सब लघु) है।[2] पदों को छन्दोदृष्टि से नहीं देखने का ही यह फल है कि आचार्यों को इन दण्डकों के (३३, ३४, ३५, ३६, मात्रा वाले) उदाहरण काव्य में नहीं मिल सके। संभवत: इसीलिये औरों ने इसकी चर्चा तक नहीं की। जानी बिहारी लाल ने यदि उल्लेख किया, तो मात्रिक दण्डकों के बीच वर्णिक दण्डकों को ला बिठाया। अकेले सूरसागर में ही ३३ से ले कर ४८ मात्रापादी (४१ और ४२ को छोड़ कर) दण्डकों के उदाहरण मिल जाते हैं।

---

[1]छन्दार्णव : ८।१।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० २४३।

ये सभी दण्डक मात्रिक हैं, क्योंकि इनमें लघु-गुरु वर्णों का क्रम नहीं पाया जाता। सूरदास के इस छन्द में न तो वर्ण-क्रम है और न पादांत में दो गुरु की व्यवस्था। अतः यह मंजीर या सालू नहीं हो सकता। इसके प्रत्येक चरण का गठन चौपाई और उपवदनक के चरणों के योग से हुआ है। अतः समान-सवैया के नाम का आधार ग्रहण कर इसका नाम वदनसवैया रक्खा गया है।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ३३ मात्रापादी आयामक (४×७+५) छन्द है[1], जिसमें यति का कोई निर्देश नहीं है। जब इसी आयामक छन्द में १०वीं, १२वीं और १४वीं मात्रा पर यति होती है, तो यह क्रमशः कांचीदाम[2], रसनादास[3] और चूड़ामणि[4] कहा जाता है। यति-व्यवस्था को ले कर पिछले तीनों से वदनसवैया का संबंध नहीं हो सकता। आयामक में यति-व्यवस्था का निर्देश नहीं है, केवल गणों का उल्लेख है। इसलिये १६ (४×४) और १७ (४×३+५) पर यदि यति की स्थापना की जाय, तो वदनसवैया निश्चय ही आयामक का गणमुक्त रूप कहा जा सकता है। आयामक की निम्न पंक्ति यदि यति के विचार से इस प्रकार विभाजित कर दी जाय—

**सत्तचआरकअं अट्ठम पग | अं तेत्तीसकलं आआमअं।**

**—स्वयंभूच्छन्दः ६।१४७**

तो इसे कौन वदनसवैया नहीं कहेगा ? यदि गण-व्यवस्था की दृष्टि से देखें, तो सूरदास के उपर्युद्धृत पद के प्रथम तीन चरणों में आयामक की-सी गण-व्यवस्था दिखलाई पड़ेगी।

**कुसुभी | सारी | अलक भ | लक मनो | अहिकुल | बंदन।**

**सों पू | जा किएँ।**

चौथा चरण खंडित गण-व्यवस्था के कारण आयामक का गणमुक्त रूप कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों की लय में कोई अन्तर नहीं है।

वर्णिक छन्दों में ३३ मात्रापादी अरसात (भ ७+र) का उल्लेख

---

[1]स्वयंभू ६।१४७ हेम० ७।२२ राजशेखर (छंदःशेखर) १९१।
[2]स्वयंभू ६।१४८ हेम० ७।२३ राजशेखर (छंदःशेखर) १९२।
[3]स्वयंभू ६।१४९ हेम० ७।२४ राजशेखर (छंदःशेखर) १९४।
[4]स्वयंभू ६।१५० हेम० ७।२५ राजशेखर (छंदःशेखर) १९३।

भिखारीदास[1] तथा भानु[2] ने किया है, जिसकी गण-व्यवस्था आयामक से ठीक-ठीक मिलती है। जैसे—

**भासत रुद्र जु ध्यानिन में पुनि सार सुती जस बानिन ठानिये। —भानु।**

पर इसका उल्लेख प्राचीन छन्दःशास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। समानसवैया के चरण (अन्त्य दो लघु वाले) के अंतिम लघु को दीर्घ कर देने से वदनसवैया बन जाता है, और समानसवैया का संबंध हम संस्कृत छन्दःपरंपरा से दिखला आये हैं। इस प्रकार इसका संबंध भी ऋजु रूप से उससे जुड़ जाता है।

वदनसवैया का काव्यगत प्रयोग कबीर से पूर्व दृष्टिगोचर नहीं होता। कबीर का निम्नांकित प्रसिद्ध पद इसी छन्द में लिखा गया है—

**झीनी झीनी बीनी चदरिया।**

**काहै कै ताना काहै कै भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।**

× × ×

**दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।**[3]

कबीर के बाद इसका प्रयोग सूरदास ने ही किया है। सूर के बाद फिर किसी के काव्य में इसके दर्शन नहीं हुए।

## (४७) विश्वभरण

**तरु तमाल | तरे त्रिभंगी | कान्ह कुँवर | ठाढ़े हैं | साँवरे सु | बरन।**
**मोर मुकुट | पीतांबर | बनमाला | राजत उर | ब्रर जन मन | हरन।**
**सखा-अंसु | पर भुज दी | न्हें लीन्हें | मुरलि अधर | मधुर विस्व | भरन।**
**सूरदास | कमल-नयन | को न किए | बिलोकि (गिरि) | गोवर्धन | धरन।**
**—पद १४४२**

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

इस प्रकार का यही एक छन्द सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में ३३ मात्राएँ हैं और १८ पर यति है। चौथे चरण में दो मात्राओं की कमी है। उसकी पूर्ति हमने 'गिरि' रख कर कर दी है। बहुत संभव है, कवि द्वारा प्रयुक्त 'गिरि' लिपिकार की असावधानी से छूट गया हो। फिर एक बार जो वह छूटा, तो छूटा ही रह गया और संपादकों ने कभी इसकी ओर ध्यान

---

[1] छन्दार्णव : ११।१७। [2] छन्दःप्रभाकर, पृ० २०६।
[3] कबीरवचनावली : हरिऔध, पद २२३।

नहीं दिया। ३३ मात्रापादी यह छंद यति-व्यवस्था तथा पाद-संगठन के विचार से अपने ढंग का है। ३३ मात्रापादी वदनसवैया से इसका किंचिदपि साम्य नहीं। चौपाई के आधार पर चलने वाला वह समप्रवाही छंद है, यह उसके विपरीत षष्ठक के आधार पर प्रवाहित होता है। यह षष्ठक कहीं दो त्रिकलों के योग से बनता है और कहीं द्विकल-चतुष्कल के योग से। इस प्रकार इसकी लय बहुत कुछ कुंडल की लय पर आधारित है। यदि विश्वभरण के चरण से अंतिम ११ मात्राएँ हटा ली जायँ, तो प्रारम्भिक शेष खंड कुंडल का उदाहरण हो जायगा। जैसे—

**तरु तमाल तरे त्रिभंगी कान्ह कुँवर ठाढ़े।**
**मोर मुकुट पीताम्बर बनमाला राजत (राजै)।**
**सखा-अंसु पर भुज दीन्हें लीन्हें मुरली।**
**सूरदास कमल-नयन को न किए (देखें)**
**(विलोकि की जगह SS)**

इस प्रकार इसका सामान्य लक्षण यह दिया जा सकता है कि विश्वभरण छंद षष्ठक की पाँच आवृत्तियों और त्रिकल (।।।) के योग से बनता है; और १८-१५ पर यति होती है।

हिन्दी लक्षणकारों में केवल जानी बिहारी लाल ने ३३ मात्रापादी मंजरी और सालू का उल्लेख किया है, जिसकी चर्चा पीछे हुई है। उन दोनों से विश्वभरण का संबंध इसलिये नहीं हो सकता कि उन दोनों के अंत में दो गुरु की व्यवस्था है।[१] प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ३३ मात्रा के जो छन्द उल्लिखित हैं, उनकी परीक्षा हम पीछे कर आये हैं। अतः उनके साथ विश्वभरण का संबंध जोड़ने का प्रयास व्यर्थ है। संस्कृत छंदःशास्त्रों में भी ऐसा कोई वर्णवृत्त नहीं, जिससे विश्वभरण का लय-साम्य हो। अवश्य २० अक्षर का एक 'वृत्त' नामक छंद है, जो गुरु-लघु की दस आवृत्तियों से बनता है, और जिसका उल्लेख अनेक प्राचीन आचार्यों ने किया है।[२] प्रा० पैं० में इसी को गंडकी कहा है।[३] भानु ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

---

[१] मात्रिक छंदों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० २४३।
[२] पिंगल ७।२४, जयदेव ७।२३, जयकीर्त्ति २।२३२, हेम० २।३३५, केदार ३।६८।
[३] प्रा० पैं० २।१६८।

वायु सेवनार्थ प्रात बाग जात | आव लै सु फूल पात ।
लाय कै धरै सबै सु फूल पात | मोद-युक्त मातु होत ।[1]

विश्वभरण से वृत्तछंद की इतनी ही समता है कि यह भी षष्ठक के आधार पर चलता है और इसमें भी १८वीं मात्रा पर जिह्वा विश्राम लेती है (शास्त्रों में यति-स्थान का निर्देश नहीं है) पर यह छंद ३० मात्राओं का है। अतः इससे विश्वभरण के विकास की संभावना तभी की जा सकती है, जब वृत्त छंद के वर्णबंधन को शिथिल कर—उसे मात्रिक रूप प्रदान कर—अंत में एक नगण जोड़ दिया जाय ।

इस छंद में लिखा हुआ कोई पद सूरदास के पूर्व और उनके पश्चात् भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ । इसका निर्माण सूरदास ने चाहे कुंडल के षष्ठक के आधार पर ही किया हो (और अधिक संभावना इसी की है) पर वृत्त छंद से इसकी समता दिखाने के प्रयास में इसके पाद-संगठन का कुछ आभास मिल जाता है—वृत्त छंद इसकी गति-निर्धारण में यत्किंचित् साहाय्य तो प्रदान कर देता है । इस पद में विश्वभरण कृष्ण के त्रिभंगी रूप का चित्रण है । प्राचीन शास्त्रों में ३२ मात्रापादी एक त्रिभंगी छंद पहले से विद्यमान है। अतः पद में प्रयुक्त विश्वभरण शब्द को ले कर इस छंद का नामकरण किया गया है ।

## (४८) लीलापति

सोई हरि काँधे कामरि, काछ किए नाँगे पाइनि
गाइनि टहल करै ।
त्रिभुवन पति ! दिसिपति, नर-नारी-पति, पंछिपति
रवि-ससि जाहि डरै ।
सिव-विरंचि ध्यान धरत, भक्त त्रिविध ताप हरत,
तिनहिं हित वपु धरै ।
सूरदास जिनके गुन, निगम नेति गावत, तेइ
बन-बन में बिहरै । —पद १०७१

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

इस छन्द का प्रयोग सूरसागर के दो पदों[2] में हुआ है । इसके प्रत्येक चरण

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० १६६ । [2]सूरसागर, पद ७१४, १०७१ ।

में ३४ मात्राएँ और १२-१२-१० पर यति हैं। इसका द्वादशमात्रिक खंड या तो चार त्रिकलों के योग से निर्मित हुआ है, अथवा दो त्रिकलों की जगह सममूलक एक षट्कल रख कर बना है। इसका द्वादशमात्रिक खंड लीला छन्द[1] का एक चरण है और दशमात्रिक खंड शशिवदना[2] छन्द का। इस प्रकार लीला के दो और शशिवदना के एक चरण के योग से लीलापति का निर्माण हुआ है। पद ७१४ भी इसी छन्द में निबद्ध है। जैसे—

**उमँगी ब्रजनारि सुभग, कान्ह बरष-गाँठि उमँग**
**चहति बरष बरषनि।**
**गावहिं मंगल सुगान, नीके सुर नीकी तान,**
**आनंद अति हरषनि।**

दोनों में इतना ही अंतर है कि इसके अंत में गुरु की जगह दो लघु हैं, और सभी चरणों में अंतरनुप्रास की व्यवस्था है। (अन्तरनुप्रास पद १०७१ के भी एक चरण में है) यहाँ कवि ने एक दीर्घ की जगह दो लघु की कवि-सम्मत स्वच्छन्दता का उपयोग किया है, पर है यह शशिवदना छन्द ही।

हिन्दी-लक्षणकारों में केवल जानी बिहारी लाल ने ३४ मात्रापादी छंदों का उल्लेख किया है। उनके द्वारा उल्लिखित ऐसे दो छंद हैं—प्रभाकर (८ सगण, अन्त २ ल) और माधवी (८ सगण, अंत १ ग) जो वस्तुतः वर्ण-वृत्त हैं।[3] इन्हीं दोनों का उल्लेख भानु ने क्रमशः 'सुख' और 'सुन्दरी' नाम से किया है।[4] दोनों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

**सब सों ललुआ! मिलि कै रहिये मम जीवन मूरि सुनौ मनमोहन**
**(सुख)**
**सब सों गहि पाणि मिले रघुनंदन भेंटि कियो सब को सुख भागी**
**(सुन्दरी)**

स्पष्टतः इन दोनों छंदों से लीलापति का कोई संबंध नहीं।

प्राकृत-अपभ्रंश छंदःपरंपरा में ३४ मात्रापादी अनेक छंद हैं। स्वप्नक, अप्सरःकुसुम, भुजंगविक्रान्त, ताराध्रुवक, पवनध्रुवक, नवरंगक का उल्लेख

---

[1]लीला छन्द, पृ० ६६। [2]शशिवदना छन्द, पृ० ६१।
[3]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४३।
[4]छन्दःप्रभाकर, पृ० २०८, २०७।

स्वयंभू[1], हेमचन्द्र[2], तथा राजशेखर[3], तीनों ने किया है। स्थविरासनक[4], सुभग[5], भाराक्रान्त[6] का उल्लेख स्वयंभू ने तो नहीं किया, पर हेमचन्द्र और राजशेखर ने किया है। इन सब के अतिरिक्त एक चतुस्त्रिंशतमात्रापादी चतुष्पदी खंडोद्गता[7] छन्द हेमचन्द्र द्वारा और उल्लिखित है। पर गणव्यवस्था, यति-स्थान तथा लय के आधार पर उक्त किसी छंद से लीलापति का किंचिदपि साम्य नहीं। प्रा० पैं० में ३४ मात्रापादी कोई छंद उपलब्ध नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह सूरदास का नूतन प्रयोग है और यह प्रयोग प्रयोग ही रह गया, क्योंकि ऐसा छन्द न तो सूर के पूर्व प्राप्त होता है, और न उनके बाद ही। इस पद में लीलापति कृष्ण की अविज्ञेय लीला का वर्णन है। लीला और लीलावती नाम के छन्द छन्दःशास्त्रों में पहले से विद्यमान हैं। इसलिये यह लीलावती की संज्ञा से अभिहित किया गया।

## (४६) अरुण-जयी

वचन रसन रसरास नंद नन्दन ते
जोग पौन हिरदै लवलीन।
नंद जसुदा दुखित गोपी ग्वाल गोसुत
मालिन दिन ही दिन दुखीन।
बकी बका सकटा तृना केसी वृषभ
बिन गोपाल बैर इन कीन।
ऊधौ परें पाइँ सूरज प्रभु मिलाइ
आरति हरें भई तन छीन। —पद ४४८५

अरुण-जयी छन्द में लिखित १६ चरणों का (छन्दक सहित) एक ही पद सूरसागर में उपलब्ध है। इसके प्रत्येक चरण में ३५ मात्राएँ हैं और २०-

---

[1]स्वयंभूच्छन्दः ६।१५२, १५३, १५४, १५५, १५६।
[2]छंदोनुशासन ७।२७, ३४ (कुमुद), २८, २६, ३३, ३०।
[3]छन्दःकोश १६६, १६७, (कुमुद), १६८, २००, २०१, २०२।
[4]छन्दोनुशासन ७।३१, छन्दःकोश २०३।
[5]छन्दोनुशासन ७।३२, छन्दःकोश २०४।
[6]छन्दोनुशासन ७।३५, छन्दःकोश १६६। [7]छन्दोनुशासन ४।४०।

१५ पर यति। इसके पंचदशमात्रिक खंड स्पष्टतया चौपई के चरण हैं। केवल निम्नांकित तीन चरण ही दोषयुक्त हैं—

(क) चौबीस धातु चित्र केहि कीन।—१ मात्रा अधिक।
(ख) कंज दल सौबीस वंसीन।—गति-भंग।
(ग) मालिन दिन ही दिन दुखीन।—१ मात्रा कम।

इनमें (क) का सुधार तृतीय संस्करण में 'चौबीस' की जगह 'चौबिस' रख कर कर दिया गया है।[1] (ख) का पाठ दोनों संस्करणों में यही है। डॉ० रामधन शर्मा ने इसका पाठ यों दिया है—'कंज दल सौ बीस बसीन'।[2] इसमें भी एक मात्रा की कमी है। इसकी पूर्त्ति 'दल' को 'दलन' कर देने से हो जाती है। (ग) का सुधार तृतीय संस्करण में 'मालिन' की जगह 'मलिन' रख कर किया गया है, जो अर्थ-संगत है। पर इस पाठ में भी मात्राओं की कमी और प्रवाह की शिथिलता है। 'मलिन दिनहिं दिन सदा दुखीन' हो जाने से दोनों दोष दूर हो जाते हैं।

विंशन्मात्रिक अर्द्धांश की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं। २० मात्रापादी एक अरुण छन्द है, जिसके चरण में ५-५-१० मात्राएँ होती हैं और अंत में रगण रहता है।[3] डॉ० शुक्ल ने चार रगण (ऽ।ऽ) के आधार पर इसका निर्माण बतलाया है।[4] इसी पंचक के आधार पर झूलना छन्द चलता है। सूरसागर में झूलना का प्रचुर प्रयोग है। झूलना-हंसाल में पंचक के नियम का पालन सूरदास ने सर्वत्र किया है, कोई-कोई चरण ही इसका अपवाद है। जैसे—

**मारै कंस निरबंस विधना करै।**[5]
**महाराज भए सुनि, सबनि आनंद भयो।**[5]

किन्तु अंतिम रगण की व्यवस्था प्रायः नहीं पाई जाती। इस पद में प्रयुक्त चार चरण ऐसे हैं, जिनमें पंचक का आधार स्पष्टतः देखा जाता है। जैसे—

**षट इन्दु | द्वादश प | तंग मनु | मधुप सुनि।**
**द्वादसै | बिंब सौं | बानवे | वज्रकन।**[6]

---

[1]सूरसागर (तृतीय संस्करण), पद ४४८६।
[2]कूटकाव्य : एक अध्ययन, पृ० २७७। [3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५७।
[4]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७६।
[5]सूरसागर, पद ३७०७ और ४६९९।
[6]ग्रंथ में 'द्वादस' पाठ है। 'द्वादसै' कर देने से मात्रा-न्यूनता का दोष दूर हो जाता है।

नील नी | लै मिली | घटा दा | मिनि मनौ।
ऊधौ प | रैं पाइ | सूरज प्र | भु मिलाइ।

चार ऐसे चरण हैं, जिनके कुछ अंश ही पंचक के आधार पर अवलम्बित हैं।

गए नव | कुंज कुसु | मनि के पुंज करे।
नंद जसु | दा दुखित | गोपी ग्वाल गोसुत।
बकी बका सकटा | तृना के | सी वृषभ।
द्वादसै | मृनाल द्वादस कदली खंभ।

शेष सात चरण ऐसे हैं, जिन्हें पंचक का आधार प्राप्त नहीं। इन सातों में पाँच चरण समप्रवाही हैं, जो चौपाई के आदि में ४ मात्राओं के योग से बन जाते हैं। जैसे—

ऊधौ | एक बार नँद लाल राधिका।
षट उड्ड | गन षट मनिधर हूँ राजत है।[1]
द्वादस | धनुष द्वादसै विषका मोहन।
द्वादस | व्याल अधोमुख झूलत मानौ।
फिरि फिरि | चक्र गगन में भ्रमी बतावत।

दो चरण मनहरणघनाक्षरी के अर्द्धांश (१६ अक्षर) की लय पर आधारित जान पड़ते हैं। यथा—

चौबिस चतुष्पद ससि सौ बीस मधुकर।
वचन रचन रस रास नन्द नन्दन ते।

इस प्रकार इस छन्द के २० मात्रा वाले अर्द्धांश में तीन प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। अतः इस छंद का कोई लक्षण निर्दिष्ट करना बड़ा कठिन है। यही कहा जा सकता है कि अरुण-जयी का निर्माण विंशन्मात्रिक किसी छंद के चरण के आगे चौपई के चरण को रख देने से हो जाता है। दोनों के चरणों का संयुक्त रूप ही अरुण-जयी है।

हिन्दी छंदःशास्त्रियों में केवल जानी बिहारी लाल ने ३५ मात्रापादी 'शृंगधरा' छंद का उल्लेख किया है।[2] शृंगधरा मात्रिक नहीं वर्णवृत्त है।[3] किंतु,

---

[1]तृतीय संस्करण में उड्डगन के बाद 'षट' रखकर पाठ का सुधार किया गया है।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ६६।

[3]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४३।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में इस नाम का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में तीर्थानन[1], कंदोट्ट[2], भ्रमरद्रुत[3], सुरक्रीड़ित[4], सिंहविक्रान्त[5], कुसुमशेखर[6] तथा प्रसूता[7], नामक समद्विपदी मात्रिक छन्दों का उल्लेख है; पर गणव्यस्था तथा लय के आधार पर अरुण जयी का संबंध किसी से नहीं बैठता। इस प्रकार इस पद में सूरदास ने छंद का नूतन प्रयोग किया है। उनके पूर्व और पश्चात् भी ऐसा प्रयोग किसी ने नहीं किया। इस छन्द के अधिकतर चरण अरुण (पंचक के आधार पर चलने वाले चरणों को यह संज्ञा किसी तरह दी जा सकती है) और चौपई (जिसका अन्य नाम जयकरी भी है) के चरणों के योग से बने हैं, इसीलिये इसे अरुण-जयी की संज्ञा दी गई है।

## (५०) प्रतिपाल

**मया करिऐ कृपाल, प्रतिपाल संसार**
**उदधि जंजाल तें परौं पार।**
**काहू के ब्रह्मा, काहू के महेस,**
**प्रभु मेरे तो तुम ही अधार।**
**दीन के दयाल हरि, कृपा मोकौं करि,**
**यह कहि-कहि लोटत बार-बार।**
**सूरस्याम अँतरजामी स्वामी**
**जगत के कहा कहौं, करौ निरवार।** —पद ८७०

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

इस प्रकार का छंद सूरसागर में केवल एक ही पद में प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में १०-१०-१६ पर यति दे कर ३६ मात्राएँ हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भानु के झूलना (द्वितीय) (१०-१०-१०-७) या हंसाल (२०-१७) के अंतिम गुरु को लघु बना कर इसका आविष्कार कर लिया गया है। ऐसा प्रतीत होने का कारण यह है कि इन दोनों छंदों के गति-विधायक तत्व—गणविधान अथवा लघु-गुरु का क्रम—की ओर कोई निर्देश नहीं किया

---

[1]स्वयंभू—६।१५७। [2]स्वयंभू—६।१५८।
[3]स्वयंभू—६।१५९। [4]स्वयंभू—६।१६०।
[5]हेमचन्द्र—७।३९। [6]हेमचन्द्र—७।४०।
[7]विरहांक—४।९२।

गया है। साथ ही झूलना और हंसाल छंद के लक्षण और उदाहरण-पद्यों में कहीं-कहीं पंचक के नियम का पालन नहीं हुआ है। जैसे—

हंसाल— बीसै सत्रह यति धरि निःसंक रचौ
सबै यह छन्द हंसाल भायौ। (लक्षण)
तोसो ही चतुर सुजान परबीन अति
परे जिन पींजरे मोह कूआ। (उदाहरण)

झूलना— सैंतिस यगंत यति, दोष दस दोष मुनि
जानि रचिये द्वितिय झूलना को। (लक्षण)
भक्ति मुक्तिप्रदे वाणि महारानी
प्रणत ईश्वरी कहँ शरण दे तू।[1] (उदाहरण)

उपरिलिखित पंक्तियों में रेखांकित खंड दो चतुष्कल+द्विकल तथा दो त्रिकल+चतुष्कल के योग से बने हैं, दो पंचकों के मेल से नहीं। प्रा० पैंगलकार[2] तथा भिखारीदास[3] ने भी केवल १०-१०-१०-७ ही लक्षण बताया। दो पंचकों से दशक के निर्माण की बात नहीं कही। यदि झूलना का सामान्य लक्षण यही माना जाय, तब तो यह सहज ही कहा जा सकता है कि उपर्युद्धृत पद का निर्माण झूलना या हंसाल के अंतिम गुरु को लघु बना कर कर।लिया गया है। परन्तु लक्षणकारों द्वारा संकेतित नहीं होने पर भी उनके उदाहरण तथा काव्यगत प्रयोगों के आधार पर झूलना के चरण में सात पंचकल के बाद एक गुरु की योजना माननी ही पड़ेगी। किसी तरह प्रत्येक चरण में १०-१०-१०-७ मात्राएँ रख देने से शुद्ध झूलना छंद नहीं हो सकता, जब तक प्रत्येक यति-खंड में स्वतंत्र पंचकल गणों की व्यवस्था न हो।[4] स्वयं सूरदास के पदों में इस नियम का पालन पूर्णरूपेण हुआ है। एकाध स्थल पर ही इस नियम का उल्लंघन है। भानु की उपर्युद्धृत पंक्तियों के साथ भी वही बात है।

सूरदास के उपरिलिखित पद में केवल ३ यति-खंड ही (प्रतिपाल संसार उदधि जंजाल—ते, कृपा मोको करि)[5] पंचकल के आधार पर हैं। शेष सारे यति-

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७८। [2]प्रा० पै० १।५६।

[3]छन्दार्णव, ९।२।

[4]प्रा० पै० भाग ४, डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० ४४४।

[5]मात्रापूर्त्यर्थ 'किरपा मों कौं करि' या 'कृपा मों कौं करी' पाठ होना चाहिये।

खंडों का निर्माण भिन्न प्रकार से हुआ है। अतः झूलना छन्द के आधार पर इसका निर्माण मानना युक्तिसंगत नहीं। इस छंद का सामान्य लक्षण यही दिया जा सकता है कि 'प्रतिपाल' में १०-१०-१६ पर यति दे कर ३६ मात्राएँ होती हैं और पादांत में ऽ। रहता है। दशमात्रिक खंड का गठन किसी भी प्रकार से हो सकता है। यह नियम पहले तीन चरणों पर तो पूरा-पूरा घटित होता है, पर चौथे चरण में स्पष्टतः यति-गति-भंग दोष है। निम्न पाठ से यह दोष दूर हो सकता है—

**सूर स्याम अंतर | जामी स्वामी जग |**
**के कहा कहौं करौ निरवार।**

हिन्दीलक्षणकारों में केवल जानी बिहारी लाल ने ३६ मात्रापादी कुसुमस्तवक दंडक का उल्लेख किया है, जो वास्तव में वर्णिक छंद है।[१] भानु ने वर्णसमान्तर्गत दंडक प्रकरण में इसका उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इसके चरण का निर्माण ७ सगण से होता है।[२] इस कुसुमस्तवक से यह प्रतिपाल सर्वथा भिन्न है। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दः परंपरा में ३६ मात्राओं के चार द्विपदी छंद हैं—बालभुजंगमलित[३], उपगन्धर्व[४], संगीत[५], और उपगीत[६], किंतु प्रतिपाल की यति-व्यवस्था तथा लय से उनका कोई संबंध नहीं। इस प्रकार यह सूरदास का नूतन प्रयोग है, और यह प्रयोग सूरसागर की चार पंक्तियों में ही सिमट कर रह गया।

## (५१-५३) करखा-हंसाल-झूलना

**हार कैं त्रास मैं कुँवरि त्रासी बहुत,**
**तिहिं डरनि अजहुँ नहि सदन आई।**
**कहाँ मैं जाउँ, कह धौं रही रूसि कै,**
**सखिनि सौं कहति कहुँ मिलि (ली) माई।**
**हार बहि जाइ, अति गई अकुलाइ कै,**
**सुता कै नाउँ इक वहै मेरे।**

---

[१]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४३।
[२]छन्दःप्रभाकर, पृ० २०६। [३]हेम० ७।४१।
[४]हेम० ७।४२। [५]हेम० ७।४३, स्वयंभू ६।१६१।
[६]हेम० ७।४४, स्वयंभू ६।१६२।

सूर यह बात जो सुनैं अबहीं महर,
कहेंगे मोहि ये ढंग तेरे। (करखा)
—पद २६३२

नगर के पास जब स्याम आए।
देखि रथ चढ़े बलराम अरु स्याम कौं,
गए अक्रूर तिन लए आए।
कंस के दूत जहँ तहाँ तें देखि कै
गए नृप पास आतुर सुनाए।
नन्द के बाल गोपाल बलराम दोउ,
सुनत यह सुभट निकटहिं बुलाए। (हंसाल)
—पद ३६४२

बिहँसि राधा कृष्ण अंक लीन्हीं।
अधर सौं अधर जुरि, नैन सों नैन मिलि,
हृदय सौं हृदय लगि, हरष कीन्हीं।
कंठ भुज भुज जोरि, उछँग लीन्हीं नारि
भुवन-दुख टारि, सुख दियो भारी।
हरषि बोले स्याम, कुंज-बन-घन-धाम,
तहाँ हम तुम संग मिलैं प्यारी। (झूलना)
—पद २५६६

भानु ने मात्रिकसमान्तर्गत दंडक प्रकरण में इन तीनों छन्दों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार तीनों में ३७-३७ मात्राएँ होती हैं, और अंत में यगण (।ऽऽ) होता है। किन्तु, करखा में ८-१२-८, ९ पर, हंसाल में २०-१७ पर और झूलना में १०-१०-१०-७ पर यति होती है।[1] इस प्रकार ये तीनों वस्तुतः एक ही छंद हैं। यति-स्थानों में किंचित् अंतर के कारण एक से तीन छंद हो गये हैं। यति उस स्थान पर मानी जाती है, जहाँ जिह्वा स्वेच्छापूर्वक विश्राम करती है और यह उच्चारण-कर्त्ता की इच्छा से होती है—

यतिजिह्वेष्ट विश्रामस्थानं कविभिरुच्यते।
सा विच्छेदविरामाद्यैः पदैर्वाच्या निजेच्छया।[2]

यति के उच्चारण-कर्त्ता की इच्छा पर अवलंबित होने के कारण इन तीनों में

---

[1]छन्दःप्राभाकर, पृ० ७८। [2]छन्दोमंजरी : गंगादास, १।१२।

कभी-कभी एक का चरण दूसरे के नाम पर चला जाना सहज संभव है। दो तीन छंदों के मिश्रण की जो पद्धति पद-साहित्य में पाई जाती है, उससे इसकी संभावना और भी बढ़ जाती है। विशेषकर करखा और झूलना के चरणों को छाँट लेना कभी-कभी बड़ा दुष्कर हो जाता है। फिर भी ऐसा प्रयास किया गया है कि यति-स्थान की कसौटी पर कसने पर जो जिस संज्ञा का अधिकारी हो, वह उसी के अन्तर्गत रक्खा जाय। सूरसागर में इन तीनों छंदों का प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में हुआ है। करखा का स्वतंत्र प्रयोग ७ पदों में, हंसाल का ९४ पदों में और झूलना का ३७ पदों में हुआ है।

हम पीछे कह आये हैं कि इन छन्दों के लक्षण में आचार्यों ने केवल यति-स्थान और अन्त्य यगण का निर्देश किया है, पंचक के आधार पर इनके निर्माण की बात नहीं कही है। पर उनके उदाहरण-पद्यों से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि प्रत्येक दशमात्रिक यति-खंड का निर्माण पंचकल के आधार पर हुआ है। जैसे—

सहस मग्रमत्त गग्र लाख लख पक्खरिग्र
साहि दुइ खेलन्त गिंदू।[1]
पानि पीवै नहीं पान छीवै नहीं
बास अरु बसन राखै न नेरो।[2]
जैति हिमबालिका, असुर कुल धालिका,
कालिका मालिका सुरन हेतू।[3]

अतः इन तीनों के लक्षण में इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि 'इनके चरण का निर्माण पंचक के आधार पर होता है।' इसी पंचक के आधार पर अरुण (२० मात्राएं) और चन्द्र (१७ मा०) छन्द भी चलते हैं। अतः इन दोनों के चरणों के योग से भी इन छन्दों का निर्माण हो जाता है। हाँ, जब अरुण का आधार केवल पंचक माना जायगा, डॉ० शुक्ल के मतानुसार रगण (SIS) नहीं। सूरदास के पदों में पंचक और यति-व्यवस्था का, एकाध अपवाद को छोड़ कर, सर्वत्र पालन हुआ है, किन्तु अन्त्य यगण का प्रयोग सर्वत्र नहीं मिलता।

झूलना के संबंध में यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि जिस झूलना

---

[1]प्रा० पैं० ११६५७। [2]छन्दार्णव—भिखारीदास ९।३।
[3]छन्दःप्रभा क, पृ ७९।

की चर्चा यहाँ हो रही है, उसे भिखारीदास ने मात्रिक झूलना कहा है। उन्होंने एक वर्ण-झूलना का भी उल्लेख किया है, जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

**कहूँ सगन कहुँ जगन है चौबिस बरन प्रमान।**
**गुरु द्वै राखि तुकन्त में, बरन झूलना ठान।[1]**

और उदाहरण में मात्रिक झूलना वाला पद्य ही किंचित् परिवर्तित कर रख दिया है।[2] भानु ने ३७ मात्रापादी झूलना को द्वितीय झूलना कहा है। और प्रथम झूलना उसे कहा है जिसमें २६ मात्राएँ होती हैं, ७-७-७-५ पर यति होती है और अंत में ऽ। रहते हैं।[3] यह झूलना वस्तुतः गीता छन्द है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[4]

संस्कृत छन्दःपरंपरा में इस गति-लय वाला कोई वर्णवृत्त उपलब्ध नहीं। भानु ने 'सर्वगामी' (त ७ + ग ग) नामक छन्द का उल्लेख किया है, जिसमें ३९ मात्राएँ होती हैं। इसका प्रारंभिक दीर्घ हटा देने से झूलना आदि से इसका लय-साम्य हो जाता है। जैसे—

**तिल्लोक गंगा किये पाप भंगा महा पापियों को सदा तारती तू।**
**मो बेर क्यों बेर तूने लगाई नहीं तारिणी नाम क्या धारती तू।[5]**

इस प्रकार इससे झूलना आदि का संबंध जोड़ा जा सकता था। पर किसी प्राचीन ग्रंथ में उल्लिखित नहीं होने के कारण इसकी प्राचीनता संदिग्ध है। प्राकृत-अपभ्रंश परंपरा में ३७ मात्राओं के गोन्दल[6], रथ्यावर्णक[7], चच्चरी[8], अभिनव[9] और चपल[10] छन्द मिलते हैं। डॉ० व्यास ने इन सभी छन्दों को एक ही छन्द के विविध प्ररोह माना है और इसी से झूलना का विकास बतलाया है।[11] इन सभी छन्दों में रथ्यावर्णक की यति-व्यवस्था (१२-८-१७) से करखा, हंसाल और झूलना की यति-व्यवस्था का कुछ साम्य अवश्य है। पर पंचकल का आधार और अंत में यगण नहीं होने से दोनों की लय भिन्न पड़ जाती है। परीक्षा के लिये निम्न पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

---

[1]और[2]—छन्दार्णव—१४।९ और १०। [3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ६७।

[4]गीता छन्द, पृ० १९२। [5]छन्दःप्रभाकर, पृ० २०२।

[6]से [10] तक—स्वयंभू—६।१६३, १६४, १६५, १६६, १६६ हेमचन्द—७।४५, ४६, ४७, ४८, ४९।

[11]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ४४०।

**बारसअट्ठसंठिअ पढमच्छकअं जं तं भणिअ रच्छावण्णअं ।[१]**
**धर्मकिरणविश्रांतं दिग्गजविरतं चाद्यं ज्ञेयं रथ्यावर्णकम् ।[२]**

सममात्रिक गण तथा अंतिम त्रिकल से बने रथ्यावर्णक छन्द के चरण झूलना आदि के साथ बेमेल बैठते हैं। अतः लय-साम्य नहीं होने पर भी केवल ३७ मात्राओं के बल पर इस प्रकार की संभावना करना विशेष मूल्य नहीं रखता।

संस्कृत-छन्दःशास्त्रों में यद्यपि ऐसा कोई छन्द नहीं मिलता, जिससे झूलना के विकास की कल्पना की जा सके, पर दो ऐसे छन्द अवश्य हैं, जिनके चरणों के योग से झूलना आदि तीनों छन्दों के चरण का निर्माण हो सकता है। पंचकल के आधार पर चलने वाले अरुण और चन्द्र छन्दों के योग से झूलना आदि का निर्माण संभव है, और ये दोनों छंद क्रमशः स्रग्विणी (र र र र) और पुट (न न म य) के मात्रिक रूप कहे जा सकते हैं। ये दोनों छन्द अनेक प्राचीन संस्कृत आचार्यों द्वारा उल्लिखित हैं।[३] अतः इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं।

अपभ्रंश के छन्दःशास्त्र प्रा० पैं० में झूलना का उल्लेख तो है, पर करखा और हंसाल का नहीं। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में झूलना का उल्लेख मुरलीधर[४], सुखदेव[५], भिखारीदास[६], राम सहाय[७], अयोध्या प्रसाद[८], तथा जानी बिहारी लाल[९] ने किया है। करखा माखन[१०] अयोध्या प्रसाद[११] तथा जानी बिहारी लाल[१२] द्वारा उल्लिखित है। किंतु, हंसाल का उल्लेख प्राचीन शास्त्रों में नहीं मिलता। यह सर्वप्रथम भानु द्वारा ही उल्लिखित हुआ है। झूलना को प्राचीन सभी आचार्यों ने द्विपदी माना है।[१३] पर भिखारीदास और भानु के अनुसार यह चतुष्पदी है। भानु ने द्विपदी झूलना को तृतीय झूलना माना है। जैसे—

---

[१]स्वयंभू—७।१६४।  [२]राजशेखर कृत छन्दःशेखर, २१५।

[३]पिंगल ६।३८, ६।३२, जयदेव ६।३५, ६।३१, जयकीर्ति २।१२०, २।११८, केदार ३।५४, ३।४९।

[४]और [५]—मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ४।

[६]छन्दार्णव : ९।२-३।

[७]से[९] तक मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ९२, ९४, ९६।

[१०] से [१२] तक मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ८६, ९४, ९६।

[१३]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० २४२।

**तीन दस झूलना अंतमुनि झूलना दोय पद तीसरो भेद गायो ।**[1]

परंतु मध्यकालीन हिंदी कवियों के काव्यों में इसका चतुष्पदी रूप ही मिलता है।

झूलना छन्द का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। प्रा० पै० में इसके उदाहरण और लक्षण मिलते हैं, परन्तु अपभ्रंश काव्यों में इसका प्रयोग दिखलाई नहीं पड़ा। गोरखबानी में दो चार पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जो लय और पाद-संगठन की दृष्टि से झूलना के बहुत कुछ समीप हैं। जैसे—

**(क) उत्तर षंड जाइवा, सुंनि फल खाइवा, ब्रह्म अगिन पहरिवा चीरं।**

**(ख) अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमुन का पानी।**
**चंद सूरज दोऊ सनमुषि, राषीला, हो हो अवधू तहाँ की सहिनांणी।**[2]

इसी लय पर आधारित कुछ पंक्तियाँ ३४ मात्राओं की मिलती हैं—

**(क) ब्रह्मांड फूटिबा नगर सब लूटिबा, कोई न जाणवा भेवं।**

**(ख) चेत रे चेतिया आया न रेतिया, पंच की मेटिवा आसा।**[3]

इस तरह की ३४ मात्रावाली पंक्तियाँ जयदेव में मिलती हैं—

**वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचि कौमुदी**
**हरति दरतिमिरमति घोरम्।**
**स्फुरदधर सीधवे तव वदन चन्द्रमा**
**रोचयति लोचन चकोरम्।**[4]

इस छन्द में झूलना की ३७ की जगह ३४ मात्राएँ हैं। यदि 'घोरम' और 'चकोरम्' के पहले क्रमशः 'निविड़' और 'प्रिय' रख दिये जायँ, (हरति दरतिमिरमति निविड़ घोरम्) तो ये झूलना के चरण निस्संदेह कहे जायँगे। यों अरुण (२० मा०) और मनोरम (१४ मा०)[5] के चरणों के योग से इसका निर्माण हो जाता है। यह मनोरम गीतिका (१४-१२) के चरण का प्रथम खंड है। इसी को डॉ० शुक्ल ने मनोरमा कहा है और यह उदाहरण दिया है—

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ७६।

[2] गोरखबानी : पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, (क) सबदी ६७, (ख) सबदी ११३।

[3] गोरखबानी : पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, (क) स०—११२, (ख) स०-११४।

[4] गीतगोविन्द—दशम सर्ग।

[5] छन्दःप्रभाकर, पृ० ४८।

सांझ जो लिखती अधूरा ।
प्रात रंग पाता न पूरा ।[१]

उन्होंने इसे सप्तक की दो आवृत्तियों से बना बताया है। पर इसका विभाजन पंचक के रूप में भी आसानी से हो जाता है। और तभी पंचक के आधार पर चलने वाले अरुण के साथ इसकी मैत्री हो सकी है। संभव है, स्रग्विणी (मात्रिक-रूप अरुण) और चंचरी (मात्रिक-रूप गीतिका) के क्रमशः एक और आधे चरण के योग से जयदेव ने इसका आविष्कार कर लिया हो। जयदेव ने एक पूरे गीत में इसका प्रयोग किया है। आश्चर्य है, जयदेव के इस प्रयोग को पर-वर्त्ती कवियों ने नहीं अपनाया। गोरखनाथ में (यदि उन्हें जयदेव का परवर्त्ती मानें)[२] अवश्य ऐसी कुछ पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु उनका यह प्रयोग सचे-तन प्रयास का फल नहीं कहा जा सकता। झूलना के निर्माण में प्रयत्न-शैथिल्य-वश ऐसी दो-एक पंक्तियों के लिख जाने की ही संभावना की जा सकती है। उनके बाद तो फिर किसी के काव्य में ऐसी पंक्तियाँ देखने को नहीं मिलतीं।

पृथ्वीराज रासो में एक स्थल पर करखा (करषा) छंद का प्रयोग हुआ है। जैसे—

पांनि करि पांनि अरि पांनि करनीय हक
सीस अरि पारि सब षेत सीच्यो।
भ्रात सोमेस नृप्पत मंजन भरन
षेत षयकार षय काल षीज्यौ।[३]

छं० ८३ स० ५

१३वीं शताब्दी के संत जयदेव और गीतगोविन्दकार जयदेव अभिन्न हैं, या ये दोनों दो व्यक्ति हैं, यह हमारे प्रबन्ध का विवेच्य नहीं, किंतु संत जयदेव के नाम से जो पद मिलते हैं, उनमें झूलना का बहुत कुछ निखरा हुआ रूप दिख-लाई पड़ता है—

चंद सत भेदिआ, नाद सत पूरिआ
सूर सत षोड़सादतु कीआ।

---

[१]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २२५।

[२]गोरख के स्थिति-काल के संबंध में विद्वानों का मतभेद : हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन, रामरतन भटनागर, पृ० २३।

[३]चन्दबरदाई और उनका काव्य: डॉ० त्रिवेदी, पृ० २४२।

अबल बलु तोड़िआ, अचल चलु थपिआ

अघड़ घड़िआ तहाँ अपिअ पीआ ।[१]

('सा' का ह्रस्वोच्चारण और 'थ' का दीर्घोच्चारण अपेक्षित)

सन्त जयदेव के बाद विद्यापति के एक पद में झूलना का प्रयोग दिखलाई पड़ता है—

खनहिं खन मँहधि भइ किछु अरुन नयन कइ

कपट धरि मान सम्मान लेही ।

कनक जयँ प्रेम कसि पुन पलटि बाँक हसि

आधि सयँ अधर मधुपान देही ।[२]

कबीर ने झूलना और हंसाल दोनों का प्रयोग अपने काव्य में किया है[३]—

झूलना—शब्द को खोजि लै शब्द को बूझि लै

शब्द ही शब्द तू चलो भाई ।

शब्द आकाश है शब्द पाताल है

शब्द ते पिंड ब्रह्मांड छाई । क० व० पद ४०

हंसाल—पान परवान जिन बंस का पाइया

पहुँचिया पुरुष के लोक जाई ।

कहै कब्बीर यहि भाँति सों पाइहौ

सत्य की राह सो प्रगट गाई । क० व० पद १७

अन्य संतों में रैदास[४], नानक[५], दादूदायल[६], हरिदासनिरंजनी[७] के पदों में हंसाल-झूलना प्रयुक्त हुआ है । यारी साहब का एक पद झूलना के नाम से प्राप्त है[८], पर वह झूलना नहीं है । गुलाल, गरीबदास, दरिया (बिहार वाले), भीखा, पलटू और तुलसी ने हंसाल को रेखता नाम से अभिहित किया है । यारी साहब

---

[१]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २ ।

[२]विद्यापति की पदावली—बेनीपुरी, पद १३२ ।

[३]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद ४०, ८० (झूलना) ।

कबीर वचनावली : हरिऔध पद १७, १८, २८, ३३ आदि (हंसाल) ।

कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद १६६, परि० ५ (हंसाल) ।

[४] से [७] तक—संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १८, २०, ५०, पृ० २६१ पृ० २८६ ।

[८]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३५७ ।

के यहाँ भी एक रेखता है, जो ४० मात्राओं का है। इसलिये हंसाल से उसका कोई संबंध नहीं। सूरदास ने तो करखा—हंसाल—झूलना का विशद प्रयोग किया ही है। अन्य कृष्णभक्तों में कुंभनदास[1], तथा छीतस्वामी[2], के पदों में हंसाल छन्द मिलता है। तुलसीदास ने विनयपत्रिका के स्तुति-परक पदों में हंसाल को बहुत महत्व दिया है। इसके ३० पदों की रचना उन्होंने इसी छन्द में की है। खोजने पर दो-एक पंक्तियाँ करखा और झूलना की निकल आ सकती हैं, पर मुख्य रूप से हंसाल का ही प्रयोग हुआ है। कवितावली में जो छन्द झूलना नाम से उल्लिखित हैं[3], भानु के अनुसार वे भी हंसाल ही कहे जायँगे। कवितावली के वीर भावों के विपरीत वात्सल्य-भाव की अभिव्यक्ति करने वाले गीतावली के एक पद में भी, दो-एक पंक्तियों के अतिरिक्त, सारी पंक्तियाँ हंसाल की ही हैं।[4] तुलसीदास के ऐसे (२०-१७) पदों को देखकर ही यदि भानु ने हंसाल नामक छन्द की उद्भावना की हो, तो आश्चर्य नहीं। केशव की रामचन्द्रिका में झूलना नामक छन्द मिलता है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। किन्तु उस झूलना से ३७ मात्रापादी इस झूलना का कोई संबंध नहीं। ३७ मात्रा वाले झूलना का रामचन्द्रिका में कहीं पता नहीं है। हिन्दी-साहित्य-कोश में केशव (रा० चं०) द्वारा इसके उपयोग की जो बात लिखी गई है, वह गलत है। ऐसी गलती शायद भ्रमवश हो गई है, क्योंकि वहाँ भी रामचन्द्रिका में वर्णिक झूलना के प्रयोग की बात कही गई और वह मात्रिक झूलना से भिन्न माना गया है।[5] भारतेन्दु ने हंसाल का प्रयोग प्रेममालिका, गीतगोविन्दानंद, रागसंग्रह, कृष्णचरित्र तथा श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र में किया है। तुलसीदास के समान इन्होंने भी अधिकतर वीर-भाव-व्यंजक तथा स्तुति-परक पदों में हंसाल का उपयोग किया है। भारतेन्दु के बाद करखा—झूलना जैसे कई यति वाले छन्दों को कवियों ने नहीं अपनाया।

इस प्रकार हंसाल—झूलना छन्दों का क्षेत्र पदों तक ही सीमित रहा, यों कवितावली के कुछ मुक्तक पद्यों में इसका व्यवहार हुआ है तथा पृथ्वीराज रासो में एक स्थल पर करखा का उपयोग किया गया है। पदों के अन्तर्गत शृंगारादि कोमल रसों के लिए करखा—झूलना का और वीर भावों के लिए

---

[1] और [2]अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल—कुं०—२३, छी०—२०।
[3]कवितावली—लं० पद ४, १७, १८, १९, २०, २१, ४४, ४५, ४६।
[4]गीतावली, पद ३७। [5]हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग १, पृ० ३४१-४२।

हंसाल का प्रयोग होता रहा। पादान्तर्गत तुक के कारण झूलना में शृंगार रस की व्यंजना सम्यक् रूप से हो जाती है। प्रा० पैं० के समय से ही पादान्तर्गत तुक झूलना की एक विशेषता रही है। अनेक संतों तथा भक्तों के पदों में इस प्रकार की तुक पाई जाती है। सूरदास ने भी ऐसी तुक कहीं तो तीनों खंडों में और कहीं दो खंडों में रक्खी है। पर किसी-किसी पद में अथवा किसी चरण में ऐसी तुक-योजना बिल्कुल नहीं हैं। यह पादान्तर्गत तुक धीरे-धीरे अपना महत्व खोती गई। तुलसी के पदों में जो छिटपुट पंक्तियाँ झूलना की मिल जाती हैं, उनमें पादान्तर्गत तुक प्रायः नहीं पाई जाती। जैसे-जैसे झूलना यह विशेषता खोती गई, वैसे-वैसे हंसाल को विशेष स्थान प्राप्त होता गया। पादान्तर्गत तुक के अभाव में हंसाल वीर भावों का विशेष रूप से वाहक बना, और तीन यतियों के कारण रुक-रुक कर चलने के कारण झूलना शृंगार का। करखा का प्रयोग चन्दबरदाई ने वीररस की अभिव्यक्ति के लिए किया था। सूरदास ने उससे शृंगार रस में भी काम लिया।[1] वस्तुतः ये छन्द सर्वरस-सिद्ध हैं। कवि-जन अपनी प्रतिभा के बल पर इनसे मनमाने काम लेते रहे। सूरदास ने अधिकतर वीर-भावों की व्यंजना के लिये, वस्तु-वर्णन के लिये हंसाल का प्रयोग किया है। यों कहीं-कहीं शृंगार-परक पदों में भी हंसाल देखा जाता है।[2] उसी प्रकार झूलना का प्रयोग जहाँ शृंगार-रस में अधिक किया है, वहाँ वीर और भयानक रसों की भी अभिव्यक्ति इसके द्वारा की गई है।[3]

ब्रजभाषा के बाद खड़ी बोली काव्य-भाषा बनी। खड़ी बोली के कवियों के सामने नये विचार तथा नये भाव प्रकट हुए। उन्हें अभिव्यक्ति देने के लिए चार यति वाला झूलना उन्हें उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ। झूलना का प्रचलन तो भारतेन्दु-काल में ही रुक गया था। उनके काव्य में हंसाल तो मिलता है, पर झूलना नहीं। खड़ी बोली में झूलना की गति वाला हंसाल भी अपना स्थान खो बैठा। प्रगीत की प्रधानता के कारण छाया-युग में छोटे-छोटे पाद वाले अनेक छन्द आ गये और दण्डकों की लोकप्रियता खो गई। छायावाद के कवियों ने दंडक का एक प्रकार से वहिष्कार ही कर दिया। प्रसाद के प्रारंभिक काव्य में दंडक के रूप में मनहरणघनाक्षरी ा प्रयोग हमें मिलता है[4], पर छायावादी

---

[1]सूरसागर, पद २६७२, ३२३६।  [2]सूरसागर, पद १३०६।
[3]सूरसागर, पद ११७०, १२२४, १४७१।
[4]झरना, अनुनय, पृ० २६, तुम, पृ० ।४६

प्रसाद में उसका भी पता नहीं। इस प्रकार झूलना आदि छन्द आजकल बिल्कुल लुप्त हो गये।

## (५४) प्रभाती

**भोर भयो जागो नँद नंद।**
**तात निसि विगत भई, चकई आनंदमयी**
**तरनि की किरनी तें चन्द भयो मंद।**
**तम चूर खग रोर, अलि करैं बहु सोर,**
**बेगि मोचन करहु सुरभि गल फंद।**
**उठहु भोजन करहु, खोरि उतारि धरहु,**
**जननि प्रति देहु सिसु रूप निज कद।**
**तीय दधि मथन करैं, मधुर धुनि स्रवन परैं**
**कृष्न-जस-बिमल गुनि करति आनंद।**
**सूर प्रभु हरि नाम, उधारत जग जननि,**
**गुननि कौं देखि कै छकित भयौ छंद। —पद १८२८**

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चरण अपेक्षित)

इस प्रकार का छन्द एक ही पद में सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में ३८ मात्राएँ और १०-१०-१०-८ पर यति है। प्रत्येक यति-खंड दो पंचकों के योग से बना है। इसलिए यह स्पष्टतः द्वितीय झूलना (१०-१०-१०-७) पर आधारित है। झूलना के अंतिम सप्तमात्रिक खंड का निर्माण त्रिकल और चतुष्कल के योग से होता है। प्रभाती छन्द में चतुष्कल की जगह पंचकल (।।ऽ।) रक्खा गया है। बस, इतना ही अंतर है। उपर्युद्धृत पद की ३री और ४थी पंक्तियों के उत्तरखंड यदि इस प्रकार कर दिये जायँ—

**बेगि मोचन करहु सुरभि फंदा।**
**जननि प्रति देहु सिसु रूप कंदा।**

तो ये दोनों चरण झूलना के उदाहरण हो जायँगे। इस प्रकार इसका सामान्य लक्षण यह हुआ कि प्रभाती छन्द में १०-१०-१०-८ पर यति देकर ३८ मात्राएँ होती हैं और अंत में ऽ। रहते है। प्रत्येक दशमात्रिक खंड दो पंचकों के योग से और अष्टमात्रिक खंड पंचकल + त्रिकल (ऽ।) से बनते हैं।

हिन्दी लक्षणकारों में केवल जानी बिहारी लाल ने ३८ मात्रापादी

भुजंग-विजृम्भित का उल्लेख किया है, जो वर्णवृत्त है।[1] भानु ने ३८ मात्राओं के दो वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है—भुजंगविजृम्भित (२६ अ०) और वागीश्वरी (२३ अ०)[2] परंतु लय-भिन्नता के कारण प्रभाती का इन दोनों छन्दों से कोई संबंध नहीं। प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ३८ मात्रापादी पाँच सम द्विपदी छन्द हैं—अमृत[3], सिंहपद[4], दीर्घक[5], कलकंठीरुत[6] तथा शतपत्र[7]। पर इन सब की यति-व्यवस्था प्रभाती से भिन्न है। एक सममात्रिक चतुष्पदी मुग्धगलिता भी ३८ मात्राओं का छन्द है, जिसकी गण-व्यवस्था ६ गुर्वन्त पंचकल+१ अष्टकल[8] है। गण-व्यवस्था के अनुसार प्रभाती का संबंध इससे स्थापित किया जा सकता था। पर अष्टकल के स्वरूप का निर्धारण नहीं होने के कारण मुग्धगलिता के साथ इसका संबंध बतलाना कठिन है। यदि अष्टकल का स्वरूप पंचकल+त्रिकल (ऽ।) हो, तो हम प्रभाती को मुग्धगलिता कह सकते हैं।

इस प्रकार का छन्द सूरदास के पूर्व और पश्चात् भी कहीं देखने को नहीं मिला। इस पद में प्रभात का वर्णन है। पद गा कर जैसे कृष्ण को जगाने की चेष्टा है। इसलिये इसका प्रभाती नाम सार्थक कहा जायगा।

## (५५) मानवती

**भावते लाल सौं, भावती केलि करि,**
**भावती, भाव तैं रसिक रस लै री।**
**त्यागि अभिमान, गुन रूप सौभाग्य रति,**
**मानिनी, मान हरि मैन सुख दै री।**
**एक ब्रजवास, आवत जात देखियत,**
**आपनी जाति पति पैंड कौ घैरी।**

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० २४३।
[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० २०८ और २०१।
[3] हेम० ७।५० स्वयंभू—६।१६६।
[4] हेम० ७।५१ स्वयंभू—६।१६६।
[5] हेम० ७।५२ स्वयंभू—६।१६७ (रति रमणप्रिय)।
[6] हेम० ७।५३ स्वयंभू—६।१६८।
[7] हेम० ७।५४ स्वयंभू—६।१६८।
[8] हेम० ४।३४ : मा० छन्दों का विकास, पृ० १६६।

**ललित उद्दार हित पीर करि, कीर-मति—**
**धीर तनु मनमत्थ कौ भै री ।** —पद ३०७१

सूरसागर में छन्दक-सहित १९ चरणों का एक ही पद इस छन्द में पाया जाता है । द्वितीय झूलना (३७ मा०) के अंत में एक गुरु रख देने से अथवा प्रभाती (३८ मा०) के अंतिम लघु को गुरु कर देने से यह छन्द बन जाता है । इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में १०-१०-१०-९ पर यति दे कर ३९ मात्राएँ होती हैं ।

जानी बिहारी लाल ने ३९ मात्रापादी 'प्रेमलता' छन्द का उल्लेख किया है, जो वस्तुतः वर्णवृत्त है ।[1] ३९ मात्राओं का एक वर्णवृत्त सर्वगामी भानु-द्वारा भी उल्लिखित है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है ।[2] सर्वगामी और मानवती—३९ मात्रापादी ये दोनों छन्द झूलना की लय पर चलने वाले हैं; परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि सर्वगामी (इसका मात्रिक रूप) झूलना या हंसाल के प्रारंभ में और मानवती उसके अंत में एक दीर्घ जोड़ने से बनते हैं । अतः सर्वगामी और मानवती की अभिन्नता की कोई बात ही नहीं रह जाती ।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ३९ मात्राओं के दो द्विपदी छन्द उपलब्ध है—अतिदीर्घक $(४ \times ९ + ३)$[3] और मत्तमातंगक $(६ \times २ + ४ \times ६ + ३)$[4] समात्मक प्रवाह और अन्त्य त्रिकल के कारण दोनों ही मानवती के मेल में नहीं आ सकते । इस प्रकार इसका संबंध झूलना के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन छन्द से नहीं दिखलाई पड़ता । झूलना के अंत में एक दीर्घ रख कर इसका आविष्कार कर लिया गया है, यह असंदिग्ध है ।

मानवती का सर्वप्रथम प्रयोग संभवतः सूरदास ने ही किया है । इनके अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्त कवियों में गदाधर भट्ट में इसका प्रयोग मिलता है । जैसे—

**नन्द कुलचंद वृषभानु-कुल कौमुदी**
**उदित वृन्दाविपिन विमल आकासे ।**

---

[1]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ९६ और २४३ ।

[2]पीछे करखा—हंसाल—झूलना छंद, पृ० २७० ।

[3]स्वयंभू—६।१७०, हेम० ७।५५ ।

[4]स्वयंभू—६।१७१, हेम० ७।५६ (मत्तमातंगविजृम्भित) ।

निकट वेष्ठित सखीवृन्द वर तारिका,
लोचन चकोर तिन रूप-रस प्यासे ।[1]

तुलसीदास ने मानवती छन्दों में २ पदों की रचना की है—[2]

कतहु नहि ठाँउ, कहँ जाउँ कोसलनाथ
दीन बितहीन हौं बिकल बिनु डेरे ।

—वि० प०—पद २१०

भारतेन्दु के पदों में मानवती का प्रयोग नहीं मिलता । आधुनिक युग में जब झूलना का ही प्रयोग नहीं हुआ, तो झूलना के आधार पर निर्मित मानवती को कौन अपनाता ?

इस पद के केन्द्र में मानिनी राधिका है, जिसे मान दूर करने के लिये सखियों द्वारा उपदेश दिलाया गया है । इससे इस छन्द का नाम मानवती रक्खा गया । प्रभाती और मानवती में केवल एक मात्रा का अंतर है; परंतु प्रभाती के गुरु-लघ्वंत चरण से ऐसा प्रतीत होता है, मानों रुक-रुक कर चलने वाला कोई पथिक अंत में अपने पैरों को रोक कर चारों ओर दृष्टि-निक्षेप कर रहा हो । मानवती के द्विगुर्वन्त चरण में निपात की नहीं, पाद-संचार की ध्वनि-सी सुनाई पड़ती है । कवि के ये दोनों छन्द भावों की अनुकूलता का प्रतिनिधित्व सफलता-पूर्वक करते हैं । प्रभाती छन्द में निबद्ध भावों में जहाँ एक ओर कृष्ण को जगाने की व्यग्रता है, वहाँ प्रकृति की ओर दृष्टि-निक्षेप करने की लालसा भी । मानवती छन्द में वर्णित भावों में अन्य वस्तुओं के लिये कोई ठहराव नहीं—केवल रुक-रुक कर हित की बातें बताते चलना है, जिससे राधा का मान टूट जाय ।

## (५६) मदनशय्या

कुंज सुहावनो भवन, बनि-ठनि बैठे राधा-रवन ।
बरन बहु कुसुम प्रफुलित ससि की किरनि (न) जगमग द्युति
तैसोई बहै त्रिविध पवन ।
अलिगन पिक मंगल धुनि गावत, मन भावत सुनि
देखत दंपति अति बिबस मन ।

---

[1]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, पद ६ ।

[2]विनयपत्रिका, पद २११, गीता० अयो० पद १८ ।

सूरदास प्यारी प्रभु राजत सँग साजत सुन, लखि-लखि
वारति रति पति सयन ।

—पद २७६०

सूरदास में छन्दक-सहित चार चरणों का एक ही पद इस छन्द में उपलब्ध होता है। इसके प्रत्येक चरण में ३६ मात्राएँ हैं। तीनों चरण सम-प्रवाही ही हैं और १६-१६-७ यति-खंडों में विभक्त हैं। इस प्रकार यह समान-सवैया और सुगति छंद (अन्य नाभ शुभगति) के एक-एक चरण के योग से निर्मित हुआ है। सुगति का लक्षण भानु ने ७ मात्राएँ और अंत में गुरु माना है, और दो उदाहरण दिये हैं—

(१) अश्वसुगती, गहत सुमती
राम भजिये, मोद लहिये ।

(२) शिव शिव कहौ, जो सुख चहौ
जो सुमति है, तो सुगति है ।[1]

डॉ० शुक्ल के अनुसार इसमें दो सप्तक-भेद—(ऽ।ऽऽ) और (ऽऽ।ऽ) ही प्रयुक्त होते हैं, और गुरु के स्थान पर दो लघुओं के रखने का विधान है।[2] भानु द्वारा दिये दोनों उदाहरणों में शुक्ल के दोनों सप्तकों का स्वरूप स्पष्ट है। इन दोनों उदाहरणों में पहला तो गीतिका के पूर्वार्द्ध (१४ मा०) का आधा है, जिससे हमारा यहाँ कोई सरोकार नहीं। दूसरा उदाहरण ऽऽ।ऽ के आधार पर चलता है, और इसी का प्रयोग सूरसागर के उपर्युद्धृत पद में हुआ है, जो 'राधा-रवन' और 'रति पति सयन' में बिलकुल स्पष्ट है। 'अति बिब | स मन' में भी हम सप्तक (ऽऽ।ऽ) का आधार देख सकते हैं। 'बहै त्रिविध पवन' का आधार भी वही है, पर यहाँ 'बहै' और 'त्रिविध' दोनों को द्विमात्रिक मानना पड़ेगा। दीर्घ का ह्रस्व-रूप में उच्चारण करने की जो स्वच्छंदता ब्रजभाषा आदि में पाई जाती है, उसके अनुसार 'बहै' को द्विमात्रिक मान लेना सरल है। किंतु, 'त्रिविध' को द्विमात्रिक हम तभी मान सकते हैं, जब भिखारीदास के निम्न सिद्धान्त को चरितार्थ करें—

बिन गने होत पूरन कला, जति-गति कवि बानींहि बस ।[3]

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४३। [2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४३।
[3]छन्दार्णव ५।३। पूरे पद्य के लिये—पीछे अध्याय २, पृ० ५३।

यों 'त्रिविध पवन' की जगह यदि 'त्रय पवन' पाठ हो, तो सारा बखेड़ा मिट जाता है। सूरदास ने अन्यत्र त्रय का प्रयोग किया भी है—

**पावक हूँ ते दाह सखी री, त्रय विधि पवन उड़पति**[1]

'बरन बहु कुसुम' में विषम के बाद सम आ जाने से स्वाभाविक गति किंचित् प्रतिहत हो जाती है। 'कुसुम बरन बहु' पाठ से यह दोष दूर हो जाता है। 'किरनि' की जगह 'किरननि' पाठ होने से मात्रा-न्यूनता का दोष भी मिट जाता है। इस प्रकार इन तीनों पंक्तियों को समानसवैया और सुगति के चरणों से निर्मित मानने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं हो सकती।

३९ मात्राओं के जो छन्द प्राचीन छन्दःपरंपरा में पाये जाते हैं, उनका उल्लेख पीछे हो चुका है।[2] गणव्यवस्था के अनुसार मदनशय्या का संबंध अति दीर्घक (९ चतुष्कल + १ त्रिकल) तथा मत्तमातंगक (६ × २ + ४ × ६ + ३) से जुट जाता है। किंतु, यति की व्यवस्था (१४-८-१७) इन दोनों को मदन-शय्या से पृथक् कर देती है। यदि अतिदीर्घक की निम्न पंक्ति को—

**णवचं दसमत आर कअ अइ | दीह रअ चउदसट्ठ सत्ता | रह संठिअं।**[3]

उपरिलिखित ढंग से विभाजित कर १६-१६-७ पर जिह्वा को विश्राम दें, तो यह निस्सन्देह मदनशय्या की पंक्ति कही जा सकती है। मत्तमातंगक के साथ भी यही बात है।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में ऐसा कोई वर्णवृत्त नहीं, जिससे इसका लय-साम्य हो। मदनशय्या का निर्माण समानसवैया और सुगति के चरणों के योग से हुआ है। समानसवैया का संबंध हम संस्कृत वर्णवृत्त तन्वी और क्रौंचपद से दिखला आये हैं। सुगति छन्द धरा (त ग) वर्णवृत्त का मात्रिक रूप माना जा सकता है। भानु ने धरा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

**तू गा हरी | क्यों ना अरी।**
**जाने खरा | शैले धरा।**[4]

इस धरा का उल्लेख जयकीर्त्ति ने तारा नाम से[5] और हेमचन्द्र ने सोमप्रिया नाम से[6] किया है। इन दोनों के द्वारा उल्लिखित होने से इस छन्द की प्राचीनता

---

[1]सूरसागर : पद २७०७। [2]पीछे मानवती छन्द, पृ० २८२।
[3]स्वयंभूच्छन्दः—६।१७०। [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११९।
[5]छन्दोनुशासन—तारा तगौ २।२०।
[6]छन्दोनुशासन—त्गौ सोमप्रिया—२।२२।

सहज सिद्ध है। इस प्रकार मदनशय्या का संबंध संस्कृत-छन्दःपरंपरा से जोड़ा जा सकता है। किसी छन्द के चरण में एकाध गण अथवा लघु-गुरु के परिवर्त्तन से एक दूसरा छन्द बन जाता है। इसके श्रुतबोध में प्रचुर संकेत मिलते हैं।[1] पर दो छन्दों के चरणों के योग से किसी नूतन छन्द के बन जाने की बात संस्कृत छन्दःशास्त्रों के लक्षण में नहीं पाई जाती; यद्यपि दो छन्दों के चरणों के योग से बने हुए छन्द उनमें विद्यमान हैं। मत्ताक्रीड़ा और क्रौंचपद ऐसे ही छन्द हैं। विद्युन्माला (म म ग ग) और मणिगुणनिकर (न न न न स-८, ७ पर यति) के योग से मत्ताक्रीड़ा (म म त न न न न ल ग) का निर्माण हुआ है, और रुक्मवती (अन्य नाम चंपकमाला—भ म स ग) और मणिगुणनिकर के योग से क्रौंचपद का। दो छन्दों के चरणों के योग से बने हुए इन दोनों छन्दों के लक्षण स्वयंभू ने इसी प्रकार दिये हैं—

> **मत्ताकीला विज्जूमाला उवरि हुवइ जइ मणिगुणणिअरो।[2]**
> **कोंचवआ सा रूववईए जइ उवरि हुवइ मणिगुणणिअरो।[3]**

अब इसमें सन्देह नहीं रह गया कि दो छन्दों के चरणों को एक इकाई मान कर नूतन छंद के निर्माण की प्रवृत्ति संस्कृत वर्णवृत्तों से ही चली आ रही है। स्वयंभू ने अपने लक्षण-द्वारा पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। सूरदास ने मदनशय्या जैसे नूतन छंदों का निर्माण कर अपभ्रंशकाल के बाद से पिछड़ी हुई संस्कृतकालीन प्राचीन परंपरा को ही आगे बढ़ाया है। उनके द्वारा जोड़ी हुई वही प्राचीन परंपरा छाया-युग में आ कर और अधिक विकसित हुई।

सूरदास ने ऐसा प्रयोग केवल एक ही पद में किया। जब उन्होंने ही इस छन्द में फिर कोई रचना नहीं की, तो आगे के कवि इसे क्या अपनाते? तुलसीदास के पदों में यह छन्द तो नहीं मिलता, पर इसी प्रकार दो छन्दों के योग से उन्होंने भी एक नूतन प्रयोग किया है—

**सीयस्वयंवरु, माई, दोउ भाई आए देखन।** — **२४ मात्राएँ**

**सुनत चलीं प्रमदा प्रमुदित मन, |**
**प्रेम-पुलकि तनु मनहुँ मदन मंजुल पेखन।** } —**१६+२२ मात्राएँ**

---

[1]पीछे—उत्कंठा छन्द, पृ० २४३ (पाद-टिप्पणी)।

[2] और [3]स्वयंभूच्छन्दः १।६१ और ६३।

निरखि मनोहरताई सुख पाई | कहूँ एक एक सों
'भूरि भाग्य हम | धन्य, आलि ए दिन ए खन। } —१६+१६+१४मात्राएँ

तुलसी सहज सनेह सुरँग सब, |
सो समाज चित-चित्रसार लागी लेखन।[1] } —१६+२२ मात्राएँ

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

मदनशय्या के समान इसका लयाधार भी समात्मक है। छन्दक रोला (यदि यति ११ पर अनिवार्य नहीं मानी जाय) में निबद्ध है। दूसरा और चौथा चरण चौपाई और उल्लास (२२ मा०)[2] के योग से बने हैं और तीसरे में समान-सवैया और मानव (हाकलि का भेद विशेष) का योग है। इस प्रकार छन्दक के अतिरिक्त और सभी चरणों का निर्माण दो छन्दों के चरणों को एक इकाई मान कर हुआ है।

इस पद में कवि ने रतिशय्या पर आसीन राधाकृष्ण का वर्णन किया है। जैसे परकीया नायिका मार्ग की विघ्न-वाधाओं को द्रुतगति से पार करती हुई शय्यासीन प्रियतम के पास आ कर नारी-सुलभ-लज्जा से दव कर ठिठक जाती है, उसी प्रकार यह छन्द ३२ मात्राओं तक सरसराता हुआ चल कर ७ मात्राओं की सीमा पर जैसे ठिठक जाता है। छन्द की गति-भंगिमा के सहारे सूरदास ने युगल जोड़ी के 'अति विबस मन' की एक मनोहर झाँकी पाठकों को दिखा दी है। पद के केन्द्र में रतिशय्या है, उसी का पोषण अन्य प्राकृतिक उपादानों से हुआ है। अतः इस छन्द का नाम मदनशय्या ही उपयुक्त है।

## (५७) विजया

नवल नागरि, नवल नागर किसोर मिलि,
कुंज कोमल-कमल दलनि सज्या रची।
गौर साँवल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मनि मृदुल कंचन सु आभा खची।
सुँदर नीवी बंध रहति पिय पानि गहि
पीय के भुजनि मैं कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत, हुँकरि
रोष, करि गर्व, दृग भंगि, भामिनी लची। —पद १८०६

---

[1]गीतावली, बा० पद ७५। [2]पीछे उल्लास छन्द, पृ० १३९।

सूरसागर के दो पदों में विजया छन्द का प्रयोग हुआ है ।[१] भानु ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

**दिसन चहुँ छा रही, किरति विजया मही,**
**दनुज कुल घालही, जनन कुल पालही ।**

अर्थात् दस-दस मात्राओं के चार समूह का विजया छन्द होता है, अंत में रगण कर्णमधुर होता है ।[२] भानु के बाद परमानन्द[३] और रघुनन्दन[४] ने विजया का उल्लेख किया है और यही लक्षण दिया है । इन तीनों छन्दःशास्त्रियों ने दस-दस मात्राओं के चार समूह का तो उल्लेख किया है, पर दशमात्रिक खंड किस गण-व्यवस्था पर आधारित हैं, इस ओर संकेत नहीं किया । निस्संदेह भानु ने ३२ वर्ण वाले विजया नामक वर्णवृत्त में इस ओर यह कह कर कि कवित्तों के विपरीत इस दंडक में सम-सम के अतिरिक्त दो विषमों के बीच सम पद भी होता है, किंचित् इंगित किया है ।[५] वस्तुतः ये दोनों एक ही छन्द हैं । एक ही छन्द प्रत्येक चरण में वर्ण-संख्या समान होने पर वर्णवृत्त विजया और वर्णों की कमी-वेशी होने पर मात्रिक विजया के नाम से पुकारा जाता है ।[६] सूरदास के इन दोनों पदों में वर्णों की संख्या समान नहीं है, इसलिये ये मात्रिक विजया के ही उदाहरण हैं । मात्रिक विजया के दिये गये लक्षण में गति-निर्धारक तत्व की जो कमी है, उसकी पूर्ति यह बता देने से हो जाती है कि इसके दशमात्रिक खंड दो पंचकों से निर्मित होते हैं । इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में आठ पंचक होते हैं, और दण्डक झूलना (३७ मा०) के अंत में एक त्रिकल (।ऽ) रखने से यह बन जाता है । सूरदास के उपर्युद्धृत पद के प्रथम दो चरणों से यदि 'रची' और 'खची' शब्द हटा दिये जायँ, तो वे झूलना के उदाहरण हो जायँगे । इसके अंत में जो रगण का विधान है, वह कर्ण-मधुरता के लिए है, इसके सामान्य लक्षण का अंश नहीं । इसीलिये सूरदास के कुछ चरणों के अंत में रगण नहीं पाया जाता ।

हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में केशवदास ने विजय और विजया नामक दो

---

[१]सूरसागर, पद १८०६, ३०६८ । [२]छन्दःप्रभाकर, पृ० ८० ।
[३]पिंगलपीयूष, पृ० १६४ । [४]हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ७८ ।
[५]छन्दःप्रभाकर, पृ० २२१ ।
[६]छन्दःप्रभाकर, पृ० ८०, पिंगलपीयूष, १६४ ।

वर्णवृत्तों का उल्लेख किया है[1], जिनकी लय से इस विजया का कोई साम्य नहीं। भिखारीदास ने जिस विजया का उल्लेख किया है, वह यही विजया है।[2] जानी बिहारी लाल ने ४० मात्रापादी छन्दों में उद्धृत और मदनहर के नाम लिये हैं, विजया का नहीं।[3] प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में ४० या उससे अधिक मात्राओं के छन्द को मालाध्रुवक नाम से उल्लेखित किया है[4], पर उसकी समप्रवाहिकता के साथ विजया का कोई मेल नहीं। वर्णवृत्तों में गंगोदक का (र ८) उल्लेख भानु ने किया है, जिसकी लय विजया से मिलती-जुलती है, क्योंकि इसका आधार भी पंचक (रगण ऽ।ऽ) ही है। भानु द्वारा दिया हुआ इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

**रे बसो धाइ कै अंत कासीहि कै धाम निश्चिंत**
**गंगोदकै पान कै।**[5]

इसका उल्लेख मंदारमरंदचम्पू में 'स्वैरणीक्रीडन' के नाम से हुआ है।[6] परंतु मंदारमरंदचम्पू के प्राचीन ग्रंथ नहीं होने के कारण यह छन्द पुराना नहीं कहा जा सकता। यदि इस छन्द का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख प्राचीन नहीं है, तो इसका काव्यगत प्रयोग भी पुराना नहीं जान पड़ता। कदाचित् सूरदास के पहले किसी ने इसका प्रयोग नहीं किया। डॉ० वेलंकर ने मन्दारमरन्दचम्पू को अपनी क्रम-सूची में गंगादास की छन्दोमंजरी के बाद रक्खा है।[7] डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने कृष्णमाचारी के आधार पर गंगादास का समय १५-१६वीं शताब्दी माना है।[8] मन्दारमरन्दचम्पू की रचना यदि इसी के आसपास हुई हो, तो यह ग्रंथ सूरदास का समकालीन कहा जा सकता है। अब सूरदास ने 'स्वैरिणी क्रीडन' के आधार पर मात्रिक विजया की उद्भावना की, या प्रा० पैं० काल से प्रसिद्ध झूलना के अंत में त्रिकल रख कर इसका आविष्कार किया, इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर अंतिम की ही विशेष संभावना की जा

---

[1] छन्दमाला—विजय (२३ अ०) १।६५ विजया (२५ अ०) १।७३।
[2] छन्दार्णव ८।४ और ६।
[3] मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० ८६।
[4] स्वयंभू ६।१७२, हेम० ७।५७।
[5] छन्दःप्रभाकर, पृ० २०४। [6] जयदामन—डॉ० वेलंकर, पृ० १४५।
[7] जयदामन—डॉ० वेलंकर, पृ० ११६।
[8] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ६१।

सकती है । हिन्दी-साहित्य-कोश भाग—१ में विजया छन्द का विवरण देते हुए श्री हरिमोहन ने पुष्पदंत की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**बाहिल्ल ते भिल्ल ते भूअ ते लल्ल**
**ते पंगु ते कुंट वहिरंध्र ते मट्ट ।**

**—हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २३६**

और इन्हें विजया का उदाहरण माना है ।[१] इन पंक्तियों का आधार पंचकल अवश्य है । किंतु, इनमें न तो पादांत में ।ऽ (आचार्यों के अनुसार रगण) है, और न ये दोनों पंक्तियाँ एक चरण के अंश हैं । वस्तुतः यहाँ दस-दस मात्राओं के चार चरण हैं, जिसकी घोषणा अन्त्यानुप्रास कर रहा है । इसलिये यहाँ तगण (ऽऽ।) के आधार पर चलने वाला दीपक छन्द है । प्रा० पैं० के अनुसार दीपक की गण-व्यवस्था ४+५+ल है और उदाहरण निम्नलिखित है—

**जसु हत्थ करवाल विप्पक्खकुल काल ।**
**सिर सोह वर छत्त संपुण्ण ससि मत्त ।**[२]

इस लक्षण और उदाहरण पर पुष्पदंत की उपर्युद्धृत पंक्तियों को कसने पर वे स्पष्टतः दीपक की पंक्तियाँ सिद्ध होंगी, विजया की नहीं । यदि इन चारों चरणों को एक ही चरण मानने का दुराग्रह किया जाय, तो भी यह विजया का नहीं, भिखारीदास की दीपमाला का चरण कहा जायगा, जिसका लक्षण और उदाहरण उन्होंने निम्नलिखित दिये हैं—

**दीपक को चौगुन किये, दीपमाल सुखदानि ।** (लक्षण)
**सँग सखीन परबीन अति प्रेम सों लीन**
**मनि आभरन जोति छवि होति बालाहि ।**[३] (उदाहरण)

भिखारीदास और भानु ने दीपक (दीप) के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें प्रा० पैं० वाला क्रम विद्यमान है । भानु ने लक्षण में—'धातृ सह दस दीप' (धातृ= ।।।ऽ।) लिख कर एक प्रकार से प्रा० पैं० की मात्रा-व्यवस्था की ओर ही संकेत किया है ।[४] किंतु डॉ० शुक्ल ने दीप का रगण आधार मान कर (यों उन्होंने यगण (।ऽऽ) और तगण (ऽऽ।) आधार की भी संभावना प्रकट की है) जो निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

---

[१]हिन्दी साहित्य-कोश—भाग—१, पृ० ७७५ ।
[२]प्रा० पैं० १।१८१—१८२ ।
[३]छन्दार्णव, ६।४ और ५ । [४]छन्दार्णव, ५।७३, छन्दःप्रभाकर, पृ० ४४ ।

**विजन बन प्रांत था | प्रकृति-मुख शांत था ।**
**अटन का समय था | रजनि का उदय था ।[1]**

वह बिलकुल गलत है । इसे विमोहा (र र) का[2] मात्रिक रूप कह सकते हैं । इसी विमोहा को जयकीर्त्ति ने हंसमाला और प्रा० पैंगलकार ने द्वियोधा कहा है ।[3] दीप छन्द का आधार दो तगण है, और वह मंथान का[4] मात्रिक रूप है । डॉ० शुक्ल ने जो 'ज्योति' नामक नये छन्द की कल्पना की है—

**कैसे गए भूल ?**
**बोलो सरल प्राण ।[5]**

वह वास्तव में प्रा० पैं० के अनुसार दीप छन्द ही है ।

पुष्पदंत की पंक्तियों को दीपक (दीप) सिद्ध करने के बाद हम यही कह सकते हैं कि हिन्दी के विशाल साहित्य में, संभव है, सूर के पूर्व भी विजया की पंक्ति कहीं मिल जाय; परंतु हमारी दृष्टि में अभी तक ऐसा प्रयोग उनके पहले नहीं आया । सूरदास के अतिरिक्त कृष्णभक्त कवियों में कृष्णदास,[6] हितहरिवंश[7] तथा गदाधर भट्ट[8] ने विजया का प्रयोग किया । तुलसीदास ने ६ पदों की रचना विजया छन्द में की है । गीतावली के एक पद में उन्होंने नगणांत चरणों का भी प्रयोग किया है ।[9] केशव की रामचन्द्रिका में इसका प्रयोग दण्डक के नाम से मिलता है ।[10] रामचन्द्रिका में इसी के वर्णवृत्त रूप को मत्तमातंगलीलाकर (र ८) कहा है ।[11] भानु ने इसे गंगोदक कहा है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है । भानु के यहाँ मत्तमातंगलीलाकर ८ रगण का नहीं, ९ वा

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४५ ।

[2]छन्दःप्रभाकर, पृ० १२१ । [3]जयकीर्त्ति—२।५१, प्रा० पैं० २।४५ ।

[4]छन्दःप्रभाकर, पृ० १२२, प्रा० पैं० २।५०-५१ ।

[5]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४५ ।

[6]अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल—पद २० ।

[7] और [8]ब्रजमाधुरी; वियोगी हरि, हित०—पद १७, ग० १४ (अंत ।।।), २०, २१, २४ ।

[9]विनयपत्रिका—पद १८, २०६, २११, गी०, सुं० ४३ (अंत ।।।) उ० पद ५, ६ ।

[10]रामचन्द्रिका ५।४३ । [11]रामचन्द्रिका ६।३५ ।

उससे अधिक का होता है।[1] बूला साहब की रेखता विजया ही है, भूलना नहीं। उन्होंने अंतिम ।ऽ की जगह ऽऽ का प्रयोग किया है, यही अंतर है—

**दास बूला कहै अगम गति तौ लहै**
**तोरि कै कुफुर तब गगन गढ़ लिया है।[2]**

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १० पदों में विजया का उपयोग किया है।[3] उन्होंने भी नगणांत चरणों का प्रयोग दो पदों में किया है।

**आजु सुरमुनि सकल व्रजपुराधीश को**
**रत्न अभिषेक बर वेद विधि सों करत।**

**—कृष्णचरित, पद ७**

नगणांत चरण के संबंध में यही कहा जा सकता है कि यहाँ कवि ने एक दीर्घ की जगह दो लघु के प्रयोग की स्वतंत्रता ग्रहण की है। पर ऐसे चरण विजया के ही उदाहरण हैं, इसमें सन्देह नहीं। आधुनिक काल में भूलना आदि की तरह विजया का भी प्रयोग किसी ने नहीं किया।

सूरदास ने अपने दोनों पदों में विजया के द्वारा संभोगश्रृंगार की व्यंजना की है। कृष्णदास ने इसके द्वारा कृष्ण-रूप का वर्णन किया है। गदाधर ने रास-वर्णन और राधा-रूप-चित्रण में इसका उपयोग किया है। तुलसीदास ने इसमें राम के रूप-सौन्दर्य का वर्णन, उनके ऐश्वर्य और महिमा का गान तथा अपने दैन्य का प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया है। केशव ने इसके द्वारा वीर भावों की अभिव्यक्ति की है। बूला साहब ने इसमें अध्यात्म की बात कही है। भारतेन्दु ने जहाँ एक ओर इस छन्द के द्वारा कृष्णभक्त कवियों की तरह राधा-कृष्ण का रूप-चित्रण और संभोगश्रृंगार के चित्र उपस्थित किए हैं, वहाँ रथयात्रा ओर कृष्णाभिषेक का वर्णन भी किया है। इस प्रकार इसकी अनेक रस-सिद्धता स्वतः सिद्ध हो जाती है। फिर भी यह छन्द हर्षोल्लास के लिए जितना उपयुक्त प्रतीत होता है, उतना वियोग श्रृंगार के लिए। इसीलिए वियोगश्रृंगार-वर्णन में इसका प्रयोग किसी ने नहीं किया। भूलना के अन्त में

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० २०९।

[2]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३७०।

[3]भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खंड : व्रजरत्न दास—प्रेममालिका—पद १८, २८, ६५, ६६, ८६। रागसंग्रह—पद १२, २९, ९९, १०४। कृष्ण-चरित—७ कार्तिक स्नान ५, १३।

त्रिकल के योग से बना हुआ विजया छन्द उसी तरह भावों के आरोह-अवरोह पर चलता है, पर जहाँ झूलना के चरण का ३० मात्राओं के बाद ७वीं मात्रा पर सहसा निपात हो जाता है, वहाँ विजया के चरण में समान मात्रिक चार खंडों के कारण एक स्फीतता आ जाती है, जिससे कवि के भाव फैल कर पाठकों के हृदय को छू लेते हैं।

## (५८) प्रफुल्लित

**फूलनि के महल | झूलनि सेज | फूले कुंजबिहारी | फूली राधा प्यारी।**
**फूलैं वे दंपति | नवल मगन फूले | फूलें करें केलि | न्यारीयै न्यारी।**
**फूली लता बेलि | विविध सुमन फूले | फूले आनन | दोऊ हैं सुखकारी।**
**सूरदास-प्रभु | प्यारी पर वारत हरषि | फूले फूल | चंपक बेल निवारी।**
**पद ३०७४।**

सूरसाहित्य में इस प्रकार का यही एक छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में ४० मात्राएँ हैं, और प्रत्येक में चार बार यति दी गई है। चार यति वाले ४० मात्राओं के चार छन्दों का उल्लेख भानु ने किया है—मदनहर (१०, ८, १४, ८), उद्धत (१०-१०-१०-१०), शुभग (१०-१०-१०-१०) और विजया (१०-१०-१०-१०)[1]। इनमें शुभग और विजया के चरण पंचक के आधार पर चलते हैं, और मदनहर और उद्धत समप्रवाही हैं। सूरदास के उपर्युद्धृत पद के कुछ चरण-खंडों में तो समप्रवाहिकता है, परन्तु सम्पूर्ण चरण समप्रवाही नहीं कहे जा सकते। साथ ही इसके यति-स्थानों में काफी अनियमितता है। इसके प्रथम चरण में ९-७-१२-१२, द्वितीय में १०-१०-१०-१०, तृतीय में १०-१०-८-१२ और चतुर्थ में ८-१३-७-१२ पर यति है। इस प्रकार इसमें ७, ८, ९, १०, १२ और १३ मात्राओं के यति-खंड हैं। सभी यति-खण्डों का निर्माण समान गण के आधार पर नहीं हुआ है।

सप्तमात्रिक खंड का निर्माण चतुष्कल + त्रिकल से हुआ है।

अष्टमात्रिक खंड दो चतुष्कलों अथवा दो त्रिकलों और एक द्विकल के योग से बना है।

नवमात्रिक खंड में एक चतुष्कल और एक पंचकल का प्रयोग हुआ है।

दशमात्रिक खंड का निर्माण तीन तरह से हुआ है—

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७९, ८०।

(क) चतुष्कल + द्विकल + चतुष्कल

(ख) २ त्रिकल + १ चतुष्कल

(ग) एक चतुष्कल + २ त्रिकल (जिसे दीप छन्द कह सकते हैं)

द्वादशमात्रिक सभी खंड समप्रवाही हैं, जिन्हें महानुभाव कह सकते हैं। त्रयोदश-मात्रिक खंड समप्रवाही 'उल्लाला' का चरण है। इस प्रकार इस छन्द का कोई सामान्य लक्षण देना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि ४० मात्रापादी इस छन्द के अन्त में २ गुरु अनिवार्यतः रहते हैं। तीन स्थानों पर अनियमित रूप से यति होती है और यति-खंड मुख्यतः समप्रवाही होते हैं।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी छन्दःशास्त्रों में ४० मात्राओं के जो छन्द मिलते हैं (जिनका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं) उनमें किसी से इसका लय-साम्य नहीं। वस्तुतः अनियमित छन्द का यह ज्वलंत उदाहरण है। सम्पूर्ण सूर-साहित्य में दो ही पद ऐसे मिले, जिन्हें अनियमित छन्द (मुक्त छन्द नहीं) कह सकते हैं। एक तो यह, और दूसरा जल-तरंग।[1] अनियमित इसलिए कि न तो इसके चरणों में समान मात्राओं पर यति है, और न यति-खंडों में कोई समान गण-व्यवस्था ही। पर छन्द इसलिए कि लय के साथ-साथ प्रत्येक चरण में समान मात्राएँ हैं, और मात्राओं की यही समानता इसे मुक्त छन्द नहीं कहने देती। जलतरंग के समान इस छन्द में भी सूरदास ने किसी प्रचलित छन्द का आधार ग्रहण नहीं किया है। उनका भावावेग जैसे-तैसे प्रकट हो गया, वह छन्द के बन्धन में सिकुड़ कर पूर्ण रूप से बँध नहीं सका। सूरदास का यह प्रयोग भी सूरसागर के एक ही पद में सिमट कर रह गया। अपनी यति-व्यवस्था और पाद-खंडों की असमानता के कारण यह परंपरा बनाने में असमर्थ रहा।

इस पद में 'फूल' का प्रचुर प्रयोग है, जो कहीं अभिधेय और कहीं लाक्षणिक अर्थ लिए हुए है। लता-बेलियों का फूलना राधाकृष्ण के फूलने (प्रसन्न होने) का साधन मात्र है। भाव के केन्द्र में दोनों का प्रफुल्लित होना ही है। अतः इस छन्द का नाम 'प्रफुल्लित' उपयुक्त ही कहा जायगा।

## (५६) मदनहर

**होरी के खि (खे) लार भावते यों ही जान न दैहौं।**

---

[1] देखिए पीछे, पृ० २५७।

बागे बीरे जो बनि आए जागे हैं (ये) भाग हमारे [नैननि भरि राखौं]
फगुवा न लेंहौ ।

(नैननि में भरि राखौं प्यारे) न्यारे ह्वै मुख (सदा) माड़िहौं
अँखियाँ अजैहौं ।

बीरी पलटि न लेहु और सों काहू की प्यारे औरे (अब)
भरन न दैहौं ।

न्यारे ही (हौं तुम्हें) खिलैहौं, लोभी मूरति माधुरी हँसि (हँसि)
हृदै लगैहौं ।

सूरदास म [द] नमोहन संग हिलि-मिलि दोऊ जल की तरंग जैसे
जल ही समैहौं ।

—परिशिष्ट १२४

सम्पूर्ण सूरसागर में इस छन्द का एक भी पद नहीं है । केवल परिशिष्ट के एक पद में इसका प्रयोग हुआ है । इस पद में पाठ की अनेक भूलें दिखलाई पड़ती हैं । कहीं तो कुछ शब्द छूट गए हैं, कहीं एक चरण का अंश दूसरे में सम्मिलित हो गया है । फलस्वरूप कोई चरण छोटा हो गया है और कोई बड़ा । परिशिष्ट वाले पदों को संपादक ने सूर-कृत मानने में सन्देह प्रकट किया है ।[1] यह पद सूर-द्वारा रचित है या नहीं, यदि यह दृढ़तापूर्वक कहा नहीं जा सकता; तो यह तो कहा ही जा सकता है कि इस पद में छन्द की जैसी अस्त-व्यस्तता दिखलाई पड़ती है, वैसी सूरदास के समस्त पदों में शायद ही कहीं मिले । यदि यह सूरदास की रचना है, तो इस रूप में यह कभी नहीं रही होगी । अवश्य लिपिकर्त्ता की असावधानी से इसका मूल पाठ विकृत हो गया है, जिसका सुधार उपरिनिर्दिष्ट किंचित् परिवर्त्तन से हो जा सकता है । कोष्ठक ( ) में दिए हुए शब्द हमारे हैं । कोष्ठक [ ] के अन्तर्गत 'नैननि भरि राखौं' को द्वितीय चरण से हटा कर तृतीय चरण के प्रारम्भ में कुछ शब्द (में और प्यारे) जोड़ कर रख दिया है । इसी प्रकार कोष्ठक [ ] का 'द' मात्राधिक्य के कारण हटा दिया गया है । इस परिवर्त्तन-परिवर्द्धन तथा रेखांकित वर्णों के ह्रस्वोच्चारण से पद छन्दोदोष से रहित हो जाता है ।

भानु के ४० मात्रापादी छन्दों में एक छन्द मदनहर है । उनके अनुसार इसमें १०-८-१४-८ के विश्राम से ४० मात्राएँ होती हैं, आदि में दो लघु होते

---

[1] सूरसगार परिशिष्ट (१) सूचना ।

हैं और अंत में एक गुरु होता है ।[1] परवर्ती आचार्यों में रघुनन्दन शास्त्री[2] तथा डॉ० शिवनन्दन[3] ने भी मदनहर का यही लक्षण दिया है । मदनहर का प्राचीन उल्लेख प्रा० पैं० के पूर्व नहीं मिलता । वहाँ इसका लक्षण २ लघु+४×६+ग बतलाया गया है, यति-स्थान का कोई निर्देश इस लक्षण में नहीं मिलता ।[4] परन्तु, उदाहरण-पद्य से प्रतीत होता है कि प्रा० पैंगलकार को १०-८-१४-८ वाली यति-व्यवस्था मान्य थी । केशवदास ने मदनहर को मदनमनोहर कहा है, और इसके चरण में ३० अक्षर और ४० मात्राओं का होना अनिवार्य बतलाया है ।[5] यति का निर्देश केशव में भी नहीं है, पर उदाहरण-पद्य में १०-८-१४-८ पर यति मिल जाती है । आदि में दो लघु और अंत में एक गुरु भी मिलते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि प्रा० पैं० का मदनहर ही केशव का मदनमनोहर है । किन्तु विचित्र बात तो यह है कि उनकी रामचन्द्रिका में जो पद्य मदनमनोहर के नाम से मिलते हैं, वे छन्दमाला के मदनमनोहर से एकदम भिन्न हैं । मदन मनोहर दंडक (भ ज स न भ ज स न भ ल र) ३१ वर्णों का है, जिसकी लय बहुत कुछ मनहरण घनाक्षरी के समान है[6] । मदनमनोहर ८ सगण और १ गुरु का सवैया है ।[7] इसी ८ सगण और १ गुरु से निर्मित पादवाले छन्द को केशव ने अन्यत्र मदनमोहन दंडक कहा है ।[8] इस प्रकार छन्दमाला के मदन-मनोहर से इनका कोई साम्य नहीं ।[9] इसमें प्रा० पैं० के सभी लक्षणों का पालन हुआ है । रघुनन्दन शास्त्री ने इसी पद्य को उद्धृत कर केशव के प्रयोग में आदि में लघुद्वय के नियमोल्लंघन की बात लिखी है । उनके द्वारा उद्धृत पद में तीन चरणों में दो लघु विद्यमान हैं, केवल तृतीय चरण का प्रारम्भ 'ते' से होता है—

> ते बदन निहारैं, सरबसु वारैं,
> देहि सबै सब ही न घनो, अरु लेँहि घनो

---

[1]छन्दःप्रभाकर : पृ० ७६ । [2]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ७८ ।
[3]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० १०१ ।
[4]प्रा० पैं०—बे वि मत्त सिर ठावि कहु वलआ अंत ठवेहु ।
यव च कल गण मज्झ धरि मणअहराइ करेहु । १।२०६ ।
[5]छन्दमाला : २।४८ । [6]रामचन्द्रिका २१।३० ।
[7]रामचन्द्रिका १६।५३ । [8]रामचन्द्रिका १०।१४ ।
[9]रामचन्द्रिका २२।१६ ।

लाला भगवान 'दीन' की 'केशवकौमुदी' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'केशव-ग्रंथावली', भाग २ में 'ते' की जगह 'वर' पाठ है। पता नहीं, शास्त्रीजी को 'ते' वाला पाठ किस प्रति में उपलब्ध हुआ ?

केशव के बाद मुरलीधर (मदनहरा)[१] सुखदेव (मदन-हार-मदनहर)[२] जयदेव (मदनहर)[३] भिखारीदास[४] रामसहाय[५] अयोध्या प्रसाद (मदनहरा)[६] तथा जानी बिहारी लाल[७] ने इसका उल्लेख किया है। इनमें रामसहाय, अयोध्या प्र० तथा जानी बिहारी लाल के लक्षण वही हैं, जो प्रा० पैं० और छन्दःप्रभाकर के हैं।[८] भिखारीदास ने भी—तिरभंगी पर आठ पुनि, मदनहरा उर आनि, लक्षण बताकर एक तरह से उसी यति-व्यवस्था को मान्यता दी है।

इस प्रकार मदनहर के लक्षण में सभी आचार्य एक-मत हैं। मात्रा-संख्या और समप्रवाहिकता के आधार पर सूरदास का यह पद्य आचार्यों द्वारा परिभाषित मदनहर का उदाहरण हो जाता है। पर आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट यति-व्यवस्था तथा आदि-अंत में क्रमशः दो लघु और एक गुरु के नियमानुसार इसे मदनहर नहीं कह सकते। सूरदास के उपर्युद्धृत पद्य में १६-१६-८ पर यति है। इस प्रकार यह समानसवैया के अंत में ८ मात्राएँ रख देने से बनता है। यह अष्ट-मात्रिक खंड चौपाई का आधा है। डॉ० शुक्ल ने इसे अखंड नाम से अभिहित किया है।[९] सूरदास का यह पद्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियम का पालन नहीं करता, अतः इसका कुछ नया नाम होना चाहिए। छन्दों के नामों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि करना यदि अभीष्ट नहीं हो, तो भानु के इस कथन के आधार पर कि 'कहीं-कहीं इस (मदनहर) छन्द में ३२-८ पर भी यति कही गई है' (यद्यपि भानु के अनुसार यह अशुद्ध है)[१०] यह मदनहर कहा जा सकता है। ३२ मात्राओं तक जिह्वा बिना विश्राम लिए चल नहीं सकती; बीच में विश्राम की आवश्यकता उसे अवश्य पड़ेगी। यह सोच कर भानु-द्वारा संकेतित अज्ञातनामा आचार्य के नियमानुसार १६-१६-८ यति-खंडों के आधार पर चलने वाले इस छन्द को हमने मदनहर मान लिया है।

---

[१]से [३]तक—मात्रिक छन्दों का विकास : पृ० ७२, ७४-७६, ८४।
[४]छन्दार्णव—७।२९, ३१।
[५]से [७]तक—मात्रिक छन्दों का विकास—पृ० ९२, ९४, ९६।
[८]हिन्दी छन्दशास्त्र, डॉ० शिवनन्दन (पादटिप्पणी), पृ० २०१।
[९]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४४।
[१०]छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ७९।

अपभ्रंश-साहित्य में त्रिभंगी, दंडकला, पद्मावती आदि तीन चार यति वाले छन्द के अनेक प्रयोग देखे जाते हैं। प्रा० पैंगलकार जैसे व्यावहारिक छन्दःशास्त्री द्वारा उल्लिखित होने के कारण मदनहर के प्रयोग की संभावना की जा सकती है, किन्तु हमें इसका प्रयोग अपभ्रंश-काव्यों में दिखलाई नहीं पड़ा। हिन्दी काव्यों में भी मदनहर का विशेष प्रयोग नहीं हुआ है। केशव की रामचन्द्रिका में अवश्य इसका एक पद्य प्राप्त होता है, किन्तु सूरदास ने समानसवैया और अखण्ड के चरणों के योग से निर्मित जिस मदनहर का प्रयोग किया, उसकी परम्परा आगे नहीं बढ़ सकी।

## (६०) शुभग

**देखि रस-रीति की प्रीति विपरीत गति**
**मति मानि छाँड़ि संग लगी रही निसि प्रात।**
**जात नहिं बिसरि देखें बहुत जतन धरि**
**समुझि कहुँ चंद देखें कमल बिगसात।**
**दुरत घूँघर जबै लाल जसुमति ह्वै**
**उझकि धँसि धरनि धरि पाँव मुख किलकात।**
**मनहुँ आषाढ़ घन बादरी सूर तजि**
**होत आनंद सब फूल अति जलजात।**

**—परिशिष्ट, पद २४८**

इस प्रकार का छन्द केवल परिशिष्ट के एक पद में प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में ४० मात्राएँ हैं। भानु द्वारा उल्लिखित ४० मात्रापादी छन्दों में विजया और मदनहर की चर्चा पीछे हो चुकी है। उद्धत और शुभग दोनों में १०-१०-१०-१० के बिश्राम से ४० मात्राएँ होती हैं। उद्धत के अंत में ऽ। और शुभग के अंत में तगरण (ऽऽ।)[1] भानु के इस लक्षण से दोनों छन्दों में कोई खास अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता। दोनों अभिन्न से दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु दोनों के लक्षण और उदाहरण पद्यों से लय-भिन्नता स्पष्टतः प्रतिभासित होती है। उद्धत समप्रवाही छन्द है, और शुभग पंचक के आधार पर चलता है। यदि दोनों में पाई जाने वाली लय-गत इस भिन्नता की ओर ध्यान नहीं दें, और केवल अंतिम ऽ। और तगरण को ही दोनों की भिन्नता का आधार

---

[1] **छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ७६।**

मानें, तो भानु द्वारा उद्धृत उद्धत छन्द की निम्नांकित तगणांत पंक्ति शुभग का उदाहरण कही जायगी—

**बहु दैत्य निकंदन, जन मन चख अंजन**

**कलिमल सब गंजन, संत मन आधार ।**[1]

अतः उद्धत से शुभग की भिन्नता दिखलाने के लिए लक्षण में इस बात का निर्देश आवश्यक है कि शुभग के दशमात्रिक खंड का निर्माण दो पंचकों से होता है। इसके अंत में तगण का होना अनिवार्य नहीं, काव्य-प्रयोग में जगण भी मिलता है। सूरदास के उपरिलिखित पद के सभी चरण जगणांत हैं। गदाधर भट्ट ने भी सभी चरणों के अंत में जगण का ही प्रयोग किया है।[2]

प्राकृत-अपभ्रंश-छन्दःपरंपरा में इस लय वाला ४० मात्रापादी कोई छन्द नहीं। हिन्दी के प्राचीन लक्षणकारों में किसी ने शुभग नामक छन्द का उल्लेख नहीं किया। भिखारीदास ने ४० मात्रापादी दीपमाला छन्द का उल्लेख किया है —'दीपक को चौगुन किये, दीपमाल सुखदानि'[3] यही दीपमाला भानु के यहाँ शुभग बन गई है।[4] भानु के परवर्त्ती आचार्यों में रघुनन्दन[5] और परमानन्द[6] ने इसे उल्लिखित किया है और इसे 'सुभग' कहा है।

सूरदास के पूर्व शुभग का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके बाद गदाधर भट्ट और भारतेन्दु ने इसका प्रयोग किया है।[7] विजया और शुभग वस्तुतः एक ही छन्द हैं। विजया के अंतिम ।ऽ के स्थान पर ऽ। रख देने से शुभग हो जाता है। सरसी, रूपमाला, वीर आदि छन्दों के पादांत में भी ।ऽ

---

[1] छन्दःप्रभाकर भानु, पृ० ७९।

[2] ब्रजमाधुरी-सार:वियोगी हरि, पद २२।  [3] छन्दार्णव, ९।४।

[4] भिखारीदास के उदाहरण के सभी चरण दीपक के चार गलात्मक चरणों से बने हुए नहीं हैं। यथा—

कै 'दास' के ईश | ढिग जाति लीन्हीं च | ली भामिनी भाय |
सों दीपमालाहि।
कै सुघर मनमत्थ | रचि स्वर्ग की बेलि | लै चल्यो गहि सहित |
सिंगारथालाहि।

किन्तु भानु के उदाहरण का प्रत्येक चरण स्पष्टतः दीपक के चार चरणों के योग से गठित हुआ है। छन्दःप्रभाकर, पृ० ८०।

[5] हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८०।  [6] पिंगलपीयूष—पृ० १९४।

[7] भारतेन्दु ग्रन्थावली-रागसंग्रह, प० १०२।

मिलता है ।[१] अन्त्य लघु-गुरु के स्थान-परिवर्त्तन से उत्पन्न लय की किंचित् भिन्नता के आधार पर यदि विजया और शुभग दो भिन्न छन्द माने गये तो २७, २४, ३१ मात्रापादी छन्द भी लगात्मक पादांत के कारण सरसी आदि से भिन्न किसी नूतन नाम के अधिकारी हो सकते हैं । पर पदों में प्रयुक्त होने के कारण आचार्यों की दृष्टि उन पर नहीं गयी । इसलिये एक ओर तो उनका नाम-संस्कार नहीं हो सका और दूसरी ओर सरसी आदि छन्दों के पादांत में ऽ। की व्यवस्था आचार्यों ने अनिवार्य रूप से कर दी । आज भी उन्हें नूतन नाम दिया जा सकता था किन्तु छन्दों की संख्या में वृद्धि नहीं कर हमने इन्हें सरसी आदि का ही एक रूप मान लिया है । विजया के गुरु-लघ्वंत वाले रूप को आचार्यों द्वारा शुभग नाम मिल गया है, अतः उसमें व्यतिक्रम करना उचित नहीं जान कर हमने भी दोनों को दो पृथक् छन्द स्वीकार कर लिया है । शुभग के अंत में भाव जैसे घनीभूत हो उठते हैं, विजया के गुर्वन्त में विस्तृत हो जाते हैं । भावों के इसी फैलाव के कारण विजया की लोकप्रियता शुभग को प्राप्त नहीं हो सकी । फलतः विजया की अपेक्षा इसका प्रयोग कम हुआ ।

## (६१) काममोहिता

**रैनि मोहि जागतहि बिहानी, मान कियौ मोहन सौं, ताते**
**भई अधिक तन तपति ।**
**सेज सुगन्धित लखि विष लागत, पावक हूँ ते दाह सखी री,**
**त्रय विधि पवन उडपति ।**
**ऐसी कै व्यापौ है मनमथ मेरौई ज्यों जानै माई**
**स्याम स्याम कै जपति ।**
**बेगि मिलाउ सूर के प्रभु कौं, भूलिहुँ मान करौ कबहूँ नहि**
**मदन बान तें कँपति —पद २७०७ ।**

सूरसागर में इस छन्द का एक ही पद है । इसके प्रत्येक पाद में ४३ मात्राएँ हैं, १६-१६-११ पर यति है तथा अंत में नगण का प्रयोग हुआ है । ४३ मात्रापादी किसी छन्द का उल्लेख हिन्दी के किसी छन्दःशास्त्र में नहीं मिलता । इस प्रकार यह एक नूतन छन्द है, जिसका निर्माण समानसवैया और शिव छन्द के चरणों के योग से हुआ है । भानु के अनुसार शिव छन्द

---

[१]पीछे तत्तत् छन्द ।

में ११ मात्राएँ होती हैं, अंत में सगण ( ।।ऽ ), रगण ( ऽ।ऽ ) अथवा नगण कोई भी रह सकता है।[1] एकादशमात्रापादी दो और छन्द भानु द्वारा उल्लिखित हैं—अहीर और भव। इन तीनों में समात्मक अहीर दोहे का समचरण है, जिसके अंत में गुरु-लघु अनिवार्यतः रहते हैं। भव के अंत में भानु के अनुसार ऽ वा ।ऽऽ होना चाहिये।[2] इस दृष्टि से सगणात्मक अंत वाला शिव और गुर्वन्त भव अभिन्न हो जाते हैं, क्योंकि दोनों में कोई अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता। शिव के चरण की तीसरी, छठी और नवमी मात्राएँ भानु ने लघु मानी हैं। उनके द्वारा दिये हुए भव के उदाहरण-पद्य में यह नियम भी घटित हो जाता है। यथा—

**भवहिं गाय भजहु रे। असत कर्म तजहु रे।**

डॉ० शुक्ल ने शिव छन्द का आधार ३ त्रिकल और एक गुरु माना है। साथ ही उनके अनुसार इसमें प्रयुक्त त्रिकल प्रत्नमूलक (गलात्मक = ऽ। ) होता है।[3] भानु द्वारा दिये हुए शिव के निम्न उदाहरण में –

**शिव सगो सदा सरन। गहु सभक्ति दुहु चरन।**
**है सुभक्त रंजना। सर्व ताप भंजना।**

तीसरी और चौथी पंक्तियाँ तो अवश्य प्रत्नमूलक त्रिकल पर आधारित हैं। पर पहली और दूसरी में यह बात नहीं है। अतः प्रत्नमूलक त्रिकल (ऽ।) का रहना अनिवार्य नहीं माना जा सकता। दोनों ही त्रिकल के आधार पर चलते हैं, इस दृष्टि से शिव और भव दो छन्द नहीं रह जाते। अपभ्रंश काव्य में इस प्रकार का छन्द पुष्पदन्त और विद्याधर में मिलता है—

**छेल मिहुण सूयरा। रोझ हरिण कुंजरा।**
**बाल वसह रासहा। भेस महिस रोसहा।**

**कंक-कुरर-मोरया। हंस-वलय-चउरया।**
**धूय-सरढ-काउला। कोडि-पूस-कोइला।[4]** —पुष्पवन्त

---

[1] छन्दःप्रभाकर : पृ० ४८। [2] वही पृ० ४४।
[3] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४६।
[4] हिन्दी काव्यधारा-राहुल सांकृत्यायन, पृ० २१८।

**विमुह चलिअ रण अचलु । परिहरिअ हअ-गअ-वलु ।**
**हलहलिअ मलअ णिवइ । जसु जस तिहुअण पिअइ ।[१] —विद्याधर**

पुष्पदन्त के पद्य के न तो सभी चरणांत में रगण की व्यवस्था है, और न प्रत्नमूलक त्रिकल का आधार ही । अक्षरों की समानता नहीं, पर मात्राएँ सब में ११ हैं । इसलिये यह पद्य शिव और भव (अंत में ऽ होने के कारण) दोनों का उदाहरण माना जा सकता है । विद्याधर के पद के सभी वर्ण लघु हैं । अतः इसमें वर्ण और मात्रा दोनों समान हैं । पर न न न ल ल गणव्यवस्था का कोई छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता । ऐसी दशा में या तो हम इसे शिव छन्द कहें, अथवा कवि का वर्णवृत्त-क्षेत्र में एक नूतन प्रयोग मानें । शिव और भव दोनों को पृथक् मानने का आधार दोनों की पादांत भिन्न वर्णव्यवस्था ही हो सकती है, भिन्न लय नहीं । पादान्त वर्ण-व्यवस्था के आधार पर यही कहा जा सकता है कि जिसके अंत में रगण अथवा नगण हो, उसे शिव और जिसके अंत में सगण अथवा यगण हो, उसे भव कहते हैं । शिव के अंत में सगण ( ।।ऽ ) और भव के अंत में ऽ बतला कर हम दोनों को भिन्न नहीं रहने देते ।

सूरदास के उपर्युद्धृत पद के अंतिम सभी एकादशमात्रिक खंड नगणांत हैं तथा त्रिकल के योग से बने हैं । अतः ये सहज ही शिव छन्द के चरण कहे जा सकते हैं । दो चौकलों के बीच एक त्रिकल के कारण 'त्रयविधि पवन उडुपति' का प्रवाह किंचित् प्रतिहत हो गया है । इस प्रकार सूरदास ने समान-सवैया और शिव के चरणों को एक इकाई मान कर इस छन्द के चरण का निर्माण किया है । इस पद में काममोहिता राधा की अन्तर्दशा का चित्रण किया गया है, इसलिये इसका नाम काममोहिता रखा गया है ।

## (६२) विनय

**राजत री, बनमाल गरे हरि आवत वन तें ।**
**फूलनि सौं लाल पाग, लटकि रही वाम भाग,**
**सो छवि लखि सानुराग, टरति न मन तें ।**
**मोर मुकुट सिर श्रीखंड, गोरज मुख मंजु मंड,**
**नटवर वर वेष धरें आवत छवि तें ।**

---

[१]हिन्दी काव्यधारा-राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३६६ ।

**सूरदास-प्रभु की छवि ब्रजललना निरखि थकित**
**तन मन न्योछावर करैं, आनँद बहु तें। —पद १९९३**

सूरसागर के एक इसी पद में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। छन्दक का चरण रोला है और संपद-चरण में १२-१२-१२-८ पर यति दे कर ४४ मात्राएँ हैं। प्रत्येक यति-खण्ड दो षष्ठकों से बना है। षष्ठक कहीं तो दो त्रिकलों के योग से और कहीं द्विकल-चतुष्कल के योग से निर्मित है। लीला छन्द ( १२ मा० ) भी चार त्रिकलों के आधार पर चलता है। दो त्रिकलों की जगह द्विकल-चतुष्कल का प्रयोग उसमें भी होता है। इस प्रकार यह छन्द लीला की तीन आवृत्तियों तथा अष्टमात्रिक खण्ड के योग से बना है। लीला की तीन आवृत्तियों और दशमात्रिक खण्ड के योग से हरिप्रिया का निर्माण होता है। उसी हरिप्रिया के अन्तिम दीर्घ को निकाल कर इस छन्द का आविष्कार कर लिया गया है।

हिन्दी के किसी प्राचीन छन्दःशास्त्र में विनय का उल्लेख नहीं मिलता। इसका उल्लेख रघुनन्दन शास्त्री[1] और परमानन्द शास्त्री[2] ने किया है और उदाहरण में तुलसी की विनयपत्रिका के एक ही पद को उद्धृत किया है—

**जय जय जग जननि देवि ! सुर-नर-मुनि-असुर सेवि**
**मुक्ति भुक्ति दायिनि ! भयहरनि कालिका।[3]**

विनयपत्रिका में प्रयुक्त होने के कारण ही शायद इसका नाम विनय रखा गया है। दोनों शास्त्रियों ने इसके लक्षण में १२-१२-१२-८ पर यति और अंत में प्रायः रगण होने की बात कही है। रघुनन्दन के मतानुसार इसमें १२-१२-१०-१० पर भी यति हो सकती है। किन्तु, हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-१ में श्री हरिमोहन ने इसे विजया २ के अन्तर्गत रखा है और उदाहरण में तुलसी की उपरिलिखित पंक्ति उद्धृत की है।[4] विजया में ४० मात्राएँ होती हैं, और वह पंचक के आधार पर चलती है। अतः षष्ठक के आधार पर चलने वाले ४४ मात्रापादी इस छन्द को विजया के अन्तर्गत रखना कथमपि युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि यह विजया से सर्वथा भिन्न है। इसे विनय जैसा नूतन नाम देना बिलकुल सही है। सूरदास के उपर्युद्धृत पद के प्रत्येक चरण में १२-१२-१२-८ पर यति तो है, पर पादांत में रगण की जगह सगण ( ।।ऽ ) का प्रयोग हुआ

---

[1]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८०। [2]पिंगल पीयूष—पृ० १९५।
[3]विनयपत्रिका, पद १६। [4]हिन्दी साहित्य-कोश, भाग—१, पृ० ७७५।

है। पर पादांत में रगण का विधान कर्ण-मधुरता के लिए है। श्रुति-मधुरता के लिए कवि लोग रगण का विशेष प्रयोग करते हैं। तुलसी के चार पद जहाँ रगणांत हैं,[१] वहाँ एक पद की कुछ पंक्तियाँ सगणांत भी हैं। जैसे—

**करि विचार तजि विकार भजु उदार रामचन्द्र**
**भद्र सिंधु, दीनबन्धु वेद वदत रे।[२]**

इस प्रकार यह सिद्ध है कि सूरदास के उपरिलिखित पद का छन्द विनय ही है।

प्राचीन आचार्यों के यहाँ इस प्रकार के छन्द का नहीं पाया जाना यह सिद्ध करता है कि पदों की ओर से ये छन्दःशास्त्री पूर्णतः उदासीन थे। पद गाने की वस्तु है, अतः उनका छन्द-बन्ध से क्या सरोकार? सूरसागर के प्रकाशन, प्रामाणिक संस्करण तथा उसके शुद्ध पाठ के अभाव में सूरदास के समस्त पदों पर उनकी छन्दोदृष्टि यदि नहीं पड़ी, तो कोई विशेष बात नहीं। किन्तु तुलसी की अति-प्रसिद्ध तथा सर्वसुलभ विनयपत्रिका पर उनकी दृष्टि का नहीं जाना आश्चर्य का विषय अवश्य है। इससे हम इस निष्कर्ष पर भी आ सकते हैं कि इन छन्दःशास्त्रियों ने मुख्यतः अपने पूर्ववर्त्ती छन्दोग्रन्थों को ही अपनी दृष्टि में रखा है, कवि के काव्यगत प्रयोगों को नहीं। हिन्दी छन्दःशास्त्रों को पार कर जब हम पीछे प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा को देखते हैं, तो वहाँ ४४ मात्रापादी कोई छन्द नहीं मिलता। संस्कृत वर्णवृत्तों के अन्दर भी इस लय वाला कोई छन्द उपलब्ध नहीं। अवश्य लीला का विकास अनेक वर्णवृत्तों से मान कर[३] इसका सम्बन्ध संस्कृत छन्दःपरम्परा से जोड़ा जा सकता है।

इस छन्द के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय सूरदास को दिया जा सकता है। यों इनके पूर्व गोरखनाथ के एक पद में ऐसी दो पंक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें विनय की थोड़ी गूँज और लय तो है, पर उसका सधा-निखरा रूप नहीं। जैसे—

**आत्मां उत्तिम देव ताही की न जाणौं सेव**
**आन देव पूजि पूजि इमही मरिये।[४]**

---

[१]**विनयपत्रिका, पद १६, १७, गीता० अयो० ४३, ४४।**
[२]**विनयपत्रिका, पद ७४।**
[३]**पीछे लीला छन्द, पृ० ६६।**
[४]**गोरखबानी-पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पद ९।**

तुलसीदास ने इसमें पाँच पदों की रचना की है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में कृष्णदास[1] ने इसका प्रयोग किया है। भारतेन्दु के पद-साहित्य के अन्तर्गत चार पद इसी छन्द में निबद्ध हैं।[2] इस प्रकार विनय छन्द पद-साहित्य में कवियों द्वारा यदा-कदा व्यवहृत होता रहा।

## (६३) अमर्षिता

**बादि बकति काहे कौं तू, कत आई मेरे घर।**
**वै अति चतुर कहा कहिये, जिनि तोसी मूरख लेन पठाई**
**तनु बेधति वचननि सर।**
**उत की इत, इत की उत मिलवति, समुझति नांहिन प्रीति रीति को**
**तू, को है गिरिवरधर।**
**सूरदास-प्रभु आनि मिलेंगे, (हमहि मनैवो) जो चाहेंगे**
**छ्वैहै पग अपने कर। —पद ३२१२**

इस छन्द में सूरदास के दो पद निबद्ध हैं।[3] यह छन्दक-सहित है और दूसरा छन्दक-रहित। छन्दक त्रिष्णुपद का चरण है और सम्पद में ४४ मात्राएँ और १६-१६-१२ पर यति है। द्वादशमात्रिक खंड समप्रवाही है, अतः यह महानुभाव का चरण कहा जा सकता है।[4] इस प्रकार समानसवैया और महानुभाव के चरणों के योग से इसके चरण का निर्माण हुआ है।

समानसवैया और महानुभाव के चरणों के योग से सूरदास ने जिस नूतन छन्द का निर्माण किया है, वह राधा के अमर्ष की व्यंजना के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इन दोनों पदों में राधा का अमर्ष समानसवैया के लम्बे चरणों में नहीं अँट सकने के कारण जैसे बाहर उबल पड़ा है। 'तनु बेधति वचननि सर', 'को तू, को गिरिवरधर' में राधा के मन की सारी खीझ एकबारगी निकल कर जैसे सखी या दूती के ऊपर बरस पड़ी है। इन दोनों पदों के केन्द्र में अमर्षिता राधा है, इसीलिये यह छन्द अमर्षिता नाम से अभिहित किया गया। सूर का यह प्रयोग सूरसागर के दो पदों में ही सिमट कर रह गया। आगे इसकी परम्परा नहीं चल सकी।

---

[1] अष्टछाप परिचय, पद १६।

[2] भारतेन्दुग्रन्थावली प्रेममालिका पद ७२, प्रेमप्रलाप ६४, होली, ७, रागसंग्रह ८१।

[3] सूरसागर, पद ३२१२, ३२१८। [4] पीछे महानुभाव छन्द, पृ० ६३।

## (६४) प्रबोधन

लाल अनमने कहि होत हौ तुम देखौं धौं देखौ कैसे,
कैसे करि तिहि लाइहौं।
जलहिं निकट की बारु जैसे, ऐसी कठिन त्रिया की प्रकृतिहिं
कर ही कर पघिलाइहौं।
रिस अरु रुचि हौं समुझि देखि बाकी, वाके मन की ढरनि देखि पुनि
भावती बात चलाइहौं।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलैहौं, नैकु न ह्वै हौ न्यारे, जैसे
पानी रंग मिलाइहौं। —पद ३३७८

सूरसागर के दो पदों की रचना इस छन्द में हुई है।[१] इसके प्रत्येक चरण में ४५ मात्राएँ हैं, और १६-१६-१३ पर यति है। इस प्रकार यह समान-सवैया और उल्लाला के चरणों के योग से बना है। आचार्यों ने उल्लाला के दो रूप माने हैं—सम (प्रतिपाद १३ मात्राएँ) और अर्द्धसम (१५-१३मा०) यहाँ उल्लाला के समरूप का प्रयोग किया गया है, जिसका लक्षण भानु ने यों दिया है—

उल्लाला तेरा कला, नियम न गुरु लघु अति भला।

इसी का अन्य नाम चन्द्रमणि है।[२] इस उल्लाला का प्रत्येक चरण दोहे का विषम चरण है, जिसका निर्माण ६+४+३ अथवा ४+४+५ मात्राओं से होता है।[३] भानु ने त्रयोदशमात्रापादी एक और छन्द चण्डिका का उल्लेख किया है, जिसके अंत में रगण रहता है और ८-५ पर यति होती है।[४] वस्तुतः ये दोनों छन्द एक ही हैं। दोनों की लय में कोई खास भेद नहीं दिखलाई पड़ता। उल्लाला में अन्त्य लघु-गुरु का कोई नियम नहीं है, अतः इसके अन्त में रगण भी रह सकता है, जैसा भानु के उदाहरण-पद्य में है (उल्लाला तेरा कला), और यति तो जिह्वा सुविधानुसार कहीं भी ग्रहण कर सकती है। छोटे छन्दों में तो यति एक प्रकार से नगण्य ही रहती है। यति और रगण का यदि विचार किया जाय, तो डॉ० शुक्ल द्वारा उद्धृत उल्लाला का निम्न उदाहरण चंडिका का हो जायगा—

---

[१]सूरसागर, पद ३३७८, ३४१९। [२]छन्दःप्रभाकर पृ० ४६-४७।
[३]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २४२। [४]छन्दःप्रभाकर पृ० ४६।

**निर्मल मति मन में सदा, उठता यह उद्‌गार है ।**
**सुगति स्वर्ग अपवर्ग का, गुरुप्रसाद ही द्वार है ।[१]**

इस प्रकार हमारे विचार से ऐसे प्रयोग के लिए एक अन्य नाम की उद्‌भावना में कोई सार नहीं ! अच्छा तो यह होता कि उल्लाला नामक ( १५-१३ मा० ) छन्द की उपस्थिति में इस त्रयोदशमात्रिक उल्लाला को चंडिका नाम ही दिया जाता ।

उल्लाला छन्द प्राचीन है, जिसका उल्लेख अपभ्रंश-छन्दःशास्त्रों में मिलता है । किंतु, वहाँ जिस उल्लाला का उल्लेख है, वह द्विपदी है, जिसमें २८ मात्राएँ होती हैं और १५-१३ पर यति होती है ।[२] इसी उल्लाला को भानु ने अर्द्धसम छन्दों के अन्तर्गत रखा है । भानु के त्रयोदशमात्रापादी उल्लाला का उल्लेख हिन्दी लक्षणकारों ने ही किया है । वे इसे श्याम उल्लाल कहते थे ।[३] इस १३ मात्रापादी उल्लाला की लय, मात्रासंख्या तथा गण-विधान दोहे के विषम चरण, सोरठा का समचरण तथा धत्ता के उत्तर पाद-खण्ड के सर्वथा समान है । अतः इन सभी छन्दों का मूल एक ही है । इस मूल की खोज डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने संस्कृत वर्णवृत्तों में नहीं, लोक-प्रचलित ताल-संगीत में की है । उन्हें ऐसा कोई एक वर्णवृत्त नहीं मिला, जिससे इन छन्दों की व्युत्पत्ति की संगति बैठ सके ।[४] पर वर्णवृत्तों में नाराचिका ( त र ल ग ) और भद्रिका ( र न र ) ऐसे छन्द हैं, जिनकी लय, मात्रासंख्या तथा गणविधान उल्लाला ( चण्डिका ) के बिलकुल समान है । इन दोनों का उल्लेख जयकीर्त्ति[५] तथा हेमचन्द्र[६] ने किया है, जिससे इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है । भानु ने इन दोनों के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—

**नाराचिका—तोरी लगै नराचिका ।— ४+४+५=१३ मा०**
**मोरी कटै भवाधिका ।— ४+४+५=१३ मा०**

---

[१]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५ ।
[२]आगे अर्द्धसम उल्लाला छन्द ।
[३]मा० छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३०७ (पादटिप्पणी द्रष्टव्य) और ३१३ ।
[४]मा० छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३०८ ।
[५]छन्दोनुशासन-जयकीर्त्ति— २।७०, २।८१ ।
[६]छन्दोनुशासन हेम० २।७८, २।६४ ।

भद्रिका—रानि रंच नहिं कान्ह री।—६+४+३=१३ मा०
देत गोपि मग जान री।—६+४+३=१३ मा०

सम्भवतः भानु के रगणात्मक पाद वाले चंडिका छन्द का आधार ये ही दो छन्द हैं। कौन कह सकता है कि ये ही दो वर्णवृत्त विकसित हो कर मात्रिक रूप में उल्लाला बन गये हों।

सूरदास के उपर्युद्धृत पद के त्रयोदशमात्रिक खण्डों में उल्लाला (चंडिका) के सारे लक्षण पूर्णतया घटित होते हैं। समानसवैया और सम उल्लाला दोनों समप्रवाही छन्द है। अतः इन दोनों के चरणों के योग से सूरदास ने इस छन्द का निर्माण कर लिया है। इन दोनों पदों में कृष्ण और राधा को प्रबोध दिया गया है। अतः इस छन्द को प्रबोधन की संज्ञा दी गई है। प्रबोध देने के लिए कवि को अमर्षिता छन्द उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ। क्रोध के उबलते हुए वाक्यों की अभिव्यक्ति जिस छन्द में हो सकती है, उसमें हित-भरे प्रबोध की बातें नहीं कही जा सकतीं। क्रोध की बातें ज्यों-त्यों मुख से निकल जाती हैं, पर जब हम किसी को प्रबोध देते हैं, तो हम बहुत तौल-तौल कर बोलते हैं। उसमें वाणी की बिखराहट होती है, इसमें भावों की कसावट। अमर्षिता में महानुभाव के अन्तिम दो लघु या दो गुरु (पद ३२४८) जैसे अमर्ष के सारे भाव को एक साथ उगल देते हैं, प्रबोधन का अन्तिम रगण भावों को कस कर ऐसा चढ़ा देता है कि श्रोता वक्ता के कथन को मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इस प्रकार भावों के अनुरूप छन्दः प्रयोग की कुशलता सूरदास में सर्वत्र देखी जा सकती है।

## (६५) नटनागर

फिरत वननि बृन्दावन, बंसीवट संकेत बट,
नागर कटि काछे, खौरि केसरि की किए।
पीतवसन चंदन तिलक, मोर मुकुट कुँडल-झलक
स्याम-घन सुरंग-छलक, यह छवि तन लिए।
तनु त्रिभंग, सुभग अंग, निरखि लजत अति अनंग
ग्वाल-बाल लिए संग, प्रमुदित सब हिए।
सूर स्याम अति सुजान, मुरली धुनि करत गान
ब्रज जन मन को महान, संतत सुख दिए। —पद १०७८

सूरसागर के दो पदों की रचना इस छन्द में हुई है।[1] इसके प्रतिपाद में ४५ मात्राएँ हैं और १२-१२-१२-९ पर यति है। द्वादशमात्रिक यति-खण्ड लीला छन्द का एक चरण है। इस प्रकार लीला की चार आवृत्तियों से एक त्रिकल निकाल देने से यह छन्द बन जाता है।

प्राचीन छन्दःपरम्परा में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों ने भी इसका उल्लेख नहीं किया। इसका सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवतः सूरदास ने ही किया है, क्योंकि इनके पूर्व ऐसा छन्द दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। इनके बाद छीतस्वामी ने इसका प्रयोग किया है। उनके पद के अन्त में ।ऽ की जगह ऽ। पाया जाता है। जैसे—

**फूलन की गेंद कली, टपकत पट उर छिएँ**

**हँसत लसत हिलि-मिलि सब, सकल गुन निधान।**[2]

भारतेन्दु के राग-संग्रह में एक पद इसी छन्द में मिलता है। इसका अन्त भी गलात्मक है—

**अति ही रिझवार रसिक सकलकला गुन-प्रवीन**

**बंधुन सिर छत्रछाँह मेटत जन-पीर।**[3]

इस प्रकार इसका लक्षण यह दिया जा सकता है कि षण्ठक के आधार पर चलने वाले नटनागर छन्द में १२-१२-१२-९ पर यति दे कर ४५ मात्राएँ होती हैं, अन्त में ।ऽ या ऽ। दोनों में कोई भी रह सकता है।

सूरदास के उपर्युक्त पद के तीन चरणों में पादान्तर्गत तुक की योजना है। तीन-चार यति वाले छन्दों में इस प्रकार की तुक-योजना यत्र-तत्र मिल जाती है। कवि का इसके प्रति कोई आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता। इसी छन्द में लिखे दूसरे पद में पादान्तर्गत तुक का सर्वथा अभाव है। इन दोनों पदों में नटनागर कृष्ण के त्रिभंगी रूप का वर्णन है। शास्त्रों में त्रिभंगी छन्द की विद्यमानता के कारण पद १६६९ के 'ऐसे नटनागर के जैसे वारने' के आधार पर इस छन्द का नाम नटनागर रखा गया।

---

[1] सूरसागर, पद १०७८, १६६९।

[2] अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, पद १३।

[3] भारतेन्दु ग्रन्थावली : रागसंग्रह, पद १२५।

## (६६) हरिप्रिया

जागिये गोपाल लाल, आनँद-निधि नंद बाल
जसुमति कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति वापिका मराल
मदन ललित बदन उपर कोटि वारि डारे।
उगत अरुन विगत सर्वरी, ससाँक किरन-हीन
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे।
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-विलास
आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि तेज जारे। —पद ८२३

सूरसागर के ३४ पदों में हरिप्रिया छन्द का प्रयोग हुआ है। भानु के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १२-१२-१२-१० के विश्राम से ४६ मात्राएँ होती हैं तथा पादांत में गुरु होता है।[1] सूरदास के प्रायः सभी पदों में इस नियम का पालन हुआ है। केवल एक पद के अन्तिम दो चरणों में मात्रा का न्यूनताधिक्य है।

१३ १६
जसुमति तब नंद बुलावति | लाल लिये कनिया दिखरावति |
१२ ११
लगन घरी आवति या | तें न्हबाइ बनाओ।
१३ १३
सूरस्याम छवि निहारति | तन मन जुवति जन वारति |
१० ११
अति ही सुख धारति | वरष गांठि जुराओ।[2]

इसके प्रथम चरण में १३-१६-१२-११ और दूसरे में १३-१३-१०-११ मात्राएँ हैं। 'लाल लिये कनिया दिखरावति' पादाकुलक की पंक्ति है। शेष सभी यति-खण्ड लीला के अत्यन्त निकट है। मात्रा की इस घट-बढ़ में कवि-प्रयत्न की शिथिलता उतनी नहीं झलकती, जितनी कवि के नूतन प्रयोग की प्रवृत्ति झाँक रही है। क्योंकि यहाँ छः यतिखण्डों के अन्त में एक लघु रखने तथा दो में एक मात्रा की वृद्धि करने का निश्चित क्रम है। कुछ पंक्तियों में जो हतवृत्त दोष दिखलाई पड़ता है, वह निम्नांकित पाठ से दूर हो जाता है—

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ८०। [2] सूरसागर, पद ७१३।

**लगन धरी आवति याहि ।**

**अति ही सुख हृदय धारति ।**

**कनिया लाल लिये दिखावति ।** ('या' और 'ये' का ह्रस्वोच्चारण)

कौन कह सकता है कि प्रस्तुत पाठ कवि की असावधानी का अथवा लिपिकर्त्ता के प्रमाद का परिणाम है । इन दो चरणों के अतिरिक्त दो पदों में पादांत गुरु के नियम का पालन नहीं हुआ है ।[1] जैसे—

**बादर बहु उमड़ि घुमड़ि, बरषत ब्रज आए चढ़ि,**

**कारे धौरे धूमरे, धारे अति ही जल ।** —पद १४७५

इससे यह समझा जा सकता है कि हरिप्रिया के अन्त में गुरु का रहना आवश्यक नहीं है, दो लघु भी रखे जा सकते हैं ।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरम्परा में हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित ४६ मात्रा-पादी एक ही छन्द है मालागलिता, जिसका लक्षण उन्होंने यों दिया है—

**चपचापचाल्गा मालागलिता[2] ।**

स्पष्टतः इस गण-व्यवस्था से हरिप्रिया का कोई साम्य नहीं । संस्कृत वर्णवृत्तों में अशोक-पुष्पमंजरी नामक एक दंडक है, जिसमें ग ल की यथेच्छ आवृत्तियाँ होती हैं । इसका उल्लेख हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ में किया है ।[3] त्रिकल के आधार पर चलने के कारण इसका हरिप्रिया से सम्बन्ध हो सकता है । अशोकपुष्प मंजरी का उदाहरण भानु ने यह दिया है—

(क) **सत्य धर्म नित्य धारि व्यर्थ काम सर्व डारि**

**भूलि कै करो कदा न निंद्य काम[4] ।=४२ मात्राएँ ।**

इसी के भेद 'नीलचक्र' ( क्योंकि अशोकपुष्पमंजरी में गल की यथेच्छ आवृत्तियाँ हो सकती हैं ) का लक्षणोदाहरण इस प्रकार है—

(ख) **रोज पंच प्राण गारि ग्वाल गो दसा बिसारि**

**गाव जक्तनाथ राज नीलचक्र द्वार[5] ।=४५ मात्राएँ ।**

ये दोनों वर्णवृत्त गुरु-लघु के क्रमबन्धन को शिथिल कर लय-साम्य के कारण सहज ही मात्रिक हरिप्रिया बन जा सकते हैं, यदि (क) के 'निंद्य काम' के बाद चार मात्राएँ ( तुम रे ) जोड़ दी जायँ, और (ख) का 'द्वार' 'द्वारे' कर दिया जाय । गलात्मक अन्त वाला नटनागर तो नीलचक्र का सहज ही मात्रिक

---

[1]सूरसागर, पद १४७५, ३५०८ । [2]छन्दोनुशासन : ४।३८ ।
[3]छन्दोनुशासनः २।३६८ । [4]और [5]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१२ ।

रूप कहा जा सकता है। इस प्रकार विनय, नटनागर, हरिप्रिया, हरिप्रीता तथा हरिवल्लभा का सम्बन्ध संस्कृत वर्णवृत्तों से जोड़ा जा सकता है।

हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रों में हरिप्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम सुखदेव मिश्र के पिंगल नामक ग्रंथ में पाया जाता है[१]। भिखारीदास ने इसे चंचरीक कहा है, और यही लक्षण दिया है[२]। हरिप्रिया नामक छन्द का उल्लेख उन्होंने मात्रा-मुक्तक छन्दों के अन्तर्गत किया है।

**बीस इकोसौ बाइसौ, कला हरिप्रिया छन्द**

**तीन छकल पर देहु गुरु, नद कि द्वै गुरु बंद।**[३]

स्पष्ट है कि इस हरिप्रिया से ४६ मात्रापादी हरिप्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं। रामसहाय की वृत्ततरंगिनी में चंचरीक का उल्लेख है[४]। अयोध्या प्रसाद ने इसका उल्लेख हरिप्रिया नाम से ही किया है[५]। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु के बाद रघुनन्दन[६], परमानन्द[७] तथा डॉ० शिवनन्दन[८] ने इसका उल्लेख किया है।

हरिप्रिया का काव्यगत प्रयोग अष्टछाप के कवियों के पूर्व नहीं मिलता। सूरदास के अतिरिक्त कुंभनदास[९] गोविन्दस्वामी[१०] छीतस्वामी[११] तथा चतुर्भुज दास[१२] ने इसका प्रयोग किया है। तुलसीदास ने गीतावली के ८ पदों की रचना हरिप्रिया में की है।[१३] बालकांड का ३८वाँ पद तो सूरसागर के उपर्युद्धृत पद से हूबहू मिलता है, केवल कतिपय शब्दों का ही भेद है। जैसे—

**जागिये कृपा-निधान जान राय रामचंद्र**

**जननी कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।**

**राजिव लोचन बिसाल, प्रीति-वापिका मराल,**

**ललित कमल वदन उपर मदन कोटि वारे।**

---

[१]मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन प्र०; पृ० ७६।

[२]और [३]छन्दार्णव, ६।७-८, ६।२०-२१।

[४]और [५]मात्रिक छन्दों का विकास : पृ० ६२ और ६४।

[६]हिन्दी छन्द प्रकाश, पृ० ८१। [७]पिंगल पीयूष, पृ० १६६।

[८]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० १०२।

[९]से [१२]तक-अष्टछाप परिचयः प्रभुदयाल मीतल—कुं० २४, गो० १५, छी० १, ११, १२ च० ६।

[१३]गीतावली—बा० २५, ३८, ३९, अ० १६, १७, उ० ३, ४, ७।

केशवदास ने हरिप्रिया का प्रयोग दो जगह किया है। एक जगह पाँच पद्यों में शुक रामचन्द्र से सोने का आग्रह करता है—

**पौढ़िये कृपानिधान देव देव रामचन्द्र**
**चंद्रिका समेत चन्द्र, रैनि चित्त मोहै।**[1]

तो दूसरी जगह पाँच पद्यों में सारिका उनसे प्रातःकाल में शय्या-त्याग के लिए विनय करती है—

**जागिये त्रिलोक देव, देव देव रामचन्द्र**
**भोर भयो, भूमिदेव भक्त दरस पावै।**[2]

भारतेन्दु के प्रेम-मालिका, कार्तिक-स्नान, प्रेमाश्रुवर्षण, रागसंग्रह तथा कृष्ण-चरित्र में हरिप्रिया के १० पद मिलते हैं[3]। उन्होंने रागसंग्रह के ७८वें पद में हरिप्रिया, सार तथा समानसवैया का मिश्र प्रयोग भी किया है। उसी के पद १३० के पादांत में गुरु की जगह प्रत्नमूलक त्रिकल (ऽ।) पाया जाता है—

**'हरीचन्द' विट्ठल सुत भक्ति भाव भूरि संयुत**
**राजभाव बिनसे हरि सुजन पूरन काम।**

इस पद के अन्य चरण बहुत अस्तव्यस्त हैं।

इस प्रकार पदों में हरिप्रिया का स्थान बराबर सुरक्षित रहा। केशवदास ने इसे प्रबन्धकाव्य के बीच भी प्रतिष्ठित किया। इसकी मृदु-मंथर गति अनाकुल भावों के वर्णन के लिए बहुत उपयुक्त है[4]। इसी मन्दगति के कारण वर्णनात्मक प्रसंगों में इसका विशेष प्रयोग हुआ है। सूरदास ने जहाँ इसमें केलि-क्रीड़ा[5] आदि का वर्णन किया है, वहाँ युद्ध तथा भयानक प्रसंग में भी इसका उपयोग किया है[6]। प्रभाती के लिए तो यह जैसे पेटेन्ट छन्द बन गया। सूर, तुलसी तथा केशव--तीन-तीन कवियों द्वारा प्रभाती के लिए इसका उपयोग इसकी एतद्विषयक क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सूरदास ने तो प्रभाती के

---

[1]और [2]रामचन्द्रिका—२६।२० से २४, ३०।१८ से २२।

[3]भा० ग्रं०—प्रे० १५, १६, ६३, का० २, प्रेमाश्रु० ४४, ४६, राग० १८, ३२, १२७, कृ० ६।

[4]हिन्दी साहित्य-कोश, भाग—१, पृ० ६६२।

[5]सूरसागर, पद २३१२, २७६७।

[6]सूरसागर, पद ३६८२, ३६६२, १४७५, ३६१६।

लिए इसका उपयोग कई स्थलों पर किया है[१]। सांगीतिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कवि-लोग पद्यों में पादान्तर्गत तुक की योजना करते हैं। सूरदास ने भी झूलना आदि तीन-चार यति-खण्ड वाले छन्दों में ऐसी तुक की योजना की है। हरिप्रिया के अधिकांश यति-खण्डों की तुक मिली हुई है। यद्यपि ऐसे भी कुछ चरण हैं, जिनके यति-खण्डों में तुक-योजना नहीं मिलती। कहीं-कहीं केवल प्रथम दो यति-स्थानों में तुक है, कहीं-कहीं तीनों स्थानों में। इस प्रकार पादान्तर्गत तुक का प्रयोग नितांत वैकल्पिक रूप से हुआ है। इस विकल्प का कारण तत्तत् पद में ही खोजा जा सकता है। प्रायः भावावेश-व्यंजक पदों में तुक-योजना द्वारा सांगीतिकता की सृष्टि की गई है। वर्णनात्मक पद्यों में इसकी आवश्यकता नहीं समझी गई। सूर के छन्दःप्रयोग में यह अर्थ-सापेक्ष भंगिमा कवि की प्रतिभा और मौलिक सांगीतिक उद्भावना-शक्ति का परिचायक है[२]।

## (६७) हरिप्रीता

**मनसिज मनहरनि हाँसि, सावरो सुकुमार रासि,**
**नख-सिख अँग-अंग निरखि, सोभा सीव नखी री।**
**रँग मँगि सिर सुरँग पाग, लटकि रही वाम भाग,**
**चंपकली कुटिल अलक, बीच बीच रखी री।**
**आयत दृग अरुन लोल, कुंडल मंडित कपोल,**
**अधर दसन दीपति छवि क्यों हु न जाति लखीरी।**
**अभ पद भुज दंड मूल, पीन अंस सानुकूल**
**कनक मेखला दुकूल, दामिनी धरखी री।** —पद २००२

इस छन्द में लिखित सूरसागर में छन्दक-सहित आठ चरणों का एक ही पद है। यह हरिप्रिया के लयाधार पर चलने वाला छन्द है। हरिप्रिया का अन्तिम यति-खण्ड दशमात्रिक है, इसका एकादशमात्रिक। बस, दोनों में इतना ही अन्तर है। लीला की चार आवृत्तियों में एक मात्रा कम कर देने से हरिप्रीता छन्द बन जाता है। सूरदास के अतिरिक्त चतुर्भुज दास तथा गदाधर भट्ट ने इसका प्रयोग किया है—

---

[१]सूरसा[illegible], पद १२३७, १८३०।
[२]मात्रि[illegible] छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ३८३।

राजत तन गौर स्याम, प्यारी प्रिय भागवान
नव घन गिरिधरन अंग, अंग मनहु दामिनी[1] ।
—चतुर्भुज दास ।

भीजे नित नयन रहत, प्रभु के गुण-ग्राम कहत
मानत नहिं त्रिविध ताप जानत नहिं आन[2] ।
—गदाधर भट्ट ।

सूरदास ने पादांत में दो गुरु, चतुर्भुजदास ने एक गुरु और गदाधर भट्ट ने प्रत्नमूलक त्रिकल (ऽ।) का प्रयोग किया है । इस प्रकार हरिप्रीता में अन्त्य गुरु-लघु का कोई बंधन नहीं है । इस छन्द में हरिप्रिया से एक मात्रा अधिक है, अतः इसका नाम हरिप्रीता रक्खा गया ।

संस्कृत छन्दःपरम्परा में प्राप्त जिस अशोकपुष्पमंजरी का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं उसके साथ इसका बहुत निकट का सम्बन्ध प्रतीत होता है । यदि उसके भेद नीलचक्र के अंत में एक गुरु रख दिया जाय—

रोज पंच प्राण गारि ग्वाल गो दशा विचारि
गाव जक्तनाथ राज नील चक्र द्वार (है) ।[3]

तो उसके मात्रिक रूप को हरिप्रीता सहज ही कह सकते हैं । हरिप्रीता के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय सूरदास को ही है । उनके बाद इने-गिने दो-एक कवियों ने ही इसे अपनी रचना में स्थान दिया ।

## (६८) हरिवल्लभा

लोचन हरि करि चकोर, राधा मुख चंद ओर,
देखत नहिं तिमिर भोर, मन ही मन मोहै री ।
नैना दोउ भृंग-रूप, वदन कमल सरदऽनूप
तरनि कौ प्रकास मिलन बिना चपल डोलै री ।
लोचन मृग सुभग जोर राग रूप भये भोर,
भौंह धनुष सर कटाच्छ सुरति-व्याध तोलै री ।
कीधौं ये चच्छु चारु, प्यारी मुख रूप सारु
स्याम देखि रीझै, मन यहै साँच मानी री । —पद २५९६

---

[1]अष्टछाप परिचय : मीतल, पद १५ ।
[2]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, पद ३ । [3]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१२ ।

इस छन्द में लिखित सूरसागर में दो पद हैं[१]। इसके प्रत्येक पाद में ४८ मात्राएँ हैं, और १२-१२-१२-१२ पर यति है। इस प्रकार लीला की चार आवृत्तियों से इसका निर्माण हो जाता है। अतः इसके अंत में ऽ।, ।ऽ या ।।। में कोई भी रह सकता है। हरिप्रिया के बाद एक गुरु रखने से यह बन जाता है, अतः पादान्त में दो गुरु भी आ सकते हैं, जैसा सूरदास के उपर्युद्धृत पद में है। छीतस्वामी के पद के चरण गलात्मक हैं—

**मोर मुकुट सीस धरैं, बन-माल सुभग गरैं,**
**सब कौ मन हरैं देखि, कुंडल की झलक गाल।**[२]

('ब' का दीर्घोच्चारण अपेक्षित—बन्य अथवा बन्न के द्वारा)

प्राकृत-अपभ्रंश तथा हिन्दी के छन्दःशास्त्रों में ४८ मात्रापादी कोई छन्द उपलब्ध नहीं। संस्कृत छन्दःशास्त्र में ४८ मात्राओं का एक वर्णवृत्त है—अनंग-शेखर, जिसमें ल ग की यथेच्छ आवृत्तियाँ होती हैं।[३] भानु ने इसका उदाहरण यह दिया है—

**लगा मनै अनंग शे | खरै सु कौशलेश पा | ब वेद**
**रीति रामही | विवाहि जानकी दई।**[४]

लघु-गुरु के क्रम को ढीला कर यह मात्रिक हरिवल्लभा का उदाहरण सहज ही हो जाता है। साथ ही यह पादान्त ।ऽ के प्रयोग को भी प्रत्यक्ष कर देता है। हरिप्रिया में दो मात्राओं के योग से इस छन्द का निर्माण होता है, अतः इसका नाम हरिवल्लभा रक्खा गया।

---

[१]सूरसागर, पद २५९६, परि० २१०।

[२]अष्टछाप परिचय : मीतल, पद ७।

[३]छन्दोनुशासन : हेमचन्द्र २।३९७। [४]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१३।

# अर्द्धसम छन्द

इस अध्याय में अर्द्धसम छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

## (१) दोहा

**ए रे सुन्दर साँवरे, तैं चित लियो चुराइ।**
**संग सखा संध्या समय, द्वारै निकस्यो आइ। —पद १९९०**

सूरसाहित्य में २९ पदों में (सूरसागर २८, परि० १) दोहे का प्रयोग हुआ है। अन्य छन्दों की संख्या के समान पदों में प्रयुक्त दोहों की संख्या भी नियमित नहीं है। सबसे छोटा पद दो दोहों का है[1], तो सबसे बड़ा ५८ दोहों का।[2] दोहे का प्रयोग पदों में सूरदास ने अनेक ढंग से किया है। कुछ छन्दक-रहित हैं, यद्यपि ये भी गाये जा सकते हैं, क्योंकि इनके ऊपर भी राग का निर्देश है।[3] कुछ छन्दक-सहित हैं।[4] एक पद ऐसा है, जिसमें दोहे की अर्द्धाली के अंत में ८ मात्राओं की एक पंक्ति जोड़ दी गई है। सम पादों में तुक-योजना नहीं है। जैसे—

**रतन जटित वर पालनौ, रेसम लागी डोर, बलि हालरु रे।**
**कबहुँक झूलै पालना, कबहुँ नंद की गोद, बलि हालरु रे।**[5]

एक दूसरे पद में इसी प्रकार ११ मात्राओं की पंक्ति रक्खी गई है, पर इसके समपाद तुकांक हैं—

**गोकुल सकल गुवालिनी, घर घर खेलत फाग | मनोरा झूम करो।**
**तिन में राधा लाडिली, जिनको अधिक सुहाग | मनोरा झूम करो।**[6]

तीन पद ऐसे हैं[7], जिनके विषम पाद में ८ और सम में ११ मात्राओं की पंक्तियाँ जोड़ी गई हैं—

---

[1]सूरसागर, पद २२५, ३७२, ६१९। [2]सूरसागर, पद ३५३२।
[3]सूरसागर, पद २२५, ६१९, ६६०, १९९० आदि।
[4]सूरसागर, पद ३२५, २२५८, ३४९२, ३५२३ आदि।
[5]सूरसागर, पद ६६५। [6]सूरसागर, पद ३४८२।
[7]सूरसागर, पद ३४८०, ३४८१, ३५३२।

सकुचित हो कत लाडिले रँग भीने हो ।
दुरत न उर-नख-घात लाल रँग भीने हो ।

इसी प्रकार ६ (रँग होरी) और ६ (लाल रँग होरी) की[1], १० (अति बने कन्हाई) और १३ (आज अति बने कन्हाई) की[2], तथा १० (रँग भीजी ग्वालिनि) और २० (नैन सलोने री रँग भीजी ग्लालिनि) मात्राओं की[3] पंक्तियाँ जोड़ कर दोहे को नवीन रूप देने का प्रयास किया गया है। ऐसे सभी पदों में सम-पादों के अंत में तुक की भी योजना है। दोहे को इस नवीन रूप में उपस्थित करने का श्रेय कबीर को है, जिनके एक पद के केवल विषम पादों में ८ मात्राओं की एक पंक्ति (मन बौरा रे) जोड़ी गई है। यथा—

**न्हावन को तीरथ घने मन बौरा रे पूजन को बहु देव ।**
**कह कबीर छूटन नहीं मन बौरा रे छूट न हरि की सेव ।[4]**

सूरदास के दोहा-प्रयोग में एक बात और यह ध्यातव्य है कि उन्होंने अनेक विषम और सम चरणों के बीच द्विमात्रिक शब्दों (हो, रे, पैं आदि) को सांगीतिकता के लिए समाविष्ट कर दिया है[5], जिन्हें संपादक ने छन्द से बाहर समझ कर कोष्ठक के अन्दर रख दिया है। जैसे—

**भौंरा भोगी बन भ्रमै, (रे) मोद न मानै ताप ।**
**सब कुसुमनि मिल रस करे, (पै) कमल बँधावै आप ।—पद ३२५**

यदि कोष्ठकान्तर्गत शब्द छन्द के ही अन्दर माने जायँ, तो अनेक सरसी, सार तथा ताटंक वाले पद क्रमशः मरहटामाधवी, ताटंक और समानसवैया के हो जायँगे। जैसे—

**देखत बनै, कहत नहिं आवै, उपमा कौ नहिं कोइ (री) —पद ७६६**

किन्तु, ऐसे शब्दों को छन्द से वहिर्गत मान कर ही हमने छन्दोनिर्धारण किया है। सूरदास ने सरसी-सार आदि की तरह दोहे के अंत में द्विमात्रिक शब्द नहीं रक्खे हैं—बीच में रक्खे हैं। यदि ये शब्द छन्द के अन्तर्गत लिये जायँ, तो ऐसे

---

[1]सूरसागर, पद ३४८४ । [2]सूरसा र, पद ३५१७ ।
[3]सूरसागर, पद ३४८५ ।
[4]कबीर ग्रंथावली—श्याम सुन्दर दास, परि०, पद ४२ ।
[5]सूरसागर, पद ३२५, ६५८, ६६०, २०७५, २२५८ (केवल कुछ चरणों में) ३४९२, ३४९८, ३५१८ ।

पद दोहकीय के उदाहरण हो जायँगे[1]। कबीरदास ने अवश्य दोहे के अंत में 'रे' आदि का प्रयोग किया है—

**मन के मोहन बीठुला, यह तन लागौ तोहि रे।**
**चरण कंवल मन मानिया, और न भावै मोहि रे।**[2]

यदि यह दोहे के अंत में 'रे' जोड़कर बना हुआ अर्द्धसम छन्द माना जाय, तब तो इसको कोई नया नाम देना पड़ेगा, क्योंकि इस प्रकार का कोई छन्द शास्त्रों में उल्लिखित नहीं। अर्द्धसम 'दोही' नामक छन्द में मात्रा-व्यवस्था १५-११ है[3], अतः इसे दोही नहीं कह सकते। यदि यह अर्द्धसम के बंधन से मुक्त हो जाय, तो यह उल्लाला (१३ मा०) का उदाहरण सहज ही कहा जा सकता है। सूरदास के पदों में ऐसा प्रयोग नहीं मिलता, अतः इसकी विशेष चर्चा निष्प्रयोजन है।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में दोहे का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम इसका उल्लेख नंदिताढ्य ने दूहा नाम से किया है—

**चउदह मत्ता दुन्नि पय, पढमय तइयय हुंति।**
**बारह मत्ता दो चलण, दूहा लक्खन कंति।**[4]

नंदिताढ्य के अनुसार दूहा के विषम चरण में १४ और सम चरण में १२ मात्राएँ होती हैं। किन्तु उनके लक्षण और उदाहरण पद्यों में १३-११ का ही विधान पाया जाता है। इससे यह सहज ही कहा जा सकता है कि संस्कृत वर्णवृत्तों के नियमानुसार उन्होंने दोहे के पादान्त लघु को दीर्घ माना है। हम पीछे लिख आये हैं कि गाथालक्षण के अंतिम कुछ पदों को विद्वान् नंदिताढ्य-कृत नहीं मानते। विद्वानों के इस अनुमान को यह 'दूहा' शब्द बहुलांश में पुष्ट करता है। क्योंकि इनके बाद[5] विरहांक और स्वयंभू ने इसी लक्षणवाले छन्द को दूहा नहीं कह कर दुवहअ कहा है।

---

[1]आगे दोहकीय छन्द, पृ० ३३२। [2]क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद ४।
[3]छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ९०। [4]गाथालक्षण—८२।
[5](क) नंदिताढ्य का 'गाथालक्षण' प्राचीनतम रचना है। प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ३५९।
(ख) वे (नंदिताढ्य) विरहांक के समकालीन हों, या इनके पूर्ववर्त्ती हों।—मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ४५।

**तिण्णि तुरंगा णेउरओ विप्पाइक्का कण्णु ।**
**दुवहअपच्छद्धेवि वद लक्खनु एउ ण अण्णु ।**[१]

**चोद्दह पढ़मतइअचलणे | बारह बीअचउत्थे ।**
**दुवहअलक्खण एसिसउ | होइ अवहं [स] सत्थे ।**[२]

विरहांक के संस्कृत-टीकाकार ने 'दुवहअ' के लिए 'द्विपथ' और स्वयंभू के टीकाकार ने एक जगह 'द्विपथक' और दूसरी जगह 'दोहक' लिखा है। पादांत लघु को गुरु नहीं मानने पर विरहांक के पद्य में ४-११, १३-११ और स्वयंभू के पद्य में १४-१२, १३-१२ की मात्रा-व्यवस्था स्पष्टतः दिखलाई पड़ती है। हेमचन्द्र ने इसे 'दोहक' कहा है और वही १४-१२ वाला लक्षण दिया है—

**समे द्वादश ओजे चतुर्दश दोहकः ।**[३]

**—छन्दो० ६.२० की वृत्ति ।**

इस प्रकार हेमचन्द्र तक दोहे का यही लक्षण दिया जाता रहा और प्रायः पादांत लघु को गुरु मानने का नियम चलता रहा। कविदर्पणकार ने इसे 'दोहओ'—कहा। सर्वप्रथम उन्होंने ही इसमें १३-११ मात्राओं का विधान किया और समचरण के अन्त में ऽ। की व्यवस्था की।[४] प्राकृत पैंगल में यही 'दोहओ' दोहा बन गया जिसकी गणव्यवस्था विषम चरण में ६+४+३ और समचरण में ६+४+१ मानी गई।[५] जबकि विरहांक ने ४+४+४+२ और ४+४+२+२ गणव्यवस्था निर्दिष्ट की थी। इस प्रकार 'दूहा' को 'दोवओ' और 'दोहा' के मध्य स्थान मिलना चाहिये। पृथ्वीराज रासो में दोहा के साथ-साथ 'दुहा' और 'दूहा' नाम भी मिलते हैं।[६] अब चाहे नंदिताढ्य ने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया हो अथवा विरहांक ने, इतना तो निश्चित है कि प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में ही दोहे का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ। इसी आधार पर डॉ० शिवनन्दन ने इसका संबंध संस्कृत की वर्णवृत्त परंपरा से नहीं मानकर अन्य अपभ्रंश छन्दों की तरह इसे लोक-प्रचलित ताल-संगीत की देन कहा है।[७]

---

[१]वृत्तजातिसमुच्चय ४।२७।
[२]स्वयंभूच्छन्दः ६।६०, ४।५ (किंचित् परिवर्त्तन-सहित)।
[३]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५४४।
[४]कवि-दर्पण—२।१५। [५]प्राकृत पैंगल—१।७८ और १।८५।
[६]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २२०।
[७]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ३९६।

संस्कृत छन्दःपरंपरा में इस नाम का कोई छन्द नहीं है। किसी वर्ण-वृत्त के साथ इसका संबंध भी नहीं जुड़ता। यह बात तो अवश्य है, पर यदि लोक-प्रचलित गीत का भी कोई आधार हो (और कौन कह सकता है कि लोक-गीतकारों का यह प्रयास सर्वथा निराधार है) तो यह आधार संस्कृत वर्णवृत्तों में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। आर्या छन्द से (१२-१८, १२-१५) दोहे का विकास बतलाना दूरारूढ़ कल्पना कहा जा सकता है[1], क्योंकि दोनों के प्रकृति-वैषम्य और लय-वैभिन्य इसमें बाधक बन कर उपस्थित हो जाते हैं। दोधक समवर्णवृत्त है और दोहा अर्द्धसम मात्रिक छन्द, इसीलिए उससे इसका कोई संबंध नहीं,[2] ऐसा कहना, हठात् निष्कर्ष निकाल लेना कहा जा सकता है। दोधक (भ भ भ ग ग) का उदाहरण भानु ने इस प्रकार दिया है—

**भागुन गो दुहि दे नँदलाला।**
**पाणि गहे कहती ब्रजबाला।**
**दोध करैं सब आरत बानी।**
**या मिस लै घर जायँ सयानी।**[3]

इसकी गति चौपाई की-सी है। चौपाई और दोहा दोनों समप्रवाही छन्द हैं। इसलिए यदि इसके प्रथम और तृतीय चरणों से तीन तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों से पाँच मात्राएँ निकाल दी जायँ (भागुन गो दुहि दे नँद ल, या मिस लै घर जायँ) तो यह दोधक आसानी से दोहा बन जाता है, क्योंकि दोहे का जो मात्रिक गणविधान कहा गया है, वह भी पूर्णतः इसमें घटित हो जाता है। इसी प्रकार भद्रिका (र न र) छन्द के दूसरे और चौथे चरणों के दीर्घ को हटा देने से दोहा बन जाता है। जैसे—

**रानि रंच नहिं कान्ह री | देत गोपि मग जान (री)।**
**सत्य मान यह मात री | भद्रिका न यह बात (री)।**[4]

इस प्रकार इन दोनों छन्दों से दोहे का संबंध जोड़ा जा सकता है। किन्तु, भद्रिका का उल्लेख जयकीर्त्ति[5] और हेमचन्द्र[6] से पूर्व नहीं मिलता। सरहपा द्वारा प्रयुक्त और विरहांक-स्वयंभू द्वारा उल्लिखित 'दुवहअ' इस प्रकार भद्रिका

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ३९६।
[2] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ३९७।
[3] छन्दःप्रभाकर, पृ० १४४।
[4] छन्दःप्रभाकर, पृ० १२९।
[5] छन्दोनुशासन २।८१।
[6] छन्दोनुशासन २।९४।

से प्राचीन सिद्ध हो जाता है। अतः भद्रिका से दुवहग्र का विकास मानने में आपत्ति हो सकती है। परंतु दोधक का उल्लेख पिंगल के प्राचीनतम ग्रंथ छन्दः-शास्त्र में हुआ है।[१] उसके बाद जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार, हेमचन्द्र आदि ने इसका उल्लेख किया है।[२] इससे इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है। कवि लोग प्रचलित छन्दों में मात्राओं को घटा-बढ़ा कर नूतन छन्दों का निर्माण सदा से करते आये हैं। अतः दोधक के चरणों की दो और चार मात्राओं को घटा कर यदि दुवहग्र का निर्माण किया गया हो, या यों कहिये कि दोधक के निर्माण-काल में शब्द-संकट अथवा प्रयत्न-शैथिल्यवश दुवहग्र आप ही आप विकसित हो गया हो, तो असंभव नहीं। इस प्रकार मात्रिक रूप में ढल जाने पर भी यह वर्णवृत्त के संस्कार को बहुत दिनों तक दूर नहीं कर सका। प्राचीन आचार्यों-द्वारा पादान्त लघु को गुरु मानने के नियम में हम इसी संस्कार को देख सकते हैं। जब दोहे में ताल-मात्राओं की संख्या १६-१६-१६-१६ होती है[३], तो इसी लय वाले षोड़शमात्रापादी छन्द से इसका विकास मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? मुल्ला दाउद के काव्य में उपलब्ध १६-११ मात्रापादी निम्नांकित छन्द को—

**अस मुनि लोरिक सिंघ जस गाजा—१६**
**लइ ओडन संसार।—११**
**बावन आगि जबहि सो छोड़ा—१६**
**अँगवहि बीर संभार।—११**

दोहे का पूर्वरूप मान कर डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने जो यह कहा है कि 'विषम पादों में १६ मात्राओं के पाद के आधिक्य के कारण यह भी कहा जा सकता है कि दोहा-विकास के क्रम में एक स्थिति वह भी थी, जब विषम पादो में वर्णमात्रा-संख्या प्रायः १६ होती थी तथा केवल सम पादों में वर्णमात्रा-संख्या १६ से ११ हो गई थी[४], वह तो हमारे ही मत को पुष्ट करने वाला है। विकास के प्रथम क्रम में केवल दो (सम) पादों की ५-५ मात्राएँ घटाई गई होंगी, फिर शेष दोनों (विषम) पाद भी तीन-तीन मात्राओं को खोकर १३-१३ के

---

[१]छन्दःशास्त्र, ६।१८।

[२]जयदेव ६।१६, जयकीर्त्ति २।६७, केदार ३।३३, हेम० २।१३०।

[३]मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ४०४।

[४]मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ४०४।

हो गये होंगे। यदि मुल्ला दाउद का उक्त पद्य दोहे का पूर्व-रूप है, सरसी का उदाहरण नहीं, तो सरहपा का निम्नांकित पद्य भी—

**१५ ११**
**जइ ट्ठाण ण छेप्पइ दुट्ठ मणु, इन्द्री काइ चरेइ।**
**१७ ११**
**पसुधरें चोरह मन्त ण पेच्छइ, जो तइलोग्र हरेइ।**[1]

दोहे का पूर्वरूप कहा जा सकता है। मात्राओं की अल्पता-अधिकता के कारण यह तो विकास की प्राथमिक अवस्था के और भी निकट है।

दोहे का विकास चाहे जिस रीति से हुआ हो, पर यह अपभ्रंश-काल से लेकर आज तक छन्दःशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित होता रहा। हिन्दी के प्रायः समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन लक्षणकारों ने इसका उल्लेख किया है। दोहा इतना प्रचलित और लोकप्रिय छन्द बन बैठा कि लघु-गुरु वर्णों की संख्या के विचार से दोहे के मुख्य २३ भेद माने गये, जिनकी चर्चा प्रा० पैं०[2], केशव[3], मुरलीधर[4], सुखदेव[5], वृन्दावन दास[6], जयदेव[7], हरदेव दास[8], अयोध्या[9], जानी बिहारी लाल[10], तथा भानु[11] ने की है। २२ गुरु और ४८ लघु वाले दोहे के उदाहरण तो लक्षण ग्रंथों में ही पाये जा सकते हैं। शेष भेदों में अनेक के उदाहरण सूरसागर में मिल सकते हैं। भानु ने दोहे की गति और लय के संबंध में बहुत विस्तार से विवेचन किया है। उनके अनुसार दोहे के चरण में सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल का प्रयोग होना चाहिये। विषम चरण के आदि में जगण (।ऽ।) नहीं हो, अंत में सगण (।।ऽ), रगण (ऽ।ऽ) अथवा नगण (।।।) हो, तथा सम चरण के अंत में जगण (।ऽ।) अथवा तगण (ऽऽ।) रहे। जिस दोहे के विषम चरण के आदि में जगण रहता है, वह चंडालिनी कहा जाता है। जगण विषम चरण के आदि में ही लय का बाधक नहीं है, अपितु उसकी अन्यत्र उपस्थिति भी लय को भंग कर देती है। अतः जगण विषम चरण में सर्वत्र त्याज्य है। हाँ, यदि दो शब्दों के वर्णों के

---

[1]दोहा-कोश : राहुल सांकृत्यायन, पद्य १२५, पृ० २८।
[2]प्राकृत पैंगल १।८०। [3]छन्दमाला—२।१७-२०।
[4]से [10]तक मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ७२, ७६, ८१, ८४, ८३, ८४, ८७।
[11]छन्दःप्रभाकर, पृ० ८७-८६।

योग से जगरा बनता हो और विषम के बाद विषम का प्रयोग हो, तो वहाँ दोष नहीं माना जाता । जैसे—

'भले भलाई पै लहहि' ।

यहाँ आदि में जगरा है, परन्तु शब्द प्रथम और दूसरे वर्ण के मेल से ही पूर्ण हो जाता है, अतः दोष नहीं है ।[१] इसी प्रकार सूरदास की निम्नांकित पंक्ति भी—

वै गोपाल कहाँ गए ।[२]

विषम चरण के मध्य जगरा आ जाने के कारण दूषित नहीं कही जायगी । सूरदास के सभी दोहों में आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन हुआ है । कतिपय चरण ऐसे अवश्य मिले, जिनमें १३ की जगह १२ मात्राएँ मिलती हैं । जैसे—

द्वादस स्कन्ध परम सुभ । —पद ६१६

हरषी पार-परोसिन । —पद ६५८

रुंज मुरलि डफ दुन्दभि । —पद ३५२३

दोहे के इस रूपान्तर (१२-११ मा०) को कवि-दर्पणकार ने 'उवदोहय' कहा है ।[३] इसे ही भिखारीदास[४] और जानी बिहारी लाल[५] दोहरा कहते हैं । भानु ने इसे शास्त्रविरुद्ध माना है । उन्होंने 'सतसैया को दोहरा' का हवाला देकर 'दोहरा' शब्द से दोहे का ही अर्थ लिया है । साथ ही तुलसीदास के मानस में पाये जाने वाले द्वादशमात्रिक चरणों के लिए लिपिकर्त्ता को दोषी ठहराया है ।[६] पर तुलसीदास ने तीन पदों की रचना आद्योपान्त दोहरा छन्द में की है ।[७] आचार्यों का ऐसा कथन पदों को छन्दोदृष्टि से नहीं देखने का ही परिणाम है । वस्तुतः दोहरा दोहे का ही रूपान्तर है, जिसका प्रयोग अपभ्रंश तथा हिन्दी में यत्र-तत्र बराबर होता रहा । भारतेन्दु ने 'वर्षाविनोद' के एक पद की रचना इसी छन्द में की है ।[८] दोहरा की तरह 'दोही' भी दोहे का एक रूप है, जो

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ८४ से ८७ । [२]सूरसागर, पद ४५६२ ।

[३]कविदर्पण २।१६ । [४]छन्दार्णव, ७।७, ६ ।

[५]मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ३८८ ।

[६]छन्दःप्रभाकर, पृ० ८६ ।

[७]गीतावली : अयो० ४७, उ० २१, विनयपत्रिका—२०३ ।

[८]भारतेन्दु ग्रंथावली, खंड २, वर्षाविनोद, पद १०५, पृ० ५२३ ।

दोहे के आदि में (विषम चरण के आदि में) दो मात्राओं के योग से बन जाती है।[1] इसी दोही को कवि दर्पणकार ने 'संदोहय' कहा है।[2] सूरदास ने दोही का प्रयोग कहीं नहीं किया है। उनके पूर्ववर्त्ती कबीर में इसकी कतिपय पंक्तियाँ अवश्य उपलब्ध हैं—

**(क) का जटा भसम लेपन किये, कहा गुफा में बास।**

**(ख) सुनि सखी सुपिनै की गति ऐसी, हरि आये हम पास।**[3]

(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

दोहे का प्राचीनतम प्रयोग विद्वानों ने कालिदास के विक्रमोर्वशीय के निम्न पद्य में पाया है—

**मइ जाणिअ मिजलोअणि, णिसि अरु कोइ हरेइ।**
**जाव णु णव तड़ि सामलि, धाराहरु वरिसेइ।**[4] —४।८

इसके विषम पादों में १२ और सम में ११ मात्राएँ हैं। यदि यह पद्य कालिदास-कृत हो, तब तो संस्कृत छन्द पादाकुलक से दोहे के विकास की सम्भावना और भी पुष्ट हो जाती है। यदि कालिदास का उपरिलिखित पद्य विश्लोक और उपचित्रा के योग से निर्मित पादाकुलक के प्रत्येक चरण की अन्तिम चार मात्राओं (हरेइ और वरिसेइ के पादान्त वर्णों को दीर्घ मानकर) को हटा कर बनाया गया हो, तो आश्चर्य नहीं। कालिदास के श्रुत-बोध में 'हंसी' छन्द का लक्षण जिस ढंग से दिया गया है—

**मन्दाक्रान्ताऽन्त्ययतिरहिता × × ।**
**× × ज्ञेया हंसी।**[5]

(अर्थात् मन्दाक्रान्ता यदि अन्त के सात अक्षरों से रहित हो, तो उसे हंसी कहते हैं) उससे हमारा अनुमान और भी पुष्ट होता है। जब मन्दाक्रांता से ७ अक्षर हटा कर हंसी छन्द बनाया जाता है (मन्दाक्रांता पिंगल-द्वारा उल्लिखित होने से प्राचीन है) तो पादाकुलक की कुछ मात्राओं को निकाल कर दोहे का निर्माण क्या संभव नहीं हो सकता? इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि

---

[1]छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० ९० । [2]कविदर्पण २।१६ ।
[3]क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद ३००, ३०२ ।
[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३८९ ।
[5]श्रुतबोध, १९ ।

कालिदास-द्वारा आविष्कृत यह छन्द अपभ्रंश के कवियों तथा आचार्यों के हाथों अनेक रूप-रूपान्तरों को प्राप्त करता हुआ कविदर्पण में आकर १३-११ वाला एक निश्चित रूप प्राप्त कर लेता है।

सरहपा से तो दोहे की अखण्ड परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही। सरहपा में दोहा अनेक रूपों में उपलब्ध होता है।

**बद्धो धावइ दस दिसहिं, म्मुको णिच्चल ट्ठाअ।**
**एमइ करहा धीक्ख सहि, विवरिअ मह पडिहाअ।**[1]

इसके पादों में १३-११ की मात्रा-व्यवस्था है।

**दोहा सङ्गम मइ कहिअउ, जेहु विबुजझिअ तत्थ।**
**एहु संसार हलें लेहु, जहिं जाणिज्जइ तत्थ।**[2]

इसमें १३-११ की जगह १४-११ मात्राएँ हैं। सम चरणों के अन्तिम वर्ण को गुरु मान कर स्वयंभू आदि के नियमानुसार १४-१२ मात्राएँ भी मान सकते हैं। गणों की समुचित व्यवस्था के अभाव से तृतीय चरण का स्वाभाविक प्रवाह प्रतिहत हो गया है, किन्तु और चरण प्रवाहयुक्त हैं—

**जत्तइ चित्तहु विपुरइ, तत्तइ णाहु सरूअ।**
**अण्ण तरंगकि अण्णजलु, अव सम ख सम अरूअ।**[3]

इसकी प्रथम अर्द्धाली में १२-११ मात्राएँ हैं, जिसे दोहरा कह सकते हैं, दूसरी अर्द्धाली दोहे की है। इन शास्त्रानुमोदित-दोहा-रूपों के अतिरिक्त सरहपा के अनेक दोहे ऐसे हैं, जिनमें मात्राओं का न्यूनताधिक्य मिलता है—

**पालि चलणि रज गइ, जीव दरेण सग्गु।**
**वेण्ण वि पंथा कहअि मइ, जहिं जाणसि तहि लग्गु।**[4]

इसकी प्रथम अर्द्धाली में १०-१० और दूसरी में १३-११ मात्राएँ हैं।

सरहपा के बाद सिद्धों में कण्हपा[5] और तिलोपा[6] में अन्य छन्दों के

---

[1]दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायान, पद २६।
[2]दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायन, पद ११०।
[3]दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायन, पद २६।
[4]दोहाकोश : राहुल सांकृत्यायन, पद २२।
[5]और [6]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—क० पृ० १४६, १४८, ति० १७२, १७४।

अतिरिक्त दोहे भी मिलते हैं। अपभ्रंश कवियों में देवसेन[१] योगीन्द्र[२] रामसिंह[३] बब्बर[४] हेमचन्द्र[५] सोमप्रभ[६] आदि ने दोहे का प्रयोग मुक्तक काव्य में किया है। अब्दुर्रहमान[७] के संदेशरासक में भी दोहे उपलब्ध होते हैं। अपभ्रंश के प्रबन्ध-कवि स्वयंभू तथा पुष्पदन्त के काव्यों में धत्ता रूप में सोरठा[८] तो मिलता है, पर दोहा नहीं (ऐसा राहुल की 'हिन्दी-काव्य-धारा' के आधार पर कहा जा रहा है)। अवश्य धवल कवि के 'हरिवंश पुराण', देवसेन गणि के 'सुलोचना चरित', धनपाल द्वितीय के 'बाहु बलि चरित' और यशः कीर्त्ति के 'पांडवपुराण' में दोहे का प्रयोग धत्ता के रूप में मिलता है।[९] इस प्रकार अपभ्रंश-साहित्य में दोहा विशेष रूप से मुक्तक काव्य में ही प्रयुक्त हुआ है।

गोरखनाथ के कुछ दोहे गण-विधान और मात्रा-संख्या दोनों ही दृष्टियों से निर्दोष हैं। यथा—

**अवधू यों मन जात है, याही तें जब जांणि।**
**मन मकड़ी का ताग ज्यूं, उलटि अपूठो आंणि।**
**जे आसा तो आपदा, जे संसा तो सोग।**
**गुरु मुषिविना न भाजसी, ये दून्यो बड़ रोग।[१०]**

किन्तु कुछ दोहों में मात्राओं की घट-बढ़ पाई जाती है।[११] अब तक दोहा विशेषतः मुक्तक काव्य का छन्द था। चन्दबरदाई ने उसे अपने प्रबन्ध-काव्य में

---

[१]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० १६८।
[२]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० २४०।
[३]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० २५२।
[४]हिन्दी काव्यधारा : राहुल— पृ० ३२४ (वीरप्रशंसा)।
[५]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० ३६० (वीररस) ३६४, ३६६, ३७८, ३८२।
[६]हिन्दी काव्यधारा : राहुल— पृ० ४८०, ४१२, ४१४।
[७]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—पृ० ३१२।
[८]सोरठा छन्द, पृ० ३३४।
[९]प्रा० पैं०, भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ५४२।
[१०]गोरखबानी : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सबदी २३४, २३५।
[११]गोरखबानी : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सबदी, ६८, ६९, २११, २१८, २४८।

विशिष्ट स्थान दिया। पृथ्वीराजरासो में दोहों की भरमार है और सर्वत्र १३-११, १३-११ के नियम का पालन हुआ है।[१] भक्ति काल में तो दोहा और भी लोकप्रिय हो गया। सन्तों के काव्यों में 'साखी' के रूप में दोहे का प्रयोग मुख्यतः मुक्तक के अन्तर्गत हुआ है, यद्यपि कबीर की रमैनी में इसका कड़वक-बद्ध प्रयोग भी उपलब्ध है। साथ ही सन्तों के अनेक पदों की रचना भी दोहों में हुई है, जिनमें कुछ चरण दोहकीय के भी मिले हुए हैं।[२] सूफियों के चरित-काव्यों में तो दोहे को विशेष महत्व मिला। उनके काव्यों के कड़वकान्त में दोहा-सोरठा का प्रयोग धत्ता के रूप में हुआ है। इस प्रकार दोहे ने अपभ्रंश काव्य के कड़वकान्त में धत्तार्थ प्रयुक्त धत्ता,उल्लाला आदि छन्दों को एक प्रकार से निष्कासित कर दिया। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में धत्ता के लिए धत्ता आदि छन्दों का प्रयोग एकदम नहीं हुआ है। अवश्य तुलसीदास ने मानस में धत्ता के लिए दोहा-सोरठा के अतिरिक्त बीच-बीच में त्रिभंगी, चौपैया, हरिगीतिका आदि छन्दों का प्रयोग किया है। सूफियों के काव्यों में दोहे का प्रयोग केवल कड़वकान्त में धत्ता के लिए ही हुआ है, मुक्तक या प्रागाथिक (मिश्र) रूप में नहीं।

कृष्णकाव्य के अन्तर्गत सूरसागर में दोहे का प्रयोग सभी रूपों में—वर्णनात्मक प्रसंगों तथा तत्व-कथन में मुक्तक-रूप में[३], रागों में निबद्ध गेय पदों में[४], कड़वकान्त धत्ता के रूप में[५] तथा प्रागाथिक (मिश्र) रूप में[६] हुआ है। नन्ददास ने 'अनेकार्थ माला' और 'नाममाला' में दोहे का प्रयोग किया है।[७] उनकी 'रूप-मंजरी' और 'विरह-मंजरी' में दोहे का प्रयोग कड़वकान्त धत्ता रूप में हुआ है[८]। ध्रुवदास ने भी अपनी कड़वक-बद्ध रचना 'नेह-मंजरी' 'रति-मंजरी' तथा 'प्रेम-लता' में दोहे का प्रयोग किया है।[९] मुक्तक काव्य के अन्तर्गत

---

[१]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २२०-२२१।

[२]क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास, पद १८, ७५, ११६ आदि।
सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—रैदास, पद २१, नानक, पद १२।

[३]सूरसागर, पद २२५, ३७२। [४]सूरसागर, पद ३२५, २२५८ आदि।

[५]सूरसागर पद ३४४६, १८०० (चौपाई की जगह मानव का प्रयोग)।

[६]आगे मिश्र छन्द। [७]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पृ० ५३।

[८]अष्टछाप परिचय : मीतल, पृ० २०५, २०६।

[९]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, पृ० २३७, २४१, २४२।

रसखान की 'प्रेम-वाटिका' है, जिसमें ५२ दोहे हैं ।[1] गेय पद-शैली में दोहे का प्रयोग मीराबाई ने[2] और दोहरा का हितहरिवंश[3] ने किया है ।

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास ने दोहे का प्रयोग सभी रूपों में किया है—दोहावली, वैराग्यसंदीपनी तथा रामाज्ञाप्रश्न में मुक्तक-रूप में, रामचरित मानस में कड़वकान्त घत्ता के रूप में तथा गीतावली में मिश्र रूप में ।[4] विनय-पत्रिका का एक पद दोहा और दोहकीय दोनों के चरणों के मेल से बना है ।[5] छन्दक और राग-निर्देश के अभाव में भी यह पद पद-शैली के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है, क्योंकि सूरसागर में भी अनेक पद छन्दक-रहित हैं, यद्यपि उनके ऊपर राग का निर्देश है । रहीम ने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा सब में थोड़ी बहुत रचना की, पर वे सर्वसाधारण में अपने दोहों के लिए ही प्रसिद्ध हैं ।[6] केशव दास ने अपनी रामचन्द्रिका में दोहे का प्रचुर प्रयोग तो किया ही, लक्षणग्रंथों में लक्षणकथन में इसी का सहारा लिया । इस प्रकार रीतिकाल में दोहा लक्षण-निर्धारण का एकमात्र छन्द बन गया । नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण प्रायः दोहे में ही दिये जाते रहे । लक्षण-कथन में चौपाई आदि अन्य छन्दों का बहुत कम प्रयोग हुआ है । इस दृष्टि से लक्षणग्रंथों में दोहे ने वही स्थान प्राप्त कर लिया जो संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में अनुष्टुप को प्राप्त है । लक्षणग्रंथों के अतिरिक्त रीतिकाल में बिहारीसतसई, मतिरामसतसई, शृंगारसतसई, विक्रमसतसई, वृन्दसतसई, रतनहजारा आदि ग्रन्थ आद्योपांत दोहा-सोरठा छन्द में ही लिखे गये । इन काव्यों के अतिरिक्त गिरिधर तथा दीनदयाल गिरि की कुंडलियों में दोहे का प्रयोग मिश्र-रूप में हुआ । घत्ता के रूप में दोहे का प्रयोग इस काल के अन्दर दोहा-चौपाई में लिखे गये सबलसिंह चौहानकृत 'महाभारत', लालकविकृत 'छत्रप्रकाश, ब्रजवासीदासकृत 'ब्रजविलास' तथा

---

[1]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, रसखान, परिचयात्मक भूमिका पृ० २०६ ।

[2]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १०५, ११६ ।

[3]ब्रजमाधुरी-सार—पद २२ ।

[4]गीतावली : उत्तर० पद १६ (दोहा+हरिगीतिका, दोहरा की भी कुछ पंक्तियाँ) ।

[5]विनयपत्रिका, पद १६० ।

[6]हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, संवत् १९९३, पृ० १८२ ।

मधुसूदनदास के 'रामाश्वमेध' नामक प्रबन्धकाव्यों में हुआ है। इस प्रकार रीतिकाल के अन्तर्गत दोहे का प्रयोग प्रबन्ध और मुक्तक दोनों क्षेत्रों में हुआ।

आधुनिक काल में भारतेन्दु ने भक्त सर्वस्व, (दो पद छप्पय के) वैशाख माहात्म्य तथा प्रेमसरोवर की रचना आद्योपांत दोहे में की है। उनकी 'मुँह दिखावनी', 'बकरी-विलाप' आदि रचनाएँ दोहे में ही रचित हैं। यदि 'हरिऔध' ने 'रसकलश' में लक्षण-निर्धारण में दोहे का सहारा लेकर रीतिकालीन दोहात्मक लक्षण-परम्परा को आगे बढ़ाया है तो वियोगी हरि ने 'वीरसतसई' और दुलारे लाल भार्गव ने 'दुलारे 'दोहावली' की रचना दोहों में करके सतसई की परम्परा में योग दिया है। द्वारका प्र० मिश्र ने 'कृष्णायन' की रचना कर दोहे का घत्ता वाला रूप उपस्थित किया है। खड़ीबोली के काव्य-भाषा-पद पर आसीन होने पर दोहे का महत्त्व घट गया। शब्दों के तोड़-मरोड़ तथा विभक्ति-पदों की छूट की जो स्वतन्त्रता ब्रज-भाषा में थी, वह खड़ी-बोली में नहीं रह गई। ४८ मात्राओं के दोहे में खड़ी-बोली के कवियों को व्याकरण के सारे नियमों का पालन करते हुए अपने भावों को स्पष्टरूपेण प्रकट करना थोड़ा कठिन प्रतीत होने लगा। इसीलिये दोहा इस युग में अपने स्थान से च्युत हो गया। फिर भी द्विवेदी-कालीन कवियों के काव्यों में इसकी झलक बराबर मिलती रही। नाथूराम शंकर शर्मा के ''अनुराग-रत्न'[1] और हरिऔध के 'पद्य-प्रसून'[2] में दोहे का विशद प्रयोग हुआ है। मैथिलीशरण की 'अशोक-वासिनी सीता'[3] और 'समर-सज्जा'[4] की रचना दोहे में हुई है। उनके साकेत[5] यशोधरा[6] द्वापर[7] आदि में दोहे के स्फुट प्रयोग मिल जाते हैं। छायावाद में आकर दोहे का अस्तित्व एक प्रकार से जैसे खो गया। छायावादी कवियों में प्रसाद ने अपने नाटकों के गीतों में कहीं-कहीं इसे अवश्य स्थान दिया है[8]। जैसे—

---

[1] अनुराग-रत्न, पृ० ३८, ६३, १२४, १२५।

[2] पद्य-प्रसून, पृ० १, १०, ११, २१, १८३, २१५-२२७ (दिव्य दोहे)।

[3] काबला-कलाप, पृ० ३२।

[4] जयभारत, पृ० ३४२।

[5] साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४१, नवम सर्ग पृ० २४६, २५२, २५४, २५५ आदि।

[6] यशोधरा, शुद्धोदन पद—१ ( प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ ) पृ० २६, ३६, ४५ आदि।

[7] द्वापर : मंगलाचरण, पृ० १।

[8] स्कन्दगुप्त, पृ० ५४ और १४६।

**पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल ।**
**जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल ।**
**—स्कन्दगुप्त —द्वि० अंक, पृ० ५४**

दोहा अपभ्रंश का लाड़ला तो था ही, हिन्दी का भी दुलारा बन बैठा । 'इसका प्रयोग ८वीं शती से २०वीं शती तक लगातार विविध विषयों के लिए तथा विविध शैलियों में होता आया है । अपभ्रंश में सिद्धों और जैनों के साम्प्रादायिक मतवाद, सन्तों के खंडन-मंडन और रहस्यानुभूति, कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्त एवं भक्ति-परक उद्‌गार, अपभ्रंश और डिंगल की वीरगाथाएँ, रामकाव्यान्तर्गत विविध मार्मिक प्रसंग, सूफी प्रेमाख्यान, फुटकल ऐहिक शृंगार अथवा नीति-परक उक्तियाँ, रीतिकालीन शास्त्रचिन्तन तथा आधुनिक सामाजिक विचार एवं देश-प्रेम-सम्बन्धी उद्‌गार—ये विविध विषय—एक साथ दोहा के रूप में सर्वथा अनुकूल अभिव्यक्ति उपलब्ध करते हैं । दोहा का प्रयोग मुक्तक शैली में, कड़वक-बद्ध (प्रबन्ध) शैली में, पद-शैली में तथा प्रगाथ-शैली में समान सौकर्य के साथ होता दिखाई देता है ।'[1]

## (२) दोहकीय

**मोर मुकुट कुंडल स्रवन, सिर पीताम्बर फहराइ ।**
**अधरनि पर मुरली धरे, मृदु मधुरी तान बजाइ । —पद २०६३**

सूरसागर के चार पद दोहकीय छन्द में निबद्ध हैं ।[2] प्राचीन छन्दःशास्त्रों में इस नाम का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता । यह छन्द दोहे का ही रूपान्तर है । दोहे के सम चरण के आदि में दो मात्राओं के योग से यह बन जाता है । सम्भवतः इसीलिये डॉ० शुक्ल ने इसे दोहकीय नाम दिया है । उन्होंने 'प्रसाद'-द्वारा दोहे के आधार पर इस छन्द का निर्माण माना है और उनके स्कन्दगुप्त से निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान ।**
**बलिहारी मैं, कौन तू, है मेरा जीवन प्रान ।**[3]

किन्तु 'प्रसाद' इसके प्रथम प्रयोक्ता नहीं कहे जा सकते । इसके सर्वप्रथम प्रयोग

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ४११ ।

[2] सूरसागर, पद २०६३, ३५००, ३५२१, परि० ७ ।

[3] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० ३१७ ।

का श्रेय भी सूर को ही मिलना चाहिये । सूरदास के पूर्व गोरखनाथ के सबदी में दोहा और दोहकीय का मिश्र प्रयोग हुआ है—

**च्यंत अच्यंत ही उपजै, च्यंता सब जुग षीण ।**
**जोगी च्यंता बीसरै तो होइ अच्यंतहि लीन ।**[१]

इसमें पहली पंक्ति दोहे की और दूसरी दोहकीय की है । कबीर के काव्य में दोहकीय का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता । दोहे के साथ दोहकीय के भी चरण मिल जाते हैं ।[२] एक पद में सार, सरसी, दोहा तथा दोहकीय सबके चरणों का मिश्रण है ।[३] एक पद में दोहा, दोहरा, दोहकीय और दोही सबके चरण मिल गये हैं ।[४] एक पद में दोहा, दोहकीय तथा दोही का प्रयोग हुआ है ।[५] रैदास के एक पद में दोहकीय की केवल दो पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं ।[६] इससे यह सिद्ध होता है कि गोरख, कबीर तथा रैदास के जो ऐसे प्रयोग मिलते हैं, वे सचेतन प्रयास के परिणाम नहीं है । इन्हें अपने सिद्धान्त की जितनी फिक्र थी, उतनी छन्दों की नहीं । मात्राओं की घट-बढ़ इन सबके काव्यों में बराबर मिलती है । अतः ऐसे प्रयोग शब्द-संकट अथवा प्रयत्न-शैथिल्य-वश हो गये होंगे । सूरदास ने प्रयत्न-शैथिल्य-वश हुए ऐसे प्रयोग को एक नूतन छन्द का रूप दिया । चार पदों में केवल एक ही पद ऐसा है जिसके सभी सम चरणों के पहले 'हो' है—एक में सम्भवतः लिपिकार के प्रमाद से छूट गया है ।[७] शेष तीन पदों में 'हो' की जगह अन्य द्विमात्रिक (सखि, सिर, तन, मृदु, जहँ, जनि, सुख, हित आदि) शब्दों का प्रयोग हुआ है । एक पद में तो दोहे की तरह विषम और सम चरणों के अन्त में 'मिलि झूमक हो' जोड़ा गया है । जैसे—

**सूर सबनि को सुख दियो, मिलि झूमक हो ।**
**रमि रसिक राधिका कंत, मिलि झूमक हो ।**[८]

इसी पद को उद्धृत कर डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि 'इसमें तो दोहा के

---

[१]गोरखबानी : बड़थ्वाल, २४४ ।
[२]कबीर ग्रन्थावली : श्यामसुन्दर दास, पद ५, २८, ३०, ७५, परि० १४७।
[३]कबीर ग्रन्थावली : श्यामसुन्दर दास, पद १९८ ।
[४]कबीर ग्रन्थावली : श्यामसुन्दर दास, पद ३०२ ।
[५]कबीर ग्रन्थावली : श्यामसुन्दर दास, पद ३०० ।
[६]संत काव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २१ ।
[७]सूरसागर, परिशिष्ट ७ ।
[८]सूरसागर, पद ३२५१ ।

साथ साम्य का आभास भी कठिनता से मिलता है।"[1] दोहे से साम्य रखते हुए भी ये दोहकीय के चरण हैं। अतः कठिनता का होना स्वाभाविक है। इन सभी पदों में दोहे का एक भी चरण नहीं है। तुलसीदास ने स्वतन्त्र[2] और मिश्र[3] दोनों रूपों में दोहकीय का प्रयोग किया है। मीराबाई के दो पदों में इसका स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है।[4] सन्त आनन्दधन के एक पद में दोहकीय के कुछ चरण मिलते हैं।[5] भारतेन्दु ने भी पदों में इसका प्रयोग किया है।[6]

इस प्रकार सूरदास से लेकर भारतेन्दु-काल तक पदों में दोहकीय एक विशेष छन्द के रूप में प्रयुक्त होता रहा। 'जन-गीतों में ऐसे बहुत प्रयोग देखने में आते हैं'[7] लिखकर डॉ० शुक्ल ने इसकी जिस गीतात्मकता की ओर संकेत किया है, उसी से आकर्षित होकर 'प्रसाद' ने अपने नाटक-गीतों में इसको स्थान दिया। सम्भव है, सर्वप्रथम प्रयत्न-शैथिल्य या शब्द-संकट के कारण यह आप से आप निकल पड़ा हो। पर दो मात्राओं के योग से गीतात्मकता में वृद्धि देखकर सूरदास ने इसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया।

## (३) सोरठा

**लाख कहौ किन कोइ, पिय सनेह जो गोइहैं।**
**चतुर नारि है सोइ, लियौ प्रेम-परचौ किनहु। —पद ३४४६**

सूरसागर में सोरठे का स्वतन्त्र प्रयोग किसी पद में नहीं हुआ है। केवल उपर्युक्त पद के कड़वकान्त में धत्ता के रूप में दोहा-सोरठा छन्द का प्रयोग हुआ है। इस कड़वक-बद्ध रचना में पाँच सोरठे हैं, और सूरसाहित्य में प्रयुक्त सोरठे की यही संख्या है। सोरठा दोहे का उलटा है। सोरठे में दोहे के विषम पाद सम और सम विषम बन जाते हैं। इस प्रकार इसके प्रथम और तृतीय

---

[1]सूरदास : पृ० ५७६। [2]विनयपत्रिका, पद १६२, १६३।
[3]विनयपत्रिका, पद १६०, १६१, गीतावली, बालकांड, पद २२।
[4]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद २६, ५६।
[5]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद ७।
[6]भारतेन्दु ग्रंथावली : होली, पद ६, २७, वर्षाविनोद, पद ५ (अंत में 'हो' अधिक) दानलीला —पृ० ६५६।
[7]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३१७।

चरणों में ११ और द्वितीय और चतुर्थ में १३ मात्राएँ होती हैं।[१] इस छन्द की विचित्रता यह है कि इसके विषम चरणों में ही अन्त्यानुप्रास रहता है। इस बात पर ध्यान नहीं देने के कारण ही डॉ० गार्गी गुप्ता ने केशवदास के अनेक सोरठे भिन्नतुकान्त कविता के निदर्शन-रूप में रख दिये हैं।[२]

सोरठे का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना दोहे का। दोहे की तरह सोरठे (अवदूआ) का भी उल्लेख नंदिताढ्य ने किया है[३] और विषम पाद में १२ और सम पाद में १४ मात्राएँ मानी हैं। स्वयंभू द्वारा उल्लिखित 'अवदुवह' में भी मात्रा-व्यवस्था यही है।[४] कविदर्पणकार ने दोहओ (दोहा) के साथ अवदोहओ (सोरठा) का भी उल्लेख किया है और ११-१३ की मात्रा-व्यवस्था निश्चित की है।[५] इसी अवदोहओ के लिए प्राकृतपैंगल[६] और छन्दःकोश[७] में सोरट्ठ नाम का प्रयोग हुआ है। दोनों ने सोरठे को दोहे का उलटा माना है तथा विषम और सम दोनों चरणों में तुक की योजना को अनिवार्य बतलाया है। सौराष्ट्र के कवियों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण अवदोहओ का नाम सोरट्ठ पड़ गया हो, ऐसा विद्वानों का मत है।[८]

हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में केशव[९] सुखदेव[१०] वृन्दावनदास[११] भिखारीदास[१२] रामसहाय[१३] अयोध्या प्रसाद[१४] तथा जानीबिहारी लाल[१५] ने सोरठे का उल्लेख किया है। आधुनिक सभी लक्षणकारों द्वारा भी यह उल्लिखित हुआ है।

---

[१]छन्दःप्रभाकर : समतेरा विषमेश, दोहा उलटे सोरठा : भानु, पृ० ८६।
[२]रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन, पृ० ४२४।
[३]गाथालक्षण, ८६। [४]स्वयंभूच्छन्दः ४।७, ६।८६।
[५]कविदर्पण : २।१५। [६]प्रा० पैं० १।१७०।
[७]छन्दःकोश, २५।
[८]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५४८, मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३६८।
[९]छन्दमाला २।३६।
[१०] और [११]मा० छं० का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७४, ८१।
[१२]छन्दार्णव, ७।६।
[१३]से [१५]तक—मा० छं० का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६२, ६४ ६७।

दोहे के समान सोरठा छन्द का काव्यगत प्रयोग भी प्राचीन है। सिद्धों के काव्यों में इसके दर्शन नहीं होते, पर अपभ्रंश कवि स्वयंभू की रामायण में घत्ता रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

**जं मुच्छाविअ राउ, सय लु वि जणु महु कायरु।**
**पलयाणिल संतत्तु, रसेवि लग्गु ण सायरु।**[१]

('से' का ह्रस्व और समपादांत 'रु' का दीर्घ उच्चारण अपेक्षित)

इसके विषम पादों में नहीं, सम पादों में ही तुक की योजना है। इसी रूप में पुष्पदन्त ने भी सोरठे का प्रयोग किया है।[२] अज्ञात कवि की प्रबन्धचिंतामणि[३] तथा बब्बर[४] के काव्यों में विषम पाद में तुक वाले सोरठे उपलब्ध होते हैं। गोरखनाथ ने एक सबदी में सोरठे का प्रयोग किया है, यद्यपि उसमें मात्राओं का न्यूनताधिक्य है—

**एका एकी सिध नाउँ, दोइ रमति ते साधवा।**
**चारि पंच कुटुम्ब नाउँ, दस बीस ते लसकरा।**[५]

रेखांकित वर्णों के ह्रस्वोच्चारण से प्रथम दो चरण तो सोरठे के निर्दोष उदाहरण हो जाते हैं। किन्तु, तृतीय चरण में २ मात्राओं की अधिकता और चतुर्थ में एक मात्रा की न्यूनता तो रह ही जाती है। पृथ्वीराज रासो में सोरठे का प्रयोग केवल दो पद्यों में हुआ है।[६] विद्यापति के काव्य में सोरठा नहीं मिलता। सन्तों ने सोरठे का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। सम्पूर्ण कबीरग्रन्थावली, कबीरवचनावली तथा सन्तकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी) के उलट जाने पर कबीर के केवल तीन सोरठे ही हाथ आये।[७] सूफी कवि जायसी के 'पद्मावत' और 'आखिरी कलाम' में एक भी सोरठा नहीं है। हाँ, 'अखरावट' में प्रति दोहे के बाद सोरठे का प्रयोग अवश्य हुआ है।[८] कृष्णकाव्य के अन्तर्गत सूरदास

---

[१] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ११४।
[२] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २२६, २२८।
[३] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २८६, २८८, २९०।
[४] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ३१४ (१७१)।
[५] गोरखबानी—डॉ० बड़थ्वाल—सबदी पृ० १७९।
[६] चन्दवरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २४१।
[७] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास-साखी—१३।७, २०।८, २८।१०।
[८] जायसी ग्रंथावली : रामचन्द्र शुक्ल—अखरावट, पृ० ३०३ से ३३८।

के सागर में केवल ५ सोरठे ही उपलब्ध हुए। तुलसीदास ने रामचरितमानस के कड़वकान्त में कहीं-कहीं सोरठे का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ में तुलसीदास ने सोरठे को इतना महत्त्व दिया है कि इसका प्रारम्भ पाँच सोरठों से ही (संस्कृत श्लोकों को छोड़कर) किया है। साथ ही प्रा० पै० तथा छन्द:कोश के लक्षणानुसार इसके विषम और सम दोनों पदों में तुक की योजना की है—

> **जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवर बदन।**
> **करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन।**[1]

दोहावली और वैराग्यसंदीपनी में भी तुलसीदास ने सोरठे का प्रयोग किया है। दोहावली में १८ और वैराग्यसंदीपनी में २ सोरठे हैं।[2] केशवदास ने रामचन्द्रिका में सोरठे का प्रचुर प्रयोग किया है। सुमति और विमति के बीच होने वाले वार्त्तालाप में सुमति के कथन दोहे में और विमति के सोरठे में निबद्ध किये गये हैं।[3]

रीतिकाल में लक्षण-कथन में कवि लोग अधिकतर दोहे का ही सहारा लेते रहे, सोरठे का प्रयोग बहुत कम हुआ। समस्त पद्माभरण में केवल विभावना अलंकार का लक्षण ही सोरठे में दिया गया है।[4] जगद्विनोद में तो एक भी सोरठा उपलब्ध नहीं हुआ। रीतिकाल के अन्तर्गत जो बिहारीसतसई आदि दोहा-काव्य ( प्राधान्येन ही व्यपदेशा भवन्ति के अनुसार ) लिखे गये, उनमें कहीं-कहीं सोरठे को भी स्थान मिल गया है। सवा सात सौ दोहों में निबद्ध बिहारीसतसई में केवल ६ सोरठे है।[5] भारतेन्दु ने दोहे का प्रचुर प्रयोग किया है, दोहकीय और दोहरे में भी कई पदों की रचना की है, किन्तु सोरठे के प्रयोग में बड़ी कृपणता दिखाई। उनके सम्पूर्ण काव्य-नाटकों में केवल ३ सोरठे प्राप्त होते हैं।[6] द्विवेदीयुगीन कवियों में नाथूराम शंकर के 'अनुराग-रत्न' में यत्र-तत्र सोरठे का प्रयोग हुआ है। मैथिली शरण ने उर्मिला के विरह-

---

[1]रामचरितमानस : बालकांड—१।

[2]दोहावली—४३,१३४,१३५,१३६,१३७,१६९ आदि। वै० सं०—४, ३४।

[3]रामचन्द्रिका, प्रकाश ३। [4]पद्माभरण—पद १३७।

[5]बिहारीबोधनी-भगवान दीन, ४७, १२४, १६६, ५००, ५०१, ७१८।

[6]कार्तिक-स्नान, पृ० ७८, स्फुट कविताएँ पद १३ (भा० ग्रं०) मुद्राराक्षस-अंक २, पृ० ६१।

वर्णन में एक स्थान पर सोरठे का प्रयोग किया है, जिसके विषम और सम दोनों चरणों में तुक की योजना है। जैसे—

**लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा।**
**व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक-बुद्बुद दे रहा।**[1]

द्वारिका प्र० मिश्र के 'कृष्णायन' का प्रारम्भ ५ सोरठों से ही हुआ है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं उन्होंने सोरठे का प्रयोग कड़वकान्त धत्ता-रूप में प्रयुक्त दोहे के बाद भी किया है। छायावादी कवियों में प्रसाद ने जिस प्रकार नाटक के गीतों में दोहे की योजना की है, उसी प्रकार 'झरना' की एक कविता में सोरठे का भी प्रयोग किया है। यथा—

**माँगा होकर दीन,**
**कंठ सींचने के लिये;**
**गर्भ झील का मीन,**
**निर्दय, तुमने कर दिया।**[2]

अपने 'कानन-कुसुम' की 'चित्रकूट' कविता में उन्होंने १९ सोरठों में वार्त्तालाप का अच्छा निर्वाह किया है।[3]

दोही, दोहरा और सोरठा तीनों दोहे के ही रूपान्तर हैं। पर जहाँ दोही और दोहरा कवि के प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट के फलस्वरूप उत्पन्न हुए होंगे, वहाँ सोरठे के निर्माण के पीछे कवि का सचेतन प्रयास रहा होगा। इसकी प्रेरणा प्रथम प्रयोक्ता को लगातार दोहा-पाठ के क्रम में ही मिली होगी। जब वह दोहे के सम पाद का पाठ समाप्त कर शीघ्र ही विषम पाद का पाठ प्रारम्भ करता होगा, तो उसे दोहे से एक भिन्न लय और संगीत का अनुभव हुआ होगा।[4] इसी भिन्न लय-संगीत पर जो पद्य रचा गया होगा, वह पीछे सोरठा नाम से अभिहित हुआ होगा। दोहा रूप बदल कर सोरठा तो हो गया; किन्तु इस रूप में उसे वह महत्त्व नहीं मिल सका, जो उसने अपने पूर्व रूप में प्राप्त किया था। सोरठा दोहे से होड़ नहीं ले सका। दोहे के प्रयोग-बाहुल्य के सामने सोरठे के अल्पातिअल्प प्रयोग बिलकुल नगण्य हैं। इसके प्रयोग की अल्पता का कारण यह है कि सोरठे के विषम चरणों के

[1]साकेत, नवम सर्ग—पृ० २६। [2]झरना, सुधा में गरल, पृ० ७०।
[3]कानन-कुसुम : चित्रकूट, पृ० ९५-९७।
[4]मात्रिक छन्दों का विकास : डा० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ३१८।

बलात्मक अंत में भाव उसी प्रकार भद्द से गिर पड़ता है, जिस प्रकार गाड़ी के बैल सहसा कंधे पटक देते हैं। सम चरणों में फिर गिरे हुए भाव को उठाना पड़ता है। दोहा विषम चरण के अंत में एक बार हाँफ कर भाव की पालकी को मंजिल तक पहुँचा देता है। भावों के इसी सहज संचरण के कारण दोहे का प्रचार सोरठे से अधिक हुआ।

## (४) उल्लाला

> **कर जोरि सूर बिनती करै, सुनहु न हो रुकमिनि रवन।**
> **काटौ न फन्द मो अन्ध के, अब बिलंब कारन कवन। —पद १८०**

उल्लाला छन्द का स्वतन्त्र प्रयोग सूरसाहित्य में नहीं हुआ है। सूरसागर का एक पद छप्पय छन्द में निबद्ध है। छप्पय रोला के चार और उल्लाला के दो चरणों के योग से बनता है। उल्लाला में कहीं २८ (१५-१३) और कहीं २६ (१३-१३) मात्राएँ होती हैं।[1] सूरदास के उपर्युद्धृत पद में २८ मात्राएँ हैं। इसे भानु ने अर्द्धसम छन्दों के अन्तर्गत रक्खा है[2] और प्रति पाद १३ मात्रा-वाले को सम के अन्तर्गत। सम उल्लाला का उपयोग सूरदास ने एक जगह प्रबोधन छन्द के चरण-निर्माण में किया है और दूसरी जगह चौपाई आदि के साथ प्रगाथ-रूप में।[3] इसके अतिरिक्त सूरसाहित्य में उल्लाला और कहीं उपलब्ध नहीं होता।

संस्कृत के किसी छन्दःशास्त्र में उल्लाला का उल्लेख नहीं मिलता। १५-१३ मात्रा वाले उल्लाला का लय की दृष्टि से किसी वर्णवृत्त से साम्य नहीं। अवश्य १३-१३ मात्रा वाले उल्लाला का संस्कृत वर्णवृत्त से लय-साम्य है।[4] इस त्रयोदशमात्रापादी उल्लाला के आदि में दो मात्राओं के योग से यह उल्लाला (१५-१३ मा०) बन जाता है। अतः इसका सम्बन्ध एवंप्रकारेण संस्कृत वर्णवृत्त से जोड़ा जा सकता है।

हेमचन्द्र[5] और कवि-दर्पणकार[6] ने कर्पूर (१५-१३) और कुंकुम

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६८। [2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ९१।

[3] देखिये—पीछे प्रबोधन छन्द और आगे चौपई+चौबोला+चौपाई+उल्लाला।

[4] देखिये—पीछे प्रबोधन छन्द।

[5] छन्दानुशासन ७।२—३। [6] कविदर्पण २।२—३।

(१५-१२) नामक दो द्विपदी छन्दों का उल्लेख किया है। ये ही दोनों छन्द बन्दी-जन के यहाँ उल्लालक कहे जाते थे—

एतावुल्लालकौ इति बन्दीनां भाषासु प्रसिद्धावित्यर्थाज्ज्ञेयम्।[1]

इस प्रकार कर्पूर और कुंकुम नाम उल्लाला नाम की अपेक्षा प्राचीन है। कवि-दर्पण के बाद प्राकृतपैंगल[2] और छन्दःकोश[3] में इसी २८ मात्रावाले द्विपदी कर्पूर ने उल्लाला की संज्ञा प्राप्त की। पीछे हिन्दी के लक्षणकारों ने इसी नाम से इसका उल्लेख किया। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में केशव[4], मुरलीधर[5], सुखदेव[6], भिखारीदास[7] तथा जानीबिहारी लाल[8] ने इसे उल्लिखित किया है। आधुनिक लक्षणकारों में भानु, रघुनन्दन, परमानन्द, उपाध्याय, दत्त, सरस, डॉ० शिवनन्दन तथा डॉ० शुक्ल सब ने इसका उल्लेख किया है और इसे अर्द्धसम चतुष्पदी छन्द माना है।

उल्लाला का काव्यगत प्रयोग अति प्राचीन है। सरहपा आदि सिद्धों में उल्लाला छन्द नहीं मिलता। किन्तु, अपभ्रंश कवियों ने कड़वकबद्ध रचना में घत्ता के रूप में उल्लाला का भी प्रयोग किया है। स्वयंभू की रामायण[9], पुष्पदन्त के आदिपुराण[10] तथा धनपाल की भविष्यत्कथा में[11] इसका घत्तार्थ प्रयोग मिलता है।

हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण में उल्लाला का स्वतन्त्र प्रयोग पाया जाता है। यथा—

**विरहानल जाल करालिअउ, पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअओ।**
**अनुसिसिर कालि सअल जलहु, धूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ।**[12]

इसमें 'ओ' का ह्रस्वोच्चारण और जलहु' के 'हु' का दीर्घोच्चारण अपेक्षित है। उल्लाला का स्वतन्त्र प्रयोग बहुत कम हुआ है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों

---

[1]कविदर्पण की टीका, पृ० ७। [2]प्रा० पैं० १।११८।
[3]छन्दःकोश, १२। [4]छन्दमाला, २।७।
[5]और [6]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ७४।
[7]छन्दार्णव : ७।१०। [8]मा० छं० का विकास पृ० ६७।
[9]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५०।१०।२-३।
[10]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० २०२।१५
[11]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० २६६।
[12]हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३७८।

में घत्ता के रूप में और अन्यत्र प्रायः प्रगाध-रूप में ही इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। हिन्दी काव्यों में भी यह छप्पय का अंग बन कर ही आया है। उल्लाला की गति वीररस के अधिक अनुकूल है। इसीलिए छप्पय के साथ बीररसात्मक काव्यों में इसका विशेष प्रयोग हुआ है। भक्तिकाल में इसके प्रयोग की अल्पता का कारण भी इसकी यही वीर-रसात्मकता कही जा सकती है। गेय पदों में उल्लाला अथवा छप्पय का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर है। सूरसागर में जो एक छप्पय है, उसमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक है।

●

# मिश्र छन्द

मिश्र छन्द के सम्बन्ध में हम अपना मत द्वितीय अध्याय में प्रकट कर आये हैं ।[1] छन्दों के लक्षण-उदाहरण, उद्‌भव-विकास तथा गति-लय आदि का विवेचन तृतीय और चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है । इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि एक पद में दो-तीन भिन्न-भिन्न छन्दों के सम्मिश्रण का आधार क्या है ?

मिश्र छन्द में निबद्ध तीन प्रकार के पद हैं : (१) कुछ पदों में सम और सम छन्दों का, (२) कुछ में सम और अर्द्धसम छन्दों का तथा (३) कुछ में अर्द्धसम और अर्द्धसम छन्दों का मिश्रण है ।

## सम+सम छन्द

### (१) लीला+तोमर (नित)

लीला और तोमर का मिश्रित प्रयोग सूरसाहित्य के दो पदों में हुआ है ।[2] पद १२४१ के प्रथम चरण का 'मेरे साँवरे' छन्द से बाहर है । सम्पूर्ण पद में ४२ चरण हैं, जिनमें १० चरण लीला के हैं, शेष तोमर के । अधिकांशतः तोमर के साथ तोमर के और लीला के साथ लीला के चरणों का मेल है । दो ही स्थल ऐसे हैं, जहाँ लीला और तोमर का युग्मक है । जैसे—

**(मेरे साँवरे) जब मुरली अधर धरे । —लीला**
**मुनि सिद्ध समाधि टरे । —तोमर**
**मनमोहन रूप धर्‌यौ । —लीला**
**तब गरब अनंग हर्‌यौ । —तोमर**

तोमर छन्द के पादांत में आचार्यों ने गुरु-लघु ( ऽ। ) का विधान किया है । यहाँ लगात्मक पादांत का प्रयोग उसी रूप में लिया जा सकता है, जिस रूप में सूरदास ने सरसी, रूपमाला के पादांत में लघु-गुरु का व्यवहार किया है ।[3]

---

[1] पीछे द्वितीय अध्याय, पृ० ४६-५० । [2] सूरसागर, पद १२४१, परि० ५६ ।
[3] पीछे सरसी, रूपमाला आदि छन्द ।

यदि इससे शास्त्रों के मर्यादा-भंग की सम्भावना हो, तो ऐसे चरण नित छन्द के उदाहरण समझे जायँ। नित छन्द का लक्षणोदाहरण भानु ने इस प्रकार दिया है—

नित नव राम सों लगन, लगी रहे दुहूँ पगन।
सदा कृपा निधान हैं, सुभक्त जनन प्रान हैं।[1]

इसके अनुसार नित छन्द में १२ मात्राएँ होती हैं, अंत में लघु-गुरु अथवा नगण रहता है। भानु के अनुसार लगात्मक अंत वाले सूरदास के उपर्युक्त दोनों चरण नित छन्द के उदाहरण बेखटके हो जाते है, क्योंकि उन्होंने नित छन्द के यति-निर्धारक किसी तत्त्व का उल्लेख नहीं किया है। उनके उदाहरण-पद्य से भी हम ऐसे किसी तत्त्व को ढूँढ़ निकालने में असमर्थ हो जाते हैं। क्योंकि उनके चारों चरणों में कोई एक क्रम नहीं दिखलाई पड़ता। उनके दूसरे और तीसरे चरण को, षष्ठक का आधार होने के कारण, डॉ० शुक्ल के अनुसार लीला छन्द कह सकते हैं।[2] किंतु, पहले और चौथे की गणव्यवस्था इससे भिन्न है। दोनों का निर्माण ४+३+५ से तो हुआ है, पर पहले के प्रारम्भ में सर्वलघु चतुष्कल (नित नव) और चौथे में जगण (सुभक्त) का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भानु के लक्षणोदाहरण से इसकी गति की टोह नहीं मिलती। फारसी की जिस बहर (मुफ़्त-अलन मुफ़ाइलुन) से नित के लय-साम्य की बात उन्होंने कही है और उदाहरण में जो शेर उद्धृत किया है,

मुतरिबे खुश न वा बगो। ताजा व ता जा नौ बनो।[3]

उससे हम नित छन्द की गति और गणक्रम का अन्दाजा लगा सकते हैं। शेर के प्रथम चरण में १३ और द्वितीय में १४ मात्राएँ हैं। रेखांकित वर्णों के ह्रस्वोच्चारण से दोनों चरण द्वादशमात्रिक हो जाते हैं और इसकी पाद-रचना तोमर के समान (अंतिम त्रिकल के अतिरिक्त) हो जाती है। तोमर का आरंभ पंचक (तगण या रगण आधार) से होता है और यदि चतुष्क आरंभ में होता है, तो पाँचवीं मात्रा लघु होती है।[4] ये दोनों नियम फ़ारसी के शेर पर पूर्णतया

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ४५।
[2] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २४८।
[3] छन्दःप्रभाकर, पृ० ४५ और २४४।
[4] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २४८।

घटित होते हैं। इस प्रकार नित छन्द तोमर का ही लगात्मक अथवा नगणात्मक अंतवाला एक रूप है। फिर सूरदास की निम्न पंक्तियाँ भी—

**सुनि धेनु धुनि थकि रहति। तृन दंतहूँ नहिं गहति।**

शास्त्रानुसार नित की ही पंक्तियाँ कही जायँगी। जब तोमर और नित एक ही छन्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं, तो दोनों के चरणों का सम्मेलन लय का व्याघातक नहीं हो सकता। किंतु, लीला छन्द तो षष्ठक के आधार पर चलने वाला है और तोमर से इसकी लय भी भिन्न है। कवि ने अपने अपूर्व छन्दःकौशल से इन दो ईषद् भिन्न लय वाले छन्दों को मिला दिया है। उसने लीला के चरणों में चार त्रिकल कहीं रक्खे हैं। सर्वत्र षष्ठक और दो त्रिकलों के योग से चरणों का निर्माण किया है। साथ ही इसके चरणांत में जगण का भी प्रयोग नहीं किया है, जो भानु के अनुसार लीला का सामान्य लक्षण है।[1] यदि चार त्रिकल और जगणांत वाला चरण रहता, तो तोमर और नित के साथ लय-मैत्री में कठिनाई उपस्थित हो जाती। किंतु, लीला के ऐसे चरण तोमर और नित में ऐसे घुल-मिले गये हैं कि दोनों की लय सहसा भिन्न नहीं प्रतीत होती। छन्दों का ऐसा सफल प्रयोक्ता आज तक केवल पदों का रचयिता ही कहलाता रहा।

## (२) लीला+हीर

लीला और हीर का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के केवल एक पद में हुआ है।[2] इस पद के प्रारम्भ में दो चरण हीर के हैं, शेष लीला के। हीर के दो चरण निम्नलिखित हैं—

**बहुत दिन गए ऊधौ, चरन कमल सुख नहीं।**
**दरस हीन दुखित दीन, छिन-छिन विपदा सही।**

दूसरा चरण हीर का (६-६-११) निर्दोष उदाहरण है। पहले को षष्ठक का आधार प्राप्त नहीं। 'बहुत दिननि गए उधौ' पाठ से षष्ठकाधार मिल जाता है।

लीला के सभी चरण शास्त्रानुकूल हैं, केवल कुछ वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है। इस पद में विशेष रूप से ध्यातव्य यह है कि इसके तुक-प्रयोग में कवि ने नवीनता उपस्थित की है। इसके प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों में समान तुक है, तृतीय चरण तुक-विहीन है। जैसे—

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० ४५। [2] सूरसागर, पद ४२२३।

**रजनी अति प्रेम पीर, बन गृह मन धरै न धीर।**
**बासर मग जोवत उर, सरिता बही नैन नीर।**

छाया-युग में अन्त्यानुप्रास के क्रमायोजन कई प्रकार से हुए हैं, जिन्हें डॉ० शुक्ल ने दूरान्तर अन्त्यानुप्रास, आलिंगित अन्त्यानुप्रास, गुम्फित अन्त्यानुप्रास आदि अनेक नामों से अभिहित किया है।[1] प्राचीन काल में केवल दो प्रकार के क्रमायोजन प्रचलित थे। (क) या तो चारों चरणों में समान अन्त्यानुप्रास रहता था (जो कवित्त और सवैये के लिए अनिवार्य था) या (ख) प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरण समतुकांत होते थे। डॉ० शुक्ल ने पहले को ललित अन्त्यानुप्रास और दूसरे को युग्मक अन्त्यानुप्रास तो कहा, पर इस रुबाई अन्त्यानुप्रास का संकेत तक नहीं किया। जबकि आधुनिक काल में इस क्रमायोजन का भी काफी प्रचलन रहा है। प्रसाद की कामायनी के स्वप्न सर्ग में तथा बच्चन की मधुशाला में आद्योपांत इसी प्रकार का क्रमायोजन है। आधुनिक युग के पूर्व इस प्रकार का क्रमायोजन हिन्दी में एक प्रकार से दुर्लभ है। भारत में उमरखैयाम की 'रुबाइयात' के स्वर गूंजने के पूर्व अन्त्यानुप्रास का यह क्रमायोजन सूरदास के छन्दःप्रयोग की मौलिकता का प्रमाण है।

हीर और लीला दोनों ही षष्ठक के आधार पर चलते हैं। लय-साम्य होने के कारण दोनों का मिश्रित प्रयोग किया गया है।

## (३) चौबोला+चौपई

चौबोला और चौपई का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के २२ पदों में (सूरसागर २१, परि० १) हुआ है[2]। दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं। चौबोले के अन्त में ।ऽ और चौपई के अन्त में ऽ। होते हैं, बस दोनों में इतना ही अंतर है। इसीलिए दोनों का मिश्रण लय में बाधा उपस्थित नहीं करता। सूरसागर में यह मिश्रण किसी निश्चित सिद्धान्त के अनुसार नहीं हुआ है। अधिकांश चरण चौपई के ही हैं। बीच-बीच में चौबोले के चरण भी आ गये हैं। ऐसे मिश्रित प्रयोग की परम्परा सूर के पूर्व से ही चली आ रही है। गोरखनाथ ने सबदी में

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २२१-२४।
[2] परिशिष्ट (२)।

इन दोनों का मिश्रित प्रयोग किया है ।[1] विद्यापति[2] और कबीर[3] के पदों में भी ऐसे मिश्रित प्रयोग मिलते हैं । केशवदास ने रामचन्द्रिका में राज्य-श्री-निन्दा-प्रसंग में चौपई छन्द के अन्तर्गत चौपई और चौबोला दोनों का मिश्रित प्रयोग विशद रूप से किया है ।[4]

## (४) चौबोला+चौपाई

चौबोला और चौपाई का मिश्रण सूरसागर के ८ पदों में हुआ है । दोनों छन्द एक ही लय पर चलने वाले हैं । चौबोले के अन्त्य ।ऽ की जगह ऽऽ कर देने से चौपाई छन्द बन जाता है । अतः काव्य-प्रयोग में दोनों के चरणों का मिश्रण प्रायः देखा जाता है । विद्यापति ने एक पद में चौबोला, चौपाई और मानव का मिश्रित प्रयोग किया है ।[5] कबीर की रमैनी में चौपाई के साथ चौबोला भी प्रयुक्त हुआ है—

**तेल दीप में बाती रहै । ज्योति चीन्हि जे काजी कहै ।[6]**

सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्यों में तो चौपाइयों के बीच चौबोले का प्रचुर प्रयोग हुआ है ।

**दरब-दान देबै बिधि कहा । दान मोख होइ, दुःख न रहा ।**
**फिरि फिरि पानि ठाँव ओहि मरै । फेरि न निकसै जो तहँ परै ।[7]**

सूरदास के अतिरिक्त कृष्ण-भक्त कवियों में नन्ददास के विरह-मंजरी, रस-मंजरी तथा रूप-मंजरी में चौपाई के साथ चौबोले का प्रयोग पाया जाता है ।[8] तुलसी के मानस में भी चौपाइयों के बीच चौबोला दिखलाई पड़ जाता है ।[9] इस प्रकार

[1] गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल, सबदी १६, १९, ३६, ४३, ४९ आदि ।
[2] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद ५५, ११०, २३२, २३७, २६२ ।
[3] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद ४५, ८४, १६४, २३६, ३२६, ३४९, ३६२ ।
[4] रामचन्द्रिका—प्रकाश २३ ।
[5] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १० ।
[6] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास—रमैणी, पृ० २२३ ।
[7] जायसी ग्रंथावली : रामचन्द्र शुक्ल, पद्मावत—पृ० १७२ ।
[8] अष्टछाप परिचय : मीतल, पृ० २०५, २०६ ।
[9] पीछे चौबोला छन्द, पृ० ८५ ।

चौपाई और चौबोले के मिश्रण की जो परम्परा सूर के पूर्व प्रारम्भ हुई थी, वह उनके बाद भी चलती रही।

## (५) चौपई+चौपाई

चौपई और चौपाई का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के ३२ पदों में हुआ है। चौपाई के अन्तिम दीर्घ को लघु कर देने से चौपई छन्द बन जाता है। मूलतः एक ही छन्द होने के कारण दोनों का मिश्रित प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। सर्वप्रथम अपभ्रंश काव्य में ही इस प्रकार का मिश्रित प्रयोग उपलब्ध होता है—

**कावि णारि पड़िवोहइ णाहं। भग्गमाणे पइ जीवमि णाहं।**
**कावि णारि पड़िचुंवणु देइ। कोवि वीर अवहेरि करेइ।**[1]

इसमें प्रथम दो चरण चौपाई के और अन्तिम दो चौपई के हैं। गोरखनाथ के सबदी[2] तथा विद्यापति[3] और कबीर[4] के पदों में भी दोनों का मिश्रण पाया जाता है। कबीर की कड़वक-बद्ध रचना रमैणी में चौपाइयों के बीच केवल दो चरण चौपई के उपलब्ध होते हैं।[5] सूरदास के बाद तुलसीदास ने चौपई-चौपाई का मिश्रित प्रयोग गीतावली के एक पद में किया है।[6] रामचरितमानस में चौपई की पंक्ति कहीं नहीं मिलती।

## (६) चौपाई+उपवदनक

सूरसागर के एक पद की रचना चौपाई और उपवदनक के मिश्रित प्रयोग द्वारा हुई है।[7] इस पद में ३२ चरण हैं। प्रारम्भिक चार चरण उपवदनक के हैं और शेष २८ चौपाई के। चौपाई के द्विलघ्वन्त चरण के अन्तिम लघु को गुरु कर देने से उपवदनक छन्द बनता है। इस प्रकार एक ही लयाधार होने के

---

[1] हिन्दी काव्यधारा : राहुल, स्वयंभू रामायण ५६।३-५, पृ० ७८।
[2] गोरखबानी, पद ३२, ३८, ४५, ४७, ५५ आदि।
[3] विद्यापति की पदावली—बेनीपुरी—४, ६, २५, २७, ४६, ४८ आदि ३६ पद।
[4] क० ग्रं०—११, १५, २१ आदि ३६ पद। [5] क० ग्रं०—पृ० २२३।
[6] गीतावली : बाल० पद ३१। [7] सूरसागर, पद २२२५।

कारण दोनों का मिश्रण अत्यन्त सहज है। अपभ्रंश कवियों[1] तथा कबीर में भी[2] इस प्रकार का मिश्रण पाया जाता है।

## (७) चौपाई+हरिगीतिका

पद १६६० में १० पद हैं। इस पद का प्रारम्भ चौपाई से और अन्त हरिगीतिका से होता है। प्रत्येक चौपाई के बाद हरिगीतिका के चार चरण रक्खे गये हैं। चौपाई समप्रवाही छन्द है और हरिगीतिका सप्तक के आधार पर चलने वाली। अतः दोनों में लय-मैत्री नहीं। सूरदास के पूर्व इन दोनों का मिश्रित प्रयोग किसी ने नहीं किया। अवश्य विद्यापति ने चौपई की अर्द्धाली के साथ हरिगीतिका की अर्द्धाली रखकर एक पद की रचना की है। विद्यापति के पद में इन विषमलयात्मक छन्दों की पंक्तियां यों ही साथ-साथ रख दी गई हैं। एक छन्द की पंक्ति की आवृत्ति दूसरे छन्द के प्रारम्भ में करके लय में मैत्री स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया है। एक स्थल पर ऐसा कुछ संकेत अवश्य मिलता है। यथा—

**जारए मनसिज मार सर साधि।**
**चानन देह चौगुन हो धाधि।**
**सब धाधि आधि बेआधि जाइति**
**करिए धरँज कामिनी।**[3]

सूरदास ने अन्तिम चरण के भाव को हरिगीतिका के प्रारम्भ में दुहरा कर इन विषमलयात्मक छन्दों को अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल पर ऐसा गूँथ दिया है कि जैसे दोनों एक हो गये हैं।

**मिलि मन दै सुख आसन बैसे। चितवनि वारि किये सब तैसे।**
**ता परि पानि ग्रहन विधि कीन्हीं। तब मंडप भ्रमि भाँवरि दीन्ही।**
**तब देत भाँवरि कुंज मंडप, प्रीति ग्रंथि हिये परी।**
**अति रुचिर परस पवित्र राका, निकट बृन्दा सुभ घरी।**
**गाए जु गीत पुनीत बहुविध, वेद रुचि-सुन्दर ध्वनी।**
**श्री नंद-सुत वृषभानु तनया रास में जोरी बनी।**

---

[1]हिन्दी काव्यधारा : राहुल। स्वयंभू रामायण, पृ० ६२, धनपाल २६४ (देखिये—पीछे उपवदनक छन्द, पृ० ११०)।
[2]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद २२२।
[3]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २१५।

सूरदास का यह प्रयोग परवर्त्ती कवियों-द्वारा भी सम्मानित हुआ। तुलसीदास ने विनयपत्रिका के एक पद की रचना इसी शैली में की है।[1] रामचरितमानस में चौपाई के बाद जो हरिगीतिका छन्द आये हैं, उनके प्रारम्भ में चौपाई के अन्तिम चरण के भाव की आवृत्ति हुई है। जैसे—

**सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिवेक कटक सबु भागा।**
**भागेउ बिवेक सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।**

× × × ×

**सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी।**
**भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै।**[2]

गीतावली के जिस पद में दोहा और हरिगीतिका का मिश्रण हुआ है[3], उसमें भी यह आवृत्ति-प्रणाली अपनाई गई है। सूरदास के अनन्य अनुरागी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपने स्फुट काव्य 'रानी छद्म लीला' में चौपाई, सखी के अंतिम चरण के भाव की आवृत्ति हरिगीतिका के प्रारंभ में की है—

**सुनि वचन राधिका बोली। जिय गाँठि आपनी खोली।**
**जिय गाँठि आपनी खोलि राधा बात प्रीतम सों कही।**[4]

उनके 'प्रेमप्रलाप' के एक गीत में इसी ढंग से आवृत्ति-सहित गोपी छन्द और हरिगीतिका का मिश्रण हुआ है।[5] इस प्रकार सूरदास ने चौपाई-हरिगीतिका के मिश्रित प्रयोग की जिस परम्परा का प्रवर्त्तन किया, वह आधुनिक काल तक अक्षुण्ण रही।

## (८) प्रणय+कुण्डल

प्रणय और कुण्डल का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के ८ पदों (सूरसागर ७, परि० १) में हुआ है। कुण्डल के अन्तिम दीर्घ को लघु कर देने पर प्रणय छन्द बन जाता है। अतः प्रणय कुण्डल का ही एक प्ररोह है। इसीलिए दोनों के चरण सहज ही मिल सकते हैं। यों तो प्रणय-कुण्डल का मिश्रित प्रयोग

---

[1] विनयपत्रिका, पद १३६।

[2] रामचरितमानस : गीताप्रेस, शिव-विवाह-प्रसंग—पृ० ७८, ७६।

[3] गीतावली, बाल० ५, उत्तर० १६।

[4] भा० ग्रं०—रानी छद्म लीला, पृ० ६६५।

[5] भा० ग्रं०—प्रेमप्रलाप, पद ५३।

गोरखनाथ के एक पद में प्राप्त होता है[1], किन्तु, छन्दोदृष्टि से पद बहुत अस्त-व्यस्त है—मात्राओं का न्यूनताधिक्य प्रायः सभी चरणों में है।[2] कबीर ने कुंडल का तो प्रयोग किया है, पर प्रणय का नहीं। परिष्कृत रूप में प्रणय-कुंडल का मिश्रित प्रयोग सर्वप्रथम सूरदास ने ही किया है। तुलसीदास में कुण्डल और प्रणय मिलते हैं, पर दोनों का मिश्रित प्रयोग उपलब्ध नहीं।

## (६) उल्लास+सुखदा

सूरसागर के एक पद में उल्लास और सुखदा का मिश्रित प्रयोग हुआ है।[3] इन दोनों समप्रवाही छन्दों में केवल यति-स्थान का भेद है। अतः दोनों की पंक्तियों का आपस में घुल-मिल जाना सहज है। इन दोनों के संबंध में हम पीछे विस्तृत रूप से विचार कर आये हैं।[4]

## (१०) उपमित+उपमान

उपमित और उपमान का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के एक पद में हुआ है।[5] उपमान के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने पर उपमित छन्द बनता है। अतः एक का चरण दूसरे के साथ आसानी से चल सकता है। सूरदास के इस पद में प्रारम्भ में दो चरण उपमित के हैं, शेष उपमान के। कबीर के एक पद में उपमित का प्रयोग दोहा और सरसी के साथ हुआ है।[6] उपमान-उपमित का मिश्रित प्रयोग वहाँ नहीं मिलता। रैदास ने एक पद में अवश्य दोनों का मिश्रित प्रयोग किया है।[7] तुलसी ने भी एक पद की रचना दोनों के चरणों के मेल से की है।[8]

## (११) उल्लास+गीतिका

उल्लास के दो चरणों के साथ गीतिका के १२ चरणों का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[9] उल्लास रोला की अन्तिम दो मात्राओं को

---

[1]गोरखबानी : बड़थ्वाल—पद ३७। [2]पीछे प्रणय छन्द, पृ० १२१।

[3]सूरसागर, पद ६४६।

[4]पीछे सुखदा और उल्लास छन्द, पृ० १३८, १३६।

[5]सूरसागर, पद ३५५१। [6]कबीर बचनावली : हरिऔध, पद १७।

[7]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २८। [8]विनयपत्रिका, पद १०६।

[9]सूरसागर—पद ३४२८।

हटा देने से बनता है। अतः यह समप्रवाही है। गीतिका का आधार सप्तक है। इस प्रकार दोनों में लय की मैत्री नहीं है। इन दोनों विषम लयात्मक छन्दों के सम्मेलन में सूरदास ने आवृत्ति की वही प्रणाली अपनाई है, जिसे उन्होंने चौपाई और हरिगीतिका के मेल का आधार बनाया है। यथा—

कहा रही मन घालि न कछु अनुमानै जू। —उल्लास।
कहा मन में घालि बैठी भेद मैं नहिं लखि सकै। —गीतिका।

## (१२) उल्लास+सरसी

सूरसागर के एक पद के प्रारम्भ में दो चरण उल्लास के हैं, शेष सरसी के।[१] दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं, अतः दोनों का मिलन लय पर किसी प्रकार का आघात नहीं करता। उल्लास के अन्त में एक पंचक ( ।।ऽ। ) रख देने से (यति-स्थान को थोड़ा आगे हटा देने पर) सरसी छन्द बन जाता है। यदि उल्लास की निम्न पंक्ति के—

श्री हरि तिनके वेष सुकृत ब्रज बासिन के। (सुख रूप)

अन्त में 'सुख रूप' जोड़ दिया जाय, तो यह सरसी की पंक्ति हो जायगी। लयाधार एक होने के कारण दोनों का मेल सहज सम्भव है।

## (१३) रजनी+रूपमाला

रजनी-रूपमाला का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के २० पदों (सूरसागर १८, परि० २) में हुआ है। अधिकांश पदों में रजनी का एक ही चरण है, जिसकी तुक छन्दक के साथ मिली हुई है; शेष चरण रूपमाला के हैं। दो-एक पदों में ही रजनी के अधिक चरण हैं। रूपमाला के अन्तिम लघु को निकाल कर रजनी का आविष्कार हुआ है। अतः दोनों की लय का एक ही आधार है। रजनी-रूपमाला का मिश्रित प्रयोग सबसे पहले विद्यापति में मिलता है।[२] गुरु अर्जुन के एक पद में दोनों के चरण मिलते हैं।[३] भारतेन्दु ने भी एक पद में दोनों का मिश्रण किया है।[४]

---

[१] सूरसागर—पद ११०५।
[२] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी—पद १११, १४२।
[३] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १३।
[४] भा० ग्रं०—वर्षाविनोद, पद ८३।

## (१४) रजनी+मधुरजनी

सूरसागर के एक पद में मधुरजनी और रजनी का मिश्रित प्रयोग हुआ है।[1] प्रारम्भ में मधुरजनी के पाँच चरण हैं, शेष ७ चरण रजनी के हैं। इस प्रकार छन्दक-सहित यह पद १२ चरणों का है। रजनी के आदि में दो मात्राएँ रख देने से मधुरजनी छन्द बन जाता है। अतः इस पद में समान गति-वाले दो छन्दों का सम्मेलन अत्यन्त मनोहर है।

## (१५) रूपमाला+गीता

सूरसागर के ६ पदों में रूपमाला और गीता का मिश्रित प्रयोग हुआ है।[2] ये दोनों सप्तक के आधार पर चलने वाले एक ही परिवार के छन्द हैं। रूपमाला के प्रारम्भ में दो मात्राएँ रख देने से गीता छन्द बन जाता है। अतः इन दोनों का मेल सहज संभव है। इन दोनों के मिश्रित प्रयोग में रजनी-मधुरजनी के मिश्रण के समान कोई क्रम नहीं है। इसके पीछे कवि का सचेतन प्रयास लक्षित नहीं होता। रूपमाला की पंक्तियाँ लिखते-लिखते गीता की पंक्तियाँ भी यत्र-तत्र निःसृत हो गई हैं। यही बात विद्यापति[3] और कबीर[4] के ऐसे मिश्रित प्रयोगों के साथ भी कही जा सकती है। तुलसीदास की गीतावली[5] में प्रयुक्त रूपमाला और गीता के मिश्रण में भी यही प्रवृत्ति काम करती है। हाँ, यहाँ कवि का अभीष्ट गीता है, रूपमाला अनजाने आ गई है। भारतेन्दु ने प्रेमाश्रुवर्षण में एक पद की रचना गीता छन्द में ही की है[6], किन्तु, उसमें भी यत्र-तत्र रूपमाला के चरण समाविष्ट हो गये हैं। इस प्रकार रूपमाला-गीता के मिश्रण में किसी कवि का प्रयास लक्षित नहीं होता। लय की समानता के कारण एक के रचना-काल में दूसरे की पंक्तियाँ अनायास टपक पड़ी हैं।

---

[1]सूरसागर, पद ३०६।

[2]सूरसागर, पद ३४५१—५६, ६०, ३८४६, ४०४६, ४१७६, ४२०२ परि० १०६, १६२।

[3]विद्यापति की पदावली—पद ३७।

[4]क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास—पद २४५, २८०, ३०१, ३०६, ३१४ आदि।

[5]गीतावली—उत्तर पद १८।

[6]भा० ग्रं० प्रेमाश्रुवर्षण—पद २३।

## (१६) रूपमाला+समानसवैया

परिशिष्ट के एक पद में रूपमाला और समानसवैये का मिश्रित प्रयोग मिलता है।[1] इसके प्रारम्भ में पादाकुलक का छन्दक है, जिसकी तुक बाद के समानसवैये के चरण से मिली है। शेष चार चरण रूपमाला के हैं। समान-सवैये के उत्तरखण्ड और रूपमाला के पूर्वखण्ड का विम्बप्रतिविम्ब भाव है। यथा—

**तुम ही प्रान अधार स्यामघन तुम बिन दुतिया और न हेरे। (स० सवैया)**
**कान्ह मन वच तुम्हें चाहौं, करौं नाहीं मान। (रूपमाला)**

दोनों छन्दों की लय-विभिन्नता के बीच यही विम्बप्रतिविम्ब भाव आवृत्ति के रूप में सेतु का काम करता है, जिसके सहारे हम एक लय से दूसरी लय पर पहुँच जाते हैं।

## (१७) रोला+समानसवैया

रोला—समानसवैया छन्द का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के एक पद में हुआ है।[2] इस मिश्रण का आधार दोनों छन्दों की सममूलक समान गति है। प्रागाथिक रूप में रोला छन्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। कुण्डलिया और छप्पय के रूप में क्रमशः दोहा-रोला और रोला-उल्लाला का प्रागाथिक प्रयोग बहुत प्रचलित है। प्रतिभाशाली कवि प्राचीन नियमों को आधार मान कर ही नहीं चलता; वह सुविधानुसार नया मार्ग भी बनाता चलता है। रोला-समानसवैये का प्रागाथिक रूप ऐसा ही एक नूतन प्रयोग है। इस पद के आदि में दो चरण रोला छन्द के हैं, शेष चार चरण समानसवैये के। तुलसी साहब ने रोला छन्द के तीन और समानसवैये के एक चरण के मेल से जिस अनुच्छेद (stanza) का निर्माण किया है, वह अरिल्ल नाम से उल्लि-खित है, किन्तु अरिल्ल छन्द से उसका कोई सरोकार नहीं है। पद इस प्रकार है—

**रूप रेख नहिं नाम ठाम नहिं कहत अनामी।**
**नाम-रूप ते भिन्न भिन्न सोइ कहत बखानी।**
**सत्त नाम सतलोक सोक सब दूर बहावै।**

---

[1] सूरसागर, परि० पद ५१।　　[2] सूरसागर, पद ४६६४।

अरे हाँ, तुलसी तीन लोक में काल ताहि निर्गुन कहि गावै ।[1]

## (१८) विष्णुपद+सरसी

सूरसाहित्य में इन दोनों छन्दों का मिश्रित प्रयोग प्रचुर संख्या में विद्यमान है ।[2] विष्णुपद के अंत में एक लघु रख देने से सरसी छन्द बन जाता है । अतः भावाभिव्यक्ति की सुविधा के लिए दोनों का मिश्रण कवि-समाज बराबर करता आया है । सर्वप्रथम ऐसा मिश्रित प्रयोग विद्यापति में अवश्य मिलता है, पर वहाँ विष्णुपद की पंक्तियाँ बड़ी अस्तव्यस्त हैं—छन्दोनियम का पालन पूर्णतया नहीं हुआ है ।[3] कबीर में विष्णुपद-सार का मिश्रण मिलता है, पर विष्णुपद-सरसी का नहीं । सूरदास ने इन दोनों के मिश्रण में प्रायः एक क्रम बनाये रक्खा है । अधिकांश पदों में छन्दक के बाद एक ही चरण विष्णु-पद का है, जिसकी तुक छन्दक से मिली है । कुछ पदों में तीन चरण भी हैं ।[4] इस प्रकार विष्णुपद का प्रयोग विशेष रूप से पद के प्रारम्भ में ही हुआ है । कुछ ही पद ऐसे हैं, जिनमें विष्णुपद का प्रयोग सरसी के चरणों के बीच हुआ है ।[5] तुलसीदास की गीतावली के एक पद का प्रारम्भ भी इसी प्रकार छन्दक-सहित विष्णुपद से होता है । किन्तु, उसमें सरसी के बीच चार चरण विष्णुपद के और भी समाविष्ट हैं ।[6] भारतेन्दु के काव्य में विष्णुपद के जो प्रामाणिक रूप उपस्थित हैं, उन सबमें इसके चरण प्रारंभ में ही रक्खे गये हैं ।[7] सभी कवियों ने विष्णुपद के चरण प्रायः आदि में ही रक्खे हैं, इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि छन्दक के साथ आदि में विष्णुपद की समान-तुकान्त पंक्ति सांगीतिक सुविधा के लिए रक्खी गई है और बीच में जो इसकी पंक्तियाँ आ गई हैं, उनका उद्देश्य छान्दसीय सुविधा के साथ भावाभिव्यक्ति की सहजता भी है ।

---

[1]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, तुलसी साहित्य, पृ० ४८६ ।

[2]प्रबन्ध का परिशिष्ट—(१) और (२) ।

[3]विद्यापति की पदावली—बेनीपुरी, पद ११५ ।

[4]सूरसागर : पद ४१६३, ४४४२, २८४८ ।

[5]सूरसागर : पद ३५४३, ३८८६, ४०१६ (आदि+मध्य), ४६५६ ।

[6]गीतावली : बाल० पद ६० ।

[7]भा० ग्रं०—प्रेम मा० १, कार्तिक—१८, प्रेमाश्रु—२७, प्रेमप्रलाप—२०, ३० विनय प्रेमपचासा—६ ।

## (१९) विष्णुपद+सार

विष्णुपद-सार का मिश्रण सूरसागर में विशद रूप से किया गया है।[1] विष्णुपद के अन्त में दो मात्राएँ रख देने से सार छन्द बनता है। एक ही सममूलक प्रवाह पर चलने वाले दो छन्दों का मिश्रण कवि-प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्दसंकट का परिणाम भी हो सकता है, किन्तु इस मिश्रण द्वारा कवि समरसता को मिटाकर भावों को जो एक नया मोड़ देता है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। सूरदास के निम्नांकित पद के—

> इहिं उर माखन चोर गड़े।
> अब कैसे निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े।
> जदपि अहीर जसोदा-नंदन, कैसे जात छंड़े।
> ह्वाँ जादवपति प्रभु कहियत हैं, हमें न लगत बड़े।
> को वसुदेव-देवकी-नंदन, को जानै को बूझै।
> सूर नंद नंदन के देखत, और न कोऊ सूझै।[2]

हाकलि-निबद्ध छन्दक-सहित विष्णुपद के प्रारम्भिक तीन चरणों में गोपियाँ अपनी विवशता का निवेदन करती हैं। चौथी पंक्ति के अंतिम भाग में (हमें न लगत बड़े) उनका स्वर कुछ तीव्र होता है और सार के अन्तिम दो चरणों में उनकी सारी खीझ उद्धव पर जैसे बरस पड़ती है। भावों को यह मोड़ कवि छन्द के परिवर्त्तन द्वारा बड़ी आसानी से दे देता है। खीझ की उत्कट तीव्रता का अभिव्यंजन विष्णुपद के द्वारा संभव नहीं था। उसके दशमात्रिक खंड के लगात्मक अन्त में खीझ फुहारे के जल की तरह झरझरा पड़ती, घनीभूत होकर उस तरह बरस नहीं पाती, जिस प्रकार सार के द्वादशमात्रिक द्विगुर्वन्त खंड में बरस पड़ती है। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि एक लयाधार पर दो छन्दों का मिश्रण केवल छान्दसीय सुविधा के लिए होता है। भाषा पर अधिकार रखनेवाला कवि चाहे तो एक पद क्या, सम्पूर्ण काव्य एक ही छन्द में निबद्ध कर सकता है। पर वह तो भावों की गतिविधि का भी जानकार है। अतः वह उनके अनुकूल ही छन्दोयोजना करता है।

विष्णुपद और सार के मिश्रण में भी सूरदास ने विष्णुपद को अधिकांश पदों के प्रारम्भ में ही रक्खा है। कुछ ही पद ऐसे हैं, जिनके आदि में

---

[1]प्रबन्ध का परिशिष्ट (१) और (२)। [2]सूरसागर—४३४९ पद।

सार का प्रयोग हुआ है ।[1] कबीर के ऐसे प्रागाथिक पदों में भी आदि में विष्णुपद ही मिलता है ।[2] परमानन्द के एक मिश्रित पद में भी यही क्रम है ।[3] किन्तु, तुलसीदास के एक पद का प्रारम्भ विष्णुपद से नहीं, सार से होता है; और उसकी समाप्ति भी सार से ही होती है, बीच में विष्णुपद के चार चरण रख दिये गये हैं ।[4]

## (२०) विष्णुपद+ताटंक

विष्णुपद और ताटंक के चरणों का मिश्रण सूरसागर के दो पदों में हुआ है । पद ४१८९ में प्रारम्भिक चरण ताटंक का है, शेष ७ विष्णुपद के । परिशिष्ट के पद में केवल चार चरण हैं । पहला विष्णुपद का है, शेष तीन ताटंक के । विष्णुपद में २६ और ताटंक में ३० मात्राएँ होती हैं; किन्तु दोनों का लयाधार एक ही है । इसलिए दोनों के चरण आपस में मिल गये हैं । भावों की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रथम पद के प्रारम्भ में कवि को एक सामान्य कथन करना था—

**स्याम बियोग सुनौ हो मधुकर, अँखियाँ उपमा जोग नहीं ।**

इसके लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता थी, इसीलिए ताटक का प्रयोग किया । फिर अपने कथन की सार्थकता उदाहरण-द्वारा सिद्ध करनी थी, जिसके लिए विष्णुपद पर्याप्त था, अतः उसका ही प्रयोग किया—

**रूप-सरोवर के बिछु कहुँ जीवत मीन मही ?**

इस पद के विपरीत दूसरे पद में ( परि० ११४ ) कथ्य की लघुता ने (घन बरस्यौ क्यों न करै) कवि से विष्णुपद का प्रयोग कराया । वर्षा-वर्णन के लिए अपेक्षाकृत विस्तृत भूमि चाहिये । अतः शेष तीन चरणों में कवि ने ताटंक को स्थान दिया । इस प्रकार भावुक सूर ने सर्वत्र वर्ण्यवस्तु और भावों को परख कर छन्दोयोजना की है । कवि चाहता तो प्रारम्भिक विष्णुपद के चरण में चार मात्राएँ जोड़कर—

**हौं समीप लालन के अब घन बरस्यौ (ब्रज में) क्यों न करै ।**

सहज ही ताटंक का चरण बना लेता । किन्तु, सूरदास ने व्यर्थ शब्दों-द्वारा

---

[1]सूरसागर, पद ३७८८, ४२१२, ४५१८ ।

[2]क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास : पद ५४, २६९ ।

[3]अष्टछाप परिचय : मीतल, पद १७ । [4]विनयपत्रिका : पद ९२ ।

पाद-पूर्त्ति का प्रयास नहीं किया। काल-पात्र के अनुसार भावों की अभिव्यक्ति जितनी मात्राओं में हो जाती है, वे ही यथेष्ट हैं। इसीलिए किसी-किसी पद में कई छन्दों का मिश्रण हो गया है।

कबीरदास के एक पद में इसी प्रकार विष्णुपद, सार, ताटंक तथा समानसवैया सब के चरणों का मिश्रण है।[1]

## (२१) गीता+सरसी

> **अब देखि लै री स्याम कौ मिलनौ बड़ी (है) दूरि।**
> **मधुवन चलत कहत है सजनी, इन नैननि की भूरि।**
> **टाढ़ी चितवै छाँह कदम की, उड़त न रथ की धूरि।**
> **सूरस्याम-प्रभु तुम्हारे दरस बिनु, बिरह रह्यौ मन पूरि। —पद ३५७६**

इस प्रकार का मिश्र छन्द सूरसागर में एक ही है। इसकी पहली पंक्ति गीता छन्द की है, जिसमें १४-१२ के विश्राम पर २६ मात्राएँ होती हैं। छन्दो-रक्षा के लिए कोष्ठक का 'है' हमारी ओर से जोड़ा गया है। शेष तीन पंक्तियाँ सरसी की हैं। सरसी और गीता दोनों भिन्न वर्ग के छन्द हैं। सरसी चौपाई के आधार पर चलने वाला समप्रवाही छन्द है और गीता छन्द सप्तक के आधार पर चलने वाला गीतिका-हरिगीतिका-वर्ग का। पर सूरदास की छान्दस प्रतिभा नें इन दोनों विषमलयात्मक छन्दों का मेल सहज कर दिया है। विलंबित गति-वाली (रुक-रुक कर चलनेवाली) प्रथम पंक्ति के बाद त्वरा-युक्त शेष पंक्तियों का प्रयोग भावानुकूल हुआ है। कृष्ण से वियुक्त होने वाली गोपी हृदय में दबी हुई कृष्णादर्शन की लालसा को कुछ लाज-संकोच और कुछ अदृष्ट भय से सखी पर धीरे-धीरे प्रकट कर रही है। यह बोलते-न-बोलते कृष्ण का रथ बहुत दूर निकल जाता है। बस, उसका भाव लज्जा-भय के बंधन को झटककर अश्वगति से दौड़ पड़ता है। भावों की इस द्रुतगति को संभालना गीता के बूते की बात नहीं। इसीलिए इसके लिए सरसी छन्द का प्रयोग किया गया।

दो समात्मक छन्दों के मिश्रण के संबंध में कवि-प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट का सिद्धान्त बहुत दूर तक चरितार्थ हो सकता है; किन्तु, इन दो विषमलयात्मक छन्दों का मेल कवि के सचेतन प्रयास का ही परिणाम है, और ऐसा उसने भावों की अनुकूलता के लिए ही किया है।

---

[1] क० ग्रं०—पद १६६।

## (२२) गीतिका + सार

स्यामा प्यारी बोलन लागे तमचुर; घटि गई रजनी।
(ए) री वै मनमोहन ठाढ़े, ब्रजनायक सुनि सजनी।
ठाढ़ है हरि कुंज द्वारें, ललित बेनु बजाइ हो।
सुनत कैसे रहित, कैसे तोहिं भवन सुहाइ हो। —पद ३४१८

सार और गीतिका का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के १० चरणों वाले इसी एक पद में हुआ है। प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ सार की हैं और शेष ८ पंक्तियाँ गीतिका की। कोष्ठक का 'ऐ' छन्दोरक्षार्थ जोड़ा गया है। सार और गीतिका ये दोनों भिन्न-भिन्न लय पर चलनेवाले छन्द हैं। सार समप्रवाही है और गीतिका का आधार सप्तक (ऽ।ऽऽ) है। इन दोनों छन्दों की मैत्री के लिए कवि ने भावावृत्ति की वही प्रणाली ग्रहण की है, जो उसने चौपाई-हरिगीतिका के मेल के लिए अपनाई थी। इन दोनों छन्दों में भी भावों का द्वैविध्य स्पष्ट झलक रहा है। सार जैसे समप्रवाही छन्द में सखी राधा को झटपट परिस्थिति का ज्ञान करा देती है और फिर विलंबित गति वाली गीतिका में रुक-रुक कर धीरे-धीरे 'कछू नेह प्रीति न जानहू' 'काहे न चित कछु आनहू' जैसे मीठे वचनों से उसका प्रबोधन करती है।

समलयात्मक छन्दों के चरणों के मेल से बने प्रागाथिक पद तो अनेक कवियों में मिल जाते हैं, पर विषमलयात्मक छन्दों के चरणों के योग से प्रगाथ छन्द की सृष्टि करने वाला कोई भावुक ही होता है। सूरदास ऐसे ही भावुक कवि थे। इनके पूर्व विद्यापति ने एक पद में ऐसा प्रयास-किया था[१] और इनके पश्चात् तुलसीदास ने भी कुछ ऐसे प्रयोग किये।[२]

## (२३) सरसी + सार

सूरसाहित्य में लगभग ६०० पद ऐसे हैं, जिनमें सरसी और सार का मिश्रण हुआ है। ये दोनों छन्द एक ही वर्ग के हैं। सार से सरसी में एक मात्रा कम है, बस इतना ही दोनों में अन्तर है। इसीलिए भावाभिव्यक्ति की सुविधा के लिए कवि दोनों का मिश्रित प्रयोग बराबर करते आये हैं। सूरदास के ऐसे मिश्रित पदों में इन दोनों के प्रयोग-क्रम को ढूँढ़ना व्यर्थ है। यहाँ वैसा कोई

---

'और'[२]—पीछे चौपाई + हरिगीतिका छन्द, पृ० ३४७।

क्रम नहीं पाया जाता, जैसा विष्णुपद-सरसी अथवा विष्णुपद-सार के मिश्रण में प्राप्त होता है। छान्दसीय सुविधा तथा छन्दोनुकूल भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवि कभी सरसी के और कभी सार के चरणों को रखता चला गया है। एक ही पद में सरसी और सार के प्रयोग द्वारा कवि ने भावों को जो मोड़ दिया है, उसका उदाहरण हम पीछे दे आये हैं।[1] सार के पाद का अन्त सरसी के समान गुरु-लघु से नहीं हो सकता, अतः इन दोनों के चरण एक अर्द्धाली में उस प्रकार नहीं रक्खे जा सकते, जिस प्रकार विष्णुपद और ताटंक के।

सार-सरसी का प्रागाथिक रूप गोरखनाथ के कुछ पदों में दिखलाई पड़ता है।[2] विद्यापति ने ४१ पदों में सार-सरसी का मिश्रित प्रयोग किया है।[3] कबीर के कुछ पदों में भी दोनों का मिश्रण हुआ है।[4] तुलसीदास में भी ऐसे मिश्र पद उपलब्ध होते हैं।[5] भारतेन्दु के काव्य में भी सार-सरसी से बने प्रागाथिक पद बहुलता से मिलते हैं।[6] सार-सरसी के मिश्रण की परम्परा गोरखनाथ से प्रारम्भ होकर आधुनिक काल तक चलती रही। दिनकर के 'रश्मि-रथी' का पूरा प्रथम सर्ग सार और सरसी की अर्द्धालियों के योग से निर्मित अनुच्छेदों में ही लिखा गया है।

## (२४) सरसी+ताटंक

सरसी-ताटंक का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के दो पदों में हुआ है।[7] इन दोनों पदों में दोनों छन्दों के चरणों को रखने का एक ही ढंग है। सर्वप्रथम हाकलि का चरण छन्दक-रूप में रक्खा गया है। उसके बाद ताटंक का एक

---

[1]पीछे सरसी छन्द, पृ० २०२।

[2]गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल—पद ३१, ४२।

[3]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १, २०, २८, ४५, ५३ आदि।

[4]क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास—पद १, ६, २२, ८१, २०५, परि० ७०, १०५, ११७।

क० व०—हरिऔध—पद—६, २३।

[5]विनयपत्रिका, पद ७३, ६८, १०२, गी०, सुं० २२, कृष्णगी० १८, ४३।

[6]भा० ग्रं०—प्रेममालिका, ४, ५८, ६२, ६८, ७५, ७६, ८६।

[7]सूरसागर, पद २८६६, परि० ५।

चरण है। फिर सरसी के चार चरण हैं। भाव-स्थापन की दृष्टि से भी दोनों में समानता है। दोनों के छन्दक में (नैन बसे बस मोहन तें। राधा माधौ दोय नहीं) एक सामान्य कथन किया गया है। प्रथम पद में सामान्य कथन के बाद—

**ज्यों कुरंग बस होत नाद के, टरत नहीं ता गोहन तें।**

इस लम्बे ताटंक के चरण-द्वारा गोपी जैसे अपने हृदय की सारी बातों को आगे रख देती है, और फिर सरसी के चार छोटे चरणों में अनेक उदाहरणों-द्वारा सामान्य कथन की पुष्टि करती है।

परिशिष्ट के पद में ताटंक के चरण-द्वारा वेद-पुराण के वचनानुसार राधा-माधव की एकता की स्थापना की जाती है, और सरसी के छोटे चार चरणों में लोगों को भ्रम में नहीं पड़ने की बात कह कर अवतार का रहस्य समझाया जाता है। जब हमें किसी को कुछ समझाना होता है, तो मुख्य बात झटपट कह डालते हैं। फिर साँस खींचकर उसे विस्तृत रूप में व्यक्त करते हैं और फिर उन्हीं कही बातों को अनेक छोटे-छोटे वाक्यों में उदाहरण देकर समझाते हैं। छन्दों के छोटे बड़े चरणों के प्रयोग में यहाँ यही मनोवैज्ञानिकता काम कर रही है।

छन्दोदृष्टि से देखने पर इन दोनों छन्दों का सम्मेलन बड़ा ही सुखद है; क्योंकि ये दोनों छन्द एक ही वर्ग के हैं। सरसी में २७ और ताटंक में ३० मात्राएँ, बस इस अन्तर के अतिरिक्त दोनों में लय, यति, आदि को लेकर पूरा साम्य है।

## (२५) सरसी+वीरछन्द

सरसी-वीरछन्द का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के ३ पदों में हुआ है।[1] दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं। सरसी के उत्तर खंड के आदि में एक चतुष्कल रख देने से वीरछन्द बन जाता है। अतः दोनों के चरणों का मेल आसानी से हो जाता है। सूरसागर के पद में पहले चौपई का छन्दक है, फिर वीरछन्द का एक चरण है। शेष चारों चरण सरसी के हैं। परिशिष्ट के दोनों पदों में चौपई के छन्दक के बाद सरसी के, एक में पाँच और दूसरे में तीन चरण हैं। उसके बाद वीर के क्रमशः चार और दो चरण हैं। सम लय और समतुकान्तता के कारण

---

[1]सूरसागर, पद ४६४२, परि० २००, २३६।

सरसी और वीर का मिश्रण एक अर्द्धाली में भी कवि-समुदाय-विहित है। विद्यापति के पदों में अन्य छन्दों के साथ सरसी और वीर के चरणों का मिश्रण एक ही अर्द्धाली में हुआ है[१]—

तपन क ताप तपल भेल महि तल
तातल बालू दहन समान। } वीर

चढ़ल मनोरथ भामिनि चल पथ
ताप तपल नहिं जान } सरसी

—पद ११६।

कबीरदास ने भी एक पद में सरसी और वीरछन्द का मिश्रित प्रयोग इसी रूप में किया है—

चरनकमल जाके रिदै बसै सो जन क्यों डोलै देव। —सरसी

मानो सब सुख नवनिधि ताके, सहजि सहजि जस बोलै देव।[२] —वीरछन्द

नानक के एक पद में भी इन दोनों का मिश्रण एक ही अर्द्धाली में हुआ है।[३] कृष्णभक्त कवियों में सूरदास के अतिरिक्त परमानंद[४], गोविन्दस्वामी[५], नंददास[६], छीतस्वामी[७] तथा चतुर्भुज[८] ने भी अपने पदों में सरसी-वीर का मिश्रित प्रयोग प्रस्तुत किया है। तुलसीदास में सरसी-वीर का प्रगाथ-रूप उपलब्ध नहीं। मीराबाई के केवल एक पद में दोनों का मिश्रण पाया जाता है।[९] भारतेन्दु ने भी कई पदों में दोनों का मिश्रण किया है।[१०] इस प्रकार विद्यापति से भारतेन्दु तक पदों में सरसी-वीर के मिश्रण की परम्परा बराबर चलती मिलती है।

---

[१] वि० प०—रामवृक्ष बेनीपुरी, पद ११६, १८४।

[२] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, परि० पद ६८।

[३] संतकाव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पद १५।

[४] अष्टछाप परिचय : मीतल—पद २१।

[५] अष्टछाप परिचय : मीतल—पद २५।

[६] अष्टछाप परिचय : मीतल—पद १।

[७] अष्टछाप परिचय : मीतल—पद २।

[८] अष्टछाप परिचय : मीतल—पद २७ (सार-सरसी के साथ वीरछन्द का एक चरण)।

[९] मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी—पद १२२।

[१०] भा० ग्रं०—प्रेममालिका : पद २४, वर्षाविनोद, पद १०।

## (२६) सरसी+समानसवैया

सरसी और समानसवैया छन्दों का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के एक ही पद में पाया जाता है।[1] दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं। सरसी में २७ और समानसवैये में ३२ मात्राएँ होती हैं। यही पाँच मात्राओं की वृद्धि सरसी को समानसवैया बना देती है।

इस पद में चौपाई के छन्दक के बाद एक चरण समानसवैये का है। फिर चार चरण सरसी के हैं। इन दोनों छन्दों के मिश्रित प्रयोग की परम्परा नहीं मिलती। सूरदास के पूर्व और पश्चात् किसी ने ऐसा प्रयोग नहीं किया। इन्होंने भी ऐसा प्रयोग केवल एक पद में ही किया है। वस्तुतः ऐसा प्रयोग बहुत रुचिकर नहीं प्रतीत होता। इसका कारण दोनों के चरणों की पारस्परिक लघुता-दीर्घता में खोजा जा सकता है। पंचाधिक मात्रापादी समानसवैया और सरसी के भावों में एकतानता नहीं रह पाती। दूर तक फैले हुए भावों को समेट कर, सरसी के साथ उसके सामंजस्य की चेष्टा भी दोनों की पादांतभिन्नता के कारण सफल नहीं हो पाती। पादांत-समता के कारण ही सरसी-वीर का मिश्रण कवियों के बीच प्रिय हो सका। पादांत-वैषम्य के बावजूद सार-सरसी का मिश्रित प्रयोग प्रचुरता से हुआ, इसका कारण यही है कि इन दोनों की पादगत लंबाई प्रायः समान है। सार-समानसवैये के प्रयोग की अपेक्षाकृत बहुलता का कारण बहुत कुछ दोनों के पादांत की समानता ही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पादगत लम्बाई की विषमता तथा पादांतभिन्नता ने ही दोनों के पारस्परिक मिलन में बाधा पहुँचाई। इसी से एक ही लयाधार पर चलने वाले इन दो छन्दों के मिश्रण की ओर कवि-समाज उन्मुख नहीं हुआ।

## (२७) सार+मरहटामाधवी

**पहिलें प्रनाम नंदराइ सौं।**
**ता पाछे मेरौ पा लागन, कहियौ जसुमति माइ सौं।**
**बार एक तुम बरसाने लौं जाइ सबैं सुधि लीजौ।**
**कहि वृषभानु महर सौं मेरौ, समाचार सब दीजौ।**
**श्रीदामादि सकल ग्वालनि कौ मेरौ कोतौं भेंट्यौ।**
**सुख संदेश सुनाइ सबनि कौ दिन-दिन कौ दुख मेट्यौ।**

---

[1] **सूरसागर, पद १०१८।**

मित्र एक मन बसत हमारैं, ताहि मिलैं सुख पाइहौ।
करि-करि समाधान नीकी विधि, मोकौं माथौ नाइहौं।
डरपहु जनि तुम सघन कुंज मैं, हैं तहँ के तरु भारी।
बृन्दावन मति रहति निरंतर, कबहुँ न होत निनारी।
ऊधौ सौं समुझाइ प्रगट करि, अपने मन की बीती।
सूरदास स्वामी सौं छल सौं कही सकल ब्रज-प्रीती। —पद ४०६७

छन्दक का चरण उज्ज्वला मात्रिक है।[1] उसके बाद एक चरण मरहटा-माधवी का है, जिसकी तुक छन्दक के साथ मिली है। फिर सार के चार चरणों के बाद दो चरण मरहटामाधवी के हैं। अंत में सार के चार चरण हैं। सार और मरहटामाधवी एक ही परिवार के छन्द हैं। उससे इसमें एक मात्रा अधिक है। अतः दोनों छन्दों का मेल सहज संभव है। भाव की दृष्टि से इन दोनों का मिश्रण अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। छन्दक और मरहटामाधवी के चरणों में यों तो सामाजिक शिष्टाचार के निर्वाह की बात कही गई है, पर इन दोनों पंक्तियों में कृष्ण के ब्रज नहीं जा पाने की सारी विवशता 'राइ सौं' 'माइ सौं' तुक के सहारे जैसे हाहाकार कर उठी है। उनके हृदय की पीड़ा जिस प्रकार 'राइ सौं' 'माइ सौं' से अभिव्यंजित हो पाती है, उस प्रकार 'रा सौं' 'मा सौं' ( यदि चरण सार के होते ) से नहीं हो पाती। अपनी विवश पीड़ा को अभिव्यक्त कर कृष्ण उद्धव से ब्रज में जा कर सबसे मिलने और सुख-संदेश देने को कहते हैं। यह वर्णनात्मक प्रसंग द्विगर्वन्त पाद वाले सार के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसी प्रसंग के बीच कृष्ण को राधा की याद आ जाती है और उनका मन मसोस कर रह जाता है। मन की इस गूढ़ व्यथा की अभिव्यक्ति सार द्वारा संभव नहीं जान कवि ने मरहटामाधवी के रूप में उस व्यथा को वाणी प्रदान की। फिर अपनी विवशता पर अधिकार प्राप्त कर सार छन्द में उद्धव से सघन कुंज में भयभीत नहीं होने को कहा तथा बृन्दावन से अपनी आत्मीयता प्रकट की। इस प्रकार भावानुकूल छन्दों का प्रयोग कर कवि ने अपनी भावुकता तो दिखलाई ही, यह भी सिद्ध कर दिया कि वह केवल राग-रागनियों में गाने योग्य पदों का ही रचयिता नहीं है, एक कुशल छन्दःप्रयोक्ता भी है।

सार-मरहटामाधवी का मिश्रित प्रयोग कबीर के तीन पदों में मिलता

---

[1] छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० ४८।

है ।[१] धन्ना भगत के एक पद में सार-मरहटामाधवी के साथ ताटंक के चरणों का भी मिश्रण है ।[२] परमानन्द के एक पद में इन दोनों छन्दों के साथ सरसी के भी दो चरण समाविष्ट हैं ।[३] तुलसी के पद-साहित्य में ताटंक-मरहटामाधवी का प्रागाथिक रूप मिलता है ।[४] भारतेन्दु ने भी सार-मरहटामाधवी का मिश्रित प्रयोग किया है ।[५]

## (२८) सार+ताटंक

सूरसागर में सार-ताटंक का मिश्रित रूप चार पदों में पाया जाता है ।[६] चारों पदों में दोनों के चरणों की स्थापना एक ही ढंग से हुई है । प्रारंभ में ताटंक के चरण हैं और बाद में सार के । सूरसागर के तीनों पदों में हाकलि के छन्दक-सहित ताटंक का एक-एक चरण है । परिशिष्ट में छन्दक नहीं है, दो चरण ताटंक के हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भाव को दृष्टि में रख कर ही कवि ने ऐसा मिश्रण किया है—अनजाने एक का चरण दूसरे के साथ नहीं आ गया है ।

सार-ताटंक का प्रागाथिक रूप में सर्वप्रथम प्रयोग विद्यापति ने किया है ।[७] कबीर के तीन पदों में दोनों का मिश्रण पाया जाता है ।[८] तुलसीदास ने विनयपत्रिका के एक पद की रचना-सार-ताटंक के मिश्रण से की है ।[९] ऐसा मिश्रित प्रयोग भारतेन्दु के भी एक पद में उपलब्ध होता है ।[१०]

## (२९) सार+वीरछन्द

सूरसागर के केवल एक पद में सार-वीर का प्रागाथिक रूप मिलता है ।[११] इसमें तीन चरण वीर छन्द के हैं । एक चरण की तुक चौपई छन्दक से

---

[१] क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास—परि० २४, ९१, १६० ।
[२] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २ ।
[३] अष्टछाप परिचय, पद १५ । [४] गीतावली : सु० पद ३८ ।
[५] भा० ग्रं० : जैनकुतूहल ६, रागसंग्रह ७४ ।
[६] सूरसागर, पद ६७१, २३२३, २६०१ परि० १२२ ।
[७] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १७४, २५१ ।
[८] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद १८३, २४४, २६७ ।
[९] विनयपत्रिका, पद २१ । [१०] भा० ग्रं०—प्रेमफुलवारी, पद ७९ ।
[११] सूरसागर, पद ३०६० ।

मिली है। अन्त में दो चरण सार के हैं। समप्रवाही होने के कारण दोनों के चरणों में लय-मैत्री तो है; किन्तु, कवियों ने इस प्रागाथिक रूप को नहीं अपनाया। सूर के पूर्व ऐसा प्रयोग नहीं मिलता। उन्होंने भी एक ही पद इस मिश्रित रूप में लिखा। इसका कारण दोनों के पादांत की वही भिन्नता और दोनों के चरणों की वही पारस्परिक लघुता-दीर्घता है, जिसका उल्लेख हम सरसी-समानसवैये के प्रकरण में कर आये हैं। पादान्त भिन्न होने पर भी ताटंक-वीर का मिश्रण विशेष रूप से इसीलिए हुआ कि दोनों की पाद-गत लंबाई प्रायः समान है।

## (३०) सार+समानसवैया

सार-समानसवैये का प्रागाथिक रूप सूरसागर के एक ही पद में मिलता है।[1] इस पद के प्रारंभ में समानसवैये के दो और फिर सार के चार चरण हैं। पादगत लम्बाई में असमान होने पर भी पादान्त-साम्य के कारण दोनों छन्द आपस में घुल-मिल जाते हैं। सार-समानसवैये के साथ ताटंक के चरण भी इसी कारण मिल जाते हैं। विद्यापति का वसंत-वर्णन समानसवैये से प्रारम्भ होकर ताटंक से गुजरता हुआ सार में समाप्त होता है—

**माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि**
**नवम मास पंचम हरु आई।** } समानसवैया

**मधुर महारस मंगल गावए**
**माननि मान उड़ाई हे।** } ताटंक

**बह मलयानिल ओत उचित हे**
**नव घन भओ उजियारा।** } सार।[2]

कबीर के एक पद में सार के बीच समानसवैये के दो चरण मिलते हैं।[3] उनके एक पद में सार के बीच ताटंक और समानसवैये की एक-एक पंक्ति आ गई है।[4] विद्यापति और कबीर के पदों में चाहे ऐसा मिश्रण सचेतन प्रयास का परिणाम नहीं हो, सूरदास ने चाहे ऐसा प्रयोग केवल एक ही पद में क्यों न

---

[1]सूरसागर, पद १७१७।

[2]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १७४।

[3]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुंदर दास, पद २६३।

[4]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुंदर दास, पद २६२।

किया हो; किन्तु पाद-गत मात्रिक असमानता के होते हुए भी पादान्त-समता के कारण एक ही लयाधार पर चलने वाले इन दोनों छन्दों के पारस्परिक मिलन की बहुत बड़ी गुंजाइश है। पादान्त-साम्य के कारण इन दोनों का मेल एक अर्द्धाली में भी हो सकता है। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्त कवियों ने इन दोनों का मिश्रण प्रायः अर्द्धाली में ही किया है।[1] तुलसी की गीतावली के एक पद में दोनों का मिश्रण हुआ है, जिसमें समानसवैये का एक ही चरण है, जिसकी तुक पादाकुलक के छन्दक के साथ मिली है।[2] भारतेन्दु ने भी कतिपय पदों में सार-समानसवैये का प्रागाथिक रूप प्रस्तुत किया है।[3] इस प्रकार सार-समानसवैये के मिश्रण की परम्परा विद्यापति से प्रारम्भ हो कर भारतेन्दु तक बराबर चलती रही।

## (३१) मरहटामाधवी+ताटंक

मरहटामाधवी और ताटंक का मिश्रण सूरसागर के एक ही पद में हुआ है।[4] इस पद का प्रारम्भ मरहटामाधवी के दो चरणों से और अन्त छः चरणों से होता है। बीच में १२ चरण ताटंक के हैं। पादांत-भिन्नता के कारण दोनों का मिश्रण एक अर्द्धाली में प्रायः नहीं होता, किन्तु, दोनों के दो-दो चरणों का मेल सहज सम्भव है, क्योंकि दोनों की लय का आधार सममूलक मात्रा-मैत्री है।

**आजु गई हौं नंद-भवन में, कहा कहौं गृह चैन री ।**
**घूमि रही जित-तित दधिमथनी, सुनत मेघ-धुनि लाजै री ।**

'लाजै' को 'लाज' कर देने से ताटंक की उपर्युक्त पंक्ति मरहटामाधवी की हो जायगी। दोनों छन्दों में इतना ही अंतर है।

मरहटा-माधवी-ताटंक का प्रागाथिक प्रयोग सर्वप्रथम नामदेव (सं० १३२६-१४०७)[5] के एक पद में मिलता है—

---

[1]अष्टछाप परिचय : मीतल, कुं० पद ४, २२, पर० ६, १६, छी० ३, चतु० २२। [2]गीतावली, बा० पद ४।

[3]भा० ग्रं०—प्रेममालिका ४६, रागसंग्रह २३,३८,६६, प्रेमफुलवारी ७१।

[4]सूरसागर, पद ७५७।

[5]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पृ० १२२-२३।

चकबी कउ जैसे सूरु बालहा, मानसरोबर हंसुला। — २६ मा०
जिस्र तरुणी कउ कंतु बालहा, तिउ मेरे मन रामईस्रा।[1] —३० मा०
(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

यहाँ मरहटामाधवी और ताटंक के चरणों का मेल एक अर्द्धाली में इसलिए संभव हो सका है कि दोनों के चरण रगणांत हैं। द्विगुर्वन्त पाद वाले ताटंक के साथ ऐसी बात नहीं हो सकती। नामदेव के बाद विद्यापति (सं० १४२५-१५३२)[2] ने निम्न पद में दोनों का मिश्रित रूप प्रस्तुत किया है—

ई सुख समय सहए एत संकट
अबला कठिन पराने रे

× ×

विद्यापति कह धिक-धिक जीवन
माधव निकरुन कंत रे।[3]

इसी प्रकार कबीर के एक पद में ताटंक और मरहटा-माधवी का अर्द्धाली-रूप में मिश्रण हुआ है।[4] धन्ना भगत के ताटंक-निबद्ध पद की अंतिम दो पंक्तियाँ मरहटा-माधवी की हैं।[5] तुलसी की गीतावली के मरहटा-माधवी-निबद्ध एक पद में एक ही अर्द्धाली में मरहटामाधवी और ताटंक दोनों के चरण मिल गये हैं—

उठि दाहिनी ओर तें सनमुख सुखद माँगि बैठक लई। —म० माधवी
नख सिख निरखि-निरखि सुख पावत, भावत कछु कछु और भई।[6]
—ताटंक

यद्यपि इन दोनों का मिश्रित प्रयोग भक्ति-काल में कवियों-द्वारा होता रहा, फिर भी इस प्रकार का मिश्रण छिटपुट रूप में ही हुआ। किसी कवि ने ऐसा मिश्रण प्रचुर परिमाण में नहीं किया। पादगत लंबाई की समानता के बावजूद इस ओर कवियों ने विशेष रुचि नहीं दिखाई, इसका कारण दोनों की पादान्त-विषमता (ताटंक के लगात्मक अंत के अतिरिक्त) ही है।

---

[1] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद ७।
[2] हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा, पृ० २८८।
[3] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी—पद २०१।
[4] क० ग्रं० : श्यामसुंदर दास, परि० ४१।
[5] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद २। [6] गीतावली : सुंदर—३८।

## (३२) ताटंक+वीरछन्द

ताटंक और वीरछन्द का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[१] प्रारम्भ में ताटंक के दो चरण हैं, शेष छः चरण वीरछन्द के हैं। दोनों छन्द एक ही लयाधार पर चलते हैं। वीरछन्द में ताटंक से एक मात्रा अधिक है, साथ ही पादांत में ऽ। की व्यवस्था है। पादान्त भिन्न होते हुए भी पादगत लंबाई की समानता के कारण दोनों का सम्मेलन बड़ा सुखद तथा मनोहारी है। यद्यपि पदों में ताटंक-वीर का प्रागाथिक प्रयोग प्रायः नहीं हुआ (सूरदास के पूर्व और पश्चात् भी ऐसा प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता) सूरदास ने भी ऐसा प्रयोग एक ही पद में किया, पर इसी के द्वारा वे जैसे परवर्त्ती कवियों को एक संकेत दे गये। ब्रजभाषा के कवियों ने इस संकेत की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु खड़ी बोली के कवियों ने इससे बहुत लाभ उठाया। आधुनिक युग के प्रबन्ध और मुक्तककारों ने जी खोल कर इसे अपनाया। इस युग में इसका प्रयोग-बाहुल्य देख कर ही डॉ० शुक्ल ने इसे 'ताटंक-वीर' कहने की सलाह दी।[२] हमारे विचार से इसे ताटंक-वीर द्वारा निर्मित मिश्र (प्रगाथ) छन्द कहना ही ठीक है। क्योंकि इस प्रकार फिर अनेक मिश्र छन्दों का नामकरण करना होगा और इससे छन्दों की संख्या में व्यर्थ ही वृद्धि होगी। आधुनिक प्रबन्धों में साकेत[३] और कामायनी[४] में इन दोनों का विशद किन्तु क्रमहीन मिश्रण हुआ है। निराला की 'यमुना के प्रति' कविता में सर्वत्र वीर छन्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु एक पद्य में दोनों का मिश्रित प्रयोग भी मिलता है—

**कहाँ छलकते अब वैसे ही ब्रज नागरियों के गागर ?**

× × ×

**अलकों को, किशोर पलकों को कहाँ वायु देती संवाद ?[५]**

पंत की 'अनंग' 'स्वप्न' 'छाया' 'बादल' आदि कविताओं में मनमाने रूप से दोनों की अर्द्धालियाँ आई हैं। 'नक्षत्र' शीर्षक कविता में तो इन दोनों का

---

[१]सूरसागर, पद १०४८।

[२]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : पृ० ३०४।

[३]साकेत—सर्ग ११। [४]कामायनी—चिंता और आशा सर्ग।

[५]परिमल, पृ० ३३।

क्रमबद्ध मिश्रण है—ताटंक की एक अर्द्धाली के बाद वीर छन्द की एक अर्द्धाली प्रयुक्त हुई है।[1]

## (३३) ताटंक+समानसवैया

ताटंक और समानसवैये का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[2] १४ चरण वाले इस पद में छन्दक के बाद समानसवैये का एक ही चरण है, शेष चरण ताटंक के हैं। सूरसागर के द्वितीय संस्करण में एक पद की प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

**जब प्यारी मन ध्यान धर्‌यौ है।**
**पुलकित उर, रोमांच प्रगट भए, अंचल टरि मुख उघरि पर्‌यौ।**

इन दो पंक्तियों के बाद समानसवैये के छः चरण हैं।[3] प्रस्तुत पाठ के अनुसार दूसरी पंक्ति ताटंक की कही जायगी और पद मिश्र-छन्द में निबद्ध माना जायगा। किन्तु, तृतीय संस्करण में दूसरी पंक्ति के अंत में 'पर्‌यौ है' पाठ है, जो तुक-साम्य के लिए आवश्यक है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण पद समानसवैये का हो जाता है और ताटंक-समानसवैये के चरणों के मेल से बना हुआ पद सूरसागर में एक ही रह जाता है।

ताटंक और समानसवैया दोनों का लयाधार एक है। अंत में दो मात्राओं के योग से ताटंक समानसवैया बन जाता है। अतः दोनों का मिश्रण सहज संभव है। पर इस मिश्रण की ओर कवियों की रुचि नहीं रही। तुलसी-दास ने गीतावली के केवल एक पद में सूरदास के समान ही प्रारम्भ में (छन्दक के बाद) समानसवैये का एक चरण रखा है।[4] आधुनिक काल में ऐसा प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। ताटंक और समानसवैया दोनों ही लम्बे पाद वाले छन्द हैं। कवियों को भावाभिव्यक्ति के लिए दोनों में विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। पादांत-साम्य के कारण दोनों के मिश्रण में ताटंक-वीर के मिश्रण की तरह मनोहारी विविधता की भी गुंजाइश नहीं। संभव है, कवियों ने इन्हीं कारणों से दोनों के मिश्रण का प्रयास नहीं किया। सूर और तुलसी के पदों में एक-एक चरण का आना अनायास मानना ही ठीक है।

---

[1] पल्लव—पृ० ३८, ५२, ६८, ६४, ८२।
[2] सूरसागर, पद ६९। [3] सूरसागर, पद २३३।
[4] गीतावली, लंका, पद १५।

## (३४) वीर+समानसवैया

वीर-समानसवैये का प्रागाथिक रूप सूरसागर के दो पदों में पाया जाता है।[1] दोनों में दो क्रम हैं। एक पद में छन्दक के बाद समानसवैये का एक चरण है, शेष चार चरण वीर-छन्द के हैं। दूसरे पद का प्रारम्भ समान-सवैये के एक चरण से (पहले पद की तरह) और अंत दो चरणों से होता है। बीच में दो चरण वीर छन्द के रखे गये हैं। इस प्रकार सूरदास का यह सचेतन प्रयोग माना जा सकता है। पर उनका यह प्रयोग प्रयोग ही रह गया। किसी कवि ने इस ओर रुचि नहीं दिखलाई। पादांत-वैषम्य के कारण मनोहारी विविधता तो इसमें आ जाती है, पर भावाभिव्यक्ति के लिए दोनों में पर्याप्त भूमि पा कर कवियों ने दोनों के मिश्रण की विशेष आवश्यकता न समझी हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

## (३५) झूलना+हंसाल

झूलना-हंसाल का मिश्रण सूरसागर के ३२ पदों में हुआ है।[2] वस्तुतः ये दोनों एक ही छन्द हैं। केवल यति-स्थान की भिन्नता के कारण आचार्यों ने दो नाम दे दिये हैं। झूलना में १०-१०-१०-७ पर यति होती है और हंसाल में २०-१७ पर। बस, दोनों में इतना ही अंतर है; इसीलिए दोनों की पंक्तियाँ आपस में आसानी से मिल जाती हैं। सूरसागर के ऐसे पदों में दोनों छन्दों के प्रयोग का कोई क्रम नहीं है। कवि भावानुसार दोनों के चरण रखता चला गया है।

सर्वप्रथम कबीर के एक पद में झूलना-हंसाल का मिश्र प्रयोग मिलता है—

> पाप पुन बीज अंकूर जामें मरें
> उपजि बिनसै जेती सर्बमाया (हंसाल)
> क्रितम करता कहैं, परम पद क्यूँ लहैं,
> भूलि भ्रम में पड्या लोक सारा (झूलना)[3]

---

[1] सूरसागर, पद ११६३, ४४१०।
[2] प्रबंध का परिशिष्ट (१) और (२)।
[3] क० ग्रं०—श्यामसुन्दर दास, पद १६६।

रैदास के एक पद में हंसाल के बीच निम्न चरण भूलना का माना जा सकता है—

**सक्ति संबंध कियो ज्ञान पद हरि लियो**
**हृदय विस्व रूप तजि भयो अंधा ।**[1]

इसी प्रकार कुंभनदास के एक पद में हंसाल के बीच एक चरण भूलना का मिलता है—

**जुवती जन जूथ संग, निर्तत अनेक रंग**
**निरखि अभिमान तजि काम लाजैं ।**[2]

तुलसीदास ने विनयपत्रिका में हंसाल के अनेक पद लिखे हैं। इन पदों में कहीं-कहीं भूलना के चरण भी मिल जाते हैं—

**तांडवित-नृत्य पर, डमरू डिंडम प्रवर,**
**असुभ इव भाति कल्यान रासी ।**

× ×

**नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेदगत**
**दास तुलसी संभु सरन आया ।**[3]

भारतेन्दु ने हंसाल में अनेक पदों की रचना की है, पर ढूँढ़ने पर भी कहीं कोई पंक्ति भूलना की नहीं दिखाई दी। हंसाल के लम्बे यति-खण्ड में भाव की अखण्ड धारा चलती है। इसके विपरीत भूलना में भाव छोटे-छोटे यति-खंडों में रुक-रुक कर चलता है। भाव-संचार की इस तीव्रता-मंथरता को दृष्टि में रख कर सूरदास ने एक ही पद में दोनों के चरणों का सम्मिश्रण किया है। यथा—

**गए जमुना-तीर, भई अति ही भीर,**
**देखि नंद तीर तुरतहि बुलाए ।** (भूलना)
**दियौ सिर पाव नृपराव नै महर कौं**
**आपु पहिरावने सब दिखाए ।** (हंसाल)
**अतिहि सुख पाइ कै, यों सिर नाइ कै**
**हरष नँदराइ के मन बढ़ाए ।** (भूलना)

---

[1]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १८ ।
[2]अष्टछाप परिचय : मीतल, पद २३ ।
[3]विनयपत्रिका, पद १० ।

**स्याम बलराम कौ नाम जब हम लियौ,**
**सुनत सुख कियौ उन कमल ल्याए। (हंसाल)**[1]

झूलना के दोनों चरणों में अनेक क्रियाओं के घटित होने के कारण भाव-संचार मंथर गति से होता है। इसीलिए पादान्तर्गत तुक की भी योजना है। हंसाल के दोनों चरणों में एक क्रिया दूसरी पर निर्भर करती है। अतः भाव की गति तीव्र है। इस प्रकार भाव के अनुरूप छन्दःप्रयोग का कौशल सम्पूर्ण सूरसागर में देखा जा सकता है।

## (३६) झूलना+करखा

झूलना-करखा का मिश्र प्रयोग सूरसागर के १२ पदों में हुआ है।[2] झूलना (१०-१०-१०-७) और करखा (८-१२-८-६) में केवल यति-स्थानों को ले कर अन्तर है। यति जिह्वा के विश्राम-स्थान को कहते हैं और बड़े छन्दों में जिह्वा अपने लिए विश्राम का स्थान निकाल लेती है। इसीलिए झूलना-करखा के चरणों का निर्धारण करना कभी-कभी बड़ा कठिन हो जाता है। फिर भी दोनों के चरणों को छाँट लेने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप १२ पद ऐसे निकले, जिनमें झूलना-करखा का मिश्रित प्रयोग पाया जाता है। इस मिश्रण में भी सूरदास ने कोई क्रम नहीं रखा है। भावों के अनुरूप दोनों के चरण रखते चले गये हैं। इन दोनों छन्दों में हंसाल की तरह भाव अखण्ड रूप से प्रवाहित नहीं होता, बल्कि यति-खंडों पर रुक-रुक कर चलता है। किन्तु जहाँ झूलना में भाव धीर भाव से समान दूरी पर चरण-निक्षेप करता हुआ चलता है, वहाँ करखा अस्तव्यस्त भाव से पग बढ़ाता हुआ—कभी छोटा और कभी लम्बा डग भरता हुआ अग्रसर होता है। इसीलिए कवि ने संयत भावों की अभिव्यक्ति झूलना में और अस्तव्यस्त भावों की करखा में की है। जैसे—

**घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन,**
**धरनि आकास चहुँ पास छायौ।**
**बरत बन-बाँस, धरहरत कुस काँस,**
**जरि उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।**[3]

---

[1]सूरसागर, पद १२०५। [2]प्रबंध का परिशिष्ट (२)।
[3]सूरसागर, पद १२१४।

इन पंक्तियों में बाँस के जलने, चटकने, कुशकास के जल कर ऊपर उड़ जाने, पृथ्वी से आकाश तक फैले हुए कोलाहलपूर्ण तथा भयावह वातावरण का चित्र कवि ने करखा द्वारा उपस्थित किया है। इस आग की लपट में फूल-फल चटखते हैं, वृक्ष लटक-लटक कर झुक जाते हैं। यह दृश्य अपेक्षाकृत कम रोमांचकारी है। अतः कवि ने छन्द बदल दिया। इसको झूलना में प्रस्तुत किया।

**झपटि झटपट लपट, फूल-फल चट चटकि,**
**फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।**

इस पंक्ति के बाद जब फिर घोर भयानक दृश्य सामने आया, तो कवि झूलना को छोड़ करखा पर उतर आया।

**अति अगिनि-झार, भंभार धुँधार करि,**
**उचटि अंगार झंझार छायौ।**

इसी प्रकार इन्द्र-द्वारा प्रेरित बादलों की भयानकता का चित्र करखा में उपस्थित किया गया है—

**तड़ित आघात तरसात, उत्पात सुनि,**
**नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपै।**

और ब्रजवासियों का कथन झूलना में अंकित किया गया है—

**कहा चाहत होन, भई कबहूँ जौ न,**
**कबहुँ आँगन मौन विकल डोलै।**[1]

शृंगारात्मक वर्णन में भी कवि ने दोनों छन्दों का प्रयोग दो तरह के भावों के लिए किया है। जहाँ सामान्य वर्णन तथा कथन है, वहाँ झूलना और जहाँ प्रेम की नोंक-झोंक है, वहाँ करखा का प्रयोग किया गया है। जैसे—

**कहाँ तुम रहत, कबहूँ दरस देत नाहिं, धोखे गए आइ**
**हम मानि लीन्हौं।** (करखा)
**नैन आलस भरे, चरन जुग लरखरे, कहा हौं डरे,**
**सो कहौ मों सौं।** (झूलना)
**रैनि कहँ बसे, तिय कौन सौं रसे हो, उर करज कसे,**
**सो कहौ मों सौं।** (करखा)[2]

इसमें खंडिता प्रमुदा के व्यंग्य-भरे कथन के लिए करखा और झूलना दोनों का प्रयोग किया गया है, पर जहाँ तीव्र व्यंग्य के लिए करखा का सहारा लिया गया

---

[1] सूरसागर, पद १४७३। [2] सूरसागर, पद ३३२२।

है, वहाँ कृष्ण के दशा-वर्णन के लिए झूलना का उपयोग किया गया है। इस प्रकार भावानुसार छन्दों में परिवर्त्तन होता गया है। भाव ही सूरदास के लिए सर्वोपरि है। इसीलिये उन्होंने छन्दों के प्रयोग में किसी निश्चित क्रम को महत्व नहीं दिया।

## (३७) हंसाल+करखा

हंसाल-करखा का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के एक पद में हुआ है।[1] इन दोनों के मिश्रण में भी कवि ने भावों पर कितना ध्यान रखा है, यह दर्शनीय है। इस पद में राधा के मान-भंग की असंभवता मिथ्याध्यवसिति अलंकार[2] के सहारे व्यंजित की गई है। पूरे पद में एक ही भाव है। एक भाव के रहते हुए भी कवि ने दो छन्दों के लिए दो प्रकार की सामग्रियों का चयन किया है। यथा—

**गह्यौ दृढ़ मान वृषभानु-बारी।**
**डुलै वरु स्वर्ग सुरपति सहित, सुरनि स्यों**
**डुलै कंचन-मेरु इहि निहारी।** (हंसाल)
**रैन रवि उवै, बासर चंद्र होइ वरु,**
**डुलैं सब नखत, यह होइ भावैं।** (करखा)
**धरनि पलटै तजै सिंधु मरजाद को**
**सेस सिर डुलैं, नहिं मान नावैं।** (हंसाल)
**बाँझ सुत जनैं, उकठो काठ पल्लवै,**
**विकल तरु फलै, बिनु मेघ पानी।** (करखा)
**सूर-प्रभु वरु अचल होइ चल, चलै,**
**मनहिं मन दूतिका कहति बानी।** (हंसाल)

जहाँ कवि ने देवताओं के साथ सुमेरु का डोलना, पृथ्वी का उलट जाना, सिंधु का मर्यादा तोड़ना आदि भयंकर घटनाओं की विराट् कल्पना की है, वहाँ हंसाल का प्रयोग किया है और जहाँ रात में सूर्य का उदित होना, दिन में चन्द्रमा का होना, वंध्या का पुत्र जनना आदि असंभव किन्तु भय-निरपेक्ष घटनाओं का कथन किया है, वहाँ करखा प्रयुक्त हुआ है।

---

[1] सूरसागर, पद ३४४२।
[2] अलंकार के लिए देखिये—काव्य-कल्पद्रुम भाग २, पृ० ३२५।

## (३८) लीला+महानुभाव+चौपाई

लीला, महानुभाव और चौपाई का मेल सूरसागर के एक पद में हुआ है।[१] ५० चरणों का यह एक लंबा पद है, जिसके एक के बाद दूसरे चरण के अंत में क्रमश: 'सरस रसहि फूल डोल' और 'संतनि हित फूल डोल' का प्रयोग छन्दक के रूप में हुआ है। इस छन्दक के पूर्व अधिकतर चरणों में लीला के दो समतुकांत चरण रखे गये हैं। जैसे—

**फूल फटिक खंभ रचित, कंचन ही फूल खचित**
**सरस रसहि फूल डोल।**
**पटुली नव रतन पचित, हीरा लाल मोती जटित,**
**संतनि हित फूल डोल।**

कुछ चरणों में लीला की जगह महानुभाव के समतुकांत चरण हैं—

**फूले फूलनि जोरत, फूले निमिष न मोरत,**
**संतनि हित फूल डोल।**

अंत के दो चरणों में चौपाई के दो-दो समतुकांत चरणों का उक्त दोनों छन्दकों के साथ प्रयोग हुआ है।

**सूरदास कैसे करि गावै, लीला-सिंधु पार नहिं पावै**
**संतनि हित फूल डोल।**

छन्दोदृष्टि से इस पद में यत्र-तत्र अनेक त्रुटियाँ हैं। कुछ का निराकरण तो संपादक ने 'फूली, फूले' शब्दों को कोष्ठक के अन्दर रख कर (छन्द से बाहर समझ कर) कर दिया है। कुछ वर्णों के ह्रस्वोच्चारण से दूर हो जाती हैं। जैसे उपरिलिखित पंक्तियों में रेखांकित 'ही' और 'मो' के ह्रस्वोच्चारण से मात्राधिक्य दूर हो जाता है। किंतु, कुछ चरण ऐसे भी हैं, जिनमें ह्रस्वोच्चारण का नियम काम नहीं करता। जैसे—

**फूले वृन्दावनऽनुकूल—१४ मा०—कज्जल छन्द।**
**फूली मधु मालती रेलि—१४ मा०—कज्जल छन्द।**
**फूली रोहिनि जसुदा रानि—१५ मा०—चौपई**
**गोपी झुलावति कान्ह झूलै—१६ मा०—हरिगीतिका का पूर्वांश।**

---

[१] सूरसागर, पद ३५३५।

कुछ द्वादशमात्रिक चरणों में लीला की किंचित् गूँज तो है, पर षष्ठक का स्पष्ट आधार उन्हें प्राप्त नहीं। जैसे—

**बजावैं मुरुंज रुंज—१२ मा०**

लीला की लय पर आधारित कतिपय चरणों में मात्राओं की न्यूनता या अधिकता भी विद्यमान है।

**बजावैं किनरि तार।—११ मा०**

**बजावैं गिरगिरी गार।+१३ मा०**

'किनरी' और 'गिरगिरि' कर देने से दोष दूर हो जाता है। ऐसे चरणों के लिए कौन दोषी है—कवि या लिपिकार? यह कहना कठिन है। जहाँ त्रुटि आसानी से दूर हो जा सकती है—जैसे 'फूले वृन्दाऽनुकूल' और 'फूली[?] मालती रेलि' वहाँ हम लिपिकर्त्ता को दोषी ठहरा सकते हैं। किन्तु जहाँ चरणों का सुधार इतना आसान नहीं, वहाँ तो कवि का स्खलन ही कहा जायगा।

## (३९) सखी+चौपाई+हरिगीतिका

सूरसागर के एक पद में[1] सखी, चौपाई और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस पद का प्रारम्भ चौपाई से तथा अंत हरिगीतिका से होता है। इस पद में चौपाई की अर्द्धाली के बाद हरिगीतिका रखी गई है। चौपाई के दूसरे चरण की आवृत्ति हरिगीतिका के प्रारम्भ में उसी प्रकार यहाँ भी की गई है, जैसे पद १६९० में। इस पद में चौपाई की अर्द्धाली की जगह सखी की दो अर्द्धालियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं और उसके दूसरे चरण की भी आवृत्ति उसी रूप में हुई है। पदपादाकुलक की अंतिम दो मात्राओं को हटा देने से सखी छन्द बन जाता है। अतः इसके चरण का भी हरिगीतिका के साथ मेल उसी आधार पर किया गया है, जिस आधार पर चौपाई-हरिगीतिका का।

## (४०) चोबोला+चौपई+चौपाई

सूरसागर के ७१ पदों में[2], अधिकांशतः वर्णनात्मक प्रसंगों में, चौबोला, चौपई तथा चौपाई का मिश्रित प्रयोग हुआ है। इनके प्रयोग में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। कवि सुविधानुसार तीनों की पंक्तियाँ यत्र-तत्र रखता चला गया है।

---

[1]सूरसागर, पद ४८०५। [2]प्रबंध का परिशिष्ट—(२)।

## (४१) चौबोला+चौपाई+उपवदनक

सूरसागर के एक पद[१] में चौबोला, चौपाई तथा उपवदनक का मिश्रित प्रयोग मिलता है। ३० चरणों के इस पद में ६ चरण चौबोला के, १८ चौपाई के तथा ६ उपवदनक के हैं। समप्रवाही होने के कारण तीनों का क्रमहीन मिश्रण भी लय में कोई बाधा नहीं पहुँचाता।

## (४२) चौपाई+गीतिका+हरिगीतिका

सूरसागर के दो पदों में[२] चौपाई, गीतिका और हरिगीतिका का प्रयोग हुआ है। इन दोनों पदों में भी एक पूरी चौपाई के बाद (केवल पद २४१२ के प्रारंभ में चौपाई के छः चरण हैं) हरिगीतिका-गीतिका के चार चरण उसी प्रकार रखे गये हैं, जिस प्रकार चौपाई-हरिगीतिका के मिश्रण में। चौपाई के अंतिम चरण की आवृत्ति भी उसी प्रकार पाई जाती है। पर जहाँ चौपाई हरिगीतिका के मिश्रण वाले पद में हरिगीतिका के ही चारो चरण हैं, वहाँ इन दोनों पदों में हरिगीतिका-गीतिका के चरण मिले-जुले हैं। हरिगीतिका-गीतिका के मिश्रण का कोई भी क्रम नहीं है। पद २४१२ में तो एक पद्य के आदि में हरिगीतिका का केवल एक चरण है, शेष चरण गीतिका के हैं। परिशिष्ट के पद की २४ पंक्तियों में १४ हरिगीतिका और १० गीतिका की हैं। इसके दूसरे पद्य में गीतिका का एक भी चरण नहीं है—चारों हरिगीतिका के हैं। इन दोनों छन्दों का क्रमहीन मिश्रण इस बात का प्रमाण है कि सूरदास को छन्दों का विशेष आग्रह नहीं था। जो भाव जिस छन्द के ढाँचे में ढल गया, उसको उसी छन्द में रख दिया।

## (४३) रूपमाला+गीता+गीतिका

इन तीनों छन्दों का मिश्रित प्रयोग परिशिष्ट के एक पद में हुआ है।[३] इस पद के आदि में छन्दक के रूप में दो पंक्तियाँ हैं, जो कुंडल के अंत में एक दीर्घ रख कर बना ली गई हैं—

**(ऐसे) ब्रजपति कौ अतिचित्र हिंडोरन भावै जू।**
**ब्रजललना स्यामा-सँग देखन को आवै जू।**

---

[१]सूरसागर, पद ४६६८। [२]सूरसागर, पद २४१२, परि० ४१।
[३]सूरसागर परि० १०६।

इसके बाद रूपमाला-गीता-गीतिका का मिश्रित प्रयोग है। यहाँ भी तीनों के चरणों का प्रयोग अनियमित रूप से हुआ है। अधिकांश चरण रूपमाला के हैं, बीच-बीच में गीता के चरण समाविष्ट हैं। रूपमाला की अंतिम अर्द्धाली के पहले गीतिका के केवल दो चरण हैं। एक ही लयाधार होने के कारण तीनों के चरण आपस में घुल-मिल गये हैं।

## (४४) विष्णुपद+सरसी+सार

इन तीनों छन्दों का मिश्रण सूरसाहित्य के ७१ पदों में हुआ है।[१] तीनों छन्द सममूलक लयाधार पर चलने वाले हैं। सब के चरणों में १६ पर यति होती है, केवल उत्तरखंड में दो-एक मात्राओं की कमी-बेशी है। अतः तीनों के चरण सहज-ढंग से मिल जाते हैं। इन तीनों के मिश्रण में भी कवि ने किसी नियम को नहीं अपनाया है। भावानुकूल्य और छन्दःसौविध्य ही इस अनियमितता के कारण माने जा सकते हैं।

## (४५) सरसी+सार+मरहट्टामाधवी

इन तीनों छन्दों का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के तीन पदों में हुआ है।[२] तीनों पदों में तीनों छन्दों के मिश्रण का कवि ने एक क्रम रखा है। सर्वप्रथम मरहटा-माधवी का चरण हैं। उसके बाद दो-दो चरण सरसी के हैं, शेष चरण सार के हैं। पद ४६१३ में मरहटामाधवी के दो चरण हैं। अन्य दोनों पदों में एक-एक ही चरण हैं, जिसकी तुक छन्दक से मिली है। गोपी-विरह से संबद्ध इन तीनों पदों में छन्दों के क्रम का यह नियोजन स्पष्टतः तत्तत् भाव-धारा की ओर संकेत करता है। मरहटा-माधवी के रगणांत चरणों के द्वारा गोपियाँ जैसे अपने हृदय की कसक को एक झटके से उद्धव के हृदय में पहुँचा देती हैं, ताकि आकस्मिकता के कारण उद्धव उसकी तीव्रता को समझ पायें। सरसी के दो गलात्मक अंत वाले चरणों में कृष्ण-क्रीड़ा की स्मृति से उत्पन्न वेदना को उनके आगे डाल देती हैं और सार के उच्छ्वसित पादांतों में या तो अपनी वर्तमानकालिक विवशता का चित्र प्रस्तुत करती है, या कृष्ण से मिलने का अनुरोध करती है।

---

[१] सूरसागर ६८ पद, परि०—१ पद साहित्य लहरी २ पद (देखिये परिशिष्ट)।

[२] सूरसागर, पद ४५४३, ४६१६, ४७०६।

## (४६) सरसी+सार+ताटंक

इन तीनों छन्दों का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के एक पद में हुआ है।[1] आदि में मानव का छन्दक है, जिसकी तुक ताटंक के चरण से मिली हुई है। उसके बाद सार के चार चरण हैं। शेष दो चरण सरसी के हैं। ताटंक के निम्नांकित चरण में—

**पापहि पाप धरा भई भारी, (जब) तब सुरनि पुकार कियो।**

स्पष्टतः दो मात्राओं की कमी है। तृतीय संस्करण में भी इसका सुधार नहीं हुआ। छन्दोरक्षा के लिए यहाँ 'तब' के पहले 'जब' होना चाहिये, जो अर्थ-संगति के लिए भी आवश्यक है। तीनों छन्द एक ही लयाधार पर चलने वाले हैं। अतः तीनों का मिश्रण पादांत-भिन्नता के कारण मनोहारी विविधता को उत्पन्न करता है।

## (४७) सरसी+सार+समानसवैया

इन तीनों छन्दों का मिश्रित रूप सूरसागर के छः पदों में[2] दिखलाई पड़ता है। सभी पदों में कवि ने समानसवैये के एक चरण को छन्दक के बाद रखा है। फिर सार तथा सरसी के चरण अनियमित रूप से आये हैं। छन्दक के साथ समानसवैये के अपेक्षाकृत लम्बे चरण में कवि ने अपने कथ्य का एक तरह से प्रस्तुतीकरण किया है—

**गए स्याम ग्वालिनि घर सूनें।**
**माखन खाइ, डारि सब गोरस, बासन फोरि किए सब चूनें।**

**—पद ९३५**

फिर उसी कथ्य की आनुषंगिक बातों का सार-सरसी के अपेक्षाकृत छोटे चरणों में उल्लेख कर वर्णन को मनोहारी बना दिया है—

**बड़ौ माट इक बहुत दिननि कौ, ताहि कर्‌यौ दस टूक।**[3]

## (४८) ताटंक+वीरछन्द+समानसवैया

एक ही लयाधार पर चलने वाले क्रमशः ३०, ३१ और ३२ मात्रापादी

---

[1] सूरसागर, पद २२२२।
[2] सूरसागर, पद ८३७, ८८४, ९३५, १९६५, ३०४९।
[3] सूरसागर, पद ९३५।

इन तीन छन्दों का मिश्रण सूरसागर के एक ही पद में हुआ है।[१] सूरदास के अनेक पदों में अभिनयात्मकता पाई जाती है—उनमें नाटक के रंगमंच पर होने वाले व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण-सा हो जाता है, यह बात सर्वविदित है। प्रस्तुत पद उसी अभिनयात्मकता का सुन्दर निदर्शन है, सर्वप्रथम समानसवैये में कृष्ण ने वस्तुस्थिति सामने रखी कि गायें चर रही हैं; अतः हम सब बैठ कर कलेवा करें। भोजन करता हुआ एक सखा बोल उठा 'बछरू कतहूँ दूरि गए' (ताटंक) कृष्ण ने कहा—कोई बात नहीं। मैं घेर लाता हूँ, 'तुम जेवहु निहचिंत भए।' (ताटंक) ब्रह्मा ने वत्सों को हर लिया। कृष्ण नाम ले-लेकर पुकारने लगे—'बार-बार टेरत लै नाउ।' (वीरछन्द) इस नाटकीय व्यापार के बाद, ब्रह्मा के छल को जान कर कृष्ण आत्मकथन (नाटक का स्वगत) करते हैं—

**तजिहैं प्रान सबै मिलि निस्चय, सुत जो गृह कौं आजु न जैहैं।**

**(स० सवैया)**

फिर पहले की तरह वर्ण-शरीर वाले वत्सों को बना कर ग्वाल-बाल के साथ कृष्ण ब्रज में प्रवेश करते हैं—

**आगें बछ, पाछें ब्रज बालक, करत चले मधुरें सुर गान (वीरछन्द)**

इस प्रकार इस पद में अनेक भावों तथा व्यापारों के सम्यक् वर्णन के लिए कवि ने तत्तत् भाव-प्रसंग के अनुकूल तीन छन्दों का प्रयोग किया।

## (४६) करखा + झूलना + हंसाल

करखा, झूलना और हंसाल का मिश्रण सूरसागर के ४ पदों में हुआ है।[२] इन पदों में इन छन्दों के प्रयोग का कोई क्रम नहीं है। देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मनमाने ढंग से इनकी पंक्तियों को रखता चला गया है। पर गहरे डूब कर हम यहाँ भी उसकी भाव-धारा की सूक्ष्मता का प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं। इन तीनों छन्दों की गति और भावानुकूलता के विषय में हम जो पीछे लिख आये हैं, वही बात इन चारों पदों में भी दिखलाई पड़ती है।

## (५०) चौपई + चौबोला + चौपाई + उल्लाला

भावों में विभोर होकर कवि प्रचलित छन्दों की मात्राओं को घटा-बढ़ा कर नूतन छन्दों का निर्माण तो करता ही है, कभी-कभी प्राचीन छन्दों को भी

---

[१] **सूरसागर, पद १०५६।**

[२] **सूरसागर, पद १३६६, १६५६, २३२५, ३४४५।**

नये क्रमायोजन (पंक्तियों का विशेष प्रकार का रिजोल्यूशन Resolution) अथवा विकर्षाधार के बल पर नवीन रूप प्रदान करता है। इसमें लय तो पुरानी ही होती हैं, पर उनका अन्त्य क्रम, परिसंख्यान (मात्रा-संख्या या वजन) और मात्रा-क्रम नवीन होता है, जिसमें कवि को पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, पर एक बार छन्द का स्वरूप निश्चित हो जाने पर कवि को छन्द की आवृत्ति में आत्मानुशासन मानना पड़ता है। इस नवीन छन्द के दो वर्ग माने गये हैं—(क) समविकर्षाधार, जिसमें समान मात्रा के चरण विकर्ष में आद्योपांत प्रयुक्त होते हैं। (ख) विषम विकर्षाधार, जिसमें विभिन्न मात्राओं के चरणों का संयोग होता है।[१] अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित छायावाद में इस प्रकार के अनेक नवीन प्रयोग हुए। ऐसे प्रयोगों में समविकर्षाधार में तो केवल अन्त्यानुप्रास के क्रमायोजन की नवीनता है, पर विषम विकर्षाधार में अन्त्यानुप्रास के क्रमायोजन के साथ-साथ असमान मात्रा वाले चरणों के संयोग की नवीनता का आकर्षण भी है। कामायनी के इड़ा सर्ग[२] में, तथा पंत के 'नौका-विहार' तथा 'एक तारा' में[३] प्रयुक्त छन्द तो पुराने ही हैं, कवि ने क्रमायोजन द्वारा जो एक अनुच्छेद (Stanza) का निर्माण किया, वही कवि की मौलिकता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का क्रमायोजन विशेषतः छायावाद के साथ प्रकट हुआ। 'मध्यकाल के पदों में एकरूपतामूलक विशाल अन्त्यानुप्रास की योजना तो मिलती है, पर आजकल की विविधता और क्रमावर्तन का आनन्द वहाँ नहीं है[४]। विद्वानों का ऐसा कथन सर्वथा सत्य है। किन्तु, सूरदास के एक पद में[५] विषम विकर्षाधार-मूलक छन्द का पूर्वरूप दिखलाई पड़ता है। उस काल में कवि-द्वारा किया हुआ यह प्रयोग उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को तो सूचित करता ही है, साथ ही इसके द्वारा इस बात का भी संकेत मिलता है कि सूरदास केवल संगीत की धुन पर ही अपने पदों की रचना करने वाले नहीं थे, वे छन्दों के क्षेत्र में भी नवीन प्रयोग करते चलते थे। आठ पृष्ठों के इस लम्बे पद में केवल एक चरण के अतिरिक्त (बजे देव लोक नीसान) कोई भी चरण ऐसा नहीं, जिसमें यति-गति संबंधी कोई छन्दोदोष हो। छन्दों का ऐसा सधा प्रयोग करने वाले कवि की दृष्टि

---

[१] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० ३३१।
[२] कामायनी : इड़ा सर्ग, पृ० १५७-१७२।
[३] गुंजन, पृ० ९३ और ७६। [४] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३४५।
[५] सूरसागर, पद १७९८।

केवल संगीत पर रहती थी, छन्द पर नहीं; ऐसा कहना कथमपि न्याय-संगत नहीं। उपर्युद्धृत दोषयुक्त पंक्ति आज जिस रूप में हैं, अवश्य वह इस रूप में नहीं रही होगी। सूरदास की लेखनी से 'देव लोक में बजे निसान' इस रूप में वह निःसृत हुई होगी। असावधानी से वह अस्तव्यस्त हो गयी।

इस पद में मुख्यतः चौपई की एक अर्द्धाली के बाद उल्लाला (१३ मात्राएँ) के एक चरण का प्रयोग हुआ है, जो अतुकांत है। जैसे—

**सरद सुहाई आई राति। दहुँ दिसि फूलि रही बन-जाति।**
**देखि स्याम मन सुख भयौ।**

इसी क्रम में सम्पूर्ण पद की रचना हुई है। बीच-बीच में चौपई की अर्द्धाली की जगह चौबोला और चौपाई की अर्द्धालियों का भी प्रयोग है, जिनकी संख्या संपूर्ण पद में क्रमशः १९ और २ हैं। जैसे—

**एक दुहावत तें उठि चली। एक सिरावत मग मैं मिली। (चौबोला)**
**उतकंठा हरि सौं बढ़ी।**

× × ×

**अंजत ही इक नैन बिसार्‌यौ। कटि कंचुकि लँहगा उर धार्‌यौ। (चौपाई)**
**हार लपैव्यौ चरन सौं।**

एक जगह चौबोला के अंत में ।ऽ की जगह नगण (।।।) का प्रयोग भी मिलता है—

**पिकनि रिझावति सुन्दर सुपद। सरस स्वल्प ध्वनि उघटत सुखद।**

इस प्रकार चौपई (१५ मा०) और उल्लाला (१३ मा०) के विषम विकर्ष पर इस पद की रचना हुई है। उल्लाला भी चौपई की तरह समप्रवाही छन्द है, इसीलिये दोनों के चरणों में लय-मैत्री है। इसी लय-मैत्री के कारण चौबोला और चौपाई के चरण भी यत्र-तत्र समाविष्ट हो गये हैं।

## (५१) चौपई+पादाकुलक+योगकल्प+सार

सूरसागर के एक पद में इन चारों छन्दों का प्रयोग हुआ है।[1] इस पद का मुख्य छन्द सार है, जिसके पूर्व योग-कल्प[2], पादाकुलक अथवा चौपई की

---

[1]सूरसागर, पद ४७११। [2]पीछे योग-कल्प छन्द, पृ० ११६।

अर्द्धाली रख कर कवि ने एक अनुच्छेद बनाया है। अनुच्छेद बनाने में उसने योग-कल्प आदि के चरणों को सार के आरंभ में आवृत्त करने का वही ढंग अपनाया है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[१] प्रारम्भ में योगकल्प की एक अर्द्धाली और सार के चार चरणों का एक अनुच्छेद है। फिर पादाकुलक की अर्द्धाली और सार से बने अनुच्छेद का प्रयोग चार बार हुआ है। सब में पादाकुलक की दूसरी पंक्ति की आवृत्ति सार के प्रारंभ में हुई है। अंत में चौपई की अर्द्धाली और सार के योग से अनुच्छेद का निर्माण हुआ है, जिसमें चौपई की दूसरी पंक्ति आवृत्त नहीं हुई है। इस पद के अधिकांश सार-चरणों में पादान्तर्गत तुक की योजना है। जैसे—

**कृष्ण पठाए हम व्रज आए कहत मनोहर बानी।**

समप्रवाही होने के कारण तीनों छन्दों के चरण आपस में घुल-मिल गये हैं। चौपई का लय-निपात अवश्य भिन्न है, पर वीरछन्द का उत्तरांश होने के कारण सार के पूर्वांश के साथ उसका मेल हो जाता है। छन्दोदृष्टि से पद सर्वथा निर्दोष है। केवल निम्न पंक्ति—

**ऊधौ जन कहौ प्रभु की प्रभुताई।** — १६ मा०

में तीन मात्राओं की अधिकता है। यहाँ 'ऊ' 'धौ' और 'हौ' का ह्रस्वोच्चार अपेक्षित है।

## (५२) चौपाई + उपवदनक + गीतिका + हरिगीतिका

सूरसागर के एक पद में चौपाई, उपवदनक, गीतिका और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है।[२] इस पद का भी वही ढंग है, जो इसके पूर्व पद का है। इस पद का मुख्य छन्द गीतिका है। हरिगीतिका का तो केवल एक चरण उपलब्ध है। जैसे—

**पन्ना पिरोजा लगे बिच-बिच चहूँ दिसि लटकत मनी।**

चौपाई और उपवदनक की अर्द्धाली को गीतिका के पूर्व रख कर कवि ने एक इकाई का निर्माण किया है। इसमें भी अंतिम पद्य को छोड़ कर सर्वत्र चौपाई और उपवदनक की दूसरी पंक्ति की आवृत्ति गीतिका के प्रारंभ में की गई है। चौपाई और गीतिका-द्वारा बनी इकाई का तीन बार प्रयोग कर उपवदन और गीतिका की इकाइयाँ पाँच बार रखी गई हैं। चौपाई और उपवदनक समप्रवाही हैं, और गीतिका-सप्तक ( ऽ।ऽऽ ) के आधार पर चलने वाला छन्द है। इन

---

[१] पीछे चौपाई-हरिगीतिका छन्द। [२] सूरसागर, पद ४८०४।

विषम लयात्मक छन्दों का संयोग कवि ने उसी आधार पर किया है, जिस आधार पर (पद की आवृत्ति का आधार) चौपाई और हरिगीतिका का।

छन्दोदृष्टि से वर्णों के ह्रस्वोच्चारण के अतिरिक्त इस पद में जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, वे प्राचीन शास्त्रानुसार यति-दोष माने जायँगे। जैसे—

**अंग भूषन सूर ससि पू | रन कला मनु राजई।**
**अधर विद्रुम वज्रकन दा | ड़िम किधौं दसनावली।** आदि।

ऐसी पंक्तियों में शब्दगत वर्ण के कट कर पूर्व-भाग में आ जाने से प्राचीन मतानुसार स्पष्टतः यति-दोष है। किन्तु कट कर आने वाले सभी वर्णों के गुरु होने के कारण यहाँ जिह्वा को कष्ट का उतना अनुभव नहीं होता। फिर 'ससि' आदि तक ही पढ़ कर यदि जिह्वा को विश्राम दिया जाय, तो पाठ-क्रम में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। अतः आधुनिक छन्दःशास्त्री ऐसे स्थलों पर यति-दोष नहीं मान कर मनोहारी विविधता मानते हैं।[1] अवश्य निम्नांकित पंक्तियों में—

**कोकिला कल हंस बाल र | साल तिनहिं न पूजई।**
**भाट बोलें विरद, वार व | चन कहैं मन भावने।**

लघु होने के कारण 'र' और 'व' कट कर 'बाल' और 'वार' के लय-योग में सम्मिलित नहीं हो सकते और जिहवा को 'बाल' और 'वर' पर पूरा ठहर जाना पड़ता है। लय एक प्रकार से टूट जाती है और 'रसाल' तथा 'वचन' से उसे नये सिरे से उठाना पड़ता है। ऐसे स्थलों पर यति-दोष मानना सर्वथा न्याय्य है।

इन यति-दोषों के अतिरिक्त इस पद में एक पंक्ति ऐसी है, जो छन्दोदृष्टि से दूषित कही जा सकती है। जैसे—

**विप्रनि गो दीन्हीं बहुत जुगुति करि।**

इस पंक्ति में १८ मात्राएँ हैं। 'बहुत' की जगह 'बहु' रख देने से मात्राएँ तो ठीक हो जाती हैं, पर उपवदनक की गति नहीं आ पाती।

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २०९।

## अर्द्धसम+समछन्द

### (५३) दोहा+रोला

दोहा-रोला का मिश्रण सूरसागर के १७ पदों में हुआ है ।[१] सभी पदों में इन दोनों छन्दों के मिश्रण का एक क्रम है । रोला की एक अर्द्धाली के साथ एक पूरे दोहे का प्रयोग इन सभी पदों में पाया जाता है । तीन पद छन्दक-रहित हैं । पद ४५८ का प्रारंभ रोला की अर्द्धाली से और अंत दोहे से होता है । पद १०४९ के प्रारंभ और अंत-दोनों में दोहा ही प्रयुक्त है । पद ४६१२ में प्रारंभ में चार पंक्तियाँ रोला की हैं और अंत में दो पंक्तियाँ दोहे की । इन तीनों के अतिरिक्त सभी पदों के आदि में छन्दक है । छन्दक में महानुभाव, तिलोकी (चांद्रायण+प्लवंगम) चान्द्रायण तथा रास छन्दों का प्रयोग हुआ है ।[२] रोला और दोहा दोनों समप्रवाही छन्द हैं, और दोनों में २४ मात्राएँ (दोहे के प्रथम तथा द्वितीय चरणों की मात्राओं को ले कर) होती हैं । दोहे के समचरण में ११ मात्राएँ हैं और रोला के चरण में ११ मात्राओं पर यति है । दोहे के विषम चरण में १३ मात्राएँ होती हैं और रोला के उत्तरांश में भी उतनी ही मात्राएं रहती हैं । इसीलिये अन्त्य वैषम्य के होते हुए भी इन दोनों का पारस्परिक संयोग वर्णनात्मक प्रसंग में एक सुखद विविधता (Pleasing Variation) को जन्म देता है । कुंडलिया में जो दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति रोला के प्रारंभ में अनिवार्य-रूप से होती है, इसके मूल में भी दोहे के सम चरण तथा रोला के यति-खंड में ११ मात्राओं का होना ही है । अपभ्रंश-कालीन कुंडलिया[३] से प्रेरणा ग्रहण कर ही हिन्दी के कवियों ने दोहा-रोला का यह प्रागाथिक रूप प्रस्तुत किया हो, तो असंभव नहीं । ऐसे प्रागाथिक रूप का सर्वप्रथम दर्शन कबीर के एक पद में होता है । उन्होंने भी चान्द्रायण की एक पंक्ति छन्दक-रूप में रखी है । यथा —

**सुमिरो सिरजनहार, मनुष तन पाय के ।**
**काहे रहो अचेत कहा यह अवसर पैहो ।**
**फिर नहि मानुख जनम बहुरि पीछे पतितैहो ।**

---

[१]प्रबंध का परिशिष्ट (२) ।  [२]आगे छन्दक के छन्द ।
[३]प्रा० पैं०, १।१४६-१४७ ।

**लख चौरासी जीव जंतु में मानुष परम अनूप ।**
**सो तन पाय न चेतहू कहा रंक का भूप ।**[1]

इस पद्य में 'जंतु' यों ही घुस कर बैठ गया है, जिससे छन्द अस्तव्यस्त हो गया है। पदों का छन्दोदृष्टि से संपादन नहीं होने का यह एक सबल प्रमाण है। कबीर के बाद सूरदास ने इस प्रगाथ छन्द का विशद प्रयोग किया। सूरदास के समकालीन नन्ददास ने 'भँवरगीत' की रचना इसी प्रगाथ छन्द में की है। इसमें रोला की एक अर्द्धाली और दोहे के योग से एक अनुच्छेद बना कर अंत में दस मात्राओं का छन्दक (टेक) रखा गया है।

**कहन स्याम संदेस एक मैं तुम पै आयौ।**
**कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायौ।**
**सोचत हो मन में रह्यौ, कब पाऊँ इकठाउँ।**
**कहि सँदेस नँद लाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाउँ।**
**सुनो ब्रज नागरी।**[2]

बहुत दिनों तक इस दशमात्रिक टेक (जो चांद्रायण का उत्तरांश है) के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय नन्ददास को दिया जाता था; किन्तु सूरसागर के मंथन से अब यह स्पष्ट हो गया कि यह टेक भी सूरदास के छन्दःप्रयोग के नैपुण्य का निदर्शन है। सूरसागर का एक पद ठीक उसी शैली में लिखा हुआ मिलता है, जिसमें नन्ददास का भँवरगीत। इस पद की प्रारम्भिक दो पंक्तियों

**सुनि तमचुर कौ सोर घोष की बागरी।**
**नव सत साजि सिंगार चली नवनागरी।**[3]

और नन्ददास के भँवरगीत की निम्नांकित पंक्तियों

**ऊधव कौ उपदेस सुनौ व्रजनागरी।**
**रूप-सील-लावन्य सबै गुन आगरी।**

का अन्त्य साम्य द्रष्टव्य है। नन्ददास के बाद आधुनिक काल में सत्यनारायण ने 'भ्रमरदूत' की रचना इसी शैली में की है।[4]

---

[1]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद १५७।
[2]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि : पृ० ६७।
[3]सूरसागर, पद २२३६।
[4]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि पृ० ५६२।

## (५४) दोहा+मुक्तामणि

दोहा-मुक्तामणि का मिश्रित प्रयोग सूरसागर के परिशिष्ट के केवल एक पद में मिलता है। इस पद में मुक्तामणि के चरणों के बीच एक दोहा घुसा हुआ है।[1] दोहे के अंतिम लघु को गुरु कर देने से मुक्तामणि छन्द बन जाता है। इस प्रकार वस्तुतः एक ही छन्द होने के कारण दोनों का मेल सहज संभव है।

## (५५) दोहा+विष्णुपद

दोहा-विष्णुपद का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[2] इसमें विष्णुपद की एक अर्द्धाली के बाद चार दोहे हैं। छन्दोदृष्टि से दोहा-विष्णुपद का मेल सहज संभव है, क्योंकि दोनों एक ही लयाधार पर चलने वाले छन्द हैं। भाव की दृष्टि से दोनों का मिश्रण बड़ा ही उपयुक्त है। विष्णुपद के लंबे तथा लगात्मक अंत वाले चरणों में गोपियों ने पहले अपनी घनीभूत विवशता को जैसे बिखेर दिया है—

**केहि मारग मैं जाऊँ सखी री, मारग मोहि बिसरयौ।**

उसके अनंतर दोहों के बड़े-छोटे (१३-११) गलात्मक अंत वाले चरणों में अपनी दीन दशा का मार्मिक चित्रण कर भविष्य में कृष्ण के मिल जाने पर उनके साथ किये जाने वाले अपने व्यवहार की सरलता और निश्छलता से वातावरण को करुणापूर्ण बना दिया है—

**चकित भई, चितवत फिरी, व्याकुल अतिहिं अनाथ।**
**अब कैं जो कैसहुँ मिलौं, पलक न त्यागौं साथ।**

सूरदास के पूर्व और पश्चात् भी इन दोनों छन्दों का मिश्र प्रयोग देखने में नहीं आया। विष्णुपद की अर्द्धाली के बाद चार दोहों की योजना कवि ने भावों पर दृष्टि रख कर जान-बूझ कर ही की है।

## (५६) दोहा+सरसी

दोहा-सरसी का मिश्रण सूरसागर के दो पदों में (सूरसागर १, परि०१) में हुआ है।[3] सूरसागर के पद में प्रारंभ में सरसी की एक अर्द्धाली है, फिर तीन

---

[1] सूरसागर, परि० पद १२६। [2] सूरसागर, पद १७२६।
[3] सूरसागर, पद ६४५, परि० २३२।

दोहे हैं। परिशिष्ट के पद में सरसी की एक अर्द्धाली के बाद एक दोहा है, फिर सरसी की एक अर्द्धाली है और अंत में तीन दोहे हैं। दोहा और सरसी दोनों ही समप्रवाही और प्रत्नमूलक (ऽ।) अंत वाले छन्द हैं। दोहे के सम चरण और सरसी के उत्तरांश दोनों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। दोहे के विषम चरण में १३ मात्राएँ और सरसी के पूर्वांश में १६ मात्राएँ रहती हैं। तीन मात्राओं का यह अंतर दोनों के चरणों के संयोग में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता। दोनों का मेल छन्दोदृष्टि से बड़ा सुविधाजनक है। अतः दोनों का मिश्रण कवियों के पदों में कभी-कभी हो जाया करता है। कबीर के पदों में दोहा-दोहकीय के बीच एकाध पंक्ति सरसी की भी मिल जाती है[1]।

**अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।**
**षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट। —क० ग्रं० पद १८**

मीराबाई के एक पद में इसी प्रकार २½ दोहों के बाद सरसी के तीन चरण आये हैं—

**सकल कुटुम्बा बरजता, बोल्या बोल बनाय।**
**णेणा चंचल अटक णा माण्या, परहथ गया बिकाय।[2]**

डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने मुल्ला दाउद के 'चंदायन' काव्य की ऐसी १६-११ वाली पंक्ति को दोहा का विकास-क्रम में प्राथमिक रूप माना है।[3] कबीर और मीरा के उपरिलिखित पद्यों को हम भले ही इस दृष्टि से देख कर कवि-प्रयत्न-शैथिल्य का परिणाम मान लें, सूरदास के पदों के साथ ऐसी बात नहीं कही जा सकती। यहाँ कवि ने कबीर-मीरा की तरह दोहे की अर्द्धाली के साथ सरसी के एक चरण का मेल नहीं किया है। अतः इसे कवि का सचेतन प्रयास मान कर ऐसे पदों में दोहा-सरसी का मिश्रित प्रयोग देखना ही समीचीन है।

## (५७) दोहा+सार

दोहा-सार का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[4] इस पद के

---

[1] कबीर-ग्रन्थावली : श्यामसुन्दर दास, पद १८, परि०—१३७।
[2] मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १३।
[3] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ४०४, देखिये पीछे दोहा छन्द।
[4] सूरसागर, पद ३५२२।

प्रारंभ में सार का केवल एक चरण है, जिसकी तुक हाकलि के छन्दक से मिली है। उसके बाद छः दोहे हैं। दोहा और सार दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं। अतः दोनों के चरणों का मिश्रण पदों में देखा जाता है। कबीरदास के कई पदों की रचना सार, सरसी, दोहा, दोहकीय आदि के चरणों के मेल से हुई है।[१]

## (५८) दोहकीय+सार

दोहकीय-सार का मिश्रण परिशिष्ट के एक पद में हुआ है।[२] इसमें भी दोहा-सार वाला ही क्रम है। प्रारंभ में रामछन्द[३] का छन्दक है, जिसकी तुक सार के चरण से मिली है। उसके बाद छः दोहकीय हैं। दोहकीय छन्द दोहे के समचरण के आदि में दो मात्राओं के योग से बनता है। अतः दोहा-सार की तरह दोहकीय-सार के चरण भी आपस में मिल सकते हैं।

## (५९) रोला+उल्लाला (छप्पय)

रोला और उल्लाला दोनों छन्दों का विवेचन हम सम और अर्द्धसम छन्दों के अन्तर्गत कर आये हैं।[४] इन दोनों का मिश्रण अपभ्रंश काल से ही होता चला आया है। उस काल में यह प्रागाथिक छन्द इतना लोकप्रिय हो गया था कि इसमें प्रयुक्त लघु-गुरु वर्णों की संख्या के आधार पर आचार्यों ने इसके ७१ भेद बतलाये।[५] इन दोनों के मिश्रण का यह क्रम है कि प्रारंभ में रोला के चार चरण और उसके बाद उल्लाला के दो चरण रखे जाते हैं।[६] इस छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख नंदिताढ्य के गाथालक्षण में मिलता है। वहाँ इसका नाम 'दिवड्ढ' है।[७] प्रा० पै० के अतिरिक्त अपभ्रंश छन्दःशास्त्रों में छन्दः कोश[८] तथा कविदर्पण[९] में इसका उल्लेख उपलब्ध होता है। हेमचन्द्र ने भी छप्पय का संकेत द्विभंगिका छन्दों के संबंध में किया है—एताश्च वस्तुवदनक

---

[१]कबीर-ग्रन्थावली, पद १३, १०६, १६८, परि० १६८।

[२]सूरसागर परिशिष्ट २४०।

[३]आगे राम छन्द।

[४]पीछे रोला और उल्लाला छन्द।

[५]प्रा० पै० १।१२३—१२३।

[६]प्रा० पै०, १।१०५—१०६।

[७]गाथालक्षण—८०।

[८]छन्दःकोश : रत्नशेखर, १२।

[९]कविदर्पण २।३३।

कर्पूराद्याः द्विभंगिकाः षट्पदा इति, सार्धच्छन्दासि इति च, सामान्याभिधानेन मागधानां प्रसिद्धा ।

—छन्दोनुशासन सूत्र, ४।७९ की वृत्ति ।[1]

हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में केशवदास ने इसका उल्लेख षट्पद नाम से किया है और इसे कवित्त (रोला) और उल्लाला का मिश्रण बताया है ।[2] केशव के बाद मुरलीधर[3], सुखदेव[4], वृन्दावन दास[5], जयदेव[6], भिखारीदास[7] रामसहाय[8], अयोध्या प्रसाद[9], तथा जानीबिहारी लाल[10] ने इसका उल्लेख किया है । आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु[11], रघुनन्दन[12], परमानन्द[13], उपाध्याय[14] दत्त[15], सरस[16], डॉ० शुक्ल[17] तथा डॉ० शिवनन्दन[18] सब के ग्रंथों में यह उल्लिखित हुआ है । इनमें अनेक आचार्यों ने रोला के साथ उल्लाला के दोनों भेद (१५-१३ और १३-१३) के मिश्रण की बात कही है । यथा—

**कहुँ अट्ठाइस होय, मत्त छब्बिस कहुँ देखौ । —भानु ।**

छप्पय का काव्यगत प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन है । अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) ने 'संदेशरासक' में छप्पय का प्रयोग किया है ।[19] इसमें उल्लाला के एक चरण में २६ और दूसरे में २८ मात्राएँ हैं—

**निविड़-निरंतर नीरहर दुद्धर धर धारोहभरु ।**
**किं सहउँ पहिय-सिहरट्ठियइ, दुखहउ कोइल रसइ सरु ।**

इसके बाद हेमचन्द्र के छन्दोऽनुशासन में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है ।[20]

---

[1]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ५५६ । [2]छन्दमाला २।२८ ।
[3]से[6] तक—मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ७४, ८२, ८३ ।
[7]छन्दार्णव, ७।३७ ।
[8]से [10]तक—मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ९२, ९४, ९७ ।
[11]छन्दःप्रभाकर, पृ० ९८ । [12]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८६ ।
[13]पिंगल पीयूष, पृ० २०२ । [14]नवीन पिंगल, पृ० १०० ।
[15]छन्दःचंद्रिका, पृ० ४२ । [16]सरस पिंगल, पृ० ४३ ।
[17]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३२९ ।
[18]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ११९ ।
[19]हिन्दी काव्यधारा : राहुल । वर्षा वर्णन, पृ० ३०४, पद १४८ ।
[20]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पद ५, पृ० ३६८ ।

हेमचन्द्र के उल्लाला के प्रति चरण में २८ मात्राएँ हैं। पृथ्वीराजरासो में कवित्त नाम से छप्पय का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। प्रा० पैं० में छप्पय के जो ७१ भेद बताये गये हैं, वे सब इस काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।[1] यहाँ भी उल्लाला के दोनों रूपों का प्रयोग उपलब्ध होता है, और वह भी एक ही पद्य में। यथा—

**(क) वन विकट जूह परवत गुहा वर बेहर बंकम विषम।—१५—१३**
**दारु भयानक अति सरल वर प्रस्तर जल नहिं सुषम।[2] १३—१३**
**(ख) सुमगि सरद भयभीत निसि, रति पति लंघत मंदगति।—१३–१३**
**अबला सुअंग ओपम इतिय, कही चंद इन परि विगति।[3]–१५–१३**

विद्यापति की पदावली में छप्पय छन्द नहीं मिलता। पर उन्होंने कीर्तिलता में इसका-प्रयोग किया है।[4] छप्पय मुख्यतः वीर-रसात्मक छन्द है, इसीलिये संतों तथा भक्तों के कोमल रस-प्रधान पदों में इसे स्थान नहीं मिल सका। यों दो एक संतों की वाणियों में इसके दर्शन हो जाते हैं। भीषजनजी (दादूपंथी)[5] तथा संत चरणदास[6] के जो छप्पय हैं, उनमें २६ मात्रा वाले उल्लाला का ही प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण सूरसागर में छप्पय का प्रयोग केवल एक ही पद में हुआ है[7], जिसमें २८ मात्रा वाला उल्लाला प्रयुक्त है। यों तो सभी छन्द गेय होते हैं। छप्पय को भी गा लेना कठिन नहीं। यह भी प्राचीन काल से गाया जाता रहा है।[8] सूरसागर में भी उक्त पद को राग जैतश्री में गाने का निर्देश है। फिर भी छप्पय की प्रकृति उतनी संगीतात्मक नहीं, जितनी वर्णनात्मक है। सूरसागर का उक्त पद भी वर्णनात्मक ही है। इसे संगीत के विशेष योग्य नहीं जान कर ही संभवतः सूरदास ने इसका फिर प्रयोग नहीं किया। संतों के समान भक्तों के काव्यों में भी यह यत्र-तत्र दिखलाई पड़ जाता

---

[1]चंदबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २५४-५५।
[2]हिन्दी काव्यधारा : राहुल—हिमालय वर्णन, पृ० ४३४।
[3]चंदबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २५४—कवित्तविधान जाति (जिसे उन्होंने छप्पय ही माना है) के उदाहरण-रूप में उद्धृत।
[4]कीर्तिलता, १।५२।५७।
[5]और[6] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २६८ और ४२६।
[7]सूरसागर, पद १८०।
[8]काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध : डॉ० उमा मिश्र, पृ० २८४।

है ।[1] तुलसीदास ने छप्पय को अपने काव्य में अवश्य स्थान दिया—पर कवितावली में, विनयपत्रिका-गीतावली जैसे पद-ग्रंथों में नहीं । छप्पय को सब से अधिक महत्व देने वाले नाभादास हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण 'भक्तमाल' की रचना ३१६ छप्पयों में की है ।[2] इनके छप्पय में भी उल्लाला के दोनों रूप मिलते हैं—

**विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवननि धरै ।—१३-१३**
**श्री सूर-कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै ।[3]—१५-१३**

केशवदास ने रामचंद्रिका के प्रारंभिक भाग में अनेक पद्यों की रचना छप्पय में की है ।[4] रीतिकाल के अन्तर्गत लिखे गये प्रबंध कवियों ने तो इसे अपने काव्यों में स्थान दिया ही है,[5] मुक्तककारों ने भी इसे एकदम विस्तृत नहीं किया है ।[6] लक्षण-ग्रंथों में भी कवित्त-सवैया तथा दोहों के बीच छप्पय अपना सिर बराबर उठाता रहा ।[7] भारतेन्दु ने अपने काव्यों[8] तथा नाटकों[9] में छप्पय का प्रचुर प्रयोग किया है । रत्नाकर ने अपने 'गंगावतरण' काव्य का प्रारंभ तीन छप्पयों से ही किया है । अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'पद्य-प्रसून' की अनेक कविताएँ (विद्यालय, परिवर्त्तन, अविनय, हिन्दीभाषा, भगवती भागीरथी आदि) छप्पय में ही रची हैं । मैंथिलीशरण ने 'जयभारत' के 'सैरन्ध्री' और

---

[1]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि : हितहरिवंश, पृ० ८२ ।
[2]हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२० ।
[3]ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, पृ० १ ।
[4]रामचन्द्रिका, १।१७, २४, २।१८, २४, ३।१, ५।१०, ६।८, ७।४२ ।
[5]वीरकाव्य : उदय नारायण तिवारी—श्रीधर (पृ० ३४३) सूदन (३६८) जोधराज (४३१) चंद्रशेखर (४८३) ।
[6]भूषण-ग्रंथावली : सं०—विश्वनाथ प्र० मिश्र । शिवा बावनी, पद्य ३३, छत्रसाल दशक, पद्य ६ ।
[7]शिवराज-भूषण—पद्य १४७ (व्यतिरेक का उदाहरण) ३१५ (प्रश्नोत्तर का उदाहरण) ३६०-३६१ (छेकानुप्रास का उदाहरण) ।
जगतविनोद—६१५ (संभोगशृंगार) ७०५ (भयानक रस का उदाहरण) ७१० (वीभत्स रस का उदाहरण) ।
[8]भा० ग्रं०—उत्तरार्द्ध भक्तमाल, प्रबोधिनी, स्वरूपचिंतन, प्रातः स्मरण स्तोत्र आदि ।
[9]नाटकावली—सत्यहरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, चंद्रावली आदि ।

'शांति सन्देश' में छप्पय का ही प्रयोग किया है। छायावाद के पहले 'प्रसाद' ने भी छप्पय की रचना की है।[1]

इस प्रकार छप्पय का प्रयोग अपभ्रंशकाल से ले कर द्विवेदीयुग तक निरंतर होता रहा। छायावाद के कवियों ने इसे बिलकुल छोड़ दिया। इसका कारण यह है कि छायावादी सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना के लिए यह छन्द उपयुक्त नहीं है। 'इस छन्द के प्रारम्भ में प्रयुक्त रोला में गति का चढ़ाव है और अंत में उल्लाला में उतार है। इसी कारण युद्ध आदि के वर्णन में भावों के चढ़ाव-उतार का इसमें अच्छा वर्णन किया जाता है'।[2] हृदय के गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति में अक्षम होने के कारण ही पद-साहित्य में इसका प्रयोग प्रायः नहीं हुआ और वीर भावों के वहन करने में समर्थ होने के कारण ही पृथ्वीराज रासो में इसका विशद प्रयोग हुआ है।

## (६०) दोहकीय+सरसी+सार

दोहकीय-सरसी-सार का मिश्रण सूरसागर के एक पद में हुआ है।[3] इस पद के आदि में ११ मात्राओं की एक पंक्ति (कन्हैया हेरी दै) है। यह पंक्ति असंबद्ध है, क्योंकि इसकी तुक किसी से मिली नहीं है। इसके बाद एक दोहकीय छन्द है, फिर छः चरण सार के हैं और अंत में दो चरण सरसी के प्रयुक्त हुए हैं।

## (६१) दोहा+सोरठा+चौपाई+हरिगीतिका

सूरसागर की दूसरी गुरु-मान-लीला उक्त चार छन्दों में लिखी एक कड़वक-बद्ध रचना है।[4] इसमें छः छः चौपाइयों पर तीन बार धत्ता दे कर, फिर १२ चौपाइयों पर एक बार धत्ता दिया गया है। धत्ता के लिये चारों जगहों पर दोहा-सोरठा छन्द का प्रयोग हुआ है। उसके बाद छः चौपाइयों पर हरिगीतिका का धत्ता है और हरिगीतिका के बाद एक दोहा और एक सोरठा है। इस प्रकार की कड़वक-बद्ध रचना अपभ्रंश काव्यों में काफी प्रचलित थी। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि अपभ्रंश कवियों के प्रबंध-काव्यों में ऐसा कड़वक

[1]कानन कुसुम—ठहरो, पृ० ४४, बालक्रीड़ा, पृ० ४६।
[2]हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग—१, पृ० ३२३।
[3]सूरसागर, पद १०६९। [4]सूरसागर, पद ३४४६।

विधान बराबर मिलता है। अपभ्रंश काव्यों में धत्ता के लिये धत्ता छन्द के अतिरिक्त उल्लाला, त्रिभंगी, चउपइया, दुबई आदि छन्दों का व्यवहार होता था। हिन्दी काव्यों में धत्ता के लिये विशेष रूप से दोहा-सोरठा छन्द का ही प्रयोग हुआ। हिन्दी में इस प्रकार की कड़वक-बद्ध रचना सर्वप्रथम कबीर-साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। उनकी रमैणी में चौपाइयों (जिनकी संख्या अनियमित हैं) के बाद दोहे का प्रयोग धत्ता रूप में हुआ है।[1] इसके बाद सूफियों के सारे ग्रंथ इसी शैली में लिखे गये हैं। इनके काव्यों में भी कड़वक में प्रयुक्त चौपाइयों की संख्या अनियमित ही रही। किसी ग्रंथ में चौपाई की ५, किसी में ६, किसी में ७, किसी में ८, किसी में ९ और किसी में १० अर्द्धालियों के उपरान्त धत्ता दिया गया है। धत्ता के लिये विशेषतः दोहे का प्रयोग हुआ है, किंतु कहीं-कहीं सोरठा और बैरवै भी प्रयुक्त है।[2] सूरदास ने कड़वक-बद्ध शैली में एक पद की रचना कर अपभ्रंश-कालीन कड़वक-परंपरा में तो योग दिया ही, धत्तार्थ दोहा-सोरठा छंद के पूर्व हरिगीतिका का प्रयोग कर हिन्दी कवियों को एक नूतन संकेत भी दिया। तुलसीदास ने रामचरितमानस में कड़वकान्त धत्ता के लिये दोहा-सोरठा छन्द का ही विशेष रूप से प्रयोग किया, किंतु बीच-बीच में हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभंगी आदि छन्दों की भी योजना की। नन्ददास ने विरह-मंजरी, रसमंजरी तथा रूपमंजरी के द्वारा कड़वक-परंपरा को आगे बढ़ाया। इन दोनों कवियों ने इस शैली को प्रौढ़ता अवश्य प्रदान की; किंतु कड़वक के अन्तर्गत प्रयुक्त चौपाई आदि (तुलसी में चौबोला और नंददास में चौबोला और चौपई की पंक्तियाँ भी समाविष्ट हैं) की संख्या इन दोनों के यहाँ भी अनियमित ही रही। रामचरितमानस के बालकांड के प्रारंभ में ही यह अनियमितता देखी जा सकती है। दोहा संख्या ६ के बाद चौपाई की १३, दोहा ७ के बाद १२, दोहा ९ के बाद ११, दोहा १० के बाद ९ और दोहा १६ के बाद १४ अर्द्धालियों का प्रयोग हुआ है।[3] नन्ददास के ग्रंथों में भी यह अनियमितता विद्यमान है।[4] तुलसीदास ने चौपाइयों की आठ-

---

[1]क० ग्रं० : श्यामसुन्दर दास, रमैणी, पृ० २२३ से २४५। क० व० : हरिऔध : जगत-उत्पत्ति, पृ० ११७।

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ३२२-३२३।

[3]रामचरितमानस : टीकाकार रामनरेश त्रिपाठी।

[4]अष्टछाप परिचय : मीतल, पृ० २०५-२०६।

आठ अर्द्धालियों पर धत्ता देने का नियम विशेष रूप से अवश्य रखा है,[१] किंतु अनेक स्थलों पर इस नियम का उल्लंघन भी किया है। 'छन्दों के शास्त्र-सम्मत विशुद्ध प्रयोग की दिशा में सावधान' रहने वाले तुलसीदास के काव्य में भी चौपाई की अर्द्धालियों की विषम संख्या विद्यमान है। नंददास जैसे सचेष्ट कलाकार के काव्य भी इस दोष से परे नहीं। अतः सूफी काव्य के अन्तर्गत प्रयुक्त चौपाइयों की अर्द्धालियों की कड़वक-गत विषम संख्या के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि मुसलमान लोग छन्दःशास्त्र के ज्ञाता नहीं होने के कारण चौपाई के दो चरणों को ही पूर्ण छन्द मान लिया करते थे[२], युक्ति-संगत नहीं। वस्तुस्थिति यह है, कि कवि भावावेग में इस बात पर कभी-कभी ध्यान नहीं रख सकता कि छन्दःशास्त्रानुसार प्रत्येक पद्य में चार चरण होने चाहिये। भावों का उद्दाम वेग कभी-कभी उसे चरणों की सीमा के बाहर खींच लेता है। वैदिक युग में भाव की सीमा के अनुसार छन्द विस्तृत अथवा स्वल्प शरीर धारण करता रहा।[३] उस युग में केवल छन्दों के चरण-विस्तार में ही स्वतंत्रता नहीं ली गई, अपितु भावानुकूल २, ३, ४, ५, ६, ७ और ८ चरणों के छन्दों का भी निर्माण हुआ।[४] इस स्वतंत्रता का किंचित् उपयोग वाल्मीकि, व्यास तथा पुराणकारों ने भी किया है। यथा—

> एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्।
> इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारण सेविते।
> हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः।[५]

> तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैव समाचर।
> तत्छुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः।
> त्वरिता शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन्।[६]

---

[१]मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० ३२३।

[२]मात्रिक छन्दों का विकास : पृ० ३२३-३२४।

[३]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० ७७।

[४]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० ७५।

[५]और[६]—वाल्मीकि रामायण—बाल० सर्ग ४८।३४, अयो० सर्ग ३।४६-४७।

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।[1]

मेरोरनन्तराङ्गेषु जठरादिष्ववस्थिताः ।
शङ्खकूटोऽथ ऋषयो हंसो नागस्तथापरः ।
कालञ्जादयाश्च तथा उत्तरे केसराचलाः ।[2]

सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम् ।
दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जड़मनात्मकम् ।
तत्कथं त्वां विजानीयाद् व्यतिरिक्तं मनः प्रभो ।[3]

इसके बाद संस्कृत कविता छन्दों के बन्धन में इस प्रकार जकड़ गई कि संस्कृत-कवि इस स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सके। किन्तु अपभ्रंश कवियों ने अपनी कड़वक-बद्ध रचना में इस स्वतन्त्रता का उपयोग करना फिर से प्रारंभ कर दिया। स्वयंभू की रामायण में कहीं ९ अर्द्धालियों (४½ पद्य) पर और कहीं आठ (४ पद्य) पर घत्ता दिया गया है।[4] पुष्पदंत के उत्तरपुराण में एक जगह दो घत्ताओं के बीच पद्धरि की ११ अर्द्धालियों (५½ पद्य) का प्रयोग हुआ है।[5] रामायण, महाभारत, पुराण, स्वयंभू, पुष्पदंत, तुलसीदास, नंददास आदि में इस प्रकार अर्द्धालियों की विषम संख्या देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि मुसलमान कवियों ने ऐसा प्रयोग अज्ञानवश किया है। भावुक कवि की भाव-धारा जब पद्य के चार चरणों में नहीं अँट सकी, तो उसने दूसरे पद्य की अर्द्धाली को भी समेट लिया। पद-रचयिताओं ने तो द्विपदी, चतुष्पदी के बंधन को बिलकुल ही नहीं माना। सूरदास ने अपने पद में मनहरण घनाक्षरी में छः चरणों की (छन्दक के अतिरिक्त) योजना की है।[6] इसलिये हमारे विचार से

---

[1]महाभारत : वन पर्व ३४।३५।

[2]विष्णुपुराण (गीताप्रेस) द्वि० अंश, अ० २।२९।

[3]अध्यात्म रामायण (गीताप्रेस) सर्ग ९।३१।

[4]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २२-२४ (९ अर्द्धाली) पृ० २८ (९ अर्द्धाली)—८ (अर्द्धाली)।

[5]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० २२८ (११ अर्द्धाली)।

[6]सूरसागर, पद ६४९।

पादों के आधार पर छन्दों को द्विपदी, चतुष्पदी आदि वर्गों में विभाजित करना विशेष मूल्य नहीं रखता।

कड़वक-बद्ध रचना की जो परंपरा अपभ्रंशकवियों से प्रारंभ हुई थी, वह कबीर, सूफी कवि, सूरदास, तुलसीदास तथा नंददास के काव्यों को पार करती हुई रीतिकाल तथा आधुनिक काल तक पहुँची। रीतिकाल में सबलसिंह चौहान ने महाभारत, गोरेलाल ने छत्रप्रकाश, ब्रजवासीदास ने ब्रजविलास, मधुसूदनदास ने रामाश्वमेध की रचना कड़वक-बद्ध शैली में की। द्वारिका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' की रचना कर कड़वक-शैली को आधुनिक काल में पुनर्जीवित किया।

## (६२) दोहा+शशिवदना+माली+सखी+गीतिका

सूरसागर का एक पद उक्त पाँच छन्दों में निबद्ध है।[१] अध्ययन की सुविधा के लिये यह पद दो खंडों में विभाजित किया जा सकता है। (क) प्रथम खंड में माली और गीतिका की क्रमशः चार बार आवृत्ति कर पाँचवीं बार इन दोनों के बीच शशिवदना छन्द के चार चरण रख दिये गये हैं। (ख) द्वितीय खंड में दोहा और सखी का क्रमशः पाँच बार प्रयोग हुआ है। सखी के चरणों की संख्या अनियमित है। पहले तीन अर्द्धालियाँ, फिर तीन बार चार-चार अर्द्धालियाँ और अंत में ८ अर्द्धालियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

द्वितीय संस्करण के पाठ में निम्न पंक्ति में—

**कौन सुत को मातु (को) पति कौन तिय को किनि कर्‌यौ।**

दो मात्राओं की कमी है, जिसकी पूर्ति मातु के बाद 'को' रख कर तृतीय संस्करण में कर दी गई है। माली के दो चरणों में जो मात्राधिक्य है, उसके संबंध में हम पीछे 'माली' छन्द के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं।[२]

इन दो खंडों में भाव की द्विविध धारा प्रत्यक्ष है। प्रथम खंड में शरद् निशा में गोपियों का कृष्ण के पास आना और दोनों के बीच उत्तर-प्रत्युत्तर के बाद रास रचाने का वर्णन है। द्वितीय खंड में राधा के मन में गर्व उत्पन्न होने पर कृष्ण का अन्तर्धान होने तथा राधा की विरह-दशा का वर्णन है। रस की दृष्टि से पहला खंड संभोग श्रृंगार का है, और दूसरा विप्रलंभ श्रृंगार का। इसीलिये इस पद में कवि ने दो शैलियों और दो तरह के छन्दों को प्रश्रय दिया

---

[१]सूरसागर, पद १८००। [२]पीछे माली छन्द, पृ० ११३।

है। माली और गीतिका के संयोग के लिये उसने दो स्थलों पर पादावृत्ति का किंचित् सहारा लिया है। यथा—

> **सुनि धुनि नारि चली ब्रज तजि आईं।**
> **(धुनि) सुनत व्याकुल भई जुवती, मदन तन आतुर करी।**
> **पति गृह त्यागे, गुरु-जन-बागरि क्यौं।**
> **गेह सुत पति त्यागि आईं, नाहिनै जु भली करी।**

दूसरे खंड के सभी छन्द समप्रवाही हैं। अतः उनका मेल तो सहज संभव है ही; फिर भी कवि ने दो स्थलों पर दोहे के चरण की आवृत्ति सखी के प्रारंभ में की है। दोहा और सखी के क्रमबद्ध प्रयोग के आधार पर इस खंड को हम कड़वक-रचना मान सकते हैं।

## अर्द्धसम+अर्द्धसम छन्द

### (६३) दोहा+दोहकीय

सूरसागर के एक पद की रचना दोहा-दोहकीय के मिश्रण से हुई है।[१] इस पद में ८ दोहकीय के बाद एक दोहे का प्रयोग हुआ है। दोहे के समचरण के आदि में दो मात्राएँ रख देने से दोहकीय बन जाता है। अतः दोनों की पंक्तियों का आपस में मिल जाना आसान है। दोहा-दोहकीय का मिश्रण कबीर-दास के कई पदों में मिलता है।[२] किन्तु, वहाँ दोहकीय का प्रयोग सचेतन प्रयास का परिणाम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कबीर के पदों में उसके प्रयोग का कोई क्रम नहीं है। यत्र-तत्र दोहे के चरणों के बीच दोहकीय की पंक्ति आ गई है। कहीं-कहीं दोही की पंक्ति भी समाविष्ट है। रैदास के पद में ऐसी बात नहीं।[३] वहाँ दोहकीय और दोहा अपने पूरे रूप में विद्यमान हैं। सूरदास के मिश्रण में भी दोनों का अपना पृथक् अस्तित्व है। कबीर की तरह एक के चरण का मेल (अन्त्यानुप्रास के द्वारा) दूसरे के साथ नहीं हुआ है। तुलसी-दास के पदों में भी दोनों के चरणों का मेल कहीं-कहीं एक ही पद में हो गया है।[४] भारतेन्दु द्वारा किये गये मिश्रण में भी यही बात है।[५]

---

[१] सूरसागर, ३५२७।

[२] कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दर दास, पद ५, ८, ३०, ७५।

[३] संतकाव्य, परशुराम चतुर्वेदी, पद २१।

[४] विनयपत्रिका, पद १९०, १९१।

[५] भारतेन्दु ग्रंथावली : होली, पद २७।

# वर्णवृत्त

द्वितीय अध्याय में हम यह कह आये हैं कि सूरदास ने किसी गणात्मक वर्णिक छन्द का प्रयोग नहीं किया है। सूरसाहित्य में वर्णवृत्त-रूप में केवल मुक्तक दण्डक का प्रयोग हुआ है। ऐसे दण्डकों में मनहरण और रूपघनाक्षरी अति प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के आधार पर सूरदास ने कतिपय नये छन्दों का आविष्कार किया है। इस अध्याय में ऐसे सभी मुक्तक दण्डकों के विवेचन का प्रयास किया गया है।

## (१) मिताक्षरी

**नंद के नँदन आली, मोहि कीन्हीं बावरी।**
**कहा कहौं, चित्त क्यों हूँ, रहत न ठाँवरी।**
**बिहरत हरि जहाँ, तहाँ तुहूँ आव री।**
**निसिहूँ बासर आली, मोकों यहै चाव री। —पद ३५०५**

सूरसागर के तीन पदों में[१] मिताक्षरी छन्द का प्रयोग हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में १५ अक्षर हैं, ८ अक्षर पर यति और अंत में गुरु है। इस प्रकार यह मनहरण घनाक्षरी (८-८-८-७) का उत्तरांश है। इस युग में मैथिलीशरण गुप्त ने इसका बहुशः प्रयोग किया है, अतः उन्हीं के नाम पर डॉ० शुक्ल ने इसे मैथिली नाम दिया है।[२] यह नाम हमें इसलिये स्वीकृत नहीं कि एक तो मैथिलीशरण इसके आविष्कारक नहीं (डॉ० शुक्ल भी सूरदास के ऐसे प्रयोग से अवगत हैं)[३] दूसरे इस छन्द ने एक आचार्य द्वारा पहले ही मिताक्षरी की संज्ञा प्राप्त कर ली है।[४]

मनहरण की आधी पंक्ति का एक छन्द के रूप में प्रयोग सर्वप्रथम सूरदास ने किया है, यह असंदिग्ध है। क्योंकि उनके पूर्व इस प्रकार का छन्द

---

[१]सूरसागर, पद ३५०४, ३५०५, ३७१०।
[२]आ० हि० का० में छन्दयोजना : १६५।
[३]आ० हि० का० में छन्दयोजना : १६५।
[४]नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय, पृ० ८०।

उपलब्ध नहीं होता। अवश्य गोरखनाथ और रैदास में १४ वर्णवाला छन्द पाया जाता है। यथा—

**एही राजा राम आछै सर्वे अंग बासा।**
**येही पाँचों तत्व बाबू सहजि प्रकासा।**
**येही पाँचो तत बाबू समुझि समाना।**
**वदंत गोरख इम हरि पद जाना।**[1]

**तुम जु नाइक आछहु अंतर जामी।**
**प्रभते जनु जानी जै जन ते सु आमी।**
**सरीर अराधै बीकउ बीचार देहूँ।**
**रविदास समदल समझावै कोऊँ।**[2]

हिन्दी में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। बंगला में १४ (८+६) वर्णों का पयार छन्द होता है। गोरखनाथ के उपरिलिखित पद्य का उससे बहुत कुछ लय-साम्य है। अतः इस पद में पयार छन्द माना जा सकता है। रैदास के पद में ८-६ पर यति नहीं होने के कारण लय में अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार १४ वर्ण वाले छन्द का प्रयोग हितहरिवंश (१५५६)[3] ने भी किया है—

**मधुरितु वृन्दावन आनंद न थोर।**
**राजति नगरी नव कुसल किसोर।**[4]

तुलसीदास के तीन पदों में १४ वर्ण वाले छन्द का प्रयोग मिलता है।[5] जैसे—

**मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।**
**हौं तो साईं द्रोही, पै सेवक हितसाईं।—वि० प०, पद ७२**

अब यदि इन सभी छन्दों को पयार मानें, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतेन्दु[6] और हरिऔध[7] द्वारा प्रयुक्त पयार की परंपरा हिन्दी साहित्य में बहुत पहले से आ रही थी। जो हो, सूरदास का इस छन्द से कोई सरोकार

---

[1] **गोरखबानी : पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, पद १२, पृ० १००।**
[2] **संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद ११।**
[3] **हि० सा० इतिहास : रामचंद्र शुक्ल, पृ० १४४।**
[4] **ब्रजमाधुरी सार : वियोगी हरि, १८।**
[5] **विनयपत्रिका, पद ७२, गीतावली-अयो० ३६, ४०।**
[6] **भारतेंदु ग्रंथावली—प्रात समीरन, पृ० ६८६।**
[7] **पद्य-प्रसून : हरिऔध। वक्तव्य (पृ० १२६) जीवन (पृ० १८२)।**

नहीं है। उन्होंने घनाक्षरी के अर्द्धांश को ले कर जिस नूतन छन्द में तीन पद लिखे हैं, उसका पता उनके पूर्व के काव्यों में नहीं मिलता। सूरदास का यह प्रयोग उनके काव्य तक ही सीमित नहीं रहा। तुलसीदास ने इस छन्द में १४ पदों की रचना की।[1] आधुनिक काल में गुप्त जी ने इसे अत्यधिक महत्व दिया। अब तक यह छन्द पदों में ही प्रयुक्त था। मनहरण घनाक्षरी के विपरीत इसमें प्रबंधकाव्य की अनुकूलता पा कर गुप्त जी ने मेघनाद-वध, सिद्धराज, जयभारत (नहुष, हिडिम्बा, इन्द्रप्रस्थ, युद्ध) तथा यशोधरा में कहीं तुकान्त और कहीं अतुकांत दोनों रूपों में इसका प्रयोग किया। मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'आर्यावर्त्त' की आद्योपांत रचना इसी छन्द में की है। उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगंधा' और प्रस्तुत लेखक का 'राजा परीक्षित' गीति-नाट्य इसी छन्द में लिखे गये हैं।

हिन्दी में मुक्तक वर्णवृत्त केवल कवित्त के रूप में ही प्रचलित थे। कवित्त छन्द एक तो बड़ा है, दूसरे प्रबंधकाव्य के लिये अनुपयुक्त भी। साथ ही कवित्त का प्रयोग रीतिकाल से ले कर भारतेन्दु-द्विवेदी युग तक प्रचुर परिमाण में हुआ। अतः आधुनिक युग में कवियों को ऐसे मुक्तक वर्णवृत्त की (क्योंकि संस्कृत गणात्मक वर्णवृत्त हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते) आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसकी पादगत लंबाई छोटी हो, जो प्रबंधकाव्य के अनुकूल हो, जो नये भावों और विचारों को वहन करने में समर्थ हो, साथ ही जो नूतन भी प्रतीत हो। इस मिताक्षरी ने उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति की। इसलिये इस युग में इसे विशेष सम्मान मिला।

## (२) नागर

गुरु जन माँहि बैठी बाल, आये हरि तहँ,
बेंदी सँवारन मिस, पाइ लागी।
चतुर नायक पाग मसकि मनहि मन,
रीझे गुप्त भेद प्रीति तन जागी।
हस्त-कमलहि हरि हेरि के हिरदै धरे,
भामिनिहुँ उत आपु कंठ लागी।
सूरदास अतिहि चतुर नागरी नागर,
दुहुँ कह्यौ, मन में सुहाग भागी। —पद २४९६

[1] विनयपत्रिका, ६६-७१, ७३, १७८ से १८२, गीता० अयो० २७, २८।

सूरसागर के दो पद नागर छन्द में निबद्ध हैं।[1] इसके प्रत्येक चरण में ८-८-८-४ अक्षरों पर विश्राम दे कर २८ अक्षर होते हैं। इस प्रकार मनहरण घनाक्षरी के चरण के अंतिम तीन अक्षर निकाल कर इसका आविष्कार कर लिया गया है। इसके चरणों के अंत में यदि तीन अक्षर जोड़ दिये जायँ—

**बेंदी सँवारन मिस, पाइ लागी (मन में)**

**रीझे गुप्त भेद प्रीति जन जागी (छन में)**

तो ये मनहरण के उदाहरण हो जायँगे। मनहरण के पाद में साधारणतया ८-८-८-७ वर्णों की व्यवस्था है। पर कहीं-कहीं ८-८-७-८ या ७-९-७-८ अक्षर भी आ जाते हैं। इसीलिये विशेष-रूप से इसमें १६-१५ पर यति मानी गई है।[2] साथ ही इसके चरण के खंड या तो सम पदों के योग से बनते हैं (गुरुजन माँहि बैठी) या दो विषम और एक सम के योग से (चतुर नायक पाग)। सम के पीछे दो विषम को तथा विषम-सम-विषम को भानु ने क्रमशः निकृष्ट तथा निषिद्ध प्रयोग कहा है।[3] सूरदास के उपर्युद्धृत पद में सम-विषम के नियम का पूर्णतः पालन हुआ है। प्रथम तीन चरणों में ८-८-८-७ (इस छन्द में ४) वाला क्रम ठीक है। केवल चतुर्थ चरण में ७-९-७-८ (इस छन्द में ५) वाला क्रम है, जो शास्त्रानुमोदित है। पद १९९२ के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ चरणों में वर्णों की संख्या और यति-व्यवस्था ठीक है, केवल प्रथम चरण

**स्याम सुंदर आवत | बन तें बने, भावत |**

**आजु देखि देखि छवि | नैन रीझे।**

के प्रथम खंड निकृष्ट के और द्वितीय खंड निषिद्ध के उदाहरण कहे जायँगे। ऐसे प्रयोग निकृष्ट और निषिद्ध इसलिए कहे गये होंगे, कि ये गति में शैथिल्य ला देते हैं। यहाँ पादान्तर्गत तुक के कारण गति की शिथिलता उतनी नहीं खटकती।

सूर के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में नन्ददास ने नागर का प्रयोग किया है—

**सुभग साँवरी छोटी घटा ते निकसि आवै**

**छबीलो छटा कौ जैसी छबीलो छोर।—२९ अ०**

**पूछति पाहुनी ग्वारि, हा हा हो मेरी आली**

---

[1]सूरसागर, पद १९९२, २४९६। [2]छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० २१५।
[3]छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० २१६।

**कहा नाम, को है, चितवन कौ चोर ।[1]—२८ अ०**

नंददास के पद में वर्णों का न्यूनताधिक्य अवश्य है, पर है यह नागर छन्द ही । तुलसी के पद-साहित्य में भी एक पद इसी छन्द में निबद्ध है—

**तैसेई भरत सील-सुखमा-सनेह निधि**
**तैसेई सुभग संग सत्रुसालु ।**
**धरे धनु-सर कर कसे कटि तरकसी,**
**पीरे पट ओढ़े चले चारु चालु ।[2]**

ये दोनों चरण तो बिलकुल ठीक हैं । अन्य चरणों में किसी में एक अक्षर कम है, तो किसी में एक अक्षर अधिक । अक्षरों की इस कमी-बेशी का सुधार बहुत आसानी से हो सकता है । जैसे—

**अंग-अंग भूषण जरायके जगमगत**
**हरत जनक जी को तिमिर जाल ।**

यहाँ 'तिमिर' की जगह 'तम' रख देने से वर्ण-संख्या ठीक हो जाती है ।

भारतेन्दु के काव्य में भी २८ अक्षरपादी एक पद मिलता है ।[3] जिसके एक चरण का अक्षराधिक्य तो 'सनेह' की जगह 'नेह' रख दिये जाने पर दूर हो जाता है, किंतु एक चरण में तो छः अक्षर अधिक हैं । इस प्रकार के दोष कवि-कृत भी हो सकते हैं, पर कुछ तो लिपिकर्त्ता की असावधानी से और कुछ छन्दोदृष्टि से ग्रंथों का संपादन नहीं होने के कारण आ गये हैं । इसी प्रकार गीतावली में मनहरण की लय पर आधारित २६ वर्णों का एक छन्द है[4], जिसके पाँच चरणों में (छन्दक को छोड़ कर) दो में २६, दो में २५ और एक में २४ वर्ण हैं । सूरदास के २८ अक्षरपादी दोनों पद इस प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त हैं ।

मनहरण के अंतिम तीन अक्षरों को निकाल कर नागर का निर्माण हुआ है । अतः इसका अंतिम वर्ण लघु या गुरु कुछ भी हो सकता है । सूरदास के दोनों पदों के चरणांत में दो गुरु हैं, और नंददास-तुलसी के पादांत में गुरु-लघु । पद १९९२ में वन से आते हुए श्यामसुंदर के रूप का वर्णन है, जैसा सूरसागर के अनेक पदों में उपलब्ध है । उपर्युद्धृत पद में क्रियाविदग्धा राधिका और नागर-

---

[1]अष्टछाप परिचय, मीतल, पद ६१ । [2]गीतावली, बाल० पद ४२ ।
[3]भारतेन्दु ग्रंथावली, कार्तिक स्नान, पद १२ ।
[4]गीतावाली : उत्तर० पद २ ।

शिरोमणि कृष्ण के गुप्त प्रेम की अभिव्यंजना की गई है । पद में प्रयुक्त 'नागर' शब्द पर इस छन्द का नाम नागर रक्खा गया है ।

## (३) गोरस

**तऊ गँवारि अहीरी ।**
**तोसों कछु नंद-नंद हँसि कही, इतने कों**
**कबकी न बोलति, न मानै कही री ।**
**स्याम हँसि-हँसि देत, सुनि सुनि कान कानि**
**करति न, इकटक ग्वारि रही री ।**
**कहा कहौं हरि सौंऽब तोसीं कौ मुँह लगाई,**
**बारौं तोहि पिय इक रोम पै ही री ।**
**सूरदास प्रभु कौऽब, कहा कहि बरनौ जु**
**एती तौ कबहु काहू की न सही री ।** —पद ३२१४

सूरसागर के तीन पदों[१] की रचना इस छन्द में हुई है । नागर छन्द के अंत में एक अक्षर रख देने अथवा मनहरण के दो अक्षरों को निकाल देने से गोरस छन्द बन जाता है । इस प्रकार इसके प्रत्येक पाद में २९ अक्षर होते हैं और ८-८-८-५ पर यति होती है । अंत में लघुगुरु कुछ भी रह सकता है । सूरदास के इन तीनों पदों के प्रत्येक चरण में समान अक्षर हैं । चरण में सम-विषम के प्रयोग की जो व्यवस्था भानु ने निर्धारित की है, उसका पालन अधिकांशतः हुआ है । कुछ ही पाद-खंड निकृष्ट अथवा निषिद्ध कोटि में आयेंगे। मनहरण के अंतिम दो अक्षरों को निकाल कर सूरदास ने इसका आविष्कार अवश्य किया; पर इस पद में तो नहीं, उन दोनों पदों में अतिरिक्त सांगीतिकता के लिये प्रथम और द्वितीय पाद-खंडों में तुक की भी योजना कर दी । घनाक्षरी में इस प्रकार की आभ्यन्तर तुक की योजना बहुत कम मिलती है । पादान्तर्गत तुक की यह योजना ऐसे छन्दों को मनहरण से भिन्न कुछ और ही रूप और गूँज दे देती है ।

तुलसी के पद-साहित्य में इस छन्द में निबद्ध ९ पद हैं ।[२] पर उनके छन्द सूरदास के समान व्यवस्थित नहीं हैं । सम-विषम पदों के नियमित प्रयोग की

---

[१]सूरसागर, पद ६५७, ९१३, ३२१४ ।
[२]गीतावली-बा० ५३, अयो० १९-२२, ३८, अर० १०, सं० ७, ८ ।

अवहेलना तथा एकाध अक्षर के न्यूनताधिक्य के कारण वे बहुत अस्तव्यस्त हो गये हैं। सूरदास के उपर्युद्धृत पद के दो चरणों में भी अक्षराधिक्य रहा होगा, पर संपादक ने 'सौऽब' और 'कौऽब' बना कर उसे ठीक कर दिया है। यदि इसी दृष्टि से गीतावली का संपादन किया जाता, तो बहुत दोष दूर हो जाते।

सूर के इस छन्द में लिखे गये तीन पदों में एक[1] में तो कृष्णजन्म के बाद नंदयशोदा के न्योछावर बाँटने की बात कही गई है। इस प्रकार इस पद का गोरस से कोई संबंध नहीं। पद ९१३ में यशोदा कृष्ण को गोरस (दूध-दही) चुराने को मना करती है और पद ३२१४ में राधा की सखी राधा को गोरस (इन्द्रिय-रस—ऐन्द्रिक आनंद) लेने को समझाती है। 'स्याम हँसि-हँसि देत' तथा 'ग्वारि रही री' से जिसकी व्यंजना स्पष्ट है। अतः इस छन्द को गोरस की संज्ञा दी गई।

## (४) सूरघनाक्षरी

**ऐसी निरमोही माई महरि जसोदा भई**
**बाँध्यौ है गोपाल लाल बाँहनि पसारि।**
**कुलिसहूँ तें कठिन छतिया चितै री तेरी**
**अजहूँ द्रवति जो न देखत दुखारि।**
**कौन जानै कौन पुन्य प्रगटे हैं तेरे आनि**
**जाकौ दरसन काज जपै मुख-चारि।**
**केतिक गोरस हानि जाकौ सूर तोरै कानि**
**डारौं तन स्याम रोम-रोम पर वारि। —पद ९८०**

सूरसागर के २६ पदों (सूरसागर २४, परि० २) की रचना इस छन्द में हुई है।[2] मनहरण घनाक्षरी के अंतिम वर्ण को हटा देने से यह छन्द बन जाता है। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में ३० अक्षर होते हैं, ८-८-८-६ पर यति होती है। अंत में लघु गुरु कुछ भी रह सकता है। सूरसागर के पदों में इस नियम का सर्वत्र पालन हुआ है। केवल पाँच पद ऐसे हैं[3], जिनमें अक्षरों की कमी-बेशी है। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।[4] कुछ पदों के चरणों में आभ्यन्तर

---

[1]सूरसागर, पद ६५७। [2]देखिये—परिशिष्ट (२)।
[3]सूरसागर, पद ७७०, ३१६९, ३२७६, ४८३५ परि० ७८।
[4]आगे 'दोष और उनका परिहार'।

तुक की भी योजना है। कहीं-कहीं तीन खंडों में, पर अधिकतर दो खंडों में यह योजना पाई जाती है। अनेक पदों में ऐसी तुक का सर्वथा अभाव है।

सूरसागर के अतिरिक्त कृष्णभक्त कवियों में नन्ददास ने इस छन्द का प्रयोग किया है।[1] जैसे—

**चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई की बानी**
**कहति जसोदी रानी, जागो मेरे लाला।**

हितहरिवंश में भी यह छन्द उपलब्ध होता है—

**मो कों तो भावती ठौर प्यारे के नैनन में,**
**प्यारे भये चाहैं मेरे नैनन के तारे।**[2]

तुलसी के पद-साहित्य में २१ पद इसी छन्द में निबद्ध हैं[3]—

**पतित पावन नाम, बाम हूँ दाहिनो देव,**
**दुनो न दुसह-दुख-दूषन-दरन।**
**सीलसिंधु तों सों ऊँची नीचियौ कहत सोभा,**
**तोसों तुही तुलसी को आरति-हरन।—वि० प०, पद २५७**

भारतेन्दु ने भी अपने पदों में इसे स्थान दिया है[4]—

**अरी हौं बरजि रही बरज्यौ नहिं मानत**
**दौरि-दौरि बार-बार धूप ही में जाय।—प्रेममालिका, पद ६०**

इस प्रकार सूरदास के समय से ले कर भारतेन्दु-काल तक इस छन्द का प्रयोग होता रहा। पर आचार्यों की दृष्टि ऐसे छंद पर नहीं गई। फलस्वरूप इसका किसी छन्दःशास्त्र में प्रवेश नहीं हुआ और यह अज्ञात कुल-गोत्र ही बना रहा। सूरदास ने इस छन्द में अनेक पदों को रचना की है, जिनकी संख्या मनहरण घनाक्षरी की संख्या के बराबर है। अतः उनके ही नाम पर इस छन्द का नाम सूरघनाक्षरी रखा गया।

---

[1]अष्टछाप परिचय : मीतल, पद ४, ७।

[2]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि, पद १४।

[3]विनयपत्रिका-१८४, १९६, १९७, २४६ से २५३, २५६, २५७ गीतावली : बा० ८३, अयो० ३७, अर० ५, ६, सुं० २५, २७, ४७, ४८।

[4]भा० ग्रं०-प्रेम० मा० ६०, प्रेमाश्रु० ५, २५, ३२, राग० ३, ३१ प्रेम-तरंग ३७ (छन्दक सहित ३ पंक्तियाँ)।

## (५) मनहरण घनाक्षरी

**झाई न मिटन पाई, आए हरि आतुर ह्वै,**
**जान्यौ जब गज ग्राह लिये जात जल में।**
**जादौ पति, जदुनाथ, छाँडि खगपति-साथ,**
**जानि जन विह्वल, छुड़ाइ लीन्हौं पल में।**
**नीरहूँ ते न्यारौ कीनौ, चक्र नक्र-सीस छीनौ**
**देवकी के प्यारे लाल ऐंचि लाए थल में।**
**कहै सूरदास, देखि नैननि की मिटी प्यास,**
**कृपा कीन्हीं गोपीनाथ, आए भुव-तल में।** —पद ४३२

सूरसागर के २८ पद (सूरसागर २४, परि० ४) मनहरण घनाक्षरी में निबद्ध हैं।[1] इसे सामान्यतः दण्डक या कवित्त भी कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में ८-८-८-७ के विश्राम से ३१ वर्ण होते हैं। इसकी लय के लिए भानु ने जो सम-विषम पदों का विधान किया है, उसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[2] सूरदास के इन सभी पदों में मनहरण के नियमों का अधिकांशतः पालन हुआ है। कहीं-कहीं निकृष्ट अथवा निषिद्ध पादखंड अवश्य मिलते हैं। भानु के अनुसार मनहरण का अंतिम वर्ण गुरु होता है, शेष के लिये गुरु-लघु का नियम नहीं है।[3] भिखारीदास ने यद्यपि लक्षण में इस प्रकार की बात नहीं कही—

**वसु वसु वसु मुनि जति वरन, घनाक्षरी यकतीस।**[4]

किंतु, उनके उदाहरण-पद्य के अंतिम अक्षर गुरु हैं। काव्य-गत प्रयोगों में अंतिम गुरु के नियम का पालन सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। सूरदास के २६ पदों के चरण गुर्वन्त ही हैं। दो पदों के चरणों के अन्त में दो लघु मिलते हैं।[5] दो पदों की एक-एक पंक्ति में यतिभंग-दोष माना जा सकता है, क्योंकि वहाँ १६-१५ पर यति नहीं है।[6] पद ७६८ की दो पंक्तियों और पद ३१६५ की एक पंक्ति में वर्णों की कमी है। इसी प्रकार पद ३१७० की एक पंक्ति में एक वर्ण अधिक है। परिशिष्ट का पद तो बहुत गड़बड़ है। ऐसे पद भले ही सदोष माने जायँ, पर ये कवित्त छन्द में निबद्ध हैं, यह तो निर्विवाद है। इस छन्द की एक

---

[1]परिशिष्ट (२)। [2]पीछे नागर छन्द, पृ० ४०१।
[3]छन्दःप्रभाकर : पृ० २१४। [4]छन्दार्णव, १४।६।
[5]सूरसागर, पद ७६८, ३१७०। [6]सूरसागर, पद ११०२, १७६८।

विशेषता यह है कि इसके चारों चरणों में समान तुक रहती है। इस नियम का सूरसागर में सर्वत्र पालन हुआ है। जहाँ चार से अधिक चरण हैं, वहाँ भी सभी चरण समतुकांत हैं।

सूरसागर में मनहरण का प्रयोग दो रूपों में हुआ है। (क) १५ पद ऐसे हैं, जिनमें नियमानुसार चार ही चरण हैं। एकाध पद में ही पादान्तर्गत तुक की योजना है। शक्ल-सूरत से भी ये कवित्त-से दिखलाई पड़ते हैं। उपरि-लिखित पद में तो 'कहै सूरदास', 'कहै पद्माकर' और 'भूषण भनत' की याद दिला देता है। (ख) मनहरण का दूसरा रूप वह है, जहाँ इसका प्रयोग छन्दक (टेक) के साथ हुआ है। छन्दक के लिये कवि ने प्रायः मनहरण की आधी पंक्ति का प्रयोग किया है। ऐसे पदों में कम-से-कम चार (छन्दक-सहित) और अधिक-से-अधिक १० (छन्दक-सहित) चरण उपलब्ध होते हैं। ऐसे पदों में प्रायः सर्वत्र आभ्यन्तर तुक की योजना है। यह आभ्यन्तर तुक अतिरिक्त सांगीतिकता तो ला ही देती है, पदों को एक नई भंगिमा भी प्रदान करती है।

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःपरंपरा में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। प्रा० पैं० में भी इसकी कोई चर्चा नहीं। हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में सर्व-प्रथम मुरलीधर[1] ने अपने ग्रंथ 'छन्दोहृदय प्रकाश' में इसका उल्लेख किया है। उनके बाद जयदेव ने 'वृत्तार्णव' में[2] सोममाथ ने 'रस-पीयूष निधि' में[3] और भिखारीदास ने 'छन्दार्णव' में[4], दशरथ ने 'वृत्तविचार' में[5] इसका उल्लेख किया। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु और उनके परवर्त्ती सभी आचार्यों द्वारा यह उल्लिखित है।

अपभ्रंश साहित्य में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं मिलता। गोरखबानी में भी यह प्राप्त नहीं। पृथ्वीराज रासो में जो कवित्त नाम का छन्द मिलता है, वह वास्तव में छप्पय छन्द है।[6] विद्यापति की कीर्त्तिलता और पदावली में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं। कबीर-साहित्य में भी इसकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार मनहरण का प्रयोग १६वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता।[7] विद्वज्जन

---

[1]से[3] तक—मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ८४, ८६।

[4]छन्दार्णव १४।६, ७। [5]मा० छं० का विकास, पृ० ६१।

[6]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २५२।

[7]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ५७६।

द्वारा घनाक्षरी का प्रथम लेखक सेन कवि कहा गया है, जिसका रचना-काल १५६० वि० माना जाता है।[1] सूरदास का जन्म-काल १५४० के लगभग ठहरता है।[2] इससे सूरदास का रचना-काल १५६० के कुछ पूर्व भी (यदि २० वर्ष की अवस्था से पहले काव्य-रचना प्रारंभ की हो) माना जा सकता है। ऐसी दशा में यदि घनाक्षरी का प्रथम प्रयोग सूरदास ने ही किया हो, तो आश्चर्य नहीं। मीराबाई में मनहरण के तीन पद मिलते हैं। किंतु उनका समय अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सका है। शुक्ल जी के अनुसार उनका जन्म सं० १५७३ में[3] तथा रामकुमार वर्मा[4] और परशुराम चतुर्वेदी[5] के अनुसार सं० १५५५ में हुआ था। इस दृष्टि से भी मीरा सूरदास की समसामयिक ही ठहरती हैं। सूरसागर में मनहरण घनाक्षरी में निबद्ध २८ पद हैं। छन्दोदृष्टि से पद बराबर उपेक्षित रहते आये। हो सकता है, इसी से डॉ० जानकी नाथ सिंह 'मनोज' ने सेन कवि को पहला घनाक्षरी लेखक मान लिया हो।[6] बात चाहे जो हो, पर प्रसिद्ध कवियों में सूरदास के ही काव्य में इसके सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। बैजू बावरा के निम्न पद्य में अक्षरों की तो घट-बढ़ है, पर लय कवित्त की ही है—

| | |
|---|---|
| बोलियो न डोलियो ले आऊँ हूँ प्यारी को सुन, | — १६ अ० |
| हो सुघर वर अबही मैं जाउ हूँ। | — १३ अ० |
| मानिनी मनाय के तिहारे पास लाय के | — १५ अ० |
| मधुर बुलाय के तो चरण गहाउ हूँ। | — १५ अ० |
| सुन री सुन्दर नार काहे करत एती रार | — १७ अ० |
| मदन डारत मार चलत पत बुझाउ हूँ। | — १७ अ० |
| मेरी सीख मान कर मान न करो तुम एसे | — १७ अ० |
| बैजू प्रभु प्यारे सो बहिया गहाउ हूँ।[7] | — १४ अ० |

[1] प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ५७७, आ० हि० में छंदयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० १६०।
[2] हि० सा० का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल (संवत् १९९३), पृ० १२७।
[3] हि० सा० का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल (संवत् १९९३), पृ० १४९।
[4] हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा, पृ० ७०१।
[5] मीराबाई की पदावली, भूमिका, पृ० २०।
[6] आ० हि० का० में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० १६० (पादटिप्पणी)।
[7] संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ० ७७।

किंतु बैजूबावरा का समय अनिश्चित है। यदि अमीरखुसरो से होड़ लेने वाले गोपाल नायक के बैजूबावरा का शिष्य होने की बात स्वीकार की जाय, तो इनका (बैजूबावरा का) समय १३वीं-१४वीं शती ठहरता है। यदि ये हरिदास के शिष्य और तानसेन के प्रतिद्वन्द्वी माने जायँ, तो ये अकबर के समय के सिद्ध होते हैं।[१] लेकिन राग-दर्पण के लेखक फक्कीरुला और डॉ० मोतीचन्द्र के मतानुसार शिवप्रसाद सिंह ने बैजूबावरा को ग्वालियर-नरेश राजा मान सिंह (ई० १४८६-१५१६) का दरबारी गायक माना है।[२] सूरदास का जन्म-काल १५४० सं० (१४८४ ई०) के आसपास माना गया है। अतः इस दृष्टि से भी बैजूबावरा सूरदास के समसामयिक ही कहे जा सकते हैं, पूर्ववर्त्ती नहीं।

सूरदास के बाद तो मनहरण का प्रयोग बराबर होता रहा। कृष्ण-भक्त कवियों में कृष्णदास[३], गोविन्दस्वामी[४], छीतस्वामी[५], तथा मीराबाई[६] ने अपने-अपने काव्य में मनहरण को स्थान दिया—यद्यपि वर्णों की घट-बढ़ सब में मिलती है। तुलसीदास ने कवितावली में तो इसका प्रयोग किया ही है, अपने पद-साहित्य में भी ४६ पदों की रचना इसी छन्द में की है।[७] केशवदास ने इसका प्रचुर प्रयोग दण्डक और घनाक्षरी नाम से रामचंद्रिका में किया है।[८] रीति-काल में तो इसे अत्यधिक सम्मान मिला। इस काल में नायिकाओं तथा अलंकारों के उदाहरण देने के लिए कवित्त और सवैयों का खास तौर से व्यवहार हुआ। सम्पूर्ण रीति-साहित्य कवित्त-सवैयों और दोहों में ही लिखा गया है। भारतेन्दु ने प्रेममाधुरी आदि ग्रंथों में तो कवित्त को स्थान दिया ही है, अपने पद-संग्रहों में भी इसका प्रयोग किया है। पदों के अन्तर्गत सूरदास की तरह इन्होंने भी छन्दक-सहित[९] और छन्दक-रहित[१०] दोनों रूपों को रखा है।

---

[१]संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ० १५०।

[२]सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : शिव प्रसाद सिंह, पृ० २२२।

[३]से[५] तक-अष्टछाप परिचय : मीतल, कृ०, पद ८, गो०, पद १६, छी० पद ४ (अंत में २ लघु)।

[६]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद १२०, १७४, १८६।

[७]विनयपत्रिका १३+गी० ३३+कृ० गी० ३=४६ पद।

[८]रामचन्द्रिका, १।१,२,३,२।१० आदि। [९]भा०ग्रं०—प्रेमतरंग २०,२१।

[१०]भा० ग्रं०—प्रेममालिका ५२, ५३, प्रेमाश्रुवर्णन ३६, प्रेमप्रलाप ६०, ६१, ६३, रागसंग्रह १०६।

आधुनिक युग के कवियों के बीच भी मनहरण लोकप्रिय रहा। यदि ब्रजभाषा में इसका प्रयोग रत्नाकर (उद्धव शतक), हरिऔध (रसकलश) आदि कवियों ने किया, तो खड़ी बोली में नाथूराम शंकर शर्मा, गोपालशरण सिंह, अनूप शर्मा, मैथिलीशरण, हरिऔध आदि ने। द्विवेदी-युग के बाद भी इसका प्रयोग कुछ-न-कुछ होता ही रहा। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में घनाक्षरी का प्रचुर प्रयोग किया है। प्रसाद ने 'झरना' में दो कविताओं (अनुनय, तुम) की रचना घनाक्षरी में ही की है। अन्य छायावादी कवियों में इसका प्रयोग नहीं मिलता किंतु, इसकी लय के आधार पर निराला और प्रसाद ने मुक्त छन्द लिखा।

इस प्रकार सूरदास से लेकर आधुनिक काल तक घनाक्षरी का प्रयोग निरंतर होता रहा। १६वीं शताब्दी से पहले इसके दर्शन नहीं होते। इस समय यह अचानक कहाँ से आ धमका? यह विद्वानों के लिए एक समस्या हो गया है। सुमित्रानन्दन पंत तो इससे इतना घबड़ा गये कि उन्होंने इसे हिन्दी का औरस-जात ही नहीं माना, पोष्यपुत्र मान लिया।[1] डॉ० शुक्ल ने पंत के इस मत को तथ्य की अनभिज्ञता का परिचय कहा। उन्होंने मुक्तकवर्णिक छन्द को हिन्दी की पैतृक संपत्ति मान कर घनाक्षरी का संबंध वैदिक अनुष्टुप से जोड़ा और उसके अंतिम सप्तक को उष्णिक (७ अक्षर) का रूप स्वीकृत किया।[2] डॉ० व्यास इस मत से सहमत नहीं हो सके। उन्हें इसका विकास अपभ्रंशकालीन तालच्छन्द की परंपरा से हुआ जान पड़ा।[3] पर अपभ्रंश के किस छन्द से इसका विकास संभव है, इस पर बहुत विचार करने पर वे इस निष्कर्ष पर आये कि प्रा० पैं० का जलहरण (३२ मात्राएँ, अंत में सगण, अन्य सभी अक्षर लघु अथवा एक या दो गुरु)[4] ही वह छन्द हो सकता है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जलहरण के अंतिम सप्तक के अतिरिक्त शेष खंडों से घनाक्षरी का लय-साम्य नहीं है, किंतु पंत जी के इस कथन के आधार पर कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, तीस लघु और एक गुरु वर्ण वाले जलहरण को घनाक्षरी का पूर्व रूप मान लिया।[5] पंत जी के मत में चाहे जितना सार हो, लेकिन यदि जलहरण से घनाक्षरी

---

[1]पल्लव (प्रवेश) पृ० ३८।

[2]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० १६०।

[3]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ५७५। [4]प्रा० पैं० १।२०३।

[5]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५७६-५८०।

का लय-साम्य नहीं है, तो केवल अंतिम सप्तक की लय-समता के आधार पर उससे इसका संबंध जोड़ देना समीचीन प्रतीत नहीं होता। लय-साम्य होने पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि जलहरण के निर्माण-काल में कवि-प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट के कारण सर्वलघु (अंतिम गुरु के अतिरिक्त) की जगह बीच-बीच में गुरु आ जाने से मनहरण की सृष्टि हो गई होगी।

घनाक्षरी का विकास-सूत्र भी संस्कृत की छन्दःपरंपरा में ढूँढ़ा जा सकता है। अशोकपुष्पमंजरी नामक वर्णिक दण्डक का उल्लेख स्वयंभू और हेमचन्द्र में मिलता है, जिसमें गल की यथेच्छ आवृत्तियाँ होती हैं—

**सव्वता लहुत्तरा जहिच्छिआ जहिं हुवंति सा इमा असोअपुप्फमंजरित्ति।**
**सर्वत्रिमात्रा लघूत्तरा यथेच्छं यत्र भवन्ति सेयमशोकपुष्पमंजरीति।**[1]
**ग्लावशोक पुष्पमंजरी।**[2]

स्वयंभू के उदाहरण में गल की १४ आवृत्तियाँ अर्थात् २८ अक्षर हैं। पर नियमानुसार इससे अधिक आवृत्तियों का भी यह छन्द हो सकता है। इसी यथेच्छ आवृत्ति के आधार पर भानु ने इसके दो भेदों का उल्लेख किया है—(क) नीलचक्र (३० वर्ण) और (ख) सुधानिधि (३२ वर्ण)।[3] ये दोनों छन्द मनहरण और रूप-घनाक्षरी के बहुत-कुछ समीप हैं। चारों छन्दों में यति-व्यवस्था एक-सी है (यद्यपि नील-चक्र और सुधानिधि के लक्षण में यति-निर्देश नहीं है, पर जिह्वा आठ-आठ अक्षरों पर विश्राम करती चलती है) सुधानिधि और रूपघनाक्षरी की वर्ण-संख्या समान है। नीलचक्र में मनहरण से एक अक्षर कम है, जिसकी पूर्ति अंत में एक दीर्घ जोड़ देने से हो जाती है। पर सबसे अन्तर यह है कि नीलचक्र और सुधानिधि में गुरु-लघु का क्रम है और घनाक्षरी इस बंधन से सर्वथा मुक्त है। वर्णवृत्त हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता। इसकी रचना में कवि को कठिनाई होती है। अतः क्या यह संभव नहीं कि कवि के प्रयत्न-शैथिल्य और शब्द-संकट के कारण गलात्मक सुधानिधि

**रोज प्राण नन्दपुत्र पै लगाय गोपिग्वाल**
**लोक भक्तिदिव्य कौन है सुधानिधी समान।**[4]

---

[1]स्वयंभूच्छन्दः १।८०।
[2]छन्दोऽनुशासन २।३९८।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१२-२१३।
[4]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१३।

धीरे-धीरे वर्णिक मुक्तक रूप-घनाक्षरी में विकसित हो गई हो। फिर रूप-घनाक्षरी के अंतिम लघु को हटाकर मनहरण का आविष्कार कर लिया गया हो। रूप-घनाक्षरी से मनहरण का विकास गुजराती के छन्दःशास्त्री रामनारायण पाठक भी मानते हैं।[१] उक्त वर्णवृत्त और घनाक्षरी की गूँज में जो थोड़ी भिन्नता दिखलाई पड़ती है, उसका कारण वर्णवृत्तों का गलात्मक विधान है। भानु ने नीलचक्र का यह उदाहरण दिया है—

**रोज पंच प्राण गारि ग्वाल गो दसा विचार**

**गाव जक्तनाथ राज नील चक्रद्वार। (ये)**[२]

बहुत कुछ गलात्मक क्रम से निर्मित पद्माकर की निम्न पंक्ति को—

**रैनि दिन आठो याम राम राम राम राम**

**सीता राम सीता राम सीता राम कहिये।**[३]

नीलचक्र के उक्त उदाहरण के साथ मिला कर पढ़ने से दोनों की गूंज में बहुत कम भिन्नता प्रतीत होगी। फिर गुप्त जी की निम्नांकित पंक्ति—

**सत्य है स्वयं ही शिव राम सत्य सुन्दर है,**

**सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है।**[४]

तो नीलचक्र के अत्यंत निकट है। यदि यह अशोकपुष्पमंजरी छन्द गल की व्यवस्था को तोड़ कर, फलतः निर्दिष्ट मात्राओं की अवहेलना कर, केवल अक्षरों की संख्या को अक्षुण्ण रखता हुआ वर्णिक मुक्तक दण्डक बन सकता है, तो यही वर्ण-संख्या के नियम को भंग कर केवल मात्रा-संख्या की रक्षा करता हुआ हरिप्रिया आदि मात्रिक छन्दों का भी रूप धारण कर सकता है।[५] इस प्रकार यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि घनाक्षरी का विकास इन्हीं छन्दों से हुआ है। उक्त वर्णवृत्तों से इसके विकास का जो किंचित् संबंध संभावित हो सकता है, उस ओर इंगित कर देने का हमारा यहाँ प्रयास है। वर्णवृत्तों से मात्रिक छन्दों का विकास संभव है, किंतु मात्रिक छन्दों से वर्णवृत्तों का विकास थोड़ा असंगत प्रतीत होता है। कोई संस्कृताभिमानी प्रयोगशील पंडित कवि ही ऐसे प्रयास में संलग्न हो सकता है। अन्य कवि तो जटिल मार्ग को छोड़ कर सुगम राह पर ही चलना पसंद करेगा। इसीलिए मात्रिक सवैये से वर्णिक

---

[१]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५७९। [२]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१२।
[३]प्रबोध पचासा, पद्य ६। [४]साकेत : सप्तम सर्ग, पृ० २०१।
[५]पीछे हरिप्रिया छन्द।

सवैये का विकास भी हृदय को ग्राह्य नहीं होता ।[1] सवैया बहुत प्राचीन छन्द है । मदिरा सवैया का उल्लेख विरहांक ने संगता नाम से, स्वयंभू, हेमचन्द्र तथा केदार ने मदिरा नाम से, जयकीर्त्ति और कविदर्पणकार ने लताकुसुम नाम से किया है ।[2] मत्तगयंद का उल्लेख मयूरगति नाम से वृत्तरत्नाकर में मिलता है ।[3] किरीट का उल्लेख हेमचन्द्र और कविदर्पणकार ने सुभद्र के नाम से तथा प्रा० पैंगलकार ने किरीट नाम से किया है ।[4] दुर्मिला प्रा० पै० में उल्लिखित है ।[5] इन सब में विरहांक, स्वयंभू तथा जयकीर्त्ति द्वारा उल्लिखित होने के कारण मदिरा छन्द सबसे प्राचीन सिद्ध होता है । जयकीर्त्ति-द्वारा उल्लिखित होने से मदिरा के संस्कृत छन्द होने में सन्देह नहीं रहता ।

इस प्रकार इन प्राचीन छन्दों का विकास अपभ्रंश के तालच्छन्द से मानना कितना युक्तिसंगत है, यह विचारणीय है । वस्तुस्थिति यह है कि यही वर्णिक सवैये कालान्तर में मुक्तक वर्णिक का रूप धारण करने लगे । तुलसी आदि के सवैयों में दीर्घ का ह्रस्वोच्चारण इसी ओर संकेत करता है । खड़ी बोली में अन्य छन्दों में चाहे यह छूट नहीं हो, किन्तु सवैयों में यह स्वतंत्रता खड़ी बोली के कवि भी लेते रहे ।

घनाक्षरी के विस्तृत क्षेत्र में भावों के प्रकटीकरण में कवियों को विशेष सुविधा रही है । इसलिए सभी रसों की अवतारणा में कवि-जन इसका व्यवहार करता रहा । फिर भी शृंगार और वीर जैसे विरोधी रसों की अभिव्यंजना में घनाक्षरी विशेष रूप से सफल है । सर्वरससिद्ध होते हुए भी यह प्रबन्ध काव्य के लिए उतना उपयुक्त सिद्ध नहीं होता, जितना मुक्तक काव्य के लिये । इसीलिए रीतिकाल में इसका विशेष सम्मान हुआ । आधुनिककाल में विशेषतः छाया-काल में मुक्तक का स्थान गीतिकाव्य ने ले लिया, इसी से घनाक्षरी भी अपदस्थ हो गया ।

---

[1]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, पृ० ५६४ और ५६७ ।

[2]विरहांक ३।३४, स्वयंभू १।५८, हेमचन्द्र २।३५५, केदार ३।१००-१, जयकीर्ति २।४६, कविदर्पण ४।९३ ।

[3]केदार ३।१०२-१ (जयदामन में संकलित वृत्तरत्नाकर) ।

[4]हेमचन्द्र २।३६८, कविदर्पण ४।९८, प्रा० पैं० २।२१० ।

[5]प्रा० पैं० २।२०८ ।

## (६) रूपघनाक्षरी

**लटें उघरारी रहीं छूट-छूट आनन पै**
**भीजीं है फुलेलनि सौं आलि हरि संग केलि ।**
**सोधें अरगजा अरु मरगजी सारी अंग**
**कहूँ दरकी कुचनि पर अंगिया नवेलि ।**
**नैन अरसात अरु बैनहूँ अटपटात**
**जाति ऐंड़ाति गात गोरि बहियानि झेलि ।**
**सूर-प्रभु प्यारी प्यारे संग करि रंग-रास**
**अरस परस दोऊ अंकम धर्‌यौ है मेलि ।—पद २६२८**

सूरसागर में रूपघनाक्षरी के छः पद हैं ।[१] मनहरण के अंत में एक लघु रख देने पर रूपघनाक्षरी छन्द बन जाता है । इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं । ८, ८, ८, ८ अथवा १६-१६ पर यति होती है और अंत में ऽ। अनिवार्यतः रहते हैं । परिशिष्ट के पद के अतिरिक्त (जो छन्दो-दृष्टि से बहुत अस्तव्यस्त है) शेष सभी पदों में वर्णों की संख्या ३२ ही है । केवल दो पदों में[२] एक अक्षर कम और एक में[३] एक अक्षर अधिक है । किंतु, दो पद[४] ऐसे हैं, जिनके चरण में गुरु-लघु की जगह दो गुरु हैं । जैसे—

**सुनहु सूरज प्रभु अबकैं मनाइ ल्याऊँ**
**बहुरि रुठाइ हौं तौ, मेरी राम राम है जू ।**

इसी प्रकार का एक द्विगुर्वन्तपादी छन्द तुलसीदास की गीतावली में भी पाया जाता है—

**आज रघुपति-मुख देखत लागत सुख**
**सेवक सुरुप, सोभा सरद-ससि सिहाई ।[५]**

अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के छन्द रूपघनाक्षरी कैसे कहे जायँ ? भानु ने जलहरण छन्द के लक्षण में लिखा है—'(इसके) प्रत्येक पद के अंत में दो लघु होते हैं और कहीं-कहीं पादान्त में एक गुरु भी होता है परन्तु उसका उच्चार

---

[१]सूरसागर, पद २६२८, ३२५३, ३३७१, ३४१०, ३४१५ परि० ११६ ।
[२]सूरसागर, पद २६२८ (तृतीय चरण) ३४१० (द्वितीय चरण) ।
[३]सूरसागर, पद ३३७१ (प्रथम चरण) ।
[४]सूरसागर, पद ३४१०, ३४१५ ।
[५]गीतावली : उत्तर०, पद ११ ।

प्रायः लघुवत् ही होता है।' इसके उदाहरण-रूप में पद्माकर का एक पद्य भी उन्होंने उद्धृत किया है—

**कहै पद्माकर मयूर मंजु नाचत हैं**
**चाय सों चकोरिनि चकोर चूमि चूमि रहे।**[1]

भानु के उक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए अंतिम 'जू' और 'ई' को ह्रस्व मान कर ये दोनों छन्द रूपघनाक्षरी कहे जा सकते हैं। अन्यथा रूपघनाक्षरी के पादांत में दो गुरु का भी विधान करना पड़ेगा, या ऐसे छन्द को नया नाम देना पड़ेगा। हमने अंतिम दीर्घ को ह्रस्व मान कर इन्हें रूपघनाक्षरी में ही अन्तर्भुक्त कर लिया है।

रूपघनाक्षरी का उल्लेल प्राचीन छन्दःशास्त्री मुरलीधर ने 'छन्दोहृदय प्रकाश' में[2], जयदेव ने 'वृत्तार्णव' में[3] तथा भिखारीदास ने 'छन्दार्णव' में[4] किया है। आधुनिक लक्षणकारों में भानु[5], दत्त[6], परमानन्द[7], रघुनन्दन[8], डॉ० शिवनन्दन[9] तथा डॉ० शुक्ल[10] द्वारा यह उल्लिखित हुआ है।

मनहरण की तरह रूपघनाक्षरी का काव्यगत प्रयोग भी सूरदास से ले कर छायावाद के पहले तक बराबर मिलता है। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्तों में चतुर्भुजदास[11] ने रूपघनाक्षरी का प्रयोग किया है। तुलसीदास के चार पद इसी छन्द में लिखित हैं।[12] केशवदास ने अपनी रामचंद्रिका में जहाँ मनहरण का प्रचुर प्रयोग किया है, वहाँ रूपघनाक्षरी का प्रयोग केवल एक बार किया है।[13] रीतिकाव्य में नायिकाओं और अलंकारों के उदाहरणरूप में

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१८।
[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ७२।
[3]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ८४।
[4]छन्दार्णव १४।६ और ८।
[5]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१७। [6]हिन्दी छन्दःचन्द्रिका, पृ० ५८।
[7]पिंगल पीयूष, पृ० १३५। [8]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० १५४।
[9]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ५५।
[10]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० १६४।
[11]अष्टछाप परिचय : मीतल-पद १६।
[12]विनयपत्रिका, पद ७७, गीता० बाल० ८२, उत्त० ११, कृ० गी० पद २।
[13]रामचंद्रिका, १३।३६।

यत्र-तत्र इसके दर्शन हो जाते हैं ।[१] भारतेन्दु ने भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग किया है ।[२] आधुनिक काल में भी कवित्त लिखने वाले कवियों द्वारा कहीं-कहीं यह प्रयुक्त हो गया है । यदि साकेत का प्रारंभ मनहरण से (मंगलाचरण का पद्य) होता है, तो अंत रूपघनाक्षरी से ।

## (७) जलहरण

**अरुझी कुंडल लट, बेसरि सों पीत पट,**
**बनमाल बीच आनि उरझे हैं दोउ जन ।**
**प्राननि सों प्रान, नैन नैननि अटकि रहे,**
**चटकीली छवि देखि लपटात स्याम घन ।**
**होड़ा-होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अंक भरैं,**
**ता ता थेई थेई उघटत है हरषि मन ।**
**सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली-जुवति भारी,**
**नारि कौं अँचल लै लै पोंछत है भ्रम कन ।** —पद १७६७

सूरसागर के पाँच पद जलहरण छन्द में लिखे गये हैं ।[३] इस जलहरण का प्रा० पैं० के जलहरण से कुछ संबंध नहीं ।[४] प्रा० पैं० के जलहरण को भिखारीदास ने भी उल्लिखित किया है, पर अंत में गुरु नहीं रख कर बत्तीस लघु अक्षरों की स्थापना की है ।

**लघु करि दीन्हें बत्तिसौ, जलहरना पहिचानि ।**[५]

प्रा० पैं० में एक या दो गुरु रखने की छूट थी, जिसका निर्वाह उदाहरण-पद्य में एक मध्यस्थ गुरु द्वारा किया गया है । जैसे—

**बद मणुसअल करइ विपख हिअअ**
**सल हमिर वीर जब रण चलिआ ।**[६]

इसलिए यह मात्रिक छन्द के अन्तर्गत आ सकता था । किंतु, भिखारीदास के

---

[१] जगतविनोद : पद्माकर, पद्य १००, २०७, ४४५ । रसकलस : हरिऔध, पृ० ६, १७८ ।

[२] भा० ग्रं०—प्रेममाधुरी ८, ८५, ६६, १०२, १०५, ११६, प्रेम-प्रलाप—७१ ।

[३] सूरसागर पद ७६६, १५७०, १७६७, २०१६, ३४०५ ।

[४] पीछे मनहरण छन्द, पृ० ४१० ।

[५] छन्दार्णव, ७।२६ । [६] प्रा० पैं० १।२०४ ।

लक्षणानुसार जब इसमें ३२ लघु अक्षर अनिवार्य हो गये, तो यह वर्णिक छन्द बन गया। फिर भी उन्होंने इसे पद्मावती, दुर्मिल, त्रिभंगी आदि के साथ मात्रिक छन्दों के ही अन्तर्गत रक्खा है। भानु ने इसमें प्रा० पैं० के अनुसार एक या दो गुरु रखने की छूट नहीं दी। उन्होंने इसमें ३० लघु और अंत में एक गुरु रखने का विधान किया और इसे वर्णिक मुक्तक दण्डक के अन्तर्गत रख कर जनहरण नाम दिया।[1] ३० लघु और एक गुरु वाले छन्द को भिखारीदास के विपरीत वर्णिक छन्द मानना सर्वथा युक्तिसंगत है। किंतु इसे और कलाधर (१५ गुरु-लघु क्रमपूर्वक और अंत में एक गुरु)[2] को मुक्तक दण्डक के अन्तर्गत रखना उचित नहीं। जब इन दोनों छन्दों में वर्ण-क्रम का निश्चित नियम है, तो इनमें मुक्तता कहाँ रही ? फिर ये अशोकपुष्पमंजरी आदि दण्डकों की तरह साधारण दण्डकों में क्यों नहीं परिगणित हों ? ८-८-८-७ पर यति होने के कारण (यद्यपि यति-निर्देश है नहीं) कलाधर तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मनहरण का ही गणात्मक रूप हो। किंतु, जनहरण तो वर्णिक बन कर भी मात्रिक संस्कार से अभिसिंचित-सा दिखलाई पड़ता है। इसकी यति-व्यवस्था १०-८-८-४ है और लय बहुत कुछ मात्रिक त्रिभंगी (१०-८-८-६ अंत ऽ) से मिलती-जुलती है। मनहरण, कलाधर, रूपघनाक्षरी, जलहरण, डमरू, कृपाण, विजया आदि जितने मुक्तक दण्डक हैं[3], सबमें जिह्वा आठ-आठ अक्षरों पर विश्राम करती चलती है। थोड़ी-थोड़ी भिन्नता के बावजूद सब में एक लय अनुस्यूत है। जनहरण में न तो मुक्तक दण्डक की-सी यति-व्यवस्था है और न लय ही। जनहरण के निम्नांकित उदाहरण-द्वारा—

**जय परम सुमति धर कुमतिन छय कर**
**जगत तपत हर नरवरये।**
**जय जलज सदृश छवि सुजन-नलिन रवि**
**पढ़त सुकवि जस जग परये।**[4]

हमारे कथन की सत्यता हृदयंगम की जा सकती है। अतः इसे मात्रिक छन्दों के क्षेत्र से घसीट कर वर्णिक छन्दों में ले आना समुचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार इस जनहरण (प्रा० पैं० के जलहरण) से हमारे इस जलहरण का कोई संबंध नहीं है। यह जलहरण रूपघनाक्षरी का ही एक भेद है।

---

[1] छन्दःप्रभाकर, पृ० २१७।
[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० २१७।
[3] छन्दःप्रभाकर, पृ० २१४ से २२१।
[4] छन्दःप्रभाकर, पृ० २१७।

रूपघनाक्षरी के अंत में ऽ। होता है और इसके अंत में दो लघु। बस, इतना ही दोनों में अन्तर है। सूरदास के चार पदों में इस नियम का पालन है। केवल एक पद के अंत में दो लघु की जगह ।ऽ है। जैसे—

**सेज रचि पचि साज्यौ सघन निकुंज, कुंज**
**चित चरननि लाग्यौ छतिया छरक रहीं ।[1]**

यहाँ अंतिम 'हीं' का उच्चारण लघु के समान है। अतः यह भी जलहरण का ही उदाहरण है।[2] भिखारीदास के अतिरिक्त प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में मुरलीधर[3], सुखदेव[4], जयदेव[5] तथा रामसहाय[6] के ग्रंथों में यह उल्लिखित हुआ है। आधुनिक लक्षणकारों में भानु के अतिरिक्त परमानन्द[7], डॉ० शिवनन्दन[8] और डॉ० शुक्ल[9] ने इसका उल्लेख किया है।

सूरदास के बाद तुलसी की गीतावली में जलहरण का एक पद मिलता तो है—

**छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी**
**नख ज्योति मानो मोती कमल दलनि पर ।[10]**

किंतु यही पद सूरसागर में भी विद्यमान है।[11] इसके अतिरिक्त जलहरण का और कोई पद तुलसी-साहित्य में प्राप्त नहीं होता। संभवतः सूरदास का यह पद लिपिकर्ता की असावधानी से गीतावली में प्रवेश पा गया हो। केशव की रामचंद्रिका में भी जलहरण का एक पद्य उपलब्ध होता है।[12] रीतिकाव्य के उदाहरण-पद्यों में यत्र-तत्र इसका प्रयोग मिल जाता है।[13] भारतेन्दु के काव्य में जलहरण के दोनों रूप (अंत ।। और ।ऽ) मिलते हैं।[14] आधुनिक काल के घनाक्षरी लेखकों ने कभी-कभी इसे भी याद कर लिया है। हरिऔध ने इसका

---

[1]सूरसागर, पद ३४०५।

[2]इस संबंध में भानु का मत रूपघनाक्षरी के अन्तर्गत, पृ० ४१४।

[3]से[6] तक—मा० छं० का विकास—डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ७४, ८४, ६२।

[7]पिंगलपीयूष, पृ० १३५। [8]हिन्दी छन्दःशास्त्र—पृ० ५६।

[9]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० १६४। [10]गीतावली—पद ३३।

[11]सूरसागर, पद ७६६। [12]रामचंद्रिका १४।३८।

[13]जगतविनोद, पद्माकर, पद्य ११६,१२२। रसराज : मतिराम, पद्य ३०१।

[14]प्रेम-माधुरी, कृष्णचरित्र।

प्रयोग स्थायीभाव हास और लोकसेविका नायिका के उदाहरण-पद्य में किया है।[१] रत्नाकर ने उद्धवशतक तथा गंगावतरण के प्राक्कथन में इसका उपयोग किया है। साकेत में भी एक पद्य इसी छन्द में निबद्ध है।[२]

मनहरण, रूपघनाक्षरी और जलहरण तीनों की गति एक है; किंतु तीनों के चरणों की समाप्ति तीन तरह से होती है। इसीलिए तीनों का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होता है। जलहरण के द्विलघ्वंत में उमड़ते हुए भाव दो लघुओं की समतल भूमि पाकर जैसे राहत की साँस लेने लगते हैं; रूपघनाक्षरी के गलात्मक अंत में जैसे ऊँचाई पर चढ़ कर नीचे गिर पड़ते हैं और मनहरण के गुर्वन्त में उच्छ्वसित हो कर ऊपर चढ़ जाते हैं, और पाठकों के सम्पूर्ण हृदय को छा लेते हैं। अपने व्यक्तित्व की इसी प्रभाव-भिन्नता के कारण तीनों के काव्यगत प्रयोग में भी बड़ी विषमता रही। हृदय पर छा जाने वाले मनहरण का ९० प्रतिशत, भावों को ऊपर-नीचे चढ़ा-गिरा कर आकस्मिक प्रभाव डालने वाले रूपघनाक्षरी का ७ प्रतिशत और भावों को डाल कर साँस लेकर कहने वाले जलहरण का ३ प्रतिशत से भी कम प्रयोग हुआ। पर इसमें सन्देह नहीं कि कवित्त-रचयिताओं के समक्ष ये तीनों बराबर उपस्थित रहते थे। वीर-शृंगार आदि अनेक रसों में कृतकार्य होने के कारण भी मनहरण को विशेष सम्मान मिला। रूपघनाक्षरी और जलहरण में वीर भावों को वहन करने की उतनी क्षमता नहीं। इसीलिये भूषण के काव्यों में ये दोनों छन्द बिलकुल नहीं मिलते।

[१]रसकलस, पृ० १०, और १०६। [२]साकेत, सर्ग ५, पृ० १४१।

## छन्दक के छन्द

पद के गेय होने के कारण उसमें सामान्यतया एक ऐसी छोटी पंक्ति होती है, जिसकी आवृत्ति बार-बार गाने के समय गायक करता है। इसकी आवृत्ति बार-बार होती है, इसीलिए इसे स्थायी कहते हैं। साधारणतः इस छोटी पंक्ति को टेक और उसके बाद वाली पंक्तियों को अन्तरा कहते हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में टेक के लिए छन्दक और अन्य पंक्तियों (अन्तरा) के लिए सम्पद शब्द का प्रयोग किया है—

**गीतानां छन्दकानां च भूयो वक्ष्याम्यहं विधिम्।**
**सर्वेषामेव गीतानामन्ते छन्दक इष्यते।**[1]
**विधाने छन्दसामेषा संपदित्यभिसंज्ञिता।**[2]

संगीतज्ञों के अनुसार 'प्रबन्ध' के जो पाँच अंग—उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग—होते हैं, उनमें ध्रुव संज्ञा इसी छोटी पंक्ति की है। सिखों के 'आदिग्रंथ' में यही ध्रुव 'रहाउ' कहा गया है।[3] इस 'रहाउ' का स्थान वहाँ पद के प्रारंभ में न होकर दो पंक्तियों के बाद रहता है। जैसे—

**मन की बरिया मनुही जानै, के बूझल आगे कहीजै।**
**अंतरजामी राम रवाँई, मैं डरूँ कैसो चहीजै।**
**बेधी अले गोपाल गोसाँई।**
**मेरा प्रभु रविआ सरबे ठाई। रहाउ।**[4]

बौद्धसिद्धों के चर्यापदों में भी प्रायः यही क्रम मिलता है—

**सुइणेहो विदारिअ निअ मन तोहरे दोसे।**
**गुरु-वअण-बिहारें रे थाकिव तइ घुण्ट कइसे।**
**एक ट भवइ गअणा।**
**बङ्गे जाया निलेसि परे भागेल तोहोर विणाणा।**[5]

---

[1]नाट्यशास्त्र—अध्याय १४, २६६। [2]नाट्यशास्त्र—अध्याय १४, १०३।
[3]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, (भूमिका) पृ० २७—२६।
[4]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, संत नामदेव, पद ४।
[5]दोहा-कोश : राहुल सांकृत्यायन : सरह के पद, पृ० ३६०।

गोरखनाथ के पदों में छन्दक-जैसी छोटी पंक्ति का प्रयोग नहीं हुआ है ।

रूपे रूपे करूपे गुरदेव, बाघनी भोले भोले ।
जिन जननी संसार दिषाया, ताकौं ले सूते भोले । टेक ।[1]

विद्यापति के कुछ गीतों में छन्दक का प्रयोग पद के प्रारंभ में हुआ है—

माधव कि कहब से विपरीत ।
तनु मेल जरजर भामिनि अंतर
चित बाढ़ल तसु प्रीत ।[2]

और कुछ पदों में दो पंक्तियों के बाद—

सुरत समापि सुतल वर नागर पानि पयोधर आपी ।
कनक संभु जनि पूजि पुजारी धरए सरोरुह झापी ।
सखि हे माधव, केलि विलासे ।
मालति रमि अलि ताहि अगोरसि पुन रतिरंगक आसे ।[3]

विद्यापति के समकालीन बंगला के कवि चंडीदास में भी छन्दक के दोनों प्रयोग मिलते हैं—

सइ केवा शुनाइल श्याम-नाम ।
काणेर भितर दिया मरमे पशिल गो आकुलकरि मोर प्राण ।[4]
× × × ×
आमि से अबला अखलहृदया भाल मन्द नाहिं जानि ।
बसिआ बिरले लेखा चित्रपटे विशाखा देखाल आनि ।
हरि हरि एमन केन वा हल ।
विषम बाढ़ल अनल शिखाय आमारे फेलियादिल ।[5]

कबीरदास ने छन्दक का प्रयोग पद के प्रारंभ में ही किया है—

लोका जानि न भूलौ भाई ।
खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यौ समाई ।[6]

---

[1]गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल, पद ४६ ।
[2]विद्यापति की पदावली : रामवृक्ष बेनीपुरी, पद ५३ ।
[3]विद्यापति की पदावली : रामवृक्ष बेनीपुरी, पद ८६ ।
[4]कविता कौमुदी, सातवाँ भाग, सं० कृपानाथ मिश्र, पद १ ।
[5]कविता कौमुदी : सातवाँ भाग, सं० कृपानाथ मिश्र, पद २ ।
[6]कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद ५१ ।

यों उनके बाद भी रैदास और नानक आदि के पदों में दो पंक्तियों के बाद छन्दक प्रयुक्त हुआ है।[1] सूरदास ने छन्दक को बराबर पद के आदि में ही रक्खा है और उनके पश्चात् तो सभी कवियों के पदों में उसे शीर्ष स्थान ही मिलता रहा।

'टेक की बार-बार आवृत्ति होने से पद में संगीत की अपूर्व झंकार तथा ध्वनि-सौंदर्य प्रकट होने लगते हैं।'[2] इस प्रकार छन्दक संगीत का तो प्राण है ही, वह पद में निहित भावों का भी सर्वस्व है। 'जिस प्रकार छन्दक के आ जाने पर वादक को विशेष कलात्मकता दिखलानी पड़ती है, उसी प्रकार कवि को छन्दक की योजना में विशेष सावधानी से काम लेना पड़ता है। उसे पद को मथ कर उसके मूलभाव को छन्दक में भर देना पड़ता है। अतः भावानुभूति अथवा रसास्वाद के लिए छन्दक और सम्पद की लय-मैत्री में आंतरिक साम्य होना अनिवार्य है, आकार की भिन्नता बाह्य रूप में चाहे जो भी दिखलाई पड़े। लय-मैत्री का प्रश्न इसलिए भी उठ खड़ा होता है कि छन्दक और सम्पद आकार में तो भिन्न होते ही हैं, दोनों के छन्द भी भिन्न होते हैं; अन्यथा सम्पद की धारा के बाद ध्वनि-विधान की नवीनता संभव नहीं हो सकती।'[3]

सूरदास ने छन्दक-रूप में निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग किया है—

अखण्ड, शशिवदना, अहीर, शिखंडी, नित, लीला, महानुभाव, उल्लाला (चंडिका), उर्वशी, प्रदोष, हाकलि, सुलक्षण, विजात, कज्जल, मनमोहन, मनोरम, चौपई, चौबोला, गोपी, उज्ज्वलामात्रिक, चौपाई, पद्धरि, पदपादाकुलक, शृंगार, चन्द्र, रूपोज्जवला, राम, माली, विजयकरी, विलक्षण, चन्द्रा, शक्ति, तमाल, शास्त्र, हंसगति, योगकल्प, अरुण, प्लवंगम-चांद्रायण, सिंधु, कुण्डल, उपमित, सुखदा, रास, उल्लास, उपमान, अवतार, हीर, रोला, सारस, मुक्तामणि, नाग, विष्णुपद, सरसी, सार और चुलियाला।

आगे प्रत्येक छन्द का लक्षण-उदाहरण देकर उसकी परंपरा और विकास पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही छन्दक और सम्पद की लय-मैत्री के साम्य का भी विवेचन किया गया है।

---

[1] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी।

[2] हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत : डॉ० उषा गुप्ता, पृ० ३३०।

[3] आ० हि० काव्य में छंदयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० ३६९।

## (१) अखंड

अखण्ड का सर्वप्रथम उल्लेख डॉ० शुक्ल ने किया है। उनके अनुसार इसमें समात्मक दो चौकलों का प्रयोग होता है। साथ ही पंचक और त्रिकल का योग भी मान्य है।[1] इस प्रकार यह सार-सरसी आदि छन्दों के प्रथमांश (१६ मा०) का आधा है। भानु ने ऐसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। भिखारीदास के यहाँ इस गति वाले ५ छन्द हैं—तिर्ना, हंस, चौबंसा, सवासन और मधुमती। किंतु, इन सबों को उन्होंने लघु-गुरु के बंधन में इस प्रकार डाल दिया है कि वे वर्णिक छन्द हो गये हैं।[2]

प्राचीन छन्दःशास्त्रियों ने ऐसे प्रयोग को कोई नाम नहीं दिया; किंतु, ऐसे प्रयोग प्राचीन काल में भी उपलब्ध हैं। गोरखबानी की कुछ पंक्तियाँ इसी छन्द में निबद्ध हैं। यथा—

**चलंत पंथा तूटंत कंथा उडंत पेहा विचलंत देहा।**
**छूटंत तालो हरि सूँ नेहा।**[3]

विद्यापति के एक पद में इस प्रकार की दो पंक्तियाँ मिलती हैं—

**मलय पवन बह।**
**वसंत विजय कह।**[4]

सूरसाहित्य में इसका प्रयोग छन्दक-रूप में हुआ है। जैसे—

**नव नागरि हो। (सकल) गुन-आगरि हो।** —८ मात्राएँ
**हरि भुज ग्रीवा हो। सोभा सीवा हो।** —१० मात्राएँ
**स्याम छबीली भावती। गौर स्याम छवि पावती।** —१३ मात्राएँ

**सँसवता में हे सखी, जौवन कियो प्रवेस।**
**कहा कहौं छवि रूप की, नखसिख अंग सुदेस।**[5] —दोहा

अखंड के छन्दक की लय-मैत्री दोहे के सम्पद के साथ समप्रवाही होने के कारण है ही। किन्तु, कवि ने सीधे इन दोनों का मेल नहीं किया। इन दोनों के बीच

---

[1] आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २४४।
[2] छन्दार्णव ५।५० से ५४ तक।
[3] गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल, सबदी १६२।
[4] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १८६।
[5] सूरसागर, पद ३८७८।

एक अर्द्धाली समप्रवाही शशिवदना की और एक त्रयोदशमात्रापादी समप्रवाही चण्डिका की डाल दी है। इस प्रकार मात्राओं की उत्तरोत्तर वृद्धि जहाँ लय में एक नवीनता का संचार करती है, वहाँ सम्पद के साथ छन्दक की संगति भी बिठा देती है, क्योंकि चण्डिका का चरण दोहे का विषम चरण ही तो है।

## (२) शशिवदना

शशिवदना छन्द के लक्षणादि का विवेचन अध्याय ३ में हो चुका है। छन्दक रूप में इसका प्रयोग विष्णुपद के सम्पद के साथ सूरसागर के निम्न पद में हुआ है—

**अब ह्याँ हेत [है] कहाँ।**
**जब वै स्याम मदन मूरति, चलि मोहिं लिबाइ तहाँ।**[1]

शशिवदना और विष्णुपद दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं। विष्णुपद का दूसरा यति-खंड ही शशिवदना छंद है। अतः दोनों का संयोग सहज संभव है।

'अब ह्याँ हेत है कहाँ' में १२ मात्राएँ हैं। 'है' इसके समप्रवाह में बाधा डाल कर दो मात्राओं की वृद्धि करता है। सूरसागर के द्वितीय और तृतीय दोनों संस्करणों में यह 'है' विद्यमान है। इस 'है' को हटाने या इस पंक्ति को 'अब ह्याँ हत ह कहाँ' इस रूप में पढ़ने पर ही छन्दक का सम्पद के साथ संयोग हो सकता है।

## (३) अहीर

एकादश मात्रापादी अहीर (आभीर) का प्राचीन उल्लेख प्रा० पैं० में मिलता है। इसके अनुसार आभीर के प्रत्येक चरण में ग्यारह मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है।[2] केशवदास ने भी इसका यही लक्षण दिया है।[3] उनके बाद मुरलीधर[4], सुखदेव[5], वृन्दावन[6], जयदेव[7], भिखारीदास[8], रामसहाय[9] तथा जानी बिहारी लाल[10] ने इसका उल्लेख किया है। भिखारीदास ने भी इसके पादांत में जगण माना है। जैसे—

---

[1]सूरसागर, पद ३८७८। [2]प्रा० पैं० १।१७७।
[3]छन्दमाला २।४४।
[4]से[7] तक—मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ७४, ८२, ८३। [8]छंदार्णव ५।७५।
[9]और[10]—मा० ० का विकास, पृ० ६२, ६५।

**जांत अहीर कहंत, रांत प्रगटि लीला भनो।**

डॉ० व्यास का ध्यान इस ओर नहीं गया। इसीसे उन्होंने भिखारीदास द्वारा दिये लक्षण में जगण का निर्देश नहीं करने की बात लिखी।[१] आधुनिक लक्षणकारों में भानु[२], रघुनंदन[३], परमानंद[४], डॉ० शिवनंदन[५] तथा डॉ० शुक्ल[६] द्वारा यह छन्द उल्लिखित है। डॉ० शुक्ल के अतिरिक्त सब ने इसके पादान्त में जगण का विधान किया है। शुक्ल ने दोहे के विषम चरण के आधार पर इसका प्रयोग बतलाया है और अंत में गुरु-लघु की अनिवार्यता पर जोर दिया है। वस्तुतः यह दोहे का सम (विषम नहीं) चरण है।

काव्यगत प्रयोगों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्टतया विदित होता है कि शास्त्रों-द्वारा निर्दिष्ट अन्त्य जगण ( ।ऽ। ) के स्थान पर तगण ( ऽऽ। ) रखने में भी कवियों ने संकोच नहीं किया है। स्वयं केशव ने ऐसा प्रयोग रामचंद्रिका में किया है। जैसे—

(क) **दंडधारिनी जानि।**[७] **(रघुनंदन द्वारा उद्धृत पद्य)**
(ख) **गहे भरथ को हाथ।**[८]
(ग) **गए एक ही बार** }[९]
(घ) **कौसल्या के गेह** }

सूरदास की निम्नांकित चारो पंक्तियों में दो तगणांत और दो जगणांत हैं—

**जोग उलटि लै जाहु (ऊधौ) भजिहैं नंदकिसोर।**
**हमहिं तहाँ लै जाहु (ऊधौ) जहाँ बसे चितचोर।**

अपभ्रंश काव्य में प्राप्त बब्बर के एक पद्य में[१०], जो प्रा० पैं० में उद्धृत है, चारो चरण जगणांत हैं। संभव है, अपभ्रंश कवि जगणांत चरणों का प्रयोग करते हों, इसी से अपभ्रंश छन्दःशास्त्र में ऐसा विधान किया गया हो। किंतु हिन्दी के कवियों ने इस सम्बन्ध में थोड़ी स्वतन्त्रता ले ली थी। वे दोहे के समचरण के

---

[१] **प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ४५१।**
[२] **छन्दःप्रभाकर, पृ० ४४।**
[३] **हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ५२।**
[४] **पिंगल पीयूष, पृ० १५१।**
[५] **हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ६२।**
[६] **आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २४७।**
[७] **रामचंद्रिका १।३८।**
[८] **रामचंद्रिका ८।१७।**
[९] **रामचंद्रिका ८।१८।**
[१०] **हिन्दी काव्यधारा : राहुल, १७८ (२८६) पृ० ३१६।**

(जिसके अंत में जगण और तगण दोनों रह सकते हैं) रूप में इसका निर्माण करते थे। अतः हिन्दी छन्दःशास्त्रियों का लक्ष्यग्रंथों से पराङ्मुख होकर उसी नियम को दुहराना केवल परंपरा-पालन है, स्वस्थ दृष्टिकोण का सूचक नहीं। अहीर दोहे का समचरण है, अतः विद्वानों का इसका संबंध दोहे में खोजना[1] और दोहे के सम पादों के अनुकरण पर इसको बना हुआ बताना[2] सर्वथा मान्य है। दोहे से पृथक्ता दिखलाने के लिये यदि इसके चरणांत में जगण का विधान कर दिया गया हो, तो आश्चर्य नहीं।

अपभ्रंश काव्य के बाद विद्यापति के कई पदों में[3] अहीर का प्रयोग पाया जाता है। सूरसागर में छन्दक-रूप में अहीर का प्रयोग दोहे के सम्पद के साथ हुआ है।

> **जोग उलटि लै जाहु (ऊधौ) भजिहैं नन्द किसोर।**
> **हमहिं तहाँ लै जाहु (ऊधौ) जहाँ बसै चितचोर।**
> **मोहन मूरति साँवरी, चित में रही समाइ।[4]**
> **देखौ ऊधौ न्याउ के, जोग कियौं क्यों जाइ।** } —दोहा।

दोनों ही समप्रवाही छन्द हैं और दोनों का लयनिपात समान है। इसीलिये इन दोनों का संयोग संभव हो सका है।

अहीर (जो सरसी का उत्तरांश है) के छन्दक और सरसी के सम्पद में जो संयोग होता है, उसके मूल में भी यही समप्रवाहिकता और लय-निपात की समानता है। इसीलिये कवि ने अहीर के आदि में क्रमशः २ और ८ मात्राओं को जोड़ कर जो दो निम्नांकित छन्दक निर्मित किये, उनका संयोग सरसी के सम्पद के साथ सहज संभव हो सका।

> (१) **गो|वर्धन पूजहु जाइ।** २+११
> **मधु-मेवा-पकवान मिठाई, व्यंजन बहुत बनाइ।[5]** —(सरसी)
>
> (२) **बिहारीलाल | आवहु, आई छाक।** ८+११
> **भई अबार, गाइ बहुरावहु, उलटावहु दै हाँक।[6]** —(सरसी)

---

[1] **हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६।**
[2] **मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३६७।**
[3] **विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद ३५, ६६, १८३।**
[4] **सूरसागर, पद ४१४०।**
[5] **सूरसागर, पद १४४३।** [6] **सूरसागर, पद १०८२।**

## (४) शिखण्डी

पद १०६६ के आदि में एक पंक्ति है—'कन्हैया हेरी दै'। इसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं।[1] इस प्रकार का एकादशमात्रापादी कोई मात्रिक छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं। श्रृंगार छन्द की अंतिम पाँच मात्राएँ हटा देने पर यह छन्द बन जाता है। जैसे—

**कन्हैया हेरी दै (अब जाउ)**

वर्णावृत्त-रूप में इसका निर्माण यगण और मगण (य म) से होता है, जो हेमचन्द्र का शिखिण्डनी छन्द है।[2] सूरदास ने गणात्मक छन्दों का प्रयोग नहीं किया। अतः यदि इसे शिखण्डिनी के लयाधार पर चलने वाला मात्रिक छन्द मानें, तो इसका नाम शिखण्डी रखा जा सकता है।

यह पंक्ति दोहकीय से तुक-वैषम्य के कारण सर्वथा असंपृक्त है। जैसे—

**कन्हैया हेरी दै।**

**सुभग साँवरे गात की मैं सोभा कहत लजाउँ।[3]**
**मोर-पंख सिर मुकुट की मुख-मटकनि की बलि जाउँ।** } —दोहकीय

यदि यह पंक्ति सूरदास-द्वारा रचित मान कर छन्दक रूप में स्वीकृत हो, तो दोहकीय के साथ इसकी संगति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि कन्हैया के 'क' के बाद शेष पंक्ति समप्रवाही है। यही समप्रवाहिकता इसे समप्रवाही दोहकीय से मिला देती है।

श्रृंगार छन्द की अंतिम पाँच मात्राओं को हटा कर एकादशमात्रापादी एक छन्दक का प्रयोग रास छन्द के सम्पद चरणों के साथ हुआ है—

**चितै, चलि, ठिठुकि रहत।**

**तव पद चिह्न परसि रस-बस, अध वचन कहत।[4]**

एक गुरु की जगह दो लघुओं के प्रयोगाधार पर इस छन्दक को भी शिखण्डिनी का मात्रिक रूप हम मान सकते हैं; यद्यपि इसमें पंचक के बाद दो त्रिकलों का प्रयोग है और 'कन्हैया हेरी दै' में पंचक के बाद एक षष्टक है। इसी पंचक और दो त्रिकलों के योग से बने 'स्वर्णकिरण' के निम्न छन्द को

---

[1]देखिये-दोहकीय+सरसी+सार।

[2]छन्दोऽनुशासन-य्मौ शिखण्डिनी, २।५१।

[3]सूरसागर, पद १०६६। [4]सूरसागर, पद ३२०३।

जगे तरु, नीड़ सकल।
खगों की, भीड़ विकल।
पवन में गीत नवल।
गगन में गीत चपल।

डॉ० शुक्ल ने पंत जी का नवीन प्रयोग कहा है।[1]

रास के सम्पद के साथ शिखण्डी के छन्दक का संयोग इस कारण हो सका है कि छन्दक में पहली मात्रा के बाद समात्मक प्रवाह चलता है, जो सम्पद-चरणों के समान है।

## (५) नित

नित छन्द के लक्षणादि का विवेचन अध्याय ५ में हो चुका है। सूर-साहित्य में छन्दक के रूप में इसका प्रयोग प्रणय तथा विष्णुपद के सम्पद के साथ हुआ है।

(क) प्यारे नंद लाल हो। मोही तेरी चाल हो। (नित)
मोर मुकुट डोलनि, मुख मुरली कल मंद।
मनु तमाल सिखा सिखी, नाचत आनंद।[2] (प्रणय)

(ख) यह दुख कौन सौं कहौं।
जोइ बीतति सोइ कहति सयानी, नित नव सूल सहौं।[3] (विष्णुपद)

(ग) तनु विष रह्यो है छहरि।
नंद-सुवन गारुड़ी कहत है पठवै घौं सु महरि।[4] (विष्णुपद)

'प्यारे नंदलाल हो' और 'यह दुख कौन सौं कहो' इन दोनों को नित छन्द का तगण आधार प्राप्त नहीं। भानु के लक्षणानुसार ये बेखटके नित की पंक्तियाँ कही जायँगी। प्रणय षष्ठक के आधार पर और नित पंचक के आधार पर चलने वाले छन्द हैं। कुंडल के अंतिम गुरु को लघु कर देने से प्रणय का उत्तरांश नवमात्रिक (चौकल+पंचकल) तथा गलात्मक अंत वाला हो जाता है। 'हो' के पहले तक छन्दक भी पंचकलात्मक तथा गलात्मक अंत वाला है। इसी आधार पर कवि ने प्रणय और नित का संबंध जोड़ने का प्रयास किया है।

---

[1] आ० हि० क० में छन्द योजना, पृ० २४७। [2] सूरसागर, पद २४४२।
[3] सूरसागर, पद ४०१६। [4] सूरसागर, पद १३६८।

विष्णुपद समप्रवाही छन्द है। 'ख' और 'ग' दोनों में जहाँ उसका अंत दो त्रिकलों से होता है, वहाँ नित का अंत पंचकलों से। इस प्रकार दोनों की मूल लय भिन्न-भिन्न है। छन्दक और सम्पद की भिन्न लयों को देख कर ही गुप्तजी के निम्न प्रयोग को—

**तुझे नदीश मान दे**
**नदी प्रदीप दान दे**

**तुझे और क्या दूँ ? थोड़ा भी आज बहुत तू मान ले।**

डॉ० शुक्ल ने संगीत की दृष्टि से अभिनंदनीय नहीं माना है।[1] जिस प्रकार सम्पद और छन्दक चरणों का निपात समान करने के लिये गुप्तजी ने समप्रवाही सम्पद चरणों के अंत में रगण रख कर दो भिन्न लयों का मेल किसी तरह कर दिया है[2], उसी प्रकार सूरदास ने भी दो भिन्न लय वाले छन्दों को केवल तुकान्तता के आधार पर संयोजित कर दिया है।

## (६) लीला

परिशिष्ट के एक पद में[3] लीला का प्रयोग छन्दक-रूप में रूपमाला के सम्पद के साथ हुआ है। यथा—

**बरनौं राधिका लाल।**

**रूप गुन उपमा न पावत नाग सुर नर व्याल।**

षष्ठकाधारित लीला के छन्दक का संयोग सप्तकाधारित रूपमाला के सम्पद के साथ अंतिम पंचक 'का लाल' और 'नर व्याल' की समानता और समान लय-निपात के बल पर हुआ है।

## (७) महानुभाव

महानुभाव के लक्षणादि के संबंध में हम पीछे लिख आये हैं।[4] सूर-साहित्य में महानुभाव का प्रयोग छन्दक-रूप में रोला, सार और विष्णुपद के सम्पदों के साथ हुआ है।

**सुनत हँसी सुख होंही, दान दही को लाग्यौ।** } महानुभाव
**निसि दिन मथुरा बेचैं, स्याम दान अब माँग्यौ।** }

---

[1]आ० हि० का० में छन्द योजना, पृ० ३७७।

[2]आ० हि० का० में छन्द योजना, पृ० ३७७।

[3]सूरसागर, परि० पद २४३। [4]देखिये—पीछे—अ० ३, पृ० ६३।

प्रात होत उठि कान्ह, टेरि सब सखा बुलाए ।[१] (रोला)

पहली और दूसरी, उसी प्रकार तीसरी और चौथी पंक्तियों में अन्त्यानुप्रास की योजना नहीं होने पर भी पाद-पूरक यति के कारण ये चारो पंक्तियाँ महानुभाव की ही कही जायँगी। महानुभाव और रोला दोनों समप्रवाही छन्द हैं। इसलिये तुकान्त की भिन्नता दोनों के संयोग में बाधक नहीं हो सकी है।

नैन भए हरि ही के।
जब तैं गए फेरि नहिं चितए, ऐसे गुन इनिही के।[२] (सार)
नैननि नाध्यौ है झर।
ऊँचे चढ़ि हेरति आतुर सुर, कहि गिरिवर गिरिधर।[३]
—(विष्णुपद)

महानुभाव, सार और विष्णुपद तीनों समात्मक प्रवाह पर चलने वाले हैं। महानुभाव सार का उत्तरांश (१२ मा०) ही है। विष्णुपद के दूसरे भाग में दो मात्राएँ कम हैं, प्रवाह वही है। अतः छन्दक और सम्पद चरणों में पूर्ण मैत्री है।

## (८) उल्लाला अथवा चंडिका[४]

सूरसाहित्य में उल्लाला अथवा चंडिका का प्रयोग छन्दक-रूप में मरहटा-माधवी, विष्णुपद तथा दोहे के सम्पदों के साथ हुआ है।

पिय जनि रोकहि जान दै।
हौं हरि-बिरह-जरी जाँचति हौं, इती बात मोहि दान दै।[५]
(म० माधवी)

काम गँवारी सौं पर्‌यौ।
रूपहीन कुलहीन कूबरी, तासौं मन जु ढर्‌यौ।[६] (विष्णुपद)
स्याम छबीली भावती। गौर स्याम छबि पावती।
सैसवता में हे सखी जोवन कियो प्रवेस।[७] (दोहा)

---

[१]सूरसागर, पद २०७६। [२]सूरसागर, पद २८७०।
[३]सूरसागर—पद ३८५६।
[४]देखिये लक्षणादि के लिये प्रबोधन के अन्तर्गत उल्लाला छन्द।
[५]सूरसागर—पद १४२३। [६]सूरसागर—पद ४२६४।
[७]सूरसागर—पद ३२३१।

उल्लाला और मरहटामाधवी दोनों ही समात्मक छन्द हैं। मरहटामाधवी के दूसरे यतिखण्ड से उल्लाला का पूर्ण लय-साम्य है।

उल्लाला के छन्दक और विष्णुपद के सम्पद दोनों ही समप्रवाह पर चलते हैं। अन्त्य पंचकल और षट्कल के बावजूद समप्रवाहिकता और तुक-साम्य के आधार पर दोनों मिला दिये गये हैं।

उल्लाला के छन्दक और दोहे के सम्पद चरणों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[1]

## (९) उर्वशी

इस त्रयोदशमात्रापादी छन्द का उल्लेख डॉ० शुक्ल ने किया है। उनके अनुसार सुलक्षण ( ऽऽऽ। की दो आवृत्तियाँ ) छन्द की अंतिम लघु मात्रा को न्यून कर देने से यह छन्द बन जाता है। उनकी दृष्टि में ऐसा प्रयोग नवीन है, अतः उन्होंने इस लक्षण वाले छन्द को उर्वशी नाम दिया है और उदाहरण में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

**लोचन रूप—अनुरागे।**
**झंकृत छन्द नव जागे।**
**वन में मंजरी फूली।**
**मन में मालती फूली।**[2]

सूरदास ने ऐसे छन्द का प्रयोग छन्दक-रूप में रजनी, सार तथा विष्णुपद के सम्पदों के साथ किया है। जैसे—

**मुरली अधर बिंब रमी।**
**लेति सरबस जुवति जन को, मदन विदित अमी।**[3] **(रजनी)**
**लोचन लालची भारी।**
**उनके लएँ लाज या तनु की, सबै स्याम सौं हारी।**[4] **(सार)**
**अलि ब्रजनाथ कछू करौ।**
**जा कारन यह देह धरी है, तिहिं के लेखे परौ।**[5] **(विष्णुपद)**

---

[1]देखिये—पीछे अखण्ड छन्द।
[2]आ० हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २५१।
[3]सूरसागर, पद १८४६। [4]सूरसागर, पद २६६२।
[5]सूरसागर, पद ४३५३।

रजनी और उर्वशी दोनों ही छन्द सप्तक (रजनी ऽ।ऽऽ और उर्वशी ऽऽऽ।) के आधार पर चलते हैं। यद्यपि दोनों के सप्तक भिन्न-रूप हैं, तथापि दोनों की लय पूर्णतया मिल जाती है। रजनी के प्रथम यति-खण्ड की चार मात्राओं के साथ द्वितीय खण्ड को (जन को मदन विदित अमी) छन्दक के साथ पढ़ कर हमारे कथन की सत्यता हृदयंगम की जा सकती है। इसी लय-साम्य के कारण दोनों के चरणों का मेल संभव हो सका है।

सार समप्रवाही है और उर्वशी छन्द सप्तक के आधार पर चलने वाला। इस प्रकार इन दोनों का संयोग संभव नहीं दिखलाई पड़ता। किन्तु उर्वशी के छन्दक में पहली मात्रा के बाद प्रवाह समात्मक हो जाता है। दोनों का मेल इसी समात्मक लयाधार पर हुआ है।

विष्णुपद के साथ उर्वशी के संयोग का भी यही रहस्य है। पहली तीन मात्राओं के बाद छन्दक की पंक्ति समप्रवाही हो जाती है। अतः दोनों का मेल हो जाता है।

## (१०) प्रदोष

पंत की 'स्वर्णधूलि' में 'प्रीति-निर्झर' नामक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में

यहाँ तो झरते निर्झर।
स्वर्ण-किरणों का निर्झर।
स्वर्ग सुषमा के निर्झर।[1]

तेरह-तेरह मात्राएँ हैं। इस छन्द को डॉ० शुक्ल ने पंत की नवीन सृष्टि मान कर 'प्रदोष' संज्ञा दी है, और पंचक और दो चौकलों के योग से इसका निर्माण बतलाया है।[2] वस्तुतः चौपाई की प्रारंभिक तीन मात्राओं को हटा देने से यह छन्द बन जाता है। सूरसागर के परिशिष्ट के एक पद में इसके चरण प्रयुक्त हुए हैं। इस पद की पहली पंक्ति हाकलि का चरण है। उसके बाद सार की एक अर्द्धाली और अर्द्धाली के बाद प्रदोष का एक चरण है। इस प्रकार सार की अर्द्धाली और प्रदोष के चरण की इस पद में सात बार आवृत्ति हुई है। सम्पूर्ण पद में तुक की एकरूपता है। जैसे—

---

[1]स्वर्णधूलि, पृ० ८०। [2]आ० हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २५१।

**ब्रज में हरि होरी मचाई ।**

**इत तें आवति कुँवर राधिका उततें कुँवर कन्हाई ।**

**खेलत फाग परस्पर हिलिमिलि यह सुख वरनि न जाई ।**

**सुघर घर बजत बधाई ।**[1]

सार के दूसरे यतिखंड (१२ मा०) के साथ प्रदोष का मेल इस प्रकार बैठ जाता है कि पहली मात्रा के बाद इसका प्रवाह सार के समान समात्मक हो जाता है ।

एक त्रयोदशमात्रापादी छन्दक का प्रयोग विष्णुपद के सम्पद के साथ निम्न पद में हुआ है—

**तुम्हारी भावती कह्यौ ।**

**यह कहियौ नँद नंदन आगे, अति दुख दुसह सह्यौ ।**[2]

इस छन्दक का निर्माण शशिवदना के आदि में ।ऽ के योग से हुआ है । तीन मात्राओं के बाद इसकी लय विष्णुपद के उत्तरांश के समान हो जाती है ।

## (११) हाकलि (मानव)

छन्दक-रूप में हाकलि का प्रयोग सूरसाहित्य में कुंडल, रजनी, उपमान, विष्णुपद, सार, ताटंक तथा समानसवैये के सम्पदों के साथ हुआ है ।

**गोपी स्याम-रंग राँची ।**

**देह-गेह-सुधि विसारि, बढ़ी प्रीति साँची ।**[3] **(कुंडल)**

यहाँ छन्दक मानव का है, जो समप्रवाही है, और सम्पद कुंडल का, जो षष्ठक के आधार पर चलता है । चार मात्राओं के बाद छन्दक भी षष्ठक के आधार पर चलने लगता है । इसीलिये 'स्याम-रंग राँची' का मेल कुंडल के दूसरे यति-खंड (बढ़ी प्रीति साँची) से संभव हो सका है ।

**कुटिलाई करी हरि मोसौं ।**

**चित्त चिन्ता भरी सुन्दरि, करति मन गोसौं ।**[4] **(रजनी)**

छन्दक समात्मक सखी छन्द है और सम्पद सप्तक के आधार पर चलने वाला । छन्दक पाँच मात्राओं (कुटिलाई=पाँच मात्राएँ, 'ई' का ह्रस्वोच्चारण) के बाद सप्तकाधारित हो कर सम्पद के समान हो जाता है ।

---

[1] सूरसागर, परिशिष्ट पद १२६ ।
[2] सूरसागर, पद ४७२३ ।
[3] सूरसागर, पद २५२८ ।
[4] सूरसागर, पद ३३२८ ।

हरि कहँ इते (तने) दिन लाए।
आवन (कौ) कहि गए सु तौ, अजहूँ नहिं आए।[१] (उपमान)

छन्दक हाकलि का है। यहाँ एक मात्रा की कमी है। तृतीय संस्करण (पद ४०१६) में भी इसका सुधार नहीं हुआ। यहाँ 'इते' की जगह 'इतने' होना चाहिये। दूसरी पंक्ति की दो मात्राओं की कमी तृतीय संस्करण में 'कौ' रख कर पूरी की गई है। छन्दक और सम्पद दोनों समप्रवाही हैं। अतः दोनों का संयोग सहज संभव है।

मधुवन तुम कत रहत हरे।
बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।[२] (विष्णुपद)
तुम हरि साँकरे के साथी।
सुनत पुकार, परम आतुर ह्वै, दौरि छुड़ायौ हाथी।[३] (सार)
तुम प्रभु, मोसौं बहुत करी।
नर-देही दीनी सुमिरन कौं, मो पापी तैं कछु न सरी।[४] (ताटंक)
हौं संग साँवरे के जैहौं।
होनी होइ-होइ सो अबहीं, जस अपजस काहूँ न डरैहौं।[५]
(स० सवैया)

यहाँ छन्दक और सम्पद दोनों के समप्रवाही होने के कारण दोनों में लय-मैत्री है।

## (१२) सुलक्षण

सुलक्षण चतुर्दशमात्रापादी छन्द है। प्राचीन आचार्यों में सुखदेव[६] और रामसहाय[७] ने इसका उल्लेख किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में यह भानु तथा डॉ० शुक्ल द्वारा उल्लिखित है। भानु ने इसमें १४ मात्राएँ तथा अंत में ऽ। माने हैं। साथ ही चार मात्राओं के बाद गुरु-लघु का विधान किया है।[८] इसी को

---

[१]सूरसागर, पद ४०१५। [२]सूरसागर, पद ३८२८।
[३]सूरसागर, पद ११२। [४]सूरसागर, पद ११६।
[५]सूरसागर, पद २२८६।
[६]और[७]—मात्रिकछन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७६ और ६२।
[८]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४७।

डॉ० शुक्ल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—यह छन्द तृतीय सप्तक (SSSI) की दो आवृत्तियों से बनता है, अतः सातवीं और चौदहवीं मात्रा लघु होती है।[1]

सुलक्षण का काव्यगत प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। पृथ्वीराजरासो में ऊधो और उधोर नामक दो छन्दों का प्रयोग हुआ है, जो आजकल के सुलक्षण ही हैं। यथा—

**ऊधो—कंपिय कोपि कंप करूर।**
**मागति गोप गरनि गरूर।** **छं० १८, स० ४५**
**उधोर—है गै गुंजि नाना भंति।**
**छत्र बिराजत छत्रनि भंति।** **छं० १०८, स १६**[2]

इसी प्रकार कबीरदास के एक पद में सुलक्षण के छन्दक का प्रयोग रूपमाला के सम्पद के साथ हुआ है।

**बंदे तोहि बंदिगी सौं काम।**
**हरि विन जानि और हराम।**
**दूर चलणाँ कूंच बेगा, इहाँ नहीं मुकाम।**[3]

यहाँ पहली पंक्ति में ३ मात्राएँ अधिक हैं। दूसरी पंक्ति सुलक्षण का निर्दोष उदाहरण है।

सूरसाहित्य में इसका प्रयोग छन्दक-रूप में प्रणय, रूपमाला, विष्णुपद, गीता, सरसी तथा अरुणजयी छन्दों के साथ हुआ है।

**ऐसे मधुप की बलि जाउँ।**
**मधुवन की बातें कहीं लै लै हरि नाउँ।**[4] **(प्रणय)**

षष्ठक के आधार पर चलने वाले प्रणय का अंत तृतीय सप्तक (SSSI) में ही होता है (लै हरि नाउँ)। अतः छन्दक और सम्पद का गुरु-लघुमूलक त्रिकलांत दोनों के संयोग में सहायक होता है। छन्दक और सम्पद की लय-मैत्री हो जाती है।

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २५६।

[2]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी, पृ० २३८।

[3]कबीरग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, पद २३७।

[4]सूरसागर, पद ४५०५।

माधौ, नेक हटकौ गाइ ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ पथ, अगह गहि नहिं जाइ ।[1] (रूपमाला)
देखि री प्रगट द्वादस मीन ।
षट इन्दु, द्वादस तरनि सोभित, विमल उडुगन तीन ।[2] (गीता)

सप्तक पर आधारित होने के कारण चार मात्राओं के पश्चात् सुलक्षण का प्रवाह रूपमाला और गीता के दूसरे यति-खंड (१० मा०) के समान हो जाता है ।

नैना नाहिनै ये रहत ।
जदपि मधुप तुम नंद नँदन कौ, निपटहिं निकट कहत ।[3] (विष्णुपद)
वा पट पीत की फहरानि ।
करि धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बान ।[4] (सरसी)
देखि री प्रगट द्वादस मीन ।
ऊधौ एक बार नंद लाल राधिका,
आवत सखी सहित रस-मीन ।[5] (अरुणजयी)

छन्दक में अन्त्य ऽ। की जगह नगण ( नैना नाहिनै ये रहत ) का प्रयोग कवि-स्वातंत्र्य कहा जा सकता है, पर है यह सुलक्षण छन्द ही । सुलक्षण सप्तक के आधार पर चलता है और विष्णुपद, सरसी और अरुणजयी (दूसरा यति-खंड जो चौपई है) तीनों समप्रवाही हैं । सरसी और अरुणजयी का अंत ('की फहरानि' और 'हित रस मीन') सप्तक (ऽऽऽ।) से होता है, अतः इन दोनों का लय-साम्य सुलक्षण के अंतिम भाग से हो जाता है । विष्णुपद और सुलक्षण के मेल का आधार दोनों की समतुकान्तता ही मानी जा सकती है ।

लगात्मक अंत वाला सुलक्षण भी सूरसागर में प्राप्त होता है—

चलत गुपाल के सब चले ।
सह प्रीतम सौं प्रीति निरन्तर, रहे, न अर्द्धपले । सू० सा० पद ३७६६

## (१३) विजात

विजात छन्द का उल्लेख भानु के पूर्व नहीं मिलता । भानु के अनुसार

---

[1]सूरसागर, पद ५६ । [2]सूरसागर, पद ३०८६ ।
[3]सूरसागर, पद ४१६२ । [4]सूरसागर, पद २७६ ।
[5]सूरसागर, पद ४४८५ ।

इसमें १४ मात्राएँ होती हैं और आदि में लघु रहता है।[१] भानु के बाद 'दत्त'[२] और अवध उपाध्याय[३] ने 'प्रतिमा' के नाम से और रघुनंदन[४] और परमानन्द[५] ने विजात नाम से इसका उल्लेख किया है। दो-दो नामों के रहते हुए भी डॉ० शुक्ल ने इसे विधाता-कल्प कहा है, क्योंकि यह विधाता छन्द का आधा है। उनके अनुसार यह चतुर्थ सप्तक (।ऽऽऽ) की दो आवृत्तियों से बनता है।[६] भानु के अतिरिक्त सभी लक्षणकारों ने रामनरेश त्रिपाठी का निम्न पद्य उदाहरण-रूप में उद्धृत किया है—

**चरित है मूल्य जीवन का।**
**वचन प्रतिबिम्ब है मन का।**
**सुयश है आयु सज्जन की।**
**सुजनता है प्रभा धन की।**

इससे यह पता चलता है कि इस युग में इसका विशेष प्रयोग नहीं हुआ है। डॉ० शुक्ल ने जो इसे बिलकुल नवीन प्रयोग कहा है, इसका कारण यह भी हो सकता है। किन्तु, यह नवीन प्रयोग नहीं है। इसका प्राचीन प्रयोग विद्यापति की निम्नांकित चार पंक्तियों में मिलता है—

**दुहुक संयुत चिकुर फूजल।**
**दुहुक दूहू बलाबल बूझल।**
**दुहु अधर दसन लागल।**
**दुहुक मदन चौगुन जागल।[७]**

विद्यापति की पंक्तियों में तो थोड़ी-बहुत अस्तव्यस्तता भी है, किन्तु, कबीर[८] में तो यह निखरे हुए रूप में दिखलाई पड़ता है। जैसे—

**रहै नित पा|स ही मेरे।**
**ना पाऊँ या|र को हेरे।**

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४६। [२]हिन्दी छन्दःचंद्रिका, पृ० २७।
[३]नवीन पिंगल, पृ० ८७। [४]हिन्दी छन्दःप्रकाश, पृ० ५४।
[५]पिंगल पीयूष, पृ० १५३।
[६]आ० हि० का० में छन्द योजना, पृ० २५६।
[७]विद्यापति की पदावली—बेनीपुरी, पद १७३।
[८]कबीर वचनावली : हरिऔध, पद १०६, २१४।

विकल चहुँ ओ|र को धाऊँ।
तबहुँ नहिं कां|त को पाऊँ।

—पद १०६ (क० व०)

सूरदास ने विजात का प्रयोग छन्दक-रूप में रजनी के सम्पद के साथ किया है—

**भरोसो नाम को भारी।**
**प्रेम सों जिन नाम लीन्हौं, भए अधिकारी।**[1]

दोनों छन्द सप्तक पर आधारित हैं। यद्यपि दोनों के सप्तक के रूप भिन्न-भिन्न हैं, ( विजात ।SSS और रजनी S।SS ) किन्तु, पाँच मात्राओं के बाद विजात रजनी के दूसरे यतिखंड (९ मात्राएँ) के साथ लय-साम्य स्थापित कर लेता है।

## (१४) कज्जल

सूरसाहित्य में छन्दक-रूप में इसका प्रयोग उत्कंठा छन्द के सम्पद के साथ हुआ है।

**(इहि वन) मोर नहीं ए काम-बान।**
**विरह खेत, धनु पुहुम, भृंग गुन, करि लतरैया रिपु समान।**[2]

उत्कण्ठा छन्द का निर्माण चौपाई और कज्जल के चरणों को एक इकाई मान कर हुआ है। अतः यहाँ छन्दक और सम्पद की लय-मैत्री का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

सूरसागर में रूपमाला के सम्पद के साथ एक चतुर्दशमात्रापादी छन्दक का प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

**देखि री, उमँग्यो सुख आज।**
**जल बिहार-विनोदमय-सुख रुचिर तनु को साज।**[3] **(रूपमाला)**

छन्दक में १४ मात्राएँ हैं, अंत में S। है, अतः भानु के लक्षणानुसार यह कज्जल कहा जा सकता है। किन्तु हमने कज्जल का जो रूप स्थिर किया है[4], उसके अनुसार इसे कज्जल नहीं कह सकते। शास्त्रों में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं। इसका निर्माण गोपी छन्द के अंतिम दीर्घ को लघु बना कर हुआ है। 'आज' को 'आजू' कर देने से यह पंक्ति गोपी की हो जायगी। छन्दक के दूसरे सप्तक का निर्माण चौकल+त्रिकल से हुआ है। सम्पद के अंत में भी

---

[1]सूरसागर, पद १७६।
[2]सूरसागर, पद १७७९।
[3]सूरसागर, पद ३६४४।
[4]पीछे कज्जल छन्द, पृ० ७८।

चौकल+त्रिकल ( तनु को साज ) है। अतः दोनों का पारस्परिक संयोग हो सका है।

## (१५) मनमोहन

मनमोहन चतुर्दशमात्रापादी छन्द है। प्राचीन आचार्यों में सुखदेव[१] और रामसहाय[२] ने इसका उल्लेख किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु[३], रघुनंदन[४] तथा परमानंद[५] द्वारा यह उल्लिखित हुआ है। आचार्यों ने इसके लक्षण में ८-६ पर यति और अंत में नगण बतलाया है। सूरसाहित्य में मनमोहन का प्रयोग छन्दक-रूप में रास छन्द के सम्पद के साथ हुआ है।

**जब जब तेरी सुरति करत।**

**तब तब डबडबाइ दोउ लोचन, उमँगि भरत।[६]**

छन्दक और सम्पद दोनों समप्रवाही हैं। अतः दोनों का मेल सहज सम्भव है।

## (१६) मनोरम

चतुर्दशमात्रापादी मनोरम का उल्लेख भानु से पूर्व नहीं मिलता। भानु के बाद परमानन्द और डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख किया है। भानु[७] तथा परमानन्द[८] के अनुसार इसके आदि में गुरु और अंत में भगण (ऽ।।) अथवा यगण (।ऽऽ) रहते हैं। डॉ० शुक्ल ने इसको द्वितीय सप्तक (ऽ।ऽऽ) की दो आवृत्तियों से बना बता कर[९] इसके लयाधार को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने इसमें किशोरी की कोमलता पा कर इसे मनोरम नहीं कह कर मनोरमा कहना अधिक उपयुक्त समझा है। भिखारीदास के यहाँ भी एक मनोरमा है, किन्तु उसकी लय इससे भिन्न है। जैसे—

**जबहि बाल पालकी चढ़ी। तबहिं अद्भुतै प्रभा बढ़ी।[१०]**

भानु-परमानंद के मनोरम तथा डॉ० शुक्ल की मनोरमा गीतिका-रूपमाला का प्रथम यति-खंड (१४ मात्राएँ) है। यथा—

---

[१]और[२]—मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७६ और ९२।

[३]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४७। [४]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ५५।

[५]पिंगलपीयूष, पृ० १५६। [६]सूरसागर, पद ३२०२।

[७]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४८। [८]पिंगलपीयूष, पृ० १५६।

[९]आ० हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २५५। [१०]छन्दार्णव ५।११२।

जो कहा रुक-रुक पवन ने,
जो कहा झुक-झुक गगन ने,
साँझ जो लिखती अधूरा,
प्रात रंग पाता न पूरा।
—डॉ० शुक्ल द्वारा उदाहरण-रूप में उद्धृत।

'आजकल इसका प्रयोग गीतों में अधिक होता है और लोग इसे आधुनिकतम छन्द मान कर ग्रहण करते हैं।'[1] आधुनिकतम कहने का कारण यह है कि इसका प्रयोग प्राचीन काव्यों में विरल है। हरिगीतिका के पूर्वार्द्ध (१४ मा०) में तो (जिसे आचार्य ने मधुमालती संज्ञा दी है[2]) चन्दबरदाई ने पृथ्वीराजरासो में (अर्द्धमालती तथा मालती के नाम से) २७ पद्य लिख डाले;[3] किन्तु, गीतिका का अर्द्धांश-रूप बेचारा मनोरम इस गौरव से वंचित रहा। विद्यापति ने इस पर ध्यान दिया अवश्य, किन्तु उनके कृपण कर से इसे कतिपय पंक्तियाँ ही मिलीं।

चरण नूपुर उपर सारी।
मुखर मेखल कर निवारी।
अम्बर सामर देह झपाई।
चलहु तिमिर पथ समाई।[4]

अक्खड़ कबीर के यहाँ इस कोमलांगी का गुजर कहाँ? रसिक-शिरोमणि सूरदास ने भी इस कोमलांगी को नूतन साज-सज्जा से नहीं सँवारा। केवल छन्दक के रूप में हरिप्रिया तथा सार के सम्पदों के साथ इसका संयोग करा दिया।

माई री ये मेघ गाजें।
मनहुँ काम कोपि चढ्यौ, कोलाहल कटक बढ्यौ,
बरहा पिक चातक जय जय जय निशान बाजें।[5] (हरिप्रिया)

छन्दक सप्तक के आधार पर चलता है और सम्पद षष्ठक के आधार पर। इस प्रकार दोनों में लय-मैत्री नहीं दिखलाई पड़ती। पर छन्दक के अंतिम

---

[1]और[2]—आ० हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २५५ और २५४।
[3]चन्दबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी, पृ० २३६।
[4]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, ११७।
[5]सूरसागर, पद ३६१६।

सप्तक (मेघ गाजें) और सम्पद के अंतिमांश (शान बाजें) का लय-निपात समान होने के कारण कवि ने दोनों को एक साथ संयोजित कर दिया है।

**स्याम हौं निज कै बिसारी।**

**मारग चितवत सगुन मनावत, काग उड़ावत हारी।**[1] (सार)

यहाँ छन्दक और सम्पद के मिलन का आधार केवल समतुकांतता ही मानी जा सकती है।

## (१७) चौपई

सूरसाहित्य में छन्दक-रूप में चौपई का प्रयोग दोहा, रूपमाला, सरसी, वीर तथा प्रभाती छन्द के साथ हुआ है।

**ग्वालिनि प्रगट्यौ पूरन नेह।**

**दधि-भाजन सिर पर धरे, कहहि गोपालहि लेहु।**[2] (दोहा)

**सब तजि भजिऐ नन्दकुमार।**

**और भजे ते काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार।**[3] (सरसी)

**गोविंद-भजन करौ इहि बार।**

**संकर पारवती उपदेसत, तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति-द्वार।**[4] (वीर)

यहाँ दोहा, सरसी तथा वीर तीनों के समप्रवाही सम्पदों के साथ चौपई के समप्रवाही छन्दक का मेल आसानी से हो गया है।

**बिरथा जन्म लियौ संसार।**

**करी कबहुँ न भक्ति हरि की, मारी जननी भार।**[5] (रूपमाला)

**भोर भयो जागौ नँद नंद।**

**तात निसि विगत भई, चकई आनंदमयी।**

**तरनि की किरनी ते चंद भयौ मंद।**[6] (प्रभाती)

यहाँ समात्मक छन्दक का प्रयोग सप्तकाधारित (रूपमाला) तथा पंचकाधारित (प्रभाती) सम्पदों के साथ हुआ है। इस संयोग का आधार दोनों का समान लय-निपात (यौ संसार-जननी-भार। नँद नंद-भय-मंद।) ही है।

---

[1]सूरसागर, परिशिष्ट, पद १८६। [2]सूरसागर, पद २२५८।

[3]सूरसागर, पद ६८। [4]सूरसागर, पद ३४६।

[5]सूरसागर, पद २६४। [6]सूरसागर, पद १२२८।

## (१८) चौबोला

सूरसाहित्य में छन्दक-रूप में चौबोले का प्रयोग विष्णुपद तथा वीर छन्द के सम्पदों के साथ हुआ है।

**प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।**
**जग सिरजत पालत संहारत पुनि क्यों बहुरि करै।**[1] (विष्णुपद)
**हरि-चितवनि चितवैं नहिं टरै।**
**कमल-नैन सौं अरुझि रह्यौ मन कहा करै क्यों हू न निवरै।**[2] (वीर)

छन्दक और सम्पद सभी समप्रवाही हैं। अतः इन सब का मेल सहज संभव है।

छन्दोदृष्टि से जो स्थल ध्यातव्य है, वह है वीर छन्द का अन्त्य ।ऽ जिसके संबंध में हम पीछे विचार कर चुके हैं।[3]

## (१९) गोपी

गोपी छन्द का उल्लेख प्राचीन छन्दःशास्त्रों में नहीं मिलता। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है। उनके अनुसार इसमें १५ मात्राएँ होती हैं, आदि में त्रिकल और अंत में गुरु होते हैं।[4] भानु के पश्चात् केवल डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख किया। उनके अनुसार शृंगार की अंतिम लघु मात्रा को कम करने से यह छन्द बनता है।[5] शृंगार के अंत में ऽ। का विधान है। इस प्रकार लघु के निकल जाने पर गोपी के अंत में गुरु का रहना अनिवार्य हो जाता है। किन्तु शृंगार के लगात्मक (।ऽ) अंत वाले एक उपभेद की चर्चा भानु ने की है। यथा—

**भजिये नित माधव को मन लगा।**[6]

इसके अंतिम दीर्घ को लघु कर देने पर भी गोपी की प्रतिष्ठा हो जाती है। अतः गोपी के अंत में गुरु का रहना अनिवार्य नहीं है। इसके अंत में दो लघु अथवा दो गुरु भी रह सकते हैं—

**(क) सरलपन ही था उसका मन,**
**निरालापन था आभूषन।**[7]

---

[1]सूरसागर, पद ६८। [2]सूरसागर, परि० २३८।
[3]देखिये—पीछे वीर छन्द, पृ० २४४। [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४८।
[5]आ०हि० काव्य में छन्द योजना, पृ० २५७। [6]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५३।
[7]आधुनिक कवि : पंत, उच्छ्‌वास की बालिका, पृ० ९।

(ख) तुम्हारे भाई बेचारे,
जुए में जो सब कुछ हारे।[1]

गोपी छन्द की प्राण-प्रतिष्ठा आधुनिक काल में ही हुई है।[2] प्राचीन काव्यों में इसका स्वतंत्र प्रयोग नहीं हुआ। सूरदास ने भी इस छन्द में किसी पद की रचना नहीं की। केवल छन्दक-रूप में इसका प्रयोग किया। सूर के पहले कबीर के एक पद में इसके दर्शन छन्दक-रूप में ही होते हैं।

कबीरा प्रेम की कूल ढरै, हमारे राम बिनां न सरै।[3]

यों गोरखनाथ में भी इसकी एक पंक्ति उपलब्ध हो जाती है—

काछ का जती मुख का सती।[4]

सूरदास ने इसका प्रयोग छन्दक के रूप में विष्णुपद, सार, ताटंक तथा समान-सवैये के सम्पदों के साथ किया है—

संदेसो देवकी सौं कहियो।
हौं तौ धाइ तिहारो सुत को, मया करत ही रहियो।[5] (सार)
प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दह्यौ।[6] (विष्णुपद)
देवकी मन-मन चकित भई।
देखहु आइ पुत्र मुख काहे न, ऐसी कहुँ देखी न दई।[7] (ताटंक)
राधिका तजि मान मया करु।
तेरे चरन सरन त्रिभुवन पति, मेटि कलप तू होहि कलपतरु।[8]
(स० सवैया)

हाकलि के आदि में एक लघु की योजना कर देने पर गोपी छन्द बन जाता है। इसी से जयदेव के एक गीत में हाकलि और गोपी का मेल हो गया है।

---

[1]जयभारत : मैथिलीशरण, वनवैभव, पृ० १८२।
[2]वैदेहीवनवास, सर्ग ३, १० के कुछ अंश, जयभारत (वनवैभव, अर्जुन का मोह)।
[3]कबीर ग्रंथावली : श्याम सुन्दर दास-पद २१६।
[4]गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल, सबदी १५२।
[5]सूरसागर, पद ३७९३। [6]सूरसागर, पद ३९०६।
[7]सूरसागर, पद ६२६। [8]सूरसागर, पद ३४३५।

हरिरिह मुग्धवधूनिकरे । (हाकलि)
वि। लासिनि विलसति केलिपरे ।[1] (गोपी)

यहाँ सभी छन्दक एक मात्रा के बाद हाकलि के चरण बन कर समप्रवाही हो जाते हैं। अतः समप्रवाही सार आदि के साथ उनकी संगति बैठ जाती है।

पंचदशमात्रापादी एक छन्द का प्रयोग सूरदास ने छन्दक-रूप में और किया है। जैसे—

भरोसो कान्ह को है मोहि।
सुनहि जसोदा कंस नृपति-भय, तू जनि व्याकुल होहि।[2] (सरसी)

प्रश्नमूलक (गलात्मक) अंत के कारण इस छन्द को शास्त्रानुसार गोपी नहीं कह सकते। पर है यह गोपी की लय पर ही चलने वाला। गोपी के अंत में ऽ। रखने की छूट दे कर इसे गोपी के अन्तर्गत रख सकते हैं। अंतिम सप्तक की समानता और समान लय-निपात के कारण इसका संयोग सरसी के साथ संभव हुआ है।

## (२०) उज्ज्वला मात्रिक

१५ मात्रा वाले छन्दों के अन्तर्गत उज्ज्वला का सर्वप्रथम उल्लेख भिखारीदास ने किया है, जिसका लक्षण उन्होंने न न न र ग दिया है।[3] इस प्रकार यह मात्रिक नहीं, वर्णिक छन्द है। इस लक्षण वाला कोई छन्द संस्कृत छन्दःशास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। भानु के यहाँ भी एक वर्णिक उज्ज्वला है, जिसका लक्षण उन्होंने न न भ र बतलाया है।[4] इसी का उल्लेख केदार[5] और हेमचन्द्र[6] ने उज्ज्वला नाम से तथा जयदेव[7] ने चलनेत्रिका नाम से किया है। भानु का उज्ज्वला मात्रिक छन्द इसी वर्णिक उज्ज्वला का मात्रिक रूप माना जा सकता है—

धरणि तल जबै, मिलना थला।
भरति यश लता, अति उज्ज्वला। } वर्णिक उज्ज्वला

नर लहत सकल शुभ कामना।
सुख पावत जग जम त्रासना। } उज्ज्वला मात्रिक

भानु ने इसमें १०—५ पर यति दे कर १५ मात्राएँ मानी हैं और अंत में रगण

---

[1]गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग, पृ० १०। [2]सूरसागर, पद ३५६५।
[3]छन्दार्णव ५।१२३। [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० १५७।
[5]वृत्तरत्नाकर ३।५९। [6]छन्दोनुशासन २।१६६।
[7]जयदेवच्छन्दः ६।४६।

का विधान किया है।[१] यह उज्ज्वला मात्रिक उल्लाला अथवा चंडिका (१३ मा०) के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से बन जाता है।

इस उज्ज्वला का काव्यगत प्रयोग सर्वप्रथम संत नामदेव में मिलता है—

**मिलि पारस कंचन होइआ। मुष मनसा रतन परोइआ।**

**जल भीतर कुंभ समानि आ। सम राम एकु करि जानिआ।**[२]

सूरदास ने इसका प्रयोग छन्दक-रूप में मरहटामाधवी के सम्पद के साथ किया है।

**गोपालहिं माखन खान दै।**

**सुन री सखी, मौन ह्वै रहिऐ, वदन दही लपटान दै।**[३]

यहाँ समात्मक तथा रगणांत छन्दक का मेल समात्मक तथा रगणांत सम्पद के साथ आसानी से हो गया है।

## (२१) चौपाई

सूरसाहित्य में चौपाई का प्रयोग छन्दक-रूप में रजनी, विष्णुपद, सार, मरहटामाधवी, ताटंक तथा समानसवैये के सम्पदों के साथ हुआ है।

**माधौ जू के वदन की सोभा।**

**कुटिल कुन्तल कमल प्रति मनु मधुप रस लोभा।**[४] **(रजनी)**

छन्दक समप्रवाही है और सम्पद सप्तकाधार पर चलने वाला। इस प्रकार दोनों की लयें भिन्न हैं। किन्तु छन्दक के अंतिमांश (वदन की सोभा) और सम्पद के दूसरे यति-खण्ड (मधुप रस लोभा) में लय तथा निपात दोनों का पूरा साम्य है। यही साम्य दोनों के मेल का आधार है।

**माधौ जू, जौ जन ते बिगरै।**

**तउ कृपाल, करुनामय केसव, प्रभु नहिं जीय धरै।**[५] **(विष्णुपद)**

(चार चौकलों में विभाज्य होने के कारण छन्दक पादाकुलक का भी माना जा सकता है।)

**राम भक्त-वत्सल निज बानौ।**

**जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रंक होइ कै रानौ।**[६] **(सार)**

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४८। [२]संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी, पद १८।

[३]सूरसागर, पद ८६२। [४]सूरसागर, पद १८६८।

[५]सूरसागर, पद ११७। [६]सूरसागर, पद ११।

**हमरे प्रथमहिं नेह-नैन कौ ।**
**वह रस रूप नीर कहँ पैयत, यह पय ज्ञानऽरु बैन को ।**[१] (मरहटा माधवी)
**जनि बोलै पपिहा, हो डाढ़ी ।**
**पैले पार कान्ह बँसुरी बजावै, उले पार बिरहिनी ठाढ़ी ।**[२] (ताटंक)
**कहौ स्याम कहँ रैनि गँवाई ।**
**अब ये चिन्ह प्रगट देखियत, मोकौं कौन करत चतुराई ।**[३] (स० सवैया)

इन सभी पदों में समप्रवाही छन्दक के साथ समप्रवाही सम्पदों का योग है ।

## (२२) पद्धरि

सूरसाहित्य में पद्धरि का प्रयोग छन्दक-रूप में वीर छन्द के सम्पद के साथ हुआ है—

**ये नैंना अति ही चपल चोर ।**
**सरबस मूसि देत माधव कौं, सुधि-बुधि, सुध न विवेकहुँ मोर ।**[४] (वीरछंद)

पद्धरि के अंतिम षष्ठक (चपल चोर) और वीर के अंतिम पंचक (कहुँ मोर) में लय की भिन्नता स्पष्ट दिलखाई पड़ती है । किन्तु दोनों का लय-निपात (पल चोर और कहुँ मोर) समान है । अंत की यह पंचकलात्मक समानता दोनों के मिलन का आधार कही जा सकती है ।

## (२३) पदपादाकुलक

पदपादाकुलक का विस्तृत विवेचन हम पद्धरि छन्द के अन्तर्गत कर आये हैं ।[५] सूरसाहित्य में पदपादाकुलक का छन्दक-रूप में प्रयोग विष्णुपद, मरहटा-माधवी, ताटंक तथा समानसवैये के सम्पदों के साथ हुआ है—

**श्री मथुरा ऐसी आज बनी ।**
**जैसे पति को आगम सुनि कै, सजनी (सजति) सिंगार धनी ।**[६] (विष्णुपद)

यहाँ 'सजनी' पाठ अशुद्ध है । तीसरे संस्करण में (पद ३६४१) में इसका सुधार 'सजति' रख कर किया गया है ।

---

[१]सूरसागर, पद ४१७७ ।
[२]सूरसागर, पद १८४० ।
[३]सूरसागर, पद ३२५८ ।
[४]सूरसागर, पद २६६४ ।
[५]देखिये—पीछे पद्धरि छन्द, पृ० ९७ ।
[६]सूरसागर, पद ३६४० ।

यह बात हमारे कौन सुने ।
जिन चाह्यौ हरि रूप सुरति करि, भूलि अँगारनि कौ चुनै ।[1] (म०माधवी)
रघुनाथ पियारे आज रहौ (हो) ।
चारि जाम बिश्राम हमारें, छिन-छिन मीठे बचन कहौ (हो) ।[2] (ताटंक)

यहाँ 'हो' को छन्द से बाहर मान कर संपादक ने कोष्ठक के अन्दर रखा है ।

अब मोहि जानिये सो कीजै ।
सुनि राधिका कहत माधौ यौं जू बूझिये दंड सो लीजै ।[3] (स० सवैया)

पदपादाकुलक अष्टक के आधार पर चलने वाला समात्मक छन्द है, और विष्णुपद आदि भी समप्रवाही हैं । अतः छन्दक और सम्पद का मेल आसानी से हो जाता है । पदपादाकुलक का 'कौन सुनै' और मरहटामाधवी का 'को चुनै' किंचित् ध्वनि-भिन्नता की प्रतीति अवश्य कराते हैं, पर दोनों का लय-निपात समान (लगात्मक) है, इसी से यह विशेष खटकती नहीं ।

## (२४) शृंगार

शृंगार छन्द का उल्लेख प्राचीन किसी छन्दःशास्त्र में नहीं मिलता । इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है । उनके अनुसार इसमें १६ मात्राएँ होती हैं । आदि में त्रिकल+द्विकल और अंत में ऽ। रहते हैं । अंत में ।ऽ वाले इसके एक उपभेद की भी चर्चा उन्होंने की है, यद्यपि उसका कोई नाम नहीं बताया ।[4] नाम नहीं देने का यही अर्थ लिया जा सकता है कि इसे भी हम शृंगार छन्द ही मानें । फिर शृङ्गार के लक्षण में हम यह कह सकते हैं कि इसके अंत में ऽ। रहता है, पर ।ऽ भी रह सकता है । भानु के बाद परमानन्द[5] (प्रसाद के नाम से), डॉ० शिवनन्दन[6] तथा डॉ० शुक्ल[7] ने इसका उल्लेख किया है । डॉ० शुक्ल ने शृंगार के लक्षण और रूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार इस छन्द के आदि में त्रिकल, मध्य में समप्रवाह और अंत में गलात्मक त्रिकल रहते हैं । चौपाई में इसकी पंक्तियाँ नहीं मिल सकतीं । इसका

---

[1]सूरसागर, पद ४३५८ । [2]सूरसागर, पद ४७७ ।
[3]सूरसागर, पद ३४४१ । [4]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५३ ।
[5]पिंगल पीयूष, पृ० १६४ । [6]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ७१ ।
[7]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २६६ ।

मेल पद्धरि के साथ संभव है, पर ऐसा संयोग भी अधिक अच्छा नहीं होगा।[१] पद्धरि और शृंगार के मेल की सम्भावना एकदम बेतुकी है। दोनों की लयें बिलकुल भिन्न हैं। जहाँ पद्धरि के अंत में छः मात्राओं की योजना होती है (दो चौकलों में भी दो त्रिकल विद्यमान रहते हैं)।

मेरे नगपति मे|रे वि|शाल[२]

वहाँ शृंगार में पाँच मात्राओं की। यथा—

कभी तो अब तक पा|वन प्रेम,
नहीं कहलाया पा|पाचार।
हुई मुझको ही मदि|रा आज,
हाय! क्यों गंगा जल|की धार।[३]

एक का प्रारंभ द्विकल से होता है, दूसरे का त्रिकल से। मध्य में अवश्य दोनों समप्रवाही हैं। पर यह समात्मकता दोनो की लयों को समान नहीं बना सकती। डॉ० शुक्ल तो 'ऐसा संयोग भी अधिक अच्छा नहीं होता' कह कर बच गये, पर परमानन्द और अवध उपाध्याय तो ऐसे धोखे में पड़े कि शृंगार को पद्धरि समझ बैठे। दोनों ने पंत की उपरिलिखित पंक्तियों (कभी तो अब तक पावन प्रेम) को जगणांत पद्धरि के उदाहरण में रखा है।[४] आचार्यों के इस भ्रम का कारण पद्धरि का अपूर्ण लक्षण कहा जा सकता है, पर तगणांत को जगणांत समझ लेने का उनका प्रमाद अक्षम्य है।

शृंगार का छन्दःशास्त्रीय उल्लेख चाहे पुराना न हो, पर इसका काव्यगत प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। अपभ्रंश कवि बब्बर में इस लय का एक छन्द मिलता है—

कआ भउ दुब्बरि तेज्जि गरास।
खणे खण जाणिअ दीह णिआस।
कुहू रव ताव दुरंत वसंत।
कि णिट्ठुअ काम कि णिट्ठुअ कंत।[५]

इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हैं। आदि में त्रिकल+द्विकल तथा अंत में

---

[१]आ०हि०का० में छन्दयोजना, पृ० २६६। [२]हुंकार : दिनकर, पृ० ७१।
[३]पल्लव : पंत, पृ० २५।
[४]पिंगलपीयूष, पृ० १६६, नवीनपिंगल, पृ० ८९।
[५]हिन्दी-काव्यधारा : राहुल, पृ० ३२२ पद १३४ (४५३)।

ऽ। है। अतः यह शृंगार छन्द कहा जा सकता था। किंतु इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर हैं और चार जगणों से इसका निर्माण हुआ है। अतः यह संस्कृत का मौक्तिकदाम वृत्त है।[1] इस मौक्तिकदाम का उल्लेख जयकीर्त्ति[2] तथा हेमचन्द्र[3] ने किया है। हो सकता है, कालांतर में यह मौक्तिकदाम मात्रिक-रूप में परिणत हो गया हो। प्राचीन हिन्दी आचार्यों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। भानु ने इसे शृंगार नाम से अभिहित किया।

हिन्दी के काव्यों में सर्वप्रथम इसके दर्शन गोरखबानी में होते हैं—

**पवन ही जोग पवन ही भोग।**
**पवन ही हरैं छतीसौं रोग।**
**व्यंद ही जोग व्यंद ही भोग।**
**व्यंद ही हरैं चौसठि रोग।**[4]

चन्दबरदाई में इस लय के जो पद्य मिलते हैं—

**कहीं वर श्रोन सुरंगिय रज्जि।**
**भये नर दोउ वनं वन भज्जि।**[5]

उनमें चार जगणों की व्यवस्था है। अतः वे मौक्तिकदाम ही कहे जायँगे।

यह छन्द चाहे अन्वर्थनाम हो और शृंगार रस में अधिक सफल होता हो। चाहे इसमें वीणा की झंकार सुनाई पड़ती हो। इसकी लय क्रमशः ऊर्ध्व-मुखी होकर लहराती हो और फिर उसी क्रम से अवतरित होती हो, जिससे हर्ष, उल्लास और आनन्द की व्यंजना होती हो[6], परन्तु पद-रचयिताओं ने इसे गीत के विशेष उपयुक्त नहीं जान कर ही पदों में स्थान नहीं दिया। विद्यापति-कबीर से लेकर भारतेन्दु पर्यन्त किसी के पदों में सम्पदरूप में यह दिखलाई नहीं पड़ता। अवश्य भारतेन्दु ने शृंगार-रूपमाला-गीता-दोहा-हरिगीतिका-हाकलि छन्दों में निबद्ध एक पद के प्रारम्भ में इसकी चार पंक्तियाँ रख दी हैं—

**हिंड़ोरे झूलत कुंज कुटीर।**
**हिंड़ोरे राधा औ बलबीर।**

---

[1]देखिये भानु का छन्दःप्रभाकर, पृ० १५२। (मोतियदाम)
[2]छन्दोनुशासन, २।१२२। [3]छन्दोनुशासन, २।१७२।
[4]गोरखबानी : डॉ० बड़थ्वाल, सबदी १४७, १४८।
[5]हिन्दी काव्यधारा : राहुल, पृ० ४३६।
[6]आ०हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २६६।

**हिंडोरे सब गोपिन की भीर ।**
**हिंडोरे कालिंदी के तीर ।**[१]

केशवदास ने रामचंद्रिका में इसके वर्णिक रूप मोतियदाम का प्रयोग तो किया[२], पर इसका नहीं । आधुनिक काल में ही शृंगार छन्द को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । मुक्तक और प्रबन्ध दोनों क्षेत्रों में यह समादृत हुआ । प्रबन्ध-क्षेत्र में हरिऔध ने वैदेहीवनवास में (सर्ग २, ३), मैथिलीशरण ने साकेत (द्वितीय सर्ग) में और प्रसाद ने कामायनी (श्रद्धा) में इसका प्रयोग किया । मुक्तक काव्यों में पंत ने पल्लव और गुंजन में इसे विशेष महत्व दिया । हरिऔध (पारिजात), महादेवी (नीहार) तथा निराला (गीतिका) ने भी इसका उपयोग किया ।

सूरदास ने इसका प्रयोग केवल छन्दक-रूप में रूपमाला, सरसी तथा वीर छन्द के सम्पदों के साथ किया है—

**स्याम कर पत्री लिखी बनाइ ।**
**नंद बाबा सौं बिनै कर जोरि जसुदा माइ ।**[३] (रूपमाला)

शृंगार छन्द का अंतिम सप्तकलात्मक लय-निपात (लिखी बनाइ) रूपमाला के अंतिम लय-निपात (जसुदा माइ) के समान है । इसी से छन्दक और सम्पद में मैत्री स्थापित हो सकी है ।

**किसोरी देखत नैन सिरात ।**
**बलि-बलि सुखद मुखारबिन्द की, चंद्रविम्ब दुरि जात ।**[४] (सरसी)

सरसी का द्वितीय खण्ड दोहे का समचरण है, और शृंगार छन्द भी पाँच मात्राओं के बाद दोहे के समान समप्रवाही हो जाता है । अतः दोनों का संयोग संभव हो सका है ।

**अचानक आइ गए तहँ स्याम ।**
**कृष्न कथा सब कहति परस्पर, राधा संग मिली ब्रजवाम ।**[५] (वीर)

वीर छन्द का द्वितीय यति-खंड चौपई छन्द है, और शृंगार छन्द भी एक मात्रा के बाद चौपई के समान हो जाता है । इसीलिये छन्दक के साथ सम्पद की मैत्री हो जाती है ।

---

[१]भारतेन्दु ग्रंथावली : प्रेमाश्रुवर्षण, पद ३४ । [२]रामचंद्रिका, ६।७ ।
[३]सूरसागर, पद ४०५४ । [४]सूरसागर, पद १८२४ ।
[५]सूरसागर, पद २४०८ ।

## (२५) चन्द्र

सूरसाहित्य में छन्दक-रूप में चन्द्र का प्रयोग सार तथा हंसाल-झूलना के सम्पदों के साथ हुआ है—

**ह[रि] (री) की प्रीति उर माँहि करकै।**
**आइ अक्रूर चलै लै स्यामहिं, हित नाहीं कोउ हर कै।**[1] (सार)

छन्दक में एक मात्रा की कमी है, जिसकी पूर्त्ति 'हरि' को 'हरी' कर देने से हो जाती है। चन्द्र पंचक के आधार पर चलता है और सार समप्रवाही है। चन्द्र का अंत त्रिकल + चौकल से और सार का चौकल + चौकल से (ही कउ हर कै) होता है। अतः किंचित् ध्वनि-भिन्नता प्रतीत होती है। कवि ने समान सगणात्मक लय-निपात के आधार पर ही दोनों को संयोजित किया है।

**दवाँ तें जरत ब्रज जन उवारे।**
**पैठि जल गए गहि उरग आने नाथि,**
**प्रगट फन-फननि-प्रति चरन धारे।**[2] (हंसाल)
**कुँवर सौं कहति वृषभानु घरनी।**
**नैकु नहिं घर रहति, तोहिं कितनौ कहति,**
**रिसन मोहि दहति, बन भई हरनी।**[3] (झूलना)

चन्द्र और हंसाल-झूलना पंचक के आधार पर चलने वाले छन्द हैं। हंसाल और झूलना के उत्तरार्द्ध का चन्द्र से पूरा लय-साम्य है।

## (२६) रूपोज्ज्वला

मरहटामाधवी के सम्पद के साथ १७ मात्रापादी एक छन्दक का प्रयोग छन्दक-रूप में सूरसाहित्य में हुआ है—

**हौ बलि जाउँ छबीले लाल की।**
**धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि वचन रसाल की।**[4] (म०माधवी)
**नैंकु निकुंज कृपा करि आइये।**
**अति रिस कृस ह्वै रही किसोरी, करि मनुहारि मनाइये।**[5] (म०माधवी)

---

[1]सूरसागर, पद ३६०५। [2]सूरसागर, पद १२२०।
[3]सूरसागर, पद १३१६। [4]सूरसागर, पद ७२३।
[5]सूरसागर, पद ३१८८।

इन दोनों छन्दकों का निर्माण उज्ज्वला मात्रिक के आदि में दो मात्राएँ जोड़ देने से हो जाता है। इस लय के किसी छन्द का उल्लेख शास्त्रों में नहीं मिलता। अतः यह रूपोज्ज्वला नाम से अभिहित किया गया।

मरहटामाधवी का दूसरा यति-खंड उल्लाला या चंडिका का चरण है। रूपोज्ज्वला का चरण भी चार मात्राओं के बाद उसी लय वाला हो जाता है। अतः छन्दक और सम्पद का संयोग सहज-संभव है।

## (२७) राम

राम छन्द का उल्लेख जानी बिहारीलाल ने अपने ग्रंथ 'छन्दप्रभाकर पिंगल' में किया है, पर उनका राम छन्द छः मात्राओं का है।[१] अतः विवेच्य राम से उसका कोई संबंध नहीं। १७ मात्रापादी राम का सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है, जिसमें ९-८ पर यति और अंत में यगण (ISS) होते हैं।[२] भानु के बाद रघुनन्दन[३], परमानन्द[४] तथा डॉ० शिवनन्दन[५] ने उन्हीं के लक्षण को दुहराया है। प्रथम दो ने तो उदाहरण में भानु के ही पद्य को रखा है। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने साकेत के निम्न पद्य को, जो उपेन्द्रवज्रा छन्द में निबद्ध है, किंचित् परिवर्तित कर ('पृथ्वी' की जगह 'धरती' और 'अभी' की जगह 'सतत' रख कर) उदाहरण-रूप में रख दिया है—

**निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि पानी।**
**सुखा विचित्राम्बर सृष्टि रानी।**
**तथापि क्या मानस रिक्त तेरा ?**
**बना अभी अंचल सिक्त मेरा।**[६]

इस परिवर्त्तन द्वारा डॉ० साहब ने वर्णिक गण-बद्धता से मुक्त कर इसे मात्रिक रूप दिया है। मात्रिक यह हो गया, १७ मात्राएँ और यगण की व्यवस्था भी हो गई, किंतु उनके द्वारा निर्दिष्ट ९-८ पर यति इसमें कहाँ है ? अपने लक्षणानुसार उदाहरण देने में आचार्यों की यह असावधानी उचित नहीं कही जा सकती। डॉ० शुक्ल ने आधुनिक प्रयोग के आधार पर राम छन्द का निर्माण त्रिकल+तीन चौकल+गुरु से माना है, और यह उदाहरण दिया है—

---

[१]मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ९५।
[२]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५३।
[३]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ५९। [४]पिंगलपीयूष, पृ० १६७।
[५]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ७४। [६]साकेत : नवम सर्ग, पृ० २७५।

चले फिर रघुवर माँ से मिलने ।
बढ़ाया घन-सा प्राणानिल ने ।
चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे ।
भाद्र के पीछे आश्विन जैसे ।[1]

इस छन्द की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चौपाई के आदि में एक मात्रा के योग से यह छन्द बन जाता है । प्रथम तीन पंक्तियों के 'च', 'ब' और 'च' को यदि हम हटा दें, तो ये तीनों पंक्तियाँ चौपाई की हो जायँगी । सूरसागर में छन्दक-रूप में प्रयुक्त यही राम छन्द है, भानु का राम छन्द नहीं ।

राम छन्द का प्रयोग सूरसागर में छन्दक-रूप में सार, ताटंक और समानसवैये के सम्पदों के साथ हुआ है—

**सुवा, चलि ता वन को रस लीजे ।**
**जा बन राम नाम अम्रित-रस, स्रवन पात्र भर लीजे ।**[2] (सार)
**आज ब्रज कोऊ आयो है ।**
**किधौं बहुरि अक्रूर क्रूर ह्वै, जियत जानि उठि धायौ है ।** (ताटंक)
**बाल विनोद आँगन की डोलनि ।**
**मनिमय भूमि नंद के आलय, बलि बलि जाउँ तोतरे बोलनि ।**[4] (स०सवैया)

यहाँ छन्दक एक मात्रा के बाद समप्रवाही चौपाई बन कर सार आदि के सम-प्रवाही सम्पदों के साथ लय-साम्य स्थापित कर लेता है ।

## (२८) माली

सूरसागर में माली का प्रयोग छंदक-रूप में सार तथा समानसवैये के सम्पदों के साथ हुआ है—

**राजा इस पंडित पौरि तुम्हारी ।**
**चारौ वेद पढ़त मुख आगर, ह्वै बावन वपु धारी ।**[5] (सार)
**देखौ कपिराज, भरत वै आए ।**
**मम पाँवरी सीस पर जाकै, कर-अँगुरी रघुनाथ बताए ।**[6] (स० सवैया)

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २६७ । [2] सूरसागर, पद ३४० ।
[3] सूरसागर, पद ४०६८ । [4] सूरसागर, पद ७३६ ।
[5] सूरसागर, पद ४४१ । [6] सूरसागर, पद ६१२ ।

छन्दक माली और सम्पद सार-समानसवैया सभी समप्रवाही हैं। अतः इनका मेल सहज-संभव है।

## (२९) विजयकरी

**रसिक राधे बोलौं नंदकुमार।**
**दरसन कौं तरसत हरि लोचन, तू सोभा की धार।**[1] **(सरसी)**

प्रस्तुत छन्दक में १८ मात्राएँ हैं। गलात्मक अंत वाले १०-८ मात्राओं के 'वंदन' छन्द का उल्लेख भानु ने किया है।

**दस वसु कल बंदन, साजहु सनंद।**
**सुमिरत, हरि नामहिं, पावहु अनंद।**[2]

यह वंदन पद्धरि के आदि में २ मात्राओं को जोड़ देने से बन जाता है। किंतु, उपरिलिखित छंदक पद्धरि के आधार पर नहीं चलता। जयकरी (चौपई १५ मा०) के आदि में एक त्रिकल रखने से इसका निर्माण हुआ है। इसी से इसे विजयकरी संज्ञा प्रदान की गई है।

विजयकरी का छन्दक तीन मात्राओं के बाद समप्रवाही हो कर सरसी के संपद के साथ लय-मैत्री स्थापित कर लेता है। इस छन्द का प्रयोग छन्दक-रूप में पद ४५३१ और ४८६८ में भी हुआ है।

## (३०) विलक्षण

**राधे तेरे रूप की अधिकाइ।**
**जो उपमा दीजे तेरे तनु ता में छबि न समाइ।**[3] **(सरसी)**

सुलक्षण (१४ मा०) के आदि में एक चौकल रखने से प्रस्तुत छन्दक का निर्माण हुआ है। छन्दक में राधा के रूप की विलक्षणता वर्णित है। इसीलिये यह छन्द विलक्षण कहा गया।

सुलक्षण और सरसी के संयोगाधार पर हम पीछे विचार कर आये हैं। विलक्षण चार मात्राओं के बाद सुलक्षण बन कर सरसी के साथ संबंध स्थापित कर लेता है।

विलक्षण के छन्दक का प्रयोग रूपमाला के सम्पद के साथ भी हुआ है—

---

[1] सूरसागर, पद ३३८१। [2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ५४।
[3] सूरसागर, पद ३३९४।

देखो मेरे भाग की सुभ घरी।
नवल रूप, किसोर मूरति, कंठ लै भुज भरी।[1]

## (३१) चंद्रा

**आज दीपति दिव्य दीप-मालिका।**
**मनहुँ कोटि रवि चंद्र कोटि छबि मिटि जो गई निशिकालिका।[2]**

**(मरहटामाधवी)**

प्रस्तुत १८ मात्रापादी छन्दक पंचक के आधार पर चलता है। पंचक के आधार पर चलने वाले चन्द्र के अंतिम गुरु को लघु कर दो मात्राएँ जोड़ देने से (ऽ की जगह ।ऽ रखने से) यह छन्द बन जाता है। ('मालिका' को 'माला' कर देने से यह पंक्ति चन्द्र की हो जायगी) इसीलिये इसका नाम चन्द्रा रखा गया। इस पंचकाधारित छंदक का संयोग समप्रवाही मरहटामाधवी के साथ अंतिम पंचक के ध्वनि-साम्य पर हुआ है।

इसी प्रकार निम्नांकित दो छंदक भी चन्द्रा छन्द में ही निबद्ध हैं—

**(क) काहे को दुरावति नैन नागरी।[3] (मात्राधिक्य)**
**(ख) मनसिज माधवै माननिहिं मारिहैं।[4] (मात्राधिक्य)**

(क) में 'हे' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित और (ख) में 'मनसिज' की जगह 'मदन' जैसा कोई त्रिकलात्मक शब्द होना चाहिये।

## (३२) शक्ति

शक्ति छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है। उनके अनुसार इसमें १८ मात्राएँ होती हैं। आदि में लघु तथा अंत में सगण (।।ऽ), रगण (ऽ।ऽ) अथवा नगण (।।।) होता है। इसका रचना-क्रम ३+३+४+३+५ है। यह छन्द भुजंगी और चन्द्रिका वृत्तों की चाल पर होता है।[5] भानु के बाद दत्त[6], रघुनन्दन[7], परमानन्द[8], डॉ० शिवनन्दन[9] तथा डॉ० शुक्ल[10] द्वारा भी यह

---

[1] सूरसागर, पद ६२०। [2] सूरसागर, पद १४२७।
[3] सूरसागर, पद ३२८०। [4] सूरसागर, पद २७३४।
[5] छन्दःप्रभाकर, पृ० ५४। [6] हिन्दी छन्दःचंद्रिका, पृ० २६।
[7] हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ६०। [8] पिंगलपीयूष, पृ० १६८।
[9] हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ७४।
[10] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७१।

उल्लिखित हुआ है। डॉ० शुक्ल ने इसे भुजंगी (य य य ल ग) वृत्त का मात्रिक रूप माना है और पहली, छठी, ग्यारही और सोलहवीं मात्राओं का लघु होना अनिवार्य बतलाया है।

प्राचीन काव्यों में इसका प्रयोग एकदम नहीं मिलता। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने इसी को लक्ष्य कर इसका उदाहरण-पद्य रच डाला है—

**हजारों किताबें पड़ी हैं यहाँ,**
**मगर शक्ति-सा छन्द मिलता नहीं।**
**इसी से विवश हो स्वयं दे रहा**
**यहाँ पर बना कर नया पद्य ही।**

संभव है, भानु के पिता ने भुजंगी अथवा चंद्रिका के आधार पर जिस नये छन्द का निर्माण कर अपने हनुमन्नाटक में प्रयोग किया (भानु ने इस ग्रंथ की चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं[1]), उसी छन्द को भानु ने पीछे शक्ति नाम दे डाला हो। इस प्रकार यह संस्कृत वर्णवृत्त का मात्रिक रूप है, यह तो सिद्ध है। किन्तु भुजंगी वृत्त संस्कृत के मान्य छन्दःशास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। चंद्रिका वृत्त (न न त त ग) का उल्लेख पिंगल[2] और हेमचन्द्र[3] ने कुटिल गति के नाम से तथा केदार भट्ट ने[4] क्षमा नाम से अवश्य किया है।

सूरदास में भी शक्ति छन्द नहीं मिलता। केवल छन्दक-रूप में एक १८ मात्रापादी निम्न छन्द है—

**(पहिलें) प्रीति करि कहा पोच लागे करन।** (१८ मा०)
**ऊधौ कमल नयन सों कहियौ, गोबरधन की धरन।[5]** (सरसी)

इसकी लय बहुत-कुछ शक्ति से मिलती है, क्योंकि प्रथम पंचक (प्रीति करि=रगण का आधार) के अतिरिक्त शेष पंक्ति शक्ति के समान है। शक्ति के आदि में लघु चाहिये, यहाँ गुरु है। बस इतना ही नियम-विरुद्ध है। इस प्रकार के अन्य किसी छन्द के अभाव में इसे शक्ति मान लेना ही ठीक है।

यहाँ छन्दक और सम्पद का संयोग अंतिम सप्तक के लय-साम्य पर संभव हुआ है।

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५४। [2]छन्दःशास्त्र, ८।८।
[3]छन्दोऽनुशासन, २।२०२। [4]वृत्तरत्नाकर, ३।६५।
[5]सूरसागर, पद ४६३०।

## (३३) तमाल

तमाल छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख भानु ने किया है। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार देते हुए—

**उन्निस कल गल यति है अंत तमाल।**

यह बताया है कि चौपाई के अंत में ऽ। रखने से यह छन्द सिद्ध होता है।[१] भानु के बाद इसका उल्लेख परमानंद[२] और डॉ० शुक्ल[३] ने किया है। गोरखबानी के एक सम्पूर्ण पद में तमाल का प्रयोग मिलता है—

**आपण ही मछ कछ आपण ही जाल।**
**आपण ही धीवर आपण ही काल।[४]**

सूरसाहित्य में तमाल का प्रयोग छन्दक-रूप में विष्णुपद, सरसी तथा वीर छन्द के सम्पदों के साथ हुआ है।

**देखो माई दधि-सुत में दधि जात।**
**एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु में रिपु जु समात।[५] (सरसी)**
**माधौ मोहि करौ बृंदाबन-रेनु।**
**जिहिं चरननि डोलत नंद नंदन, दिन प्रति बन-बन चारत धेनु।[६] (वीर)**

छन्दक समप्रवाही है। आठ मात्राओं के बाद वह दोहे का समचरण और चार मात्राओं के बाद चौपई का चरण हो जाता है। इस प्रकार इसकी लय-मैत्री दोनों सम्पदों के द्वितीय खंडों के साथ हो जाती है।

जिस प्रकार सूरसाहित्य में रूपमाला-सरसी आदि का लगात्मक अंत मिलता है, उसी प्रकार निम्न पद में—

**मोकौं माई, जमुना जम ह्वै रही।**
**कैसे मिलौं स्याम सुन्दर कौ, बैरिनि बीच बही।[७] (विष्णुपद)**

तमाल के अंत में भी ।ऽ का प्रयोग हुआ है। यहाँ छन्दक और सम्पद दोनों का लगात्मक लय-निपात समान है, यही दोनों के संयोग का आधार माना जा सकता है।

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५५। [२]पिंगलपीयूष, पृ० १७०।
[३]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २७४।
[४]गोरखबानी, पद ४१। [५]सूरसागर, पद ७९०।
[६]सूरसागर, पद ११०७। [७]सूरसागर, पद ३८९२।

## (३४) शास्त्र

**जसोदा, ते | रौ चिर जीव | हु गोपाल ।**

**ISS S S S SI I SSI**

**बेगि बढ़ै बल सहित विरध लट, महरि मनोहर बाल ।[१] (सरसी)**

भानु[२], परमानन्द[३] और डॉ० शुक्ल[४] के अतिरिक्त शास्त्र छन्द का उल्लेख किसी ने नहीं किया। भानु ने २० मात्रापादी इस छन्द के अंत में SI का होना आवश्यक माना है। इसके गति-निर्धारण के लिये उर्दू के इस बहर का उल्लेख किया है—मफाईलुन् मफाईलुन् मफाईल। डॉ० शुक्ल ने चतुर्थ सप्तक (ISSS) की दो आवृत्तियों और यगण-लघु के योग से इसके चरण का निर्माण माना है। वस्तुतः भानु के सिन्धु छन्द[५] के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने से यह छन्द बन जाता है। डॉ० शुक्ल ने नवीन युग के जिस सिन्धु का उल्लेख किया है—

**क्या नहीं नर ने इसे रौरव बनाया।**
**क्या न तुमने स्वर्ग है इस पर बसाया।[६]**

वह पीयूषवर्षी (१९ मात्राएँ) के अंत में एक गुरु रख कर बनाया गया है। सिन्धु नाम की विद्यमानता में उसे पीयूषनिर्झर अथवा पीयूषधारा जैसा कोई नाम मिलना चाहिये।

शास्त्र छन्द छन्दःशास्त्र की ही सम्पत्ति है। इसका काव्यगत प्रयोग देखने में नहीं आया। परमानन्द भानु के ही उदाहरण को उद्धृत कर तथा शुक्ल स्वरचित उदाहरण देकर इसके काव्यगत प्रयोगाभाव की ओर ही संकेत करते हैं। इसकी लय के प्रवाहपूर्ण नहीं होने के कारण ही कवियों ने इसे नहीं अपनाया।

सूरदास के प्रस्तुत छन्दक में शास्त्र छन्द का लक्षण पूर्णतया घटित नहीं होता। आदि का सप्तक और अंत का यगण-लघु तो ठीक है, पर मध्यस्थ सप्तक का रूप ISSS की जगह SSSI है, जिससे शास्त्र छंद की गति कुंठित-सी

---

[१]सूरसागर पद, ७५६। [२]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४७।
[३]पिंगलपीयूष, पृ० १७२।
[४]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७६।
[५]भानु का सिंधु छन्द, छन्दःप्रभाकर, पृ० ४१।
[६]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २८१।

प्रतीत होती है। शास्त्रों में ऐसा कोई छन्द उपलब्ध नहीं, अतः इसे हमने शास्त्र के ही अन्तर्गत रख लिया है।

छन्दक ९ मात्राओं के बाद दोहे का समचरण हो जाता है। अतः उसकी लय-मैत्री सरसी के द्वितीय खंड (११ मात्राएँ) के साथ हो जाती है।

## (३५) हंसगति

हंसगति २० मात्रापादी छन्द है। प्राचीन आचार्यों में मुरलीधर[१], भिखारीदास[२] और जानी बिहारी लाल[३] ने इसका उल्लेख किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु[४], रघुनन्दन[५], परमानन्द[६], और डॉ० शिवनन्दन[७] द्वारा यह उल्लिखित हुआ है। इन सभी आधुनिक लक्षणकारों ने इसमें ११-९ पर यति मानी है। इस प्रकार हंसगति रोला की अंतिम चार मात्राओं को निकाल देने से बनता है। किन्तु, भिखारीदास ने हंसगति में बीस मात्राएँ अनियमित रूप से मानी हैं—

**बीसै कल बिन नियम हंसगति सोहै।**[८]

उनके उदाहरण-पद्य के तीन चरणों में तो ११-९ पर यति है, पर चौथे चरण में इस यति-व्यवस्था की अवहेलना स्पष्ट है।[९] भिखारीदास के लक्षणोदाहरण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि रोला के समान हंसगति की यति-व्यवस्था भी लचीली है और इस दृष्टि से डॉ० शिवनन्दन द्वारा उद्धृत पंत का 'भाव-कर्म में जहाँ साम्य...' वाला पद्य[१०] हंसगति का उदाहरण हो जाता है। डॉ० शुक्ल का इसे योग का उदाहरण मानना इसलिये ठीक नहीं है[११] कि भानु का योग षष्ठक के आधार पर चलता है। यदि आज कोई २० मात्रापादी छन्द षष्ठक के आधार को ले कर नहीं चलता, तो वह किसी नये नाम का अधिकारी हो सकता है, योग नाम का नहीं, क्योंकि इससे पाठकों की उलझन बेतरह बढ़

---

[१]मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२।

[२]छन्दार्णव ५।१७१-१७३।

[३]मा० छं० का विकास, पृ० ९६। [४]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५७।

[५]हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ६२। [६]पिंगलपीयूष, पृ० १७१।

[७]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ७६। [८]छन्दार्णव, ५।१७१।

[९]छन्दार्णव, ५।१७३। [१०]पीछे 'योग-कल्प' छन्द, पृ० ११९।

[११]पीछे 'योग-कल्प' छन्द, पृ० ११९।

जाती है। अतः पंत का उक्त पद्य समप्रवाहिकता के बल पर हंसगति का ही उदाहरण हो सकता है, योग और हंसगति को अभिन्न समझ कर योग का उदाहरण नहीं।[१]

सूरदास ने हंसगति का प्रयोग छन्दक-रूप में विष्णुपद, सार, ताटंक, समानसवैया तथा हंसाल के सम्पदों के साथ किया है—

**देखो माई माधौ राधा क्रीरत।**
**सुरत समय संतोष न मानत, फिर फिर अंक भरत।**[२] **(विष्णुपद)**
**देखो माई स्याम | सुरति अब आवै। (११-९)**
**दादुर मोर कोकिला बोलैं, पावस अगम जनावै।**[३] **(सार)**
**कैसे कै भरिहै री दिन सावन के।**
**हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।**[४]
**(ताटंक)**
**पलना झूलो मेरे लाल पियारे।**
**मुसकनि की बारी हौं बलि-बलि, हठ न करहु तुम नंददुलारे।**[५]
**(स० सवैया)**

छन्दक और सम्पद दोनों समप्रवाही हैं, इसीलिये दोनों का संयोग सम्भव हो सका है।

## (३६) योग-कल्प

योग-कल्प के लक्षणादि के संबंध में हम पीछे कह आये हैं।[६] सूरसाहित्य में योग-कल्प का छन्दक-रूप में प्रयोग हंसाल के सम्पद के साथ हुआ है।

**नाथ और कासौं | कहौं गरुड़गामी।**
**दीनबंधू दया सिंधु असरन सरन, सत्य सुखदाम**
**सर्वज्ञ स्वामी।**[७] **(हंसाल)**

हंसाल पंचक के आधार पर चलने वाला है और छन्दक का निर्माण दो त्रिकलों

---

[१]आ०हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७९। [२]सूरसागर, पद १८१८।
[३]सूरसागर, पद ३९३०। [४]सूरसागर, पद ३९३४।
[५]सूरसागर, पद ७७८। [६]पीछे योग-कल्प छन्द, पृ० ११६।
[७]सूरसागर, पद ४८३१।

और एक चौकल की दो आवृत्तियों से हुआ है। तीन मात्राओं के बाद छन्दक पंचकों पर प्रवाहित होने लगता है। अतः दोनों में लय-मैत्री हो जाती है।

## (३७) अरुण

अरुण छन्द का नामोल्लेख भानु के पूर्व नहीं मिलता। भानु के अनुसार इसमें ५-५-१० मात्राएँ होती हैं, अंत में रगण (ऽ।ऽ) रहता है।[१] पंचक के आधार पर चलने वाला २० मात्रापादी एक छन्द भिखारीदास के यहाँ निशिपाल (भ ज स न र) नाम का है—

**लाज कुल साज गृह काज विसराइ के।**
**पा लगत लाल किहि जाल इत आइ कै।**[२]

यह रखा तो गया है मात्रिक-प्रकरण में, किन्तु इसकी वर्ण-व्यवस्था इसे वर्णवृत्त सिद्ध करती है। डॉ० शिवनन्दन ने २० मात्रापादी कामिनीमोहन या मदनावतार ( ५+५+५+५ ) का उल्लेख कर यह स्वरचित उदाहरण दिया है—

**दीप वह, स्नेह जिसका तिमिर से लड़े।**
**लौ वही, जो कि काँपे न तूफान से।**
**प्राण वह, जो नहीं आँच से गड़ पड़े।**
**आदमी वह, न संकल्प जिसका झुके।**

साथ ही उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि प्राकृत छन्दोग्रंथों के इस बहुकथित मात्रिक का उल्लेख हिन्दी लक्षणग्रंथों में नहीं हुआ है।[३] अगर वे थोड़ा ध्यान देते तो उन्हें पता लग जाता कि प्राकृत छन्दःशास्त्र का कामिनीमोहन ही हिन्दी में अरुण बन गया है। कामिनीमोहन का आधार चार पंचक (रगण-प्रस्तार) है और अरुण का आधार भी वही है। यद्यपि भानु ने पंचक का स्वरूप-निर्देश नहीं किया; किन्तु उनके उदाहरण में रगण-प्रस्तार स्पष्ट है। डॉ० शुक्ल ने अरुण को स्रग्विनी (चार रगण) पर ही आधारित माना है, क्योंकि भानु के अनुसार ५-५-१० मानने पर रगण के स्थान पर यगण अथवा तगण भी आ सकता है, जो लय का बाधक हो जायगा।[४]

---

[१]**छन्दःप्रभाकर, पृ० ५७।** [२]**छन्दार्णव, ५।१८०।**
[३]**हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ७७।**
[४]**आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २७७।**

अपभ्रंश कवि पुष्पदंत के (९५९-७२)[1] आदि पुराण में स्रग्विनी छन्द का प्रयोग हुआ है—

**उण्हयं भोयणं तुप्प-धारा-हरं ।**
**रत्तओ कंबलो छुण्ण रंधं घरं ।[2]**

जयदेव ( जन्म १०२५-१०५० तक )[3] के यह इसी ने मात्रिक रूप धारण कर लिया—

**हरिचरण शरण जयदेव कवि भारती ।**
**वसतु हृदि युवतिरिव कोमल कलावती ।[4]**

सूरदास ने अरुण का प्रयोग सम्पद-रूप में किसी पद में नहीं किया। तुलसीदास ने एक पद की रचना अवश्य इसमें की है।[5] भारतेन्दु के गीत-गोविन्दानन्द में भी एक पद अरुण का मिलता है।[6]

सूरसाहित्य में अरुण का प्रयोग छन्दक-रूप में झूलना-हंसाल, तथा विजया के सम्पदों के साथ हुआ है।

**कहा डर करौं इहि फनिग को बावरी ।**
**कह्यौ मेरो मानि, छाँड़ि अपनी बानि ।**
**टेक परिहै जानि सब रावरी ।[7]** (झूलना)

**आजु अंजन दियौ राधिका नैन को ।**
**मीन गुन हीन, मृग लजित खंजन चकित,**
**अधिक चंचल सरस स्याम सुख दैन कौं ।[8]** (विजया)

प्रस्तुत उदाहरणों में छन्दक और सम्पद दोनों पंचक के आधार चलते हैं। अतः लय-साम्य के कारण दोनों में संयोग संभव हो जाता है।

## (३८) प्लवंगम-चांद्रायण

प्लवंगम छन्द का प्राचीन उल्लेख प्राकृतपैंगल में मिलता है। उसके अनुसार इसके प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ होती हैं और वह तीन षट्कल

---

[1]हिन्दीकाव्यधारा : राहुल, पृ० १७६।
[2]हिन्दीकाव्यधारा : राहुल, सामंती भोग, पृ० १६६।
[3]गीतगोविन्द (चौखंबा संस्कृत सिरीज) भूमिका, पृ० ४।
[4]गीतगोविन्दः सप्तम सर्ग।
[5]विनयपत्रिका, पद ४८। [6]भा० ग्रं०—गीततागोविन्दानन्द, पद २९।
[7]सूरसागर, पद ११६९। [8]सूरसागर, पद ३०६८।

तथा लघु-गुरु के योग से बनता है। इसमें त्रिकल, चतुष्कल और पंचकल नहीं रहते।

(क) तिक्कल, चउकल, पंचकल तिअ गण दूर करेहु।
छक्कल तिण्णि पलंत जिहि लहु गुरु अंत मुणेहु।[1]

(ख) पंचमत्त चउमत्त गणा णहि किज्जए।[2]

प्रा० पैं० में इसकी यति का कोई निर्देश नहीं है; पर उदाहरण-पद्य में यति १२वीं मात्रा पर जान पड़ती है। यथा—

फुल्ल कलंवअ अंबर | डंबर दीसए।
पाउस पाउ घणाघण | समुहि वरीसए।[3]

उदाहरण में त्रिकल, चतुष्कल और पंचकल भी मिलते हैं। इसीलिये आगे चल कर दामोदरमिश्र ने इसके लक्षण में चतुष्कल और पंचकल का भी विधान किया और अंत में रगण की व्यवस्था की।[4] हिन्दी छन्दःशास्त्रियों में श्रीधर कवि ने इसमें ११वीं मात्रा पर यति, अंत में रगण और आदि में गुरु माना है—

आदि गुरू करि मत्त इकीस सुधारिये।
अंत पदप्पद सुद्ध रगन्नहिं धारिये।
ग्यारह पै विसराम भलो विधि दीजिये।
चारु पवंगम छंदहि या विधि कीजिये।[5]

अन्य हिंदी लक्षणकारों में मुरलीधर[6], सुखदेव[7], जयदेव[8], भिखारीदास[9], अयोध्या प्रसाद[10] तथा जानी बिहारी लाल[11] ने इसका उल्लेख किया है। भिखारीदास ने इसके चरण का निर्माण ४ चौकल और एक पंचकल द्वारा बताया, यति का कोई संकेत नहीं किया। आधुनिक काल में इसके यति-स्थान में परिवर्त्तन हुआ। भानु ने इसके चरण में ८-१३ पर यति बतलाई। साथ ही आदि में गुरु तथा अंत में ।ऽ।ऽ का विधान किया। कोई-कोई ११-१० पर भी यति मानते हैं,

---

[1]प्रा० पैं० १।१८७ क भाग २ (डॉ० भोलाशंकर व्यास)।
[2]प्रा० पैं० १।१८६ :
[3]प्रा० पैं० १।१८८। [4]वाणीभूषण १।१११।
[5]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० भोलाशंकर व्यास से उद्धत, पृ० ४७४।
[6]से [8]मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ७२, ७४ और ८३।
[9]छन्दार्णव, ५।१८३, १८४।
[10]और [11]मा० छं० का विकास, पृ० ९४, ९६।

भानु इससे भी अवगत हैं। उनके अनुसार इसके दो उपभेद भी होते हैं, जिनके अंत में SSSIS अथवा IIIS आते हैं। इसका अन्य नाम अरिल्ल भी है, जबकि १६ मात्राओं का एक अरिल्ल छन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है।[१]

प्लवंगम में ११-१० पर भी यति होती है, यह जानते हुए भी उन्होंने चांद्रायण नामक एक नये छन्द की उद्भावना की। चांद्रायण में ११-१० पर यति तो होती है, परन्तु ११ मात्राएँ जगणांत और १० मात्राएँ रगणांत होती हैं। साथ ही इसके आदि में लघु भी रह सकता है।[२] ये दोनों छन्द वस्तुतः एक ही हैं। दो केवल छन्दःशास्त्रों में हैं। कवियों के काव्यों में दोनों की पंक्तियाँ प्रायः मिली-जुली हैं। कदाचित् इसी बात को लक्ष्य कर भानु ने दोनों के सम्मिलित प्रयोग को तिलोकी संज्ञा दी।[३] भानु के बाद रघुनन्दन[४], परमानन्द[५], दत्त[६], उपाध्याय[७], शिवनन्दन[८], शुक्ल[९] आदि छन्दःशास्त्रियों में किसी ने प्लवंगम का, किसी ने चांद्रायण का और किसी ने तीनों का उल्लेख किया है। किंतु, लक्षण में कोई नई बात नहीं कही है।

संस्कृत वर्णवृत्तों में एक चन्द्रौरसः ( म भ न य ल ग ) छन्द है, जिसकी लय प्लवंगम-चांद्रायण के समान है—

**मो भौने या लगत सुघर चन्द्रौरसा।**
**देखौ सोने सरिस सु तनु कैसे लसा।**[१०]

इस चन्द्रौरसः का प्राचीन उल्लेख केदारभट्ट के वृत्तरत्नाकर की टीका में मिलता है।[११] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने प्लवंगम का विकास स्वयंभू तथा हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित अपभ्रंश के प्रसिद्ध छन्द 'रासक' (१८, नः यति १४-७) से माना है। हेमचन्द्र के उदाहरण की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

---

[१]से [३]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५७-५८।
[४]हिन्दी छन्दप्रकाश—केवल प्लवंगम, पृ० ६३।
[५]पिंगलपीयूष—तीनों—पृ० १७२-१७३।
[६]हिन्दी छन्दःचन्द्रिका—केवल प्लवंगम, पृ० ३०।
[७]नवीन पिंगल—चांद्रायण अरिल्ल नाम से, पृ० ९१।
[८]हिन्दी छन्दःशास्त्र—तीनों—पृ० ७७-७९।
[९]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना—तीनों—पृ० २७९-२८१।
[१०]छन्दःप्रभाकर, पृ० १६५।
[११]जयदामन : वेलंकर : वृत्तरत्नाकर, ३।७७-८।

**सिरिसिद्धित्थनरेस रकुल चूलायण ।**
**जयहि जिणेसर बीर सयल भुवणाभरण ।**[1]

इसी प्रकार के छन्द का प्रयोग अब्दुर्रहमान ने ग्रीष्म-वर्णन में किया है—

**विसमभाल झलकंत जलंतिय तिब्बयर ।**
**महियलि वणतिण-दहण तवंतिय तरणि कर ।**[2]

हिन्दी-काव्य में चांद्रायण का सर्वप्रथम प्रयोग पृथ्वीराजरासो में मिलता है—

**तजि हांसीपुर जीव लम्म बंधी सही ।**
**हिंदवान गढ़ मुक्कि गहा अप्पा रही । छं० २८, स० ५२**[3]

कबीरदास ने भी इसका प्रयोग अनेक पदों में किया है ।[4] संत साहित्य के अंतर्गत प्लवंगम-चांद्रायण का प्रयोग अरिल्ल नाम से संत वाजिद[5], बूला साहब[6], संत गरीबदास[7] तथा पलटू साहब[8] में उपलब्ध होता है । तुलसी साहब के ग्रंथ में जो छन्द अरिल्ल नाम से मिलता है, वह रोला और समानसवैये का प्रगाथ रूप है[9] ।

प्लवंगम-चांद्रायण संतों का जितना प्रिय रहा, उतना भक्तों का नहीं । इसका कारण यह हो सकता है कि प्लवंगम की तरह इधर-उधर कूदने-उछलने वाला यह छन्द सन्तों के इधर-उधर से उदाहरण जुटा कर संसार की नश्वरता और परमतत्व के ज्ञानोपदेश की अभिव्यक्ति में तो सफल सिद्ध हुआ हो; किंतु, हृदय की भक्ति की शांत-स्वच्छ मंदाकिनी बहाने वाले भक्त कवियों को यह अपनी वाणी का उतना उपयुक्त वाहक नहीं प्रतीत हुआ हो । यही कारण है कि सूर-साहित्य में इन छन्दों में रचित कोई पद नहीं मिलता । अन्य कृष्णभक्तों तथा तुलसीदास के साथ भी यही बात है । भारतेन्दु ने अपने काव्य में प्लवंगम-चांद्रायण का प्रयोग कई स्थलों पर अवश्य किया है ।[10] आधुनिक युग में गुरुभक्त

---

[1]प्रा० पैं० भाग ४, डॉ० व्यास, ४७६-४७७ ।
[2]हिन्दीकाव्यधारा : राहुल, पृ० ३०२ ।
[3]चंदबरदाई और उनका काव्य : डॉ० त्रिवेदी से उद्धृत पृ० २३९ ।
[4]क० व० : हरिऔध, पद २४, ६१, ६२, ६३, ११०, २२८ ।
[5]से [9]तक—संतकाव्य : परशुराम, पृ० ३०१,३६९,४११, ४८१, ४८६ ।
[10]भारतेन्दु ग्रंथावली—प्रेमप्रलाप, पद ३२, होली २४, ४२ । (रेखता)

सिंह 'भक्त'[1], मैथिलीशरण[2], हरिऔध[3], तथा प्रसाद[4] ने इसका प्रयोग किया है। हरिऔध ने तो तिलोकी ( प्लवंगम+चांद्रायण ) को 'वैदेहीवनवास' में विपुल प्रतिष्ठा दी है।

सूरदास ने मुख्यतः वर्णनात्मक प्रसंगों में रोला तथा दोहे के साथ प्लवंगम, चांद्रायण और तिलोकी का प्रयोग केवल छन्दक-रूप में किया है।

**टाढौ हो ब्रज | खोरी ढोटा कौन कौ।**
**(लटिहि) लकुट त्रिभंगी एक पद (री) मानो मन्मथ गौन कौ।**
**(उल्लाला की अर्द्धाली)**
**मोर मुकुट कछनी कसे (री) पीतांबर कटि सोभ।[5] (दोहा)**

छंदक प्लवंगम है, जिसके आदि में गुरु है और अंत में रगण है। छन्दक ८ मात्राओं के बाद उल्लाला (चण्डिका) की लय पर चलने लगता है। इसी से उसका संयोग उल्लाला के साथ हो जाता है। फिर उल्लाला और दोहे के चरणों में लय की समानता के कारण संगति हो जाती है।

**जब दधि बेंचन जाहिं, मारग रोकि रहै।**
**ग्वारिनि देखत धाइ, अंचल आइ गहै। टेक।** } **चांद्रायण**
**अहो नंद की नारि, डारि ऐसी क्यों दीजे।**
**एक ठौर बस बासु, सुनहुँ ऐसी नहिं कीजे।[6] (रोला)**

छन्दक में चांद्रायण का प्रवाह कुछ प्रतिहत प्रतीत होता है। 'रोकि मारग रहे' और 'आइ अंचल गहै' से प्रकृत लय आ जाती है।

**गोपी पद-रज महिमा | विधि भृगु सौं कही।**
**बरस सहस तप कियौ | तऊ मैं ना लही।** } **प्लवंगम+चांद्रायण**
**यह सुनि कै भृगु कह्यौ, नारदादिक हरि भक्ता।**
**माँगौ तिनकी चरन रेनु, तौ है यह जुक्ता।[7]** } **(रोला)**

पादांत-वैषम्य के होते हुए भी छन्दक और सम्पद की मैत्री लय की समानता के कारण बैठ जाती है। चांद्रायण के अंतिम गुरु को लघु कर ४ मात्राएँ जोड़ देने से रोला बन जाता है। जैसे—

---

[1]नूरजहाँ—सर्ग ३ पृ० २२-२३। [2]साकेत—सर्ग ५।
[3]वैदेहीवनवास, सर्ग ४, ८, ९, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८।
[4]काननकुसुम (करुणाकुंज, मर्म-कथा) झरना (रूप-पावस-प्रभात)।
[5]सूरसागर, पद ३४९२। [6]सूरसागर, पद २१०९।
[7]सूरसागर, पद १७९३।

**बरस सहस तप कियौ तऊ मैं ना लह पायौ।**
**ग्वारिनि देखत धाइ, आइ अंचल गह लीन्हौं।**

## (३९) सिन्धु

सिन्धु छन्द का उल्लेख भानु के पूर्व नहीं मिलता। उनके लक्षणानुसार २१ मात्रापादी यह छन्द तीन सप्तकों के योग से बनता है। प्रत्येक सप्तक का प्रारम्भ लघु से होता है।[१] इस प्रकार यह छन्द चतुर्थ सप्तक ( ।SSS ) की तीन आवृत्तियों से निर्मित होता है। भानु के बाद डॉ० शुक्ल ने इसका उल्लेख तो किया; किंतु आधुनिक काल में इसका प्रयोग S।SS के आधार पर माना और भूल से वास्तविक सिन्धु को 'प्रवासी' नाम दे दिया, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[२]

प्राचीन काव्यों में सिन्धु का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। सूरदास ने इसका प्रयोग केवल एक जगह छन्दक के रूप में किया है। आधुनिक काल में भी इसका प्रयोग अत्यन्त विरल है। मैथिलीशरण ने साकेत में इसका प्रयोग एक स्थल पर किया है, जिसे डॉ० शुक्ल ने 'प्रवासी' के उदाहरण रुप में उद्धृत किया है।[३]

सूरसागर में छन्दक-रूप में सिंधु का प्रयोग मानवती छन्द के सम्पद के साथ हुआ है—

**नवेली सुनि | नवल पिय नव | निकुंज है री।**
**भावते लाल सौं, भावती केलि करि, भावती, भाव तैं**
**रसिक रस लै री।**[४]

छन्दक सप्तक के आधार पर और सम्पद पंचक के आधार पर चलते हैं। इसी से दोनों में लय-साम्य है। 'नव निकुंज है री' और 'रसिक रस लै री' से यह सत्य हृदयंगम किया जा सकता है। इसी लय-साम्य के आधार पर दोनों का मेल हो सका है।

---

[१]छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ५९।
[२]पीछे शास्त्र छन्द, पृ० ४५८ और माधव मालती छन्द, पृ० २२७।
[३]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २८२।
[४]सूरसागर, पद ३०७१।

## (४०) कुंडल

कुण्डल का प्रयोग छन्दक के रूप में रूपमाला, ताटंक तथा हरिप्रिया के सम्पदों के साथ हुआ है—

**(ऐसे) ब्रजपति को अति विचित्र हिंडोरन भावै जू ।**
**ब्रजललना स्यामा-सँग देखन को आवै जू ।**
**कल्पद्रुम के खंभ रोपे मलय गिरि की पाटि ।**
**भवरा मरुवा कृष्णऽगरु के कनक बहु विधि काटि ।[१]**

**( रूपमाला )**

'जू' को छन्द से बाहर मान कर छन्दक कुंडल माना गया है । यदि 'जू' छन्द के अंतर्गत माना जाय, तो यह १२-१२ का सारस कहा जा सकता है, यद्यपि इसे त्रिकल का आधार प्राप्त नहीं । कुंडल और रूपमाला क्रमशः षष्ठक और सप्तक के आधार पर चलते हैं । अतः दोनों में न तोलय-मैत्री ही है और न दोनों का निपात ही समान है ।

**बे सइयाँ मेरी रैनि बिदा होन ल(ला)गी ।**
**घटि गई ज्योति मन्द भए तारे फूल वासना दिसि पागी ।[२]**

**( ताटंक )**

छन्दक कुंडल का है । अतः छन्द के अनुरोध से (तुकांत के लिये भी) 'लगी' की जगह 'लागी' होना चाहिये । छन्दक और सम्पद का लयाधार भिन्न-भिन्न है । 'बिदा होन लागी' और 'फूल वासना दिसि पागी' में ध्वनि-भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है । कदाचित् कवि ने समान लय-निपात के आधार पर दोनों को संयोजित कर दिया है ।

**रच्यो रास रंग स्याम सबहिनि सुख दीन्हों ।**
**मुरली-सुर करि प्रकास, खग मृग सुनि रस उदास,**
**जुवतिनि तजि गेह बास, बनहि गवन कीन्हौ ।[३]** (हरिप्रिया)

छन्दक और सम्पद दोनों ही षष्ठकाधार पर चलते हैं । दोनों के अंतिम खंड समान मात्राओं के हैं । अतः दोनों में पूरी लय-मैत्री है ।

---

[१]सूरसागर, परि० पद १०६ ।　　[२]सूरसागर, परि० पद २४६ ।
[३]सूरसागर, पद १७७२ ।

## (४१) उपमित

उपमित छन्द का प्रयोग छन्दक रूप में गीता तथा वीर छन्द के सम्पदों के साथ हुआ है—

**गोपी गोविंद के हिंडो | रैं झूलन आइ ।**

**रँग महल मैं जह नंद रानी, खेलैं तीज सुहाइ ।**[1] **(गीता)**

छन्दक उपमित का है। शब्द के विभक्त हो जाने के कारण यति-दोष स्पष्ट है। छन्दक समप्रवाही और सम्पद सप्तकाधार पर चलने वाला है। अतः दोनों में पूर्णतः लय-साम्य नहीं है। केवल अंतिम सप्तक ('झूलन आइ' और 'तीज सुहाइ') के लय-साम्य के आधार पर दोनों का संयोजन किया गया है।

**जननी बलि जाइ हाल [रू] (रु) हालरौ गोपाल ।**
**दधि [हि] विलोइ सदमाखन राख्यौ,**
**मिश्री सानि चटावैं [नंद] लाल ।**
**कंचन खंभ मया [रि] (री) मरूवा [डाड़ी]**
**खचि हीरा बिच लाल प्रवाल ।**
**रेसम [बनाइ] (कौ) नव रतन पालनौ**
**लटकन बहुत पिरौजा-लाल ।**
**मोतिनि झालरि [नाना भाँति] (विविध) खिलौना**
**रचे विश्वकर्मा सुतहार ।**[2] **(वीर छन्द)**

उपरिलिखित पंक्तियाँ छन्दोदृष्टि से बहुत अस्तव्यस्त हैं। हमें विश्वास नहीं होता कि ये पंक्तियाँ सूरदास-द्वारा इसी रूप में रची गई होंगी। इनमें मात्राधिक्य तो है ही, एकाध पंक्ति का (कंचन खंभ, मयारि, मरुवा डाड़ी) का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। लिपिकार की असावधानी से कुछ शब्द यों ही घुस कर बैठ गये हैं। इस कोष्ठक [ ] के अन्तर्गत शब्दों को हटाने और इस कोष्ठक ( ) के अन्दर के शब्दों को रख देने से, जैसा ऊपर निर्दिष्ट है, ये पंक्तियाँ छन्दोदृष्टि से निर्दोष हो जाती हैं। साथ ही 'डाड़ी' के हट जाने से उस पंक्ति का अर्थ भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि कंचन के खंभ पर आधारित मयारी (छप्पर की लकड़ी) में मरुवा (हिंडोले लटकाने की बल्ली या लकड़ी) लगा है, जिसके बीच-बीच हीरा, लाल, मूँगा आदि जड़े हुए हैं। जब मरुवा

---

[1]सूरसागर, पद ३४६०। [2]सूरसागर, पद ७०२।

और डाढ़ी का एक ही अर्थ है[1], तो फिर समानार्थक दो शब्दों का साथ-साथ रहना दुष्प्रयोग ही कहा जायगा।

दोहे के आधार पर बना उपमित छन्द समप्रवाही है। अतः लय और निपात दोनों के साम्य के बल पर छन्दक समप्रवाही वीर के सम्पद के साथ मैत्री स्थापित कर लेता है।

## (४२) सुखदा

सुखदा का प्रयोग छन्दक रूप में सार के सम्पद के साथ हुआ है—

**कौन कुमति आई री जो कह्यौ न मानति।**
**छाँडि मान सुनि बात सयानी कत हरि सौं हठ ठानति।**[2] (सार)

छन्दक और संपद दोनों ही समप्रवाही हैं। अतः दोनों की संगति सहज-संभव है।

## (४३) रास

रास छन्द का प्रयोग छन्दक-रूप में ताटंक और रोला के संपदों के साथ हुआ है—

**सब मुरझानी री चलिबे की सुनत भनक।**
**गोपी-ग्वाल नैन जल ढारत, गोकुल ह्वै रह्यौ मूँद चनक।**[3]

**( ताटंक )**

समप्रवाही होने के कारण छन्दक और संपद में पूर्ण लय-साम्य है।

यहै कहै वसुदेव त्रिया जनि रोवहु हो।
भाग्य-बिबस सुख दुःख सकल जग जोवहु हो।
**जल दीन्हें कर आनि कहत मुख धोवहु नारी।**
**कहियत है गोपाल हरन दुख गर्व-प्रहारी।**[4] } (रोला)

छन्दक और संपद दोनों के तुकान्त का साम्य नहीं है; किन्तु, समप्रवाही होने के कारण दोनों की लयें समान हैं। 'सकल जग जोवहु' और 'कहत मुख धोवहु' की तुकान्तता दोनों के मिलन में बहुत कुछ सहायता प्रदान करती है।

---

[1] **भाषा-शब्द-कोश : डॉ० 'रसाल', मरुवा, पृ० १३६८, डाँड़ी, पृ० ७७८।**
[2] **सूरसागर, पद ३४२०।**
[3] **सूरसागर, पद ३५८०।** [4] **सूरसागर, पद ३७०८।**

## (४४) उल्लास

उल्लास छन्द का प्रयोग छन्दक के रूप में सरसी और दोहे के संपदों के साथ हुआ है—

**नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे ।**
**वै जो देखत राते-राते, फूलनि फूली डार ।**[1] (सरसी)
**वल्लभ राजकुमार छबीले हो ललना ।** (टेक)
**धनि धनि नन्द जसोमती, धनि धनि गोकुल गाउं ।**[2] (दोहा)

उल्लास और सरसी दोनों ही समप्रवाही हैं । उल्लास की पंक्ति निम्न रूप में

**नैन सलोने स्याम बहुरि कब, आवहिंगे इस बार**

सहज ही सरसी की बन जाती है । इसी प्रकार दोहे के साथ मिली हुई उल्लास की पंक्ति निम्न रूप में—

**बल्लभ राजकुमार छवि, ईले हो ललना** (उँ)

दोहे का रूप प्राप्त कर लेती है । इसी लय-साम्य के आधार पर निपात भिन्न होते हुए भी छन्दक और संपद को संयोजित करने का प्रयास किया गया है ।

## (४५) उपमान

उपमान का प्रयोग छन्दक-रूप में सार के संपद के साथ हुआ है—

**जबहिं बेनु-धुनि सांमरे, बृन्दावन लाई ।**
**मोही तिया जाति जमुना-जल सुधि तन की बिसराई ।**[3] (सार)

छन्दक और संपद दोनों समप्रवाही हैं । छन्दक के द्वितीय यति-खंड की लय और निपात संपद के अंतिमांश (तनु की बिसराई) के समान है । अतः दोनों की संगति बैठ जाती है ।

## (४६) अवतार

अवतार का प्रयोग छन्दक-रूप में विष्णुपद के संपद के साथ हुआ है—

**सौंधे की उठति झकोर, मोहन रंग भरे ।**
**चोवा चन्दन अगरु कुंकुमा, सो है माट भरे ।**[4] (विष्णुपद)

---

[1]सूरसागर, पद ३८८३ ।
[2]सूरसागर, पद ३५२३ ।
[3]सूरसागर, परिशिष्ट, पद ३५ ।
[4]सूरसागर, पद ३५१५ ।

प्रस्तुत उदाहरण में छन्दक और संपद दोनों के उत्तर खण्ड की लय समान है।

## (४७) हीर

हीर छन्द का प्रयोग छन्दक-रूप में हरिप्रिया के सम्पद के साथ हुआ है—

**बावरी कहाँ धौं अब | बाँसुरी सौं तू लरै।**
**उनहीं सौं प्रेम-नेम, तुम सौं नाहिन आली,**
**या ते गिरिधारी लाल लै लै अधरा धरै।**[1] (हरिप्रिया)

छन्दक के उत्तरार्द्ध को त्रिकल का आधार प्राप्त है। पूर्वार्द्ध में दो त्रिकल (बाव री क) के बाद एक षट्कल का प्रयोग है। हीर से बहुत कुछ लय-साम्य भी है, अतः यह हीर की पंक्ति मानी जा सकती है। हीर और हरिप्रिया दोनों षष्ठक के आधार पर चलने वाले छन्द हैं। हीर का अंतिम खंड ११ (षष्ठक+पंचक) मात्राओं का होता है और हरिप्रिया का १० मात्राओं का। इसीलिये 'तू लरै' तथा 'अधर धरै' में थोड़ी लय-भिन्नता प्रतीत होती है। किंतु, सम्पूर्ण चरण की लय-समानता तथा निपात-साम्य के आधार पर दोनों का सम्मेलन सुखद है।

२३ मात्रापादी एक छन्दक का प्रयोग सार के संपद के साथ हुआ है—

**कुबरी कौ न्याउरी, जा सौं गोविन्द बोलै।**
**वे त्रिलोक नाथ चाहत हैं, काहैं न ऐंड़ी डोलैं।**[2] (सार)

इस छन्दक का निर्माण प्रात (११ मात्राएँ)[3] छन्द तथा महानुभाव (१२ मा०) के चरणों को एक इकाई मान कर हुआ है। अंतिम द्वादशमात्रिक खंड दोनों के समप्रवाही हैं। अतः दोनों का संयोग सहज संभव है।

## (४८) रोला

रोला का प्रयोग छन्दक-रूप में सार, मरहटामाधवी और विनय के सम्पदों के साथ हुआ है—

---

[1] सूरसागर, पद १६०८। [2] सूरसागर, पद ४२६३।
[3] इस नवीन छन्द का प्रयोग षष्ठक और पंचक के संयोग से हुआ है।—आ० हि० का० में छंदयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २४६।

**(क) (सुनिये) सुनियै हो धरि ध्यान, सुधा रस मुरली बाजै ।**
**स्याम अधर पर बैठि विराजति, सप्त सुरनि मिलि साजै ।[1] (सार)**

**(ख) जमुना-पुलिनहिं रच्यौ, रंग सुरंग हिंडोलनौ ।**
**रमत [राम] स्याम (बल) सँग ब्रजबालक**
**सुख पावत हँसि बोलनो ।[2] (मरहटामाधवी)**

(क) का छन्दक चार मात्राओं के बाद रोला की लय पर चलता है। अतः हमने 'सुनियै' को छन्द से बाहर मान कर कोष्ठक के अन्दर कर दिया है। (ख) के सम्पद में एक मात्रा का आधिक्य है। अतः स्याम के पूर्वपद 'राम' को हटाकर स्याम के पश्चात् 'बल' (बलदेव के अर्थ में बल शब्द का प्रयोग सूरसागर में पाया जाता है।[3]) जोड़ दिया गया है।

छन्दक और सम्पद दोनों के समप्रवाही होने के कारण दोनों में लय-साम्य है।

**राजत री बनमाल गरे हरि आवत बन तें ।**
**फूलनि सौं लाल पाग, लटकि रही वाम भाग,**
**सो छवि लखि सानुराग, टरति न मन तें ।[4] (विनय)**

यहाँ छन्दक और सम्पद के अंतिमांश में (आवत बन तें, और टरति न मन तें) लय की समानता है। अतः दोनों का संयोग हो गया है।

## (४६) सारस

सारस का प्रयोग छन्दक-रूप में हरिवल्लभा के सम्पद के साथ हुआ है।

**नंद नँदन बार-बार रवनि-पंथ जोहै री ।**
**लोचन हरि करि चकोर, राधा-मुख-चंद-ओर**
**देखत नहिं तिमिर भोर, मन ही मन मोहै री ।[5] (हरिवल्लभा)**

सारस और हरिवल्लभा दोनों ही षष्ठक के आधार पर चलने वाले हैं। छन्दक सम्पद के उत्तरार्द्ध के बिलकुल समान है। अतः दोनों का संयोग संभव हो सका है।

---

[1]सूरसागर, पद १८०१ । [2]सूरसागर, पद ३४५० ।
[3]बल जू गह्यौ नासिका मोती । पद ७८३ ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों । पद ७९३ ।
[4]सूरसागर, पद १९९३ । [5]सूरसागर, पद २५९६ ।

यहाँ २४ मात्रापादी एक छन्दक के संबंध में भी विचार कर लेना है, जिसका प्रयोग हरिप्रीता के संपद के साथ हुआ है—

**लाल की रूप माधुरी, निरखि नैंकु सखी री।**

**मनसिज मनहरनि हाँसि, साँवरो सुकुमार रासि,**

**नखसिख अँग अंग निरखि, सोभा-सींव नखी री।**[१] (हरिप्रीता)

इस छन्दक में १३-११ यर यति दे कर २४ मात्राएँ हैं। सारस से कुछ-कुछ मिलता-जुलता भी यह सारस नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक तो इसमें १२-१२ पर यति नहीं है, दूसरे इसके प्रथम यति-खंड को त्रिकल का आधार प्राप्त नहीं। इसका निर्माण प्रदोष (१३ मा०)[२] और भव (११ मा०)[३] के चरणों को एक इकाई मान कर हुआ है। छन्दक और सम्पद के अंतिम एकादशमात्रिक खण्डों में पूर्ण साम्य है।

इसी प्रकार दो छन्दों के चरणों को एक इकाई मान कर निम्नलिखित छन्दक का निर्माण हुआ है—

**अब हरि हमकों माई री, मिलत नाहिन नैंकु।**

**नित उठि जाइ प्रात लै बन सँग, आगे पाछै डग नहिं एक।**[४] (वीर छन्द)

छन्दक का प्रथम यति-खंड हाकलि का, और द्वितीय यति-खंड पंचक के आधार पर चलने दीप का चरण है।

अंतिम सप्तकों की समानता और समान लय-निपात के कारण दोनों का संयोग हुआ है।

## (५०) मुक्तामणि

मुक्तामणि का प्रयोग छन्दक-रूप में दोहे के सम्पद के साथ हुआ है—

**[तुम] भली निबाही प्रीति (तुम) कमल नयन मन मोहन।**

**तब कैसे अति प्रेम सौं, हमें खिलाइ फाग।**[५] (दोहा)

छन्दक में १३-१२ मात्राएँ हैं। इस लय का कोई छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं। त्रयोदशमात्रिक खंड के समान भी कोई छन्द नहीं मिलता। इसलिये दो छन्दों के चरणों को एक इकाई मान कर इसका निर्माण हुआ है, यह हम तब

---

[१]सूरसागर, पद १९०८।
[२]पीछे प्रदोष छन्द।
[३]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४४।
[४]सूरसागर—परिशिष्ट, पद १४६।
[५]सूरसागर, पद ३७७३।

कह सकते हैं, जब पूर्वार्द्ध को पद्धरि के अंतिम त्रिकल को निकाल कर बनाया हुआ मानें, और उत्तरार्द्ध तो महानुभाव है ही। १३-१२ का मुक्तामणि छन्द दोहे के अंतिम लघु को गुरु कर देने से बनता है। छन्द को यदि निम्न रूप प्राप्त हो जाय—

**भली निवाही प्रीति तुम, कमल नयन मन मोहन।**

तो यह मुक्तामणि छन्द कहा जा सकता है। यहाँ अंतिम गुरु की जगह दो लघु का प्रयोग हुआ है। लिपिकार की असावधानी से 'तुम' का पहले आ जाना संभव है। यदि ऐसा नहीं हो, तो छन्दक को दो छन्दों के चरणों की इकाई मानना पड़ेगा।

मुक्तामणि का उद्भव दोहे से हुआ है। इसीलिये तुकांतता के अभाव में भी लय-साम्य के आधार पर छन्दक और सम्पद की मैत्री हो सकी है। पद्धरि, महानुभाव और दोहा सभी समप्रवाही हैं, अतः छन्दक और सम्पद की मैत्री इस रूप में भी हो जाती है।

## (५१) नाग

भानु के पूर्व नाग छन्द का उल्लेख नहीं मिलता। उनके अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १०-८-७ पर यति दे कर २५ मात्राएँ होती हैं और अंत में ऽ। होता है। भानु के पश्चात् किसी छन्दःशास्त्री ने इसका उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार लक्षणकारों द्वारा यह छन्द उपेक्षित रहा; किंतु कवियों का प्रेम बीच-बीच में इसे मिलता रहा। हाँ, कवियों के यहाँ इसका १०-८-७ वाला रूप नहीं मिलता। उनके प्रयोग के अनुसार इसमें १४वीं मात्रा पर यति और अंत में ऽ। मानना पड़ेगा। इस प्रकार सरसी के पूर्वखंड की अंतिम दो मात्राओं को निकाल देने से यह छन्द बन जाता है।

नाग छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग विद्यापति में मिलता है—

**सून सेज हिय सालए रे।**
**पिया बिनु घर मोय आजि।**
**विनति करओं सह लोलनि रे।**
**मोहि देह अगिहर साजि।**[१]

तुलसीदास ने नाग की अर्द्धाली और हरिगीतिका को मिला कर एक नूतन प्रगाथ (मिश्र) छन्द की सृष्टि की है।

---

[१]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद १८९।

दोना रुचिर रचे पूरन कन्द-मूल फल फूल ।
अनुपम अमियहुतें, अंबक अवलोकत अनुकूल ।
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंब हित सब आनि कैं ।

× × ×

दोउ भाय आये सबरिका के प्रेम-पन पहिचानि कैं ।[१]

धरनीदास का एक पद नाग छन्द में निबद्ध मिलता है—

सहर बसै एक चौहटा हो, एकै हाट परवान ।
ताहि हाट के बनिया हो, बनिज न भावत आन ।[२]

सूरदास ने नाग का प्रयोग छन्दक-रूप में सरसी के सम्पद के साथ किया है—

ऊधौ कब हरि आवेंगे, साँची कहौ न बात ।
वे तो रीझे संग कुबिजा के, कुटिल-कुटिल दोउ गात ।[३]

दोनों के उत्तरखंड समान होने के कारण छन्दक और सम्पद आपस में मिल गये हैं ।

## (५२) विष्णुपद

विष्णुपद का प्रयोग छन्दक-रूप में अमर्षिता छन्द के सम्पद के साथ हुआ है ।

वादि बकति काहे को तू, कत आई मेरे घर ।
वे अति चतुर कहा कहियै, जिनि तोसी मूरख
लेन पठाई तनु वेधति वचननि सर ।[४]

छन्दक और सम्पद दोनों समप्रवाही हैं । अतः दोनों में पूर्ण लय-साम्य है । यति-व्यवस्था के अनुसार छन्दक को नाग और महानुभाव के चरणों के योग से भी बना हुआ मान सकते हैं ।

## (५३) सरसी

सरसी का प्रयोग छन्दक-रूप में वीर छन्द के सम्पद के साथ हुआ है—

सारँग-सुत-पति तनया के तट ठाढ़े नंद कुमार ।
बहुत तपति जु रासि मैं सविता ता तनया सँग करत बिहार ।[५]

---

[१]गीतावली, अरण्य० पद १७ । [२]संतकाव्यः परशुराम चतुर्वेदी, पद १२ ।
[३]सूरसागर, परिशिष्ट, पद १७६ । [४]सूरसागर, पद ३२१२ ।
[५]सूरसागर, परि० पद २५५ ।

दोनों समप्रवाही हैं, दोनों का लय-निपात भी समान है। अतः छन्दक और सम्पद में पूर्ण मैत्री हो सकी है।

इसी प्रसंग में २७ मात्रापादी निम्न छन्दक पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

**कुंज सुहावनौ भवन, बनि-ठनि बैठे राधारवन।**
**बरन बहु कुसुम प्रफुलित ससि की, किरनि जगमग**
**द्युति तैसोई बहै त्रिविधि पवन।**[1] **(मदनशय्या)**

सम्पद के पाठ पर हम पीछे विचार कर आये हैं।[2] छन्दक के पूर्वार्द्ध में १२ और उत्तरार्द्ध में १५ मात्राएँ हैं। इस प्रकार का कोई छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। प्रथम खंड का आधार षष्ठक है, अतः इसे लीला का चरण कह सकते हैं। दूसरा खंड समप्रवाही है, यह चौबोले का चरण कहा जा सकता है। इस प्रकार लीला और चौबोले के चरणों को इकाई मान कर छन्दक का निर्माण किया गया है।

इसी प्रकार चौपई के बाद १२ मात्राएँ (२ पंचक+ऽ) रख कर २७ मात्राओं की एक इकाई मान कर निम्न छन्दक का निर्माण किया गया है—

**मोहन गए, आज तुम जाहु दाँव हम लेहिंगी हो।**
**लालन हमहिं करे बेहाल बहै फल देहिंगी हो।**
**आजुहिं दाँव आपनौ लेतीं, भले गए हो भागि।**[3] **(सरसी)**

इस छन्दक का सरसी के सम्पद के साथ प्रारंभिक भाग से, चौपई के समप्रवाही होने के कारण, थोड़ा लय-साम्य है। अंतिम अंश को सरसी के प्रारंभ में आवृत्त कर कवि ने दोनों की संगति बिठाने की कोशिश की है।

## (५४) सार

सार का प्रयोग छन्दक-रूप में मदनहर छन्द के सम्पद के साथ हुआ है—

**होली के [खि] (खे) लार भावते योंहि जान न दैहौं।**
**बागे बीरे जो बनि आए, जागे हैं (ये) भाग हमारे**
**फगुवा न लैहौं।**[4]

---

[1]सूरसागर, पद २७६०। [2]पीछे मदनशय्या छन्द।
[3]सूरसागर, पद ३४६५। [4]सूरसागर, परिशिष्ट, पद १२४।

इसके पाठ पर हम पीछे विचार कर आये हैं।[1] सार और मदनहर दोनों सम-प्रवाही छन्द हैं। समानसवैये के अंत में आठ मात्राएँ जोड़ कर मदनहर का निर्माण हुआ है। अतः छन्दक और सम्पद में पूरी लय मैत्री है।

## (५५) चुलियाला

चुलियाला प्राचीन छन्द है। इसका उल्लेख कवि-दर्पण में चूड़ाल दोहक के नाम से हुआ है। कवि-दर्पण के अनुसार दोहे के समचरण के बाद एक तगण अर्थात् पंचकल जोड़ देने से यह बनता है।[2] रत्नशेखर के छन्दःकोश में[3] तथा प्राकृत पैंगल[4] में इसका उल्लेख मिलता है। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में मुरलीधर[5], सुखदेव[6], भिखारीदास[7], रामसहाय[8], अयोध्याप्रसाद[9] तथा जानी बिहारी लाल[10] ने इसका उल्लेख किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्रियों में भानु[11] और डॉ० शिवनन्दन[12] द्वारा यह उल्लिखित हुआ है। दोनों ने इसके अंत में ।ऽ।। अथवा ।ऽऽ की व्यवस्था बतलाई है।

चुलियाला छन्द का प्रचलन हिन्दी में नहीं हुआ। यह केवल प्राचीन छन्दोग्रंथों में ही जीवित रहा। जब प्राचीन कवियों ने ही इसे नहीं अपनाया, तो आधुनिक कवि इसे अपनी वाणी का वाहक क्या बनाते ? सूरदास ने चुलियाला छन्द में किसी पद की रचना नहीं की। केवल एक पद में—वह भी परिशिष्ट में—इसका प्रयोग छन्दक के रूप में गीता छन्द के सम्पद के साथ मिलता है—

**मोहन प्यारे कौ सुरंग हिंडोरना झूलन जैबै हो।**
**ब्रज रसिक मोहनी सुंदरी सब कहति हँसे-हँसे बैन।[13]** **(गीता)**

छन्दक के अंत में पंचक की जगह षष्ठक है। पंचकल के नियमानुसार यह चुलियाला नहीं कहा जा सकता। किन्तु, दोहे के समचरण के बाद पंचकल

---

[1]पीछे मदनहर छन्द।
[2]कवि-दर्पण २।१७ और कवि-दर्पण की टीका : वेलंकर पृ० १३६।
[3]छन्दःकोश, २६। [4]प्रा० पैं० १।१६८-१६६।
[5]और[6]देखिये—मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ७२, ७४।
[7]छन्दार्णव ७।१०।
[8]से [10]तक देखिये—मा० छं० का विकास : पृ० ६२, ६४, ६७।
[11]छन्दःप्रभाकर, पृ० ७१। [12]हिन्दी छन्दःशास्त्र, पृ० ६१।
[13]सूरसागर, परिशिष्ट, पद १०६।

की स्थापना उसकी समात्मकता की सूचना देती है। छन्दक का दूसरा खण्ड भी समात्मक है। इसलिये चुलियाला के लक्षण में यदि यह कहा जाय कि इसके प्रथम यति-खंड में १३ (दोहे का विषम चरण) और दूसरे में समात्मक १६ मात्राएँ होती हैं, तो कोई हानि नहीं होगी। प्रा० पै० के निम्नांकित उदाहरण-पद्य—

**राम्रा लुद्ध समाज खल बहु कलहारिणि सेव | कधुत्तउ।**
**जीवण चाहसि मुक्ख जइ परिहरु घर जइ बहुगु | ण जुत्तउ।**[1]

के चरण यह बताते हैं कि इनमें भी दोहे के समचरण के बाद पाँच मात्राएँ नहीं जोड़ी गई हैं। अवश्य उसमें ।ऽ।। के नियम का पालन हुआ है। भानु के द्वारा उद्धृत निम्न उदाहरण-पद्य से भी—

**हरि प्रभुमाधव बीरबर, मनमोहन गोपति अबिनासी।**

× × ×

**अब मम ओर निहारि दुख, दारिद हर कीजे सुखरासी।**[2]

इस बात की पुष्टि होती है कि चुलियाला का निर्माण दोहे के विषम चरण और समात्मक षोड़शमात्रिक खंड ( चौपाई या पादाकुलक ) के योग से होता है। इन सब बातों पर ध्यान रख कर छन्दक को चुलियाला मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

यहाँ छन्दक समप्रवाही है और संपद (गीता छन्द) सप्तक के आधार पर चलने वाला। दोनों में न तो लय की मैत्री है, और न निपात की समानता। अतः दोनों का संयोग सुखद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों के साम्य का कोई आधार प्राप्त नहीं होता।

---

[1] प्रा० पै० १।१६६।

[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ७१।

# नवीन छन्द : नामकरण की समस्या

सूरसागर में ऐसे अनेक छन्द प्रयुक्त हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन अथवा नवीन छन्दःशास्त्र में नहीं हुआ है। हमें विवश होकर ऐसे नवीन छन्दों का नामकरण करना पड़ा। इस अध्याय में इन्हीं नवीन छन्दों और उनके नामकरण की समस्या पर थोड़ा प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तार-विधि से छन्दों की संख्या अनन्त है। केवल लाक्षणिक वर्ग के (३२ मात्रापादी) छन्दों के भेद ही ३५२४५७८ हो सकते हैं।[1] प्रस्तार-विधि-द्वारा निरूपित इन भेदों को छोड़ कर लक्षणकारों-द्वारा उल्लिखित एवं उदाहृत छन्दों को ही यदि हम लें, तो भी छन्दों की संख्या की इयत्ता नहीं। आचार्यों द्वारा परिभाषित केवल वर्णवृत्तों की संख्या ही लगभग एक हजार है।[2] पिंगल-द्वारा परिभाषित थोड़े-से छन्द क्रम-क्रम से विकसित होकर आज हजार की संख्या तक पहुँच गए। इससे यह सहज सिद्ध है कि समय-समय पर नवीन छंदों का निर्माण निरन्तर होता रहा। नवीन छन्दों के निर्माण में छन्दःशास्त्रियों के अतिरिक्त कवियों ने योग दिया। कवियों ने नवीन छन्दों का प्रयोग छन्दःशास्त्रियों की प्रस्तार-पद्धति पर नहीं कर, प्रचलित छन्दों में कतिपय मात्राओं अथवा वर्णों को घटा-बढ़ा कर किया।[3] वैदिक ऋषियों की भाव-धारा गायत्री आदि छन्दों के मार्ग पर चलती हुई भी कभी-कभी एक-दो अक्षरों को घटा-बढ़ा कर अपने लिये नूतन मार्ग निकाल लेती थी। गायत्री छन्दोगत एक अक्षर की न्यूनता-अधिकता वाली इसी नवीनता को शौनक ने क्रमशः निचृत गायत्री और भूरिक गायत्री के नामों से अभिहित किया। उसी प्रकार दो अक्षरों की न्यूनता-अधिकता वाली नवीनता को क्रमशः विराज गायत्री और स्वराज गायत्री की संज्ञा दी।[4] इस प्रकार गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् तथा

---

[1] **छन्दःप्रभाकर, पृ० ७४, आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० ३०७।**

[2] **आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० १५६।**

[3] **मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० ११३।**

[4] **ऋग्वेद प्रातिशाख्य, पटल १७।२—३।**

जगती—इन सात प्रमुख छन्दों से[१] विकसित तथा किन्हीं दो के मिश्रण से निर्मित छन्दों का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में प्रचुरता से हुआ है।

वैदिक साहित्य के छन्दोविकास का यह क्रम लौकिक संस्कृत में भी चलता रहा। श्रुतबोध में दिये गये कई छन्दों के लक्षण[२] इस बात की ओर निर्देश करते हैं कि प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दों में कुछ अक्षरों को घटा-बढ़ा कर अथवा गुरु की जगह लघु और लघु की जगह गुरु रख कर अनेक नवीन छन्दों का आविष्कार किया गया है। पिंगल द्वारा उल्लिखित मालिनी[३] के आठवें अक्षर को निकाल कर नंदीमुखी[४] तथा दूसरे यति-खंड ( SISSISS ) को ISIISIS में बदल कर उपमालिनी[५] छन्द बना लिये गये हैं। मन्दाक्रान्ता[६], भाराक्रान्ता[७] तथा हारिणी[८] तीनों छन्द १० वर्ण तक एक-रूप हैं, अंतिम सात अक्षरों में ही थोड़ी भिन्नता है। इसी प्रकार मन्दाक्रान्ता के प्रारम्भिक चार वर्णों के बाद एक दीर्घ रख कर १८ वर्णों का कुसुमितलतावेल्लिता[९] छन्द बना लिया गया है। इसी को भरत और विरहांक चन्द्रलेखा कहते हैं। भानु की चन्द्रलेखा इससे भिन्न है। मन्दाक्रान्ता के आदि में IS रख कर मेघविस्फूर्जिता[१०] की निर्मिति हुई

---

[१]ऋग्वेदप्रातिशाख्य १६।१।

[२]श्रुतबोध-हंसी छन्द १६, उपेन्द्रवजा १६, स्वागता २६, प्रमिताक्षरा २८, हरिणीप्लुता २६, वंशस्थ ३०, इन्द्रवंशा ३१।

[३]पिंगल छन्दःशास्त्र ७।१४।

[४]जयकीर्ति २।१७० (वसंत), हेमचंद्र २।२२४, (वसंत) स्वयंभू १।११ (नंदीमुखी)।

[५]हेमचन्द्र २।२४८, केदार ३।८४, स्वयंभू १।२६।

[६]पिंगल ७।१६, जयदेव ७।१७।

[७]भरत २।२६१, स्वयंभू १।७१।

[८]छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० १८१ (भरत-स्वयंभू के भाराक्रांता को भानु ने 'हारिणी' नाम दिया है तथा भाराक्रांता का यह लक्षण दिया है— म भ न र स ल ग)।

[९]पिंगल ७।२१, जय० ७।१६, जयकीर्ति २।२१६, विरहांक ४।३६, भरत १६।८६।

[१०]जयदेव ७।२०, जयकीर्ति २।२२७।

है। शार्दूलविक्रीड़ित के प्रारम्भिक गुरु की जगह दो लघु रख देने से मत्तेभ-विक्रीड़ित[1] बन गया है। मत्तेभविक्रीड़ित की निम्न पंक्ति

**मति ओछी जस धारती जस रहै, भारावहा पीड़िता।**[2]

की 'मति' को 'धी' कर देने पर यह पंक्ति शार्दूलविक्रीड़ित की हो जायगी। स्रग्धरा के द्वितीय खंड के प्रारम्भिक लघु को हटा देने से सुवंशा का निर्माण हो जाता है।

**काढ़ी मालारु मारे, विपुल रिपु वली, अश्व लो जीति के त्यों**

**(स्रग्धरा)**[3]

इसमें 'विपुल' की जगह 'वहु' कर देने से यह सुवंशा[4] की पंक्ति हो जायगी।

जिस मन्दाक्रान्ता से कई छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ, उसी मन्दाक्रान्ता का आविष्कार कालिदास ने अश्वघोष के निम्न पद्य से—

**तस्माद्भिक्षार्थं ममगुरुरितो यावदेव प्रयात—**
**स्त्यक्त्वा काषायं गृहमहमितस्तावदेव प्रयास्ये।**
**पूज्यं लिङ्गं हि स्खलित मनसो विभ्रतः क्लिष्टबुद्धे**
**र्नामुत्रार्थः स्यादुपहत मत्तेर्नाप्ययं जीवलोके।**[5]

प्रेरणा ग्रहण कर किया है, ऐसा विद्वानों का मत है।[6] अश्वघोष के उक्त पद्य का छन्द नूतन नहीं, कुसुमितलतावेल्लिता छन्द है। मन्दाक्रान्ता और कुसुमित-लतावेल्लिता दोनों का उल्लेख पिंगल के छन्दःशास्त्र में मिलता है। पिंगलाचार्य कालिदास और अश्वघोष दोनों से प्राचीन है। अतः दोनों कवियों द्वारा वहीं से दोनों छन्दों के लिये जाने की संभावना की जा सकती है। मन्दाक्रान्ता के समान कुसुमितलतावेल्लिता छन्द प्रचलित नहीं हो सका। इसलिये यदि प्रेरणा की बात मानी ही जाय, तो अश्वघोष ने ही कालिदास के मेघदूत के मन्दाक्रान्ता छन्द से प्रेरणा पाकर उक्त पद्य की रचना की होगी। सम्पूर्ण सौन्दरनन्द में प्राप्त एक मात्र उक्त छन्द से उस काल में प्रेरणा की बात कहाँ तक युक्ति-

---

[1] जयकीर्ति २।२३३, हेम० २।३३६।
[2] छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० १९६।
[3] छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० १९६।
[4] स्वयंभू १।११०, हेम० २।३३९। [5] सौन्दरनन्द सर्ग ७।५२।
[6] सौन्दरनन्द (सानुवाद) सूर्यनारायण चौधरी, भूमिका, पृ० १२, आ० हि० का० में छंदयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० १८२।

संगत है, जबकि ग्रंथ-प्रकाशन के साधन सुलभ नहीं थे। सौन्दरनन्द में मन्दाक्रान्ता का अप्रयोग अवश्य आश्चर्यकर है, किंतु अश्वघोष में मन्दाक्रान्ता से उद्भूत एक छन्द मिलता है—

**श्रद्धावृक्षो भवति सफलश्चाश्रयश्च ।[1]**

**मास्मिन्नर्थे क्षणमपि कृथास्त्वं प्रमादं ।[2]**

यह छन्द मन्दाक्रान्ता के ११वें, १२वें तथा १३वें वर्णों को ( ।ऽऽ ) निकाल कर बना लिया गया है। निम्न रूप में,

**मास्मिन्नर्थे क्षणमपि कृथास्त्वं विमूढ़ प्रमादं ।**

दूसरी पंक्ति मन्दाक्रान्ता की हो जायगी। इस प्रकार यह छन्द म भ न त ग ग का हो जाता है, जिसे भरत शरभललित कहते हैं।[3] इसी प्रकार भट्टि में नर्दटक और जलोद्धतगति के मिश्रण से एक नया छन्द बनाया गया है, जिसे अश्वललित कहते हैं।[4] माघ ने शिशुपाल-वध में धृतश्री ( ३-८२ ), मंजरी ( ४, २४ ), अतिशायनी (८-७१), रमणीयक ( १३-६९ ) जैसे अप्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग किया है। इनमें मंजरी प्रमिताक्षरा और पृथ्वी के तथा रमणीयक रथोद्धता और द्रुतविलम्बित के यति-खंडों के योग से बने प्रतीत होते हैं।[5] इस प्रकार लौकिक संस्कृत में एक छन्द से दूसरे छन्द की उद्भावना आचार्यों तथा कवियों के द्वारा बराबर होती रही।

प्राकृत-अपभ्रंश में भी नूतन छन्दों का निर्माण इसी प्रकार होता रहा। 'गाहा छन्द प्राकृत के अधिकांश मात्रिक छन्दों का मूल स्रोत है। प्राकृत के अन्य छन्द विगाहा, उग्गाहा, गाहिनी, सिंहिनी, खंधऊ (स्कंधक) सभी प्रायः इसी के मात्रिक गणों के हेर-फेर करने से या पूर्व दल या उत्तर दल के हेर-फेर से बने हुए हैं।'[6] स्वयंभूच्छन्दः से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि किंचित् गण-परिवर्त्तन से चित्रलेखिका, मल्लिका, दीपिका तथा लक्ष्मी छन्द बन जाते हैं।[7] हिन्दी में एक छन्द की मात्रा को घटा-बढ़ा कर किस प्रकार दूसरा छन्द

---

[1]सौन्दरनन्द, सर्ग १२।४३। [2]सौन्दरनन्द, सर्ग १३।५६।

[3]नाट्यशास्त्र, १६।६८।

[4]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ३३०।

[5]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ३३१।

[6]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ३३५।

[7]स्वयंभूच्छन्दः, पूर्वभाग ३।९, १०, ११, १२।

बना लिया गया है, इसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में हम बराबर करते चले आ रहे हैं। आधुनिक काल में तो इस प्रकार के नूतन प्रयोग धड़ल्ले से हो रहे हैं। इस प्रकार वैदिक युग से लेकर आज तक छन्दों के विकास की—नूतन छन्दोनिर्माण की—एक ही कहानी है।

प्रयुक्त छन्दों में कुछ परिवर्त्तन कर नई गूंज और नई लय दे कर नूतन छंद बनाने की दो प्रणालियाँ हैं—

(क) प्रचलित छन्द में वर्णगत या मात्रागत परिवर्त्तन-द्वारा नूतन छन्द का निर्माण करना।

(ख) दो प्रचलित छन्दों के एक-एक चरण के मिश्रण को एक इकाई मान कर नूतन छन्द बना लेना अथवा एक ही छंद के डेढ़ चरण को एक चरण मान लेना आदि।

वैदिक युग में आठ अक्षर वाले गायत्री-अनुष्टुभ् के ड्योढ़े विस्तार से ही बारह वर्ण वाले जगती का चरण बना लिया गया हो, तो असंभव नहीं। लौकिक साहित्य में मत्ताक्रीड़ा तथा क्रौंचपद का निर्माण दो छन्दों के चरणों को इकाई मान कर ही हुआ है।[१] पुष्पदंत ने पद्धरि और मधुभार के एक-एक चरण के योग से ही एक २४ मात्रापादी नूतन छन्द का निर्माण किया है।[२] इस प्रकार नवीन छन्दोनिर्माण की मूलगत दोनों प्रवृत्तियाँ वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक बराबर पाई जाती हैं। सूरदास ने नवीन छन्दों के निर्माण में इसी परंपरा को आगे बढ़ाया है।

सूरसाहित्य में प्राप्त नूतन छन्दों के आधार आदि के संबंध में हम यथास्थान कह आये हैं। यहाँ अध्ययन की सुविधा के लिये एक स्थान पर उन समस्त नूतन छन्दों का उल्लेख किया गया है, जिनका प्रयोग सूरसाहित्य में हुआ है।

(क) प्रथम प्रणाली के आधार पर निर्मित छंद —

**योगकल्प, कुंडली, प्रणय, उपमित, मधुरजनी, माधवमालती, प्रतिपाल, प्रभाती, मानवती, विनय, नटनागर, हरिप्रीता, हरिवल्लभा, दोहकीय, मिताक्षरी, नागर, गोरस, सूरघनाक्षरी (सम्पद-रूप में प्रयुक्त)।**

---

[१] स्वयंभूच्छन्दः १।६१ और १।६३।

[२] हिन्दीकाव्यधारा : राहुल, देशविजय, (आदिपुराण पृ० २३०-३१) पृ० १८८।

**शिखण्डी, उर्वशी, प्रदोष, रूपोज्ज्वला, राम, विजयकरी, विलक्षण, चंद्रा** (छन्दक-रूप में प्रयुक्त)।

(ख) द्वितीय प्रणाली के आधार पर निर्मित छन्द—
**उत्कण्ठा, लीलापति, अरुणजयी, मदनशय्या, काममोहिता, अमर्षिता तथा प्रबोधन।**

इस प्रणाली पर कई छन्दकों का भी निर्माण हुआ है।[1]

(ग) इन दो प्रणालियों के अतिरिक्त नूतन छन्दोनिर्माण की तीसरी प्रणाली भी है। इसमें किसी प्रचलित छन्द का अवलंबन नहीं लिया जाता। यदि अवलंबन लिया भी जाता है, तो किंचिन्मात्र। ऐसे नूतन लय वाले छन्द का निर्माण छन्दःशास्त्री प्रस्तार-विधि से और कवि अपनी सांगीतिक प्रतिभा के बल पर करता है। सूरदास ने ऐसे तीन छन्दों का आविष्कार किया है—
**जलतरंग, विश्वभरण और प्रफुल्लित।**

इन उपर्युक्त छन्दों में प्रणय, माधवमालती, दोहकीय, उर्वशी, प्रदोष, राम (भानु का राम छन्द भिन्न लय वाला है) और उत्कण्ठा का नामकरण डॉ० शुक्ल ने आधुनिक काल में प्राप्त ऐसे प्रयोगों को देख कर किया है। इसी प्रकार मिताक्षरी नाम अवध उपाध्याय का दिया हुआ है। विनय नाम संभवतः तुलसी की विनयपत्रिका में प्राप्त ऐसे प्रयोग को देख कर परमानन्द या रघुनंदन द्वारा दिया गया है। शेष नवीन छन्दों का नामकरण हमें करना पड़ा है।

उपर्युक्त नवीन छन्दों का तो आविष्कार सूरदास ने किया ही है, इनके अतिरिक्त सूरसागर में ऐसे कई छन्द मिलते हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन आचार्यों स्वयंभू-हेमचन्द्र तथा भानु ने किया है, पर जिनका काव्यगत प्रयोग सूरदास के पूर्व नहीं मिलता। बहुत संभव है, ऐसे छन्द भी (स्वयंभू-हेमचन्द्र के छन्दों के अतिरिक्त) सूरदास-द्वारा ही आविष्कृत हुए हों। ये छन्द निम्नलिखित हैं—

शशिवदना, रतिवल्लभ, माली (विरहांक का सुमंगला छन्द), अवतार, सारस, गीता, विजया, शुभग, हरिप्रिया, कवित्त (मनहरण, रूपघनाक्षरी और जलहरण)। इनमें शशिवदना का स्वयंभू ने, रतिवल्लभ का हेमचन्द्र ने तथा माली का भिखारीदास ने उल्लेख किया है। शेष सभी छन्द भानु द्वारा उल्लिखित हैं।

---

[1]पीछे छन्दक के छन्द, पृ० ४७२, ४७४, ४७६-४७७।

कतिपय छन्द ऐसे हैं, जिनका काव्यगत प्रयोग सूरदास से प्राचीन है। इनमें कुछ का तो नामकरण प्राचीन और आधुनिक आचार्यों ने किया और कुछ उस गौरव से वंचित रह गये। ये छन्द निम्नलिखित हैं—

**अखण्ड, महानुभाव, उपवदनक, उल्लास, रजनी और वदनसवैया।**

इनमें महानुभाव और उपवदनक तो स्वयंभू द्वारा उल्लिखित हुए हैं। अखण्ड और रजनी नाम डॉ० शुक्ल ने दिये हैं। उल्लास और वदनसवैया प्रस्तुत लेखक को देना पड़ा है।

अलंकार-ध्वनि आदि का नामकरण उनकी अर्थवत्ता के आधार पर हुआ है। वर्ण या मात्राओं की पारस्परिक मैत्री से जन्म ग्रहण करने वाले छंदों का अपने नामों के लिये उस अर्थवत्ता से कोई प्रयोजन नहीं। छन्दों के नामकरण का एक मात्र आधार उनकी गतिलय ही हो सकती है। आचार्यों के ध्यान में यह बात अवश्य थी। इसीलिये अनेक वर्णवृत्तों का नामकरण उनकी गति के आधार पर किया गया है। जिस छन्द का वर्णोच्चारण पहले द्रुतगति से और फिर विलम्बित गति से होता है वह द्रुतविलम्बित, आगे बढ़ते हुए सर्पशिशु का अनुकरण करने वाला छन्द भुजगशिशुसृता, सर्प के समान जिह्म गति से चलने वाला छन्द भुजंगप्रयात, रथ की उद्धत गति से भागने वाला छन्द रथोद्धता तथा जल के उद्धत प्रवाह की भाँति अग्रसर होने वाला छन्द जलोद्धतगति कहे गये। तीन यति-स्थानों पर ठहर-ठहर कर धीरे-धीरे चलने वाले छन्द को मन्दाक्रान्ता की, बारह हाथों वाली बाघ की लम्बी छलाँग की तरह बारह अक्षरों पर विश्राम करने वाले छन्द को शार्दूलविक्रीड़ित की संज्ञा से अभिहित किया।[1] इन छन्दों के नाम स्पष्टतः उनकी गति-लय का कुछ दूर तक उद्घाटन कर देते हैं। किन्तु, सारे के सारे छन्दों की गति-लय की प्राकृतिक पदार्थों में समता ढूँढ़ लेना अथवा छन्द में निहित गति को वाक्-बद्ध कर देना असंभव है। इस बात का अनुभव कर आचार्यों ने अनेक छन्दों के नाम उनके गुण के आधार पर रखे। आदि-अंत के दो-दो गुरुओं के बीच दो लघुओं की उपस्थिति के कारण छः वर्ण वाला छन्द तनुमध्या तथा मत्तमयूर के नृत्य की भाँति दिखलाई पड़ने वाला छन्द मत्तमयूर कहे गये।[2] मात्रिक छन्दों में हंसगति, प्लवंगम तथा त्रिभंगी का नामकरण तत्तत् गति के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता

---

[1]पिंगल कृत छन्दःशास्त्र—प्रस्तावना, पृ० ६ (निर्णय सागर प्रेस, बंबई)।

[2]पिंगल कृत छन्दःशास्त्र—प्रस्तावना, पृ० ६ (निर्णय सागर प्रेस, बंबई)।

है। इन तीनों के अतिरिक्त मात्रिक छन्दों में कदाचित् ही ऐसा कोई छन्द प्राप्त हो, जिसके नाम से उसकी गति का कुछ आभास मिल सके। गुण के आधार पर रखे गये नामों में मनमोहन, मनोरम, पीयूषवर्षी, सुखदा, हीर, रूपमाला, वीर, अमृतधुनि आदि छन्दों को ले सकते हैं। पाद-संगठन अथवा रचना-वैशिष्ट्य के आधार पर मत्तसमक, पादाकुलक, चौपाई, कुंडलिया तथा छप्पय आदि नामों की व्याख्या की जा सकती है।

प्रत्येक छन्द में निहित गति को समता-द्वारा या अन्य प्रकार से शब्द-द्वारा अभिव्यक्त करना जितना असभव है, उनके गुणों का हृदय पर पड़े प्रभाव को एक शब्द-द्वारा प्रकट करना उतना ही कठिन है। इस प्रकार जब नामकरण करने के उन दोनों आधारों से काम लेने में आचार्यों ने अपने को असमर्थ पाया, तब उन्होंने पद्य या अनुच्छेद में आये प्रसंग, घटना आदि से संबद्ध अथवा उनमें प्रयुक्त प्रमुख शब्द को लेकर छन्द का नामकरण कर दिया। ऐसे नामों का वर्गीकरण करना कठिन है, फिर भी साधारणतया ऐसे नामों में कुछ तो प्राकृतिक दृश्य अथवा पदार्थ से संबद्ध हैं। जैसे—जलधरमाला, विद्युन्माला, कोकिलकम्, मंजरी, हरिणी आदि। कुछ स्त्रियों की विशेषताओं को प्रकट करने वाले हैं। जैसे—चंचलाक्षिका, चारुहासिनी, शशिवदना, विलासिनी आदि तथा कुछ इतर पदार्थों के नाम हैं। जैसे अमृतधारा, नाराचकम्, पृथ्वी, वितान आदि।[1] मात्रिक छन्दों में चन्द्र, मधुमालती, तमाल, सरसी आदि प्राकृतिक पदार्थों से, सखी, गोपी, राधिका, रुचिरा, लीलावती, पद्मावती आदि स्त्रियों से तथा तोमर, दीप, गीतिका, हरिगीतिका, ताटंक, विधाता आदि इतर पदार्थों से संबद्ध माने जा सकते हैं। ये नाम न तो छन्द की गति का उद्घाटन करते हैं और न छन्द के गुण को ही अभिव्यंजित करते हैं। अतः छन्दों के ये नाम सार्थक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि छन्दों के नामों की सार्थकता तो इस बात में है कि उनसे छन्दों की गति-लय का बहुत-कुछ आभास मिल जाय।

सूरसाहित्य में प्रयुक्त नवीन छन्दों के नामकरण के लिये हमने भी इन्हीं आधारों को ग्रहण किया है। इनके अतिरिक्त नामकरण का एक आधार और हो सकता है। किसी प्रचलित छन्द की दो-एक मात्राओं को घटा-बढ़ा कर, उसके अर्द्धांश को ग्रहण कर अथवा रूपान्तर कर (वर्णिक से मात्रिक बना कर) यदि किसी छन्द का निर्माण हुआ है, तो इस नूतन छन्द का नामकरण उसी

---

[1]ये सभी नाम पिंगल के छन्दःशास्त्र से लिये गये हैं।

प्रचलित छन्द के आधार पर, उसमें किंचित् परिवर्त्तन कर किया जा सकता है, ताकि पाठकों को दोनों का संबंध स्पष्टतः प्रतीत होता रहे। डॉ० शुक्ल ने पीयूषराशि (पीयूषवर्षी+लघु), सारक (सार का द्वितीय खंड), महेन्द्रवज्रा (इन्द्रवज्रा का मात्रिक रूप) आदि छन्दों का नामकरण इसी आधार पर किया है।[१] सूरसागर के नवीन छन्दों के नामकरण में प्रस्तुत लेखक ने भी इस प्रणाली का उपयोग किया है।

छन्दों के नामों के संबंध में आचार्यों ने बड़ी स्वच्छन्दता दिखलाई है। यह स्वच्छन्दता कभी-कभी छन्द के जिज्ञासुओं के लिये जटिल समस्या बन जाती है। भिन्न छंदों का एक नाम और एक छन्द के भिन्न नामों के उदाहरण छन्दःशास्त्रों में अनल्प हैं। विरहांक[२] १८ वर्ण वाले छन्द ( म त न य य य ) को चन्द्रलेखा कहते हैं, तो हेमचन्द्र[३] १३ वर्ण वाले छन्द ( न स र र ग ) को। चन्द्रमाला छन्द स्वयंभू[४] तथा हेमचन्द्र[५] के यहाँ १८ वर्ण वाला (न न म म य य) है, तो प्रा० पैं० में[६] १९ वर्ण वाला ( न न न ज न न ल ) १४ वर्ण वाले शरभललित का स्वरूप भरत[७] के यहाँ म भ न त ग ग है, तो हेमचन्द्र[८] के यहाँ न भ न त ग ग। १३ वर्ण वाले गौरी छन्द पिंगल[९] के यहाँ न न न स ग का, हेमचन्द्र[१०] के यहाँ न न त स ग का तथा केदार[११] के यहाँ न न स र ग का है। विरहांक[१२] और जयकीर्ति[१३] वितान में भ म ग ग बताते हैं, तो केदार[१४] ज त ग ग। इसी प्रकार एक छन्द के भिन्न नामों का भी बाहुल्य है। पिंगल[१५] ने जिसे कुड्मलदंती कहा है, उसे ही भरत[१६] ने रुचिरा, जयदेव[१७],

---

[१] प्रा० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २७८, २४८, २७२।

[२] वृत्तजातिसमुच्चय ५।३९।

[३] छन्दोनुशासन २।२०७।

[४] स्वयंभूच्छन्दः १।७५।

[५] छन्दोनुशासन २।३०७।

[६] प्राकृत पैंगल २।१९०।

[७] नाट्यशास्त्र १६।६८।

[८] छन्दोनुशासन २।२३९।

[९] पिंगल छन्दःशास्त्र ७।४।

[१०] छन्दोनुशासन २।२१३।

[११] वृत्तरत्नाकर ३।७०-८ (जयदामन में संकलित)।

[१२] वृत्तजातिसमुच्चय ५।११।

[१३] छन्दोनुशासन २।६७।

[१४] वृत्तरत्नाकर ३।१९।

[१५] पिंगल छन्दःशास्त्र ८।२।

[१६] नाट्यशास्त्र ३२।२३५।

[१७] जयदेवच्छन्दः ६।४२।

हेमचन्द्र[1] एवं केदार[2] ने श्री तथा जयकीर्त्ति[3] ने सान्द्रपद कहा है। पिंगल की[4] वैश्वदेवी भरत[5] के यहाँ चन्द्रलेखा हो गई। जयदेव[6], जयकीर्त्ति[7], तथा हेमचन्द्र[8] ने फिर उसे वैश्वदेवी बना दिया। केदार[9] ने उसे चन्द्रकान्ता कह कर अपनाया। कठिनाई तो तब और बढ़ जाती है, जब एक ही लेखक दो भिन्न छन्दों को एक ही नाम से संबोधित करते हैं। हेमचन्द्र[10] के यहाँ दो चन्द्रलेखा छन्द हैं—एक १३ वर्णों का और दूसरा १५ वर्णों का। पिंगलाचार्य[11] दो गौरी छन्द (१२ और १३ वर्ण) का उल्लेख करते हैं। आचार्यों के सामने समस्त पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ नहीं रहे, उन्हें यह आभास हुआ कि यह प्रयोग नया है। अतः उन्होंने उसका स्वेच्छा से छन्द की वृत्ति, विशेष घटना या शब्द से सम्बद्ध नाम रख दिया।[12] डॉ० शुक्ल का यह कथन भिन्न छन्दों का एक नाम और एक छन्द के भिन्न नामों के संबंध में तो सत्य हो सकता है; किन्तु एक ही छन्दःशास्त्री द्वारा दो भिन्न छन्दों को एक ही नाम देने में कौन-सी युक्ति उपस्थित की जा सकती है? हिन्दी के लक्षणकार भी इन दोषों से मुक्त नहीं हैं। भिखारीदास के हरिपद, दोवै, चौबोल, ध्रुवा और चंचरीक भानु के यहाँ क्रमशः सरसी, सार, ताटंक, बैरवे और हरिप्रिया बन गए। केशवदास ने 'छन्द-माला' में जिसे कवित्त कहा है, वह प्रा० पै० तथा परवर्त्ती आचार्यों का रोला छन्द है। भिखारीदास ने दो लीला का उल्लेख किया है।[13] एक ११ मात्राओं का, दूसरा १२ मात्राओं का। भानु के यहाँ तीन लीला छन्द हैं[14]—पहला १२ मात्राओं का, दूसरा २४ मात्राओं का तथा तीसरा सात वर्णों का। २६ और ३७ मात्राओं के दो झूलना भानु के यहाँ मिलते हैं।[15] रुचिरा तीन हैं[16], सम

---

[1]छन्दोनुशासन २।१३२। [2]वृत्तरत्नाकर ३।३७।
[3]छन्दोनुशासन २।१०९। [4]पिंगल छन्दःशास्त्र ६।४१।
[5]नाट्यशास्त्र १६।४२। [6]जयदेवच्छन्दः ६।३७।
[7]छन्दोनुशासन २।१२४। [8]छन्दोनुशासन २।१७७।
[9]वृत्तरत्नाकर ३।६०। [10]छन्दोनुशासन, २।२०७, २।२५०।
[11]छन्दःशास्त्र ८।५, ७।४।
[12]प्रा० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल पृ० १५९।
[13]छन्दार्णव : ५।७७, ५।९६। [14]छन्दःप्रभाकर, पृ० ४५, ६४, १२४।
[15]छन्दःप्रभाकर : पृ० ६७, ७८।
[16]छन्दःप्रभाकर : पृ० ७३, ९१, १६२।

(१४-१६), अर्द्धसम (१६-१४) और वर्णिक (१३ वर्ण)। इसी प्रकार छन्दः प्रभाकर में कितने नाम मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकरणों में उल्लिखित हैं। सरस्वती के भंडार में शब्दों की ऐसी कौन-सी रंकता आ गई, जो आचार्यो को एक ही शब्द से भिन्न-भिन्न छन्दों को अभिहित करना पड़ा। जब भारतेन्दु ने २२ मात्रापादी लावनी का प्रयोग किया था, तो भानु को ३० मात्रापादी छन्द को लावनी की संज्ञा से विभूषित करने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी। यह तो हुई आचार्यों की बात। कवियों ने भी एक ही छन्द को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित कर तथा दो भिन्न छन्दों को एक नाम दे कर पाठकों की उलझन बेतरह बढ़ा दी है। केशवदास की रामचन्द्रिका में सुखदा छन्द का प्रयोग दो स्थलों पर हुआ है। एक सुखदा २२ मात्रापादी है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[1] दूसरी ६ वर्ण वाली ( स ज ) है।[2] रूपमाला का प्रयोग कहीं वर्णिक रूप में[3], और कहीं मात्रिक रूप में[4] हुआ है। एक ही छन्द छप्पय कहीं छप्पय के नाम से[5] और कहीं षट्पद[6] के नाम से उल्लिखित है। इसी प्रकार मनहरण के लिये कहीं घनाक्षरी[7], कहीं मनहरण दण्डक[8], कहीं दण्डक[9], कहीं जगमोहन दण्डक[10] और कहीं प्रकर्ष दण्डक[11] नाम दिये गये हैं। यद्यपि छन्दलक्षण में प्रकर्षदण्डक में ६-१०-६-६ अक्षर पर यति-व्यवस्था है,[12] पर उदाहरण-पद्य से यह मनहरण से भिन्न नहीं प्रतीत होता। हरिऔध जी ने तो द्विपद और चौपदे के अन्दर न जाने कितने छन्दों को ला बिठाया है। जैसे—

---

[1] केशव ग्रन्थावली, भाग २ रामचंद्रिका ६।१७।
[2] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका १०।३२।
[3] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका २६।४२, ४३।
[4] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका २७।१०-२४।
[5] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका ६।८।
[6] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका १।१७।
[7] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका ३।२६।
[8] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका ६।४१, ४२।
[9] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका १।१-३।
[10] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका ६।३४।
[11] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका ६।४०।
[12] केशव ग्रंथावली, भाग २ रामचंद्रिका पृ० ४२७।

पद—पंकज—पोत सहारे
संसार—समुद्र तरूँगी ।[१] (सखी)
प्रकृति का नीलाम्बर उतरे
श्वेत साड़ी उसने पाई ।[२] (गोपी)

इन दो भिन्न लय वाले छन्दों को एक ही नाम चौपदे दिया गया है। इसी प्रकार द्विपद नाम के अन्तर्गत विभिन्न लय वाले कई छन्दों का प्रयोग मिलता है। यथा—

वही जी में नहीं जो बेकसों के प्यार की धारा ।
बता तो दो बदन चिकना व गोरा चाम क्या होगा ।[३] (विधाता)
चोट खा-खा मसक-मसक कर के
भीत जैसा ढहा नहीं जाता ।[४] (चन्द्र)
राह पर उसको लगाना चाहिये ।
जाति सोती है जगाना चाहिये ।[५] (पीयूषवर्षी)
तेरा रहा नहीं है कब रंग ढंग न्यारा ।
कब था नहीं चमकता भारत तेरा सितारा ।[६] (दिगपाल)

एक जगह पीयूषवर्षी द्विपद है, तो दूसरी जगह चौपदे ।[७] गीतिका षट्पद हो गई है[८], तो ताटंक षोड़शपादी[९] । शृंगार चतुष्पद बन बैठा[१०] तो रोला-छप्पय चतुर्दशपदी[११] । एक छपदे छन्द भी है, जो वास्तव में भुजंगप्रयात (४ यगण) का मात्रिक रूप है—

तभी एक न्यारी कला रंग लाई ।
हमारे बड़ों के उरों में समाई ।

---

[१] वैदेही वनवास, सर्ग ५, पृ० ६३ ।
[२] वैदेही वनवास, सर्ग १०, पृ० ११८ ।
[३] पद्य-प्रसून—क्या होगा, पृ० ५० ।
[४] पद्य-प्रसून—एक उकताया, पृ० ५१ ।
[५] पद्य-प्रसून—चाहिये, पृ० ५८ ।
[६] पद्य-प्रसून—भारत, पृ० ६२ ।
[७] पद्य-प्रसून—पृ० ५८ और ६६ ।
[८] पद्य-प्रसून—पृ० ८६ ।
[९] पद्य-प्रसून—पृ० ८३ ।
[१०] वैदेहीवनवास—सर्ग २ और ३ ।
[११] पद्य-प्रसून—पृ० ६५ ।

**दिखा पंथ पारस बनी काम आई ।**
**फबी और फूली फली जगमगाई ।**[1]

अवश्य इसके लिये नूतन नाम चाहिये । डॉ० शुक्ल ने इसे भुजंगप्रयाता नाम दिया है ।[2] लय की समानता अथवा भिन्नता के कारण ही कोई छन्द किसी छन्द में अन्तर्भुक्त हो सकता है अथवा नये नाम का अधिकारी हो सकता है । पाद की समानता के आधार पर भिन्न-भिन्न छन्दों को द्विपद, चौपदे की संज्ञा देना तथा एक ही छन्द को कभी द्विपद और कभी चौपदे कहना छन्द के जिज्ञासु पाठकों को भूल-भुलैये में डालना है । अपभ्रंशकालीन षोड़शमात्रापादी अरिल्ल की विद्यमानता में २१ मात्रापादी प्लवंगम का कवि और आचार्य द्वारा अरिल्ल नाम[3] पाना भी कम भ्रमोत्पादक नहीं ।

अस्तु, जो हुआ, सो तो हो चुका । आज के नये युग में कितने ही नवीन प्रयोग हो रहे हैं । आज के छन्दःशास्त्रियों का ऐसे दोषों के प्रति सावधान रहना परम कर्त्तव्य है । आज के नवीन प्रयोगों के नाम-संस्कार के समय उन्हें दो बातों पर ध्यान देना है । (क) नवीन प्रयोग कह कर जिस लय का नाम-करण किया जा रहा है, उस लय का छन्द प्राचीन शास्त्रों में है या नहीं ? (ख) जो नाम नवीन प्रयोग को दिया जा रहा है, वह नाम प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध तो नहीं है । आधुनिक आचार्यों ने इन बातों पर पूरा ध्यान नहीं दिया है । 'आँसू' और 'ग्रन्थि'[4] जैसे नये नामों की कोई आवश्यकता नहीं, जबकि इसी लय के छन्द सखी और पीयूषवर्षी पहले से ही शास्त्रों में विद्यमान हैं । आचार्यों द्वारा 'ग्रंथि' छन्द के उदाहरण-रूप में उद्धृत हरिऔध की निम्न पंक्तियों—

**आजकल के छोकरे सुनते नहीं,**
**हम बहुत कुछ कह चुके अब क्या कहें;**
**मानते ही वे नहीं मेरी कही**
**कब तलक हम मारते माथा रहें ।**

---

[1]पद्य-प्रसून—पृ० १२ । [2]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २७७ ।

[3]ब्रजमाधुरी-सार, सहचरिशरण, पृ० ३८५ ; नवीन पिंगल—अवध उपाध्याय, पृ० ६१ } पीछे प्लवंगम छंद, पृ० ४६५ ।

[4]नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय, पृ० ८७, ६०, पिंगलपीयूष : परमानन्द, पृ० १७१ ।

तथा ग्रंथि काव्य की इन पंक्तियों—

**कौन दोषी है ! यही तो न्याय है।**
**वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर**
**दग्ध-चातक है तरसता, विश्व का**
**नियम है यह—रो अभागे हृदय ! रो !!**

में पीयूषवर्षी की लय स्पष्ट है। अवश्य भानु के लक्षणानुसार इनमें १०-६ पर यति-व्यवस्था नहीं मिलती; किन्तु छोटे छन्दों में एक तो यति की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती, दूसरे आधुनिक काल में शास्त्रीय बन्धन थोड़ा शिथिल होता जा रहा है। यदि इस बात को हम मान्यता नहीं दें, तो भानु के अनुसार इसे हम आनन्दवर्द्धक तो कह ही सकते हैं।[1] इसी प्रकार आँसू काव्य में स्पष्टतः सखी की ध्वनि तथा लय है। दूरान्तर अन्त्यानुप्रास ( क ख ग ख ) की योजना छन्द की लय में अन्तर नहीं ला सकती। अतः इन दोनों छन्दों को पीयूषवर्षी या आनन्दवर्द्धक तथा सखी कहना ही ठीक है, ग्रंथि और आँसू नहीं।

डॉ० शुक्ल ने आधुनिक काल में हुए अनेक नवीन प्रयोगों का नामकरण कर बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। किन्तु, कहीं कहीं नामकरण करते समय उन्होंने भी इस बात पर ध्यान नहीं रखा कि ये प्रयोग नवीन नहीं हैं, शास्त्रों में इनके नाम पहले से मौजूद हैं। इनके विधाता-कल्प[2] और प्रवासी[3] इसी प्रकार के नाम हैं। विधाता-कल्प भानु का विजात (अन्य नाम प्रतिभा) और प्रवासी उन्हीं का सिंधु छन्द है। इनका 'अनघ'[4] छन्द भी तोमर से भिन्न नहीं। इसी प्रकार हाकलि (सखी) के दो चरणों को एक मान कर उसे मणिबंधक[5] नाम से अभिहित करना, मिश्र छन्दों को ताटंक-वीर[6], गोपीश्रृंगार[7], श्रृंगार-गोपी[8] जैसा नाम देना तथा षट्पादी विधाता को विधातामिलिन्द पाद[9] एवं

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ५५।
[2]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २५६।
[3]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २८२।
[4]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २४६।
[5]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० ३०१।
[6]से [8]तक—आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० ३०४, ३०६, ३०६।
[9]पिंगलपीयूष, परमानन्द, पृ० २२६।

छः चरण वाले पंचचामर को षट्पादी पंचचामर छन्द[१] कहना छन्दों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि करना है।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी छन्दःशास्त्रों में उल्लिखित असंख्य छंदों में कोई नया नाम ढूंढ़ निकालना कभी-कभी आचार्यों के लिये समस्या बन कर खड़ा हो जाता है। डॉ० शुक्ल ने अपने जानते ज्योति[२], उर्वशी[३], महेन्द्रवज्रा[४], तथा रजनी[५] नाम नवीन जान कर ही रखे होंगे। किन्तु ज्योति (म म म म म)[६], उर्वशी (न त त त ग)[७], महेन्द्रवज्रा (स य स य)[८] तथा रजनी (स)[९] नाम क्रमशः जयकीर्ति, हेमचन्द्र, जयकीर्ति तथा भरत के ग्रंथों में पहले ही आ चुके हैं। इस प्रकार छंदों के नामों की अपार भीड़ से बच कर निकल आना आधुनिक लक्षणकारों के लिये बड़ा कठिन हो गया है। फिर भी उन्हें इतना तो ध्यान रखना ही चाहिये कि नवीन लय को जो नाम वे दे रहे हैं, वह नाम कम-से-कम हिन्दी छन्दःशास्त्रों में नहीं पाया जाता। यों हिन्दी छन्दःशास्त्रों में भी छन्दों की संख्या कम नहीं है। हमने सूरदास के नवीन प्रयोगों को नाम देने के समय इन बातों पर सदा ध्यान रखा है। अतः ऐसी आशा है कि हमारे द्वारा दिये हुए नये नाम संभवतः प्राचीन सिद्ध नहीं होंगे।

---

[१]हिन्दी छन्दप्रकाश : रघुनन्दन, पृ० १६७।

[२]से [५]तक—आ०हि०का० में छन्दयोजना, पृ० २४५, २५१, २७२, २८५।

[६]जयकीर्त्ति २।१८८। [७]हेमचन्द्र २।१६४।

[८]जयकीर्त्ति २।१३७। [९]भरत ३२।५४।

# दोष और परिहार

काव्य-दोष के लक्षण में अग्निपुराण ने काव्यास्वाद में उद्वेग पैदा करने वाले तत्व को दोष कहा है—उद्वेगजनकः दोषः।[1] उसी प्रकार पद्य-पाठ में उद्वेग उत्पन्न करने वाला छन्दोदोष है।

**एवं यथा यथोद्वेगः सुधियां नोपजायते।**
**तथा तथा मधुरतानिमित्तं यतिरिष्यते।[2]**

**—कवि कल्पलता।**

**श्लोकेषु नियतस्थाने पदच्छेदं यतिः विदुः**
**तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा।[3]**

**—काव्यादर्श।**

इस प्रकार के दोष दो हैं—(क) गति-दोष और (ख) यति-दोष। इन्हें ही क्रमशः गति-भंग और यति-भंग कहते हैं। यति-भंग गति-भंग का ही एक हेतु है। इसलिये छन्दोदोष में गति-भंग ही प्रधान दोष है।

**गति**—प्रत्येक छन्द में एक विशेष गति होती है—उसकी एक चाल होती है, एक विशेष लय होती है। 'लय से तात्पर्य विभिन्न उच्चरित ध्वनियों या अक्षरों के क्रमिक उतार-चढ़ाव से है, जो अक्षरों के उतार-चढ़ाव के साथ ही साथ काव्यार्थ या भाव को गतिमान् बनाते हैं, उसके भी उतार-चढ़ाव का संकेत करते हैं।'[4] यही लय समान मात्रापादी दो छन्दों को पृथक् करती है। हरिगीतिका और सार दोनों में २८ मात्राएँ हैं, किन्तु दोनों की लयें भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिये समान मात्राओं के रहते हुए भी दोनों को भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ प्राप्त हैं। शृंगार और पद्धरि की लयों में कितना अंतर है, यद्यपि दोनों में मात्राओं की संख्या समान है। इन विभिन्न लयों का जन्म लघु-गुरु के विशिष्ट क्रमायोजन से होता है। यही लय छन्दों की जान है। इसी का

---

[1] काव्यदर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ३७५ से उद्धृत।
[2] छन्दोमंजरी : गंगादास, पृ० ९ से उद्धृत।
[3] छन्दोमंजरी : गंगादास, पृ० १० से उद्धृत।
[4] प्रा० पै० भाग ४ : डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० २९२।

टूट जाना गति-भंग है। संस्कृत कवि ने 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंग न कारयेत्' लिख कर इसी लय-रक्षा की ओर संकेत किया है। इसका छंदोभंग गति-भंग का ही नामान्तर है। इस गति-रक्षा के लिये वह शब्दों को विकलांग करने के लिये भी समुद्यत है। इसी से सोचा जा सकता है कि पद्य या छन्द के लिये गति का क्या महत्व है। गति-रक्षा काव्य-कौशल की प्रथम कसौटी है और गति-भंग कवि की असफलता की पहली निशानी। वस्तुतः गति-भंग एक ऐसा दोष है, जिससे काव्य-पाठ का सारा मजा किरकिरा हो जाता है। काव्य में गति-भंग चार तरह से आते हैं—

(क) पाद में मात्रा अथवा वर्ण की न्यूनता अथवा आधिक्य से।
(ख) निर्दिष्ट लघु-गुरु के क्रमायोजन से विपरीत शब्द-संगठन से।
(ग) यति-भंग दोष से।
(घ) पाद के अश्रव्य होने से।

काव्य-प्रकाश में हतवृत्त दोष के लक्षण में लिखा है—हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम् अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्।[1] लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम् (लक्षण के अनुसार चलने पर भी सुनने में भद्दा लगना) स्पष्टतः गति-भंग की ओर संकेत करता है। काव्यप्रकाशकार ने इस दोष को दिखलाने के लिये निम्नांकित श्लोक रखा है—

**अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि न्यान्यथा।**
**मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।**
**सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो**
**वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्।**[2]

इसमें उन्होंने चौथे चरण के 'यदिहान्यत्स्वादुस्यात्' को अश्रव्य माना है, यद्यपि इसमें हरिणी छन्द के सभी लक्षणों का पालन हुआ है। चौथे चरण का यह अंश सुनने में भद्दा है, इसका अनुभव साधारण लोगों को नहीं हो सकता। डॉ० 'महेश' का यह कहना कि गति को जानने के लिये अभ्यास-प्रशिक्षित कानों की आवश्यकता है—बहुत ठीक है।[3] छन्दःसंस्कार से वंचित व्यक्ति इसे हृदयंगम

---

[1]काव्यप्रकाश : मम्मट, सप्तम उल्लास, सूत्र ५।
[2]काव्यप्रकाश : मम्मट, सप्तम उल्लास, श्लोक २१५।
[3]The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody, P. 8.

करने में बहुत दूर तक असमर्थ रहते हैं। ऐसे ही कानों को दृष्टि में रख कर प्राकृत-पैंगलकार ने लिखा है कि जैसे सोना तोलने का काँटा तिल के आधे या चौथाई अंश को भी अधिक या न्यून होने पर नहीं सह सकता, वैसे ही श्रवण-तुला छन्दोभंग के कारण भ्रष्ट उच्चारण नहीं सह पाती—

**जम ण सहइ कणअतुला, तिल तुलिअं अद्धअद्धेण।**
**तम ण सहइ सवणतुला, अवछंदं छंदभंगेण।[१]**

**यति**—पिंगलाचार्य ने विच्छेद को यति कहा है—यतिर्विच्छेदः।[२] पिंगल के टीकाकार हलायुध भट्ट ने विच्छेद की व्याख्या इस प्रकार की है—विच्छिद्यते विभज्यते पदपाठोऽस्मिन्निति विच्छेदो विश्रामस्थानं, स च यतिरित्युच्यते।[३] इसमें पद-पाठ विच्छेद (विभक्त) होता है, इसीलिये यह विच्छेद-विश्रामस्थान है और इसे ही यति कहते हैं। जयदेव ने विराम को यति कहा है—विरामो यतिरिति।[४] जयकीर्ति ने इसे थोड़ा स्पष्ट कर इस प्रकार कहा—वाणी के विराम को यति कहते हैं। वाग्विरामो यतिः।[५] केदार भट्ट की परिभाषा पिंगल की पुनरावृत्ति है—यतिर्विच्छेद-संज्ञितः।[६] हेमचन्द्र ने श्रव्य विराम को यति कहा है—श्रव्योविरामो यतिः।[७] गंगादास ने यति की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है—

**यतिर्जिह्वेष्टविश्रामस्थानं कविरुच्यते।**
**सा विच्छेद विरामाद्यैः पदैर्वाच्या निजेच्छया।[८]**

पद-पाठ में जिह्वा के अभीष्ट स्थानों को यति कहते हैं। जहाँ जिह्वा स्वेच्छा से उच्चारणकर्त्ता की इच्छा से ठहरती है वहाँ यति है (यत्र जिह्वा स्वेच्छया विरमति तत्र यतिरित्यर्थः। निजेच्छया उच्चारयितुरिच्छया।)[९]

प्राकृत-अपभ्रंश छन्दःशास्त्री यति के संबंध में बिलकुल मौन हैं। केवल कवि-दर्पणकार ने इसकी चर्चा की है। उनके अनुसार श्रुतिसुख विरति (यति) पादान्त में सर्वत्र होती है, किन्तु नियमानुसार श्लोक के अर्द्धभाग में भी होती है—

---

[१]प्रा० पं०, १।१०।
[२]और[३] छन्दःशास्त्र ६।१, और इसी सूत्र पर हलायुध भट्ट की टीका।
[४]जयदेवच्छन्दः १।६। [५]छन्दोनुशासन १।१०।
[६]वृत्तरत्नाकर १।११। [७]छन्दोनुशासन १।१५।
[८]छन्दोमंजरी १।१२। [९]छन्दोमंजरी की टीका।

**श्रुतिसुख विरतिश्च यतिः सा पादान्ते भवति सर्वत्र ।**
**नियमेन श्लोकार्धे..................................।[१]**

इसी बात को जयकीर्ति ने कविदर्पण के पूर्व इस प्रकार कहा था—

**वाग्विरामो यतिः स्यात् संस्थाप्यते श्रुतिसुन्दरम् ।**
**पादान्ते सूचितस्थाने युक्पादान्ते विशेषतः ।[२]**

'पादान्ते' और 'सूचितस्थाने' के आधार पर हम यति के दो प्रकार मान सकते हैं—(क) पादान्त यति और (ख) पादमध्य यति या अन्तर्यति। पादांत यति तो सभी छन्दों में (आधुनिक पादान्तरप्रवाही छन्दों को छोड़ कर) होती है; किन्तु अन्तर्यति के लिये विभिन्न छन्दों में विभिन्न नियम है । बिना पादांत यति के चरण पूरा नहीं होता, अतः यह सभी आचार्यों को मान्य है । अन्तर्यति पाठ को श्रुति-मधुर बना देती है, इसलिये इसकी सत्ता प्राचीन काल से ले कर आधुनिक युग तक बराबर पाई जाती है । भले ही प्राचीन आचार्य (जैसे माडव्य, भरत, काश्यप, सैतव आदि) इसे न मानते हों,[३] पर कवियों ने अपनी रचनाओं में इसका ध्यान बराबर रखा है ।

संस्कृत छन्दःशास्त्रों में सन्धि-समास आदि को लेकर यति-विषयक अनेक नियम निर्धारित किये गये हैं । साधारणतः यति-स्थान पर पद को समाप्त हो जाना चाहिये । अर्थात् किसी पूर्ण शब्द के बाद ही यति होनी चाहिये । यदि यति-व्यवस्था में शब्द टूट जाता है (शब्द का एक भाग इधर और दूसरा भाग उधर चला जाता है) तो आचार्यों की दृष्टि में वहाँ यति-दोष है । कहा जाता है कि आधुनिक युग में शब्द को खंडित करके भी यति दी जाती है—

**उसी समय कमनीय एक स्व|र्गीय किरन सी वामा**

और आजकल के छन्दःशास्त्री इसे दोष नहीं, मनोहारी विविधता (Variation) मानते हैं ।[४] इस प्रकार का प्रयोग नवीन नहीं है । सूरसाहित्य में इस प्रकार का प्रयोग बहुलता से मिलता है । सच पूछा जाय, तो कवियों ने लय को ही प्रमुखता दी है । यति उस लय में हाथ बँटाती है अवश्य; किंतु, यदि चरण

---

[१]कविदर्पण १।७ सूत्र की टीका । [२]छन्दोनुशासन १।१० ।

[३]देखिये—स्वयंभूच्छन्दः १।७१, छन्दोनुशासन-जयकीर्ति १।१३ ।

[४]पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कहीं-कहीं अन्तर्यति को शब्द के बीच में डाल कर २८ मात्राओं के पश्चात् यति दी है ।—आ०हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० २०६ ।

में लय है, प्रवाह है, तो शास्त्र-निर्दिष्ट यति की अवहेलना नगण्य है। उपर्युक्त पंक्ति में यति १६ पर नहीं हो कर १४ पर है, पर इससे लय पर कोई व्याघात नहीं होता। अतः आजकल के छन्दःशास्त्रियों का ऐसे स्थलों को मनोहारी विविधता मानना सर्वथा समीचीन है। डॉ० शुक्ल इसे तो मनोहारी विविधता मानते हैं; किंतु वहाँ यति-भंग दोष मानते हैं, जहाँ संज्ञा (या सर्वनाम) के कारक-प्रत्यय, संयुक्त अव्यय, अथवा कारक और अव्यय के संयोग के बीच में यति पड़ जाती है।

**अरे, पिता के प्रतिनिधि तू ने | भी सुखदुख तो दिया घना।**[1]

यहाँ तो शास्त्रानुसार १६ पर यति है, फिर भी डॉ० साहब को यहाँ यति-भंग क्यों प्रतीत होता है ? इसका कारण हमारी समझ से काव्य-प्रकाश का वही 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' है। अब यहाँ चाहे यति-भंग कहा जाय या गति-भंग, बात एक ही है। यति-भंग भी गति-भंग का ही एक कारण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यति गति के लिये आवश्यक है। छोटे छंदों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होती हो, किन्तु बड़े छंदों में इसकी अनिवार्यता असंदिग्ध है। इस यति का प्रयोग हम वैदिक युग में भी पाते हैं। वैदिक त्रिष्टुभ् छन्द में चतुर्थ या पंचम वर्ण के बाद यति का नियमतः अस्तित्व पाया जाता है।[2] संस्कृत छन्दःशास्त्रियों ने छोटे छंदों की अन्तर्यति का निर्देश चाहे न किया हो; किन्तु बड़े छंदों की अन्तर्यति का निर्देश परिभाषा के साथ प्रायः सब ने किया है। जैसे—

**मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ त्यौ ग् समुद्रर्तुस्वरा। पिंगल ७।१६**
**मन्दाक्रान्ता मभनततगा गः समुद्रर्तुलोकैः। जयदेव ७।१७**
**रसै रुद्रै यस्यां भवति विरतिः सा शिखरिणी। श्रुतबोध ३०**
**लसति वसुविरामा मालिनी नौ मयौ यः। जयकीर्ति २।१८३**
**रसै रुद्रैश्छिन्ना यभनसभला गः शिखरिणी। केदार ३।८७**
**म्रौ मो यौ चेत् भवेतां सप्ताष्टकैश्चन्द्रलेखा। गंगादास २।८**

प्राकृत छन्दों में यति पर विशेष बल नहीं दिया जाता था।[3] इसीलिये विरहांक

---

[1]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० २०६।

[2]आ० हि० काव्य में छंदयोजना, पृ० २०६, प्रा० पै० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ३०६।

[3]प्रा० पै० भाग ४, पृ० ३१३।

के वृत्तजातिसमुच्चय में संस्कृत छन्दों के लक्षणों में भी इसकी चर्चा नहीं है।[१] विरहांक ने केवल एक अधिकाक्षरा छन्द के लक्षण में यति का निर्देश किया है।[२]

**निर्दिष्टा कविवरैः रवि त्रयोदश विश्रामा।**

**—वृ० जा० समुच्चय ४।२४ की एक पंक्ति का संस्कृत रूपान्तर।**

स्वयंभू ने भी एकाध स्थान पर ही यति की चर्चा की है।[३] कवि-दर्पण में यति का संकेत केवल वर्णवृत्त के प्रकरण में ही किया गया है।[४] प्रा० पैं० के लक्षण-पद्यों में वर्णिक छन्दों में प्रायः यति का संकेत नहीं किया गया है।[५] मात्रिक छन्दों में घत्ता, घत्तानन्द, रोला, झूलना, खंजा, त्रिभंगी, दुर्मिला, जलहरण, मरहट्ठा—ये ही छंद हैं, जिनके लक्षण में यति-विधान पाया जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियों ने यति का संकेत अपने लक्षणों में भले ही न किया हो, किन्तु अपभ्रंश काव्यों में अन्तर्यति का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वयं आचार्यों के ही उदाहरण-पद्यों में यति-व्यवस्था पूर्णरूपेण विद्यमान है।

हिन्दी के प्राचीन आचार्य केशवदास वर्णिक छन्दों में यति का निर्देश नहीं करते। मात्रिक छंदों में भी नन्द, पद्मावती तथा त्रिभंगी—ये ही तीन छंद हैं, जिनमें यति-विधान पाया जाता है। भिखारीदास ने मात्रिक छंदों की यति-व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके विष्णुपद, चौबोल (ताटंक) घत्ता, चौपैया, पद्मावती, दंडकला, त्रिभंगी, झूलना, तथा चंचरीक छंदों में ही यति-व्यवस्था मिलती है। किन्तु वर्णिक छंदों के लक्षणों में वे यति-स्थान को नहीं भूलते। भानु ने यति-व्यवस्था पर बराबर ध्यान रखा है। मात्रिक छंदों की यति का संकेत तो उनके लक्षणोदाहरण-पद्यों में ही है। वर्णिक छंदों में उसका संकेत पृथक् रूप से कर दिया है। हिन्दी के प्राचीन कवि यति-नियम का पालन करते बराबर दिखलाई पड़ते हैं। आधुनिक काल में शास्त्र-निर्दिष्ट यति-नियम की यत्किंचित् अवहेलना अवश्य हुई है, किन्तु यति के किसी नियम का पालन तो हुआ ही है। रोला में पहले ११-१३ पर यति दी जाती थी, आज

---

[१]वृत्तजातिसमुच्चय की भूमिका—डॉ० वेलंकर पृ०, ६।

[२]स्वयंभूच्छन्दः की टीका—डॉ० वेलंकर, पृ० १६६।

[३]स्वयंभूच्छन्दः की टीका—डॉ० वेलंकर, पृ० १८१।

[४]कविदर्पण की भूमिका—डॉ० वेलंकर, पृ० ७।

[५]प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, पृ० ३१०।

८-८-८ पर दी जाती है। यहाँ शास्त्रीय नियम-भंग के कारण यति-दोष भी माना जा सकता है, और कवि का नूतन प्रयास भी कहा जा सकता है। रोला की परिभाषा को शिथिल कर इसे रोला भी मान सकते हैं, या इसे नवीन नाम भी दे सकते हैं। छंदों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि नहीं हो, इस दृष्टि से ऐसे प्रयोग को रोला मान लेना ही समीचीन है।

सूर साहित्य में यति-गति के जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, उनमें बहुत से तो प्रेस की भूलें हैं। इसीलिये दूसरे संस्करण की अनेक भूलें तीसरे संस्करण में सुधार दी गई हैं। जो भूलें तृतीय संस्करण में भी विद्यमान हैं, वे बहुलांश में, हमारे विचार से, लिपिकर्त्ता की असावधानी तथा अज्ञान के परिणाम हो सकते हैं। आज किसी ग्रंथ के संपादन के समय इस बात पर बहुत बल दिया जाता है कि ग्रंथकार की रचना अपने मूल रूप में प्रस्तुत की जाय। बात बहुत ठीक है, पर मूल पाठ की प्रामाणिकता का आधार बहुत ठोस और सबल होना चाहिये। इतने वर्षों तक जो ग्रंथ लिपिकर्त्ताओं के हाथों में इधर से उधर होते रहे, उनमें कितने शब्द विकृत हुए होंगे, कितने परिवर्त्तन-परिवर्द्धन हुए होंगे, इसका अन्दाजा लगाना कठिन है। कबीरदास पढ़े-लिखे नहीं थे, (मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ) उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उनके पदों को लिपिबद्ध किया होगा। अब सोचा जाय, कबीर ने जो कुछ खंजड़ी पर गाया, उनके शिष्यों ने उसे हूबहू कागज पर उतार दिया! क्या उनकी कलम से ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना, या एकाध अक्षर का घट-बढ़ जाना संभव नहीं है? फिर उन शिष्य-प्रशिष्य-द्वारा लिपिबद्ध किये हुए पद उनके धर्म के कितने अनुनायियों के हाथों से गुजरते हुए आज हमारे पास पहुँचे हैं। इसीलिये किसी पुराने ग्रंथ को आज बहुत संदिग्ध दृष्टि से देखना है। जब किसी प्राचीन पद्य-ग्रंथ का संपादन करना हो, तो उसकी परीक्षा छंदोदृष्टि से भी होनी चाहिये और आसानी से दूर होने वाले दोषों का निराकरण हो जाना चाहिये। अवश्य यह कार्य कवि की भाषा, भाव आदि को ध्यान में रख कर किया जाय। इसमें संदेह नहीं कि सूरसागर के संपादक ने संपादन-काल में इन बातों को सदैव ध्यान में रखा है। मूल पाठों का उद्धार कर सूरदास के पाठकों का उन्होंने महान् उपकार किया है। सूरसागर की प्राचीन प्रतियों में कितने चरण भ्रष्ट थे, यह बात सूर के अध्येताओं से छिपी नहीं। सब का या अनेक का उदाहरण दे कर प्रबंध के कलेवर को बढ़ाना या विषयान्तर करना वांछनीय नहीं। केवल दो-एक

उदाहरण देकर हम अपने कथन की सत्यता सिद्ध करेंगे। प्रो० बेनीप्रसाद द्वारा संपादित संक्षिप्त सूरसागर की निम्नांकित पंक्तियाँ—

**मनु बेनी भुवंगिनि के परसत स्रवत सुधा की धार।**
**मनो तिल फूल अधर बिंबाधर दुहुँ बिच बूँद तुषार।**
**दहिनावर्त्त देत मनो ध्रुव को मिलि नक्षत्र की मार।**
**छीन लंक कटि किंकिरिण ध्वनि बाजत अति झनकार।[1]**

छन्दोदृष्टि से भ्रष्ट हैं। ये ही पंक्तियाँ सभा वाले सूरसागर में निम्न रूप में पाई जाती हैं—

**मनु बेनी भुवंगिनी परसत स्रवत सुधा की धार।**
**मनु तिल फूल अधर बिंबाधर दुहूँ बिच बूँद-तुषार।**
**दहिनावर्त्त देत मनु ध्रुव को मिलि नछत्र की मार।**
**छीन लंक नीवी किंकिनि धुनि बाजति अति झनकार।[2]**

जो छंदोदृष्टि से निर्दोष हैं। 'मनो बेनि भुवगिनि के परसत' होने से जो थोड़ा गति-शैथिल्य है, वह भी दूर हो जाता है। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति का—

**कोमल कर चाँपति यशुदा यह कहि लेत बलाई।[3]**

सुधार इस प्रकार हुआ है—

**कोमल कर चाँपति महतारी, यह कहि लेत बलाइ।[4]**

छन्दोदृष्टि से 'बलाई' और 'बलाइ' दोनों ही ठीक हैं। पहली पंक्ति सार की है और दूसरी सरसी की। किंतु, पहली पंक्ति के प्रथम खंड में दो मात्राओं की कमी थी, जिसकी पूर्त्ति 'यशुदा' की जगह 'महतारी' रख कर कर दी गई है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जब ब्रजभाषा के कवियों को शब्दों को विकृत करने का पूरा अधिकार है, जब शब्दगत लघु-गुरु वर्णों में हेर-फेर करने की स्वच्छंदता कवि-प्रथा-सम्मत है, तो ऐसे दोषों को यों ही रहने देना कहाँ तक समीचीन है, यह विचारणीय है। ना० प्र० सभा से प्रकाशित सूरसागर में ऐसे अनेक दोषों का निराकरण किया गया है। दूसरे संस्करण की भूलें तीसरे संस्करण में सुधार दी गई हैं। फिर भी इसमें अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं।

---

[1] संक्षिप्त सूरसागर, इंडियन प्रेस, प्रयाग, पद २०६२, पृ० २३४।
[2] सूरसागर : ना० प्र० सभा, पद ३२२८।
[3] संक्षिप्त सूरसागर, पद १००१, पृ० १२६। [4] सूरसागर, पद १८८५।

आगे की पंक्तियों में उन्हीं त्रुटियों का दिग्दर्शन है, जो तृतीय संस्करण में भी उपलब्ध होती हैं। यहाँ भी पद-संख्या का उल्लेख द्वितीय संस्करण के अनुसार किया गया है। प्रथम भाग के दोनों संस्करणों की पद-संख्या समान (२३६७) है। तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग में पदों की संख्या में एक की वृद्धि हुई है (द्वि० सं०—४९३६, तृ० सं०—४९३७)। यह वृद्धि एक पद[1] को भूल से दो पदों में विभक्त कर देने के फलस्वरूप हुई है। इस प्रकार ३४४७ पद तक दोनों संस्करणों की पद-संख्या में समानता है। तृतीय संस्करण में इसके बाद द्वितीय संस्करण से एक संख्या बढ़ती चली गई है। सूरसाहित्य में प्राप्त ये छन्दोदोष—यति-भंगदोष और गति-भंगदोष के नाम से पृथक्-पृथक् दिखलाये जा सकते थे; किंतु, अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रख कर पद-संख्या क्रम से ही हमने दोनों दोषों का उल्लेख किया है और साथ ही उनके परिहार का भी यत्किंचित् प्रयास किया है।

**पद ४—'कलि में नामा प्रगट ताकि छानि छवावै।'**
'कलि-जुग में नाम प्रगट होने से जो गति-भंग दोष है वह दूर हो जाता है। छन्दोरक्षा के लिए 'छवावै' की जगह 'छ्वावै' होना चाहिये।

**पद ८—'सूरदास ऐसे स्वामी को देह पीठ सो अभागे।'**
मात्राधिक्य को दूर करने के लिये 'सोऽभागे' होना चाहिये। इस प्रणाली का अवलंबन संपादक ने कई स्थलों पर किया है।[2]

**पद ९६—'है पाप को जहाज।'**
सरसी के इस उत्तरांश में ११ मात्राएँ तो हैं, पर क्रमव्यवस्था के अभाव में गति-भंग है। 'अघ को बड़ो जहाज' अथवा 'है बड़ पाप जहाज' से दोष का परिहार हो जाता है।

**पद १३३—'पतित पावन हरि, बिरद तुम्हारौ'**
में 'पा' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है।

**पद १४५—'और है आजकाल के राजा'**
में 'और है' की जगह 'औरो' कर देने से गति-भंग-दोष दूर हो जाता है।

**पद ३५२—गोविंद सो पति पाइ, कहँ मन अनत लगावै।**

---

[1]देखिये—सूरसागर, तृतीय संस्करण, ३४४७-३४४८।

[2]पद ३०७१ चुंबकऽस्मैरी। पद ३९७ अत्रिऽनुसूया, भागवतऽनुसार।

**गनिका उपज्यो पूत, सो कौन को कहावै।**
**बसत सुरसरीं तीर, मंद मति कूप खनावैं।**

उपमान के इन तीनों चरणों में १३ की जगह ११ पर यति है, पर जिह्वा 'कहँ', 'सो' तथा 'मंद' पर विश्राम ले सकती है। ११ पर यति होने के कारण यहाँ प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में यति-दोष है। आधुनिक छन्दःशास्त्री मनोहारी विविधता ही कहेंगे।

'कौन को कहावै' में गति-भंग है, क्योंकि विषम के बाद विषम कल नहीं आने से समात्मक प्रवाह नहीं आ सका है।

**पद ३८४—'दीनानाथ, कृपाल परम सु|जान जादौ राइ।'**

रूपमाला की उपर्युक्त पंक्ति में 'सुजान' के विभक्त हो जाने से यति-दोष स्पष्ट है, क्योंकि 'सु' के ह्रस्व होने के कारण उस पर जिह्वा को विश्राम लेने में कष्ट का अनुभव होता है।

गण-व्यवस्था ( त्रिकल के बाद चौकल ) के अनुसार 'दीनानाथ' को 'दीननाथ' होना चाहिये, जो वास्तव में शुद्ध भी है।

**पद ४७२—तब हूँ रघुपति ( कोप ) न कीन्हौ।**

संभवतः प्रेस की गलती से रघुपति के बाद 'कोप' छूट गया है।

**पद ४८२—चर्म, भस्म ( धारे ) सब गात।**

वीर छंद के इस उत्तरांश में भी 'धारे' छूट गया है।

**पद ५२०—पौरि सब देखि सो असोक बन में गयौ।**

हंसाल के उपर्युक्त पूर्वखंड के एक मात्रा का आधिक्य 'सोऽसोक' द्वारा हटाया जा सकता है।

**पद ५२३—हरषि मोहि तन हेरि।**
**सब दासी है तेरी।**

तुकान्तता के लिये यहाँ 'हेरी' अथवा 'तेरि' होना चाहिये।

**पद ५२६—सूर श्री रघुनाथ जू की।**

कुण्डल के इस पूर्व खण्ड में दो मात्राओं का आधिक्य है। 'सूरज रघुनाथ जू की' के द्वारा दोष दूर किया जा सकता है।

**पद ५५१—राघौ जू, कितिक बात, तजि चित।**

शृंगार के उक्त चरण में 'चिंत' की जगह 'चित' छप गया है। यहाँ चिंत ( चिंता ) अर्थ और तुकान्तता दोनों के लिये आवश्यक है। छन्दो-रक्षा के लिये 'घौ' का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है।

**पद ५६७—जिहिं जल, तृन, पसु, दारु बूड़ि अप|ने सँग औरनि पारत ।**

यहाँ 'अपने' के विभक्त हो जाने के कारण प्राचीनों के अनुसार यति-दोष और १४ पर यति होने के कारण आधुनिकों के मत से मनोहारी विविधता है ।

**पद ५६८—मनु रघुपति भयभीत सिंधु प | त्नी प्यौसार पठाई ।**

यहाँ भी यति-दोष और मनोहारी विविधता दोनों कहे जा सकते हैं ।

**पद ५८५—हँसि-हँसि नाग-फाँस सर साधत,**
**( निजकौ ) बंधु-समेत बंधायौ'**

समानसवैये की उक्त पंक्ति में छंद और अर्थ दोनों के आग्रह से बंधु के पूर्व 'निज कौ' होना चाहिये ।

**पद ५८६—तैं बुरी कीन्हीं, कहा तोहि कहौं ।**

झूलना के इस पूर्वांश में दो मात्राओं की कमी के साथ पंचक का आधार नहीं । 'बुरी तैं कीन्ह बहु, कहा तोही कहौं' से दोनों दोषों का परिहार हो जाता है ।

पद ७०२—इस पद में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनके संबंध में पीछे कहा जा चुका है ।[1]

**पद ७१२—सूरस्याम ब्रजजनमोहन ( कौ ) वरष गाँठि को डोरा खोल ।**

वीर छंद के उक्त चरण में मात्रापूर्त्यर्थ मोहन के बाद 'कौ' चाहिये ।

पद ७१३—इस पद में अनेक त्रुटियाँ सम्पादक के ध्यान नहीं देने के कारण रह गई हैं ।

**सखि (य) नि कौं बुलाइ [मँ] (मं) गल गान करावौ ।**
**उमँगि अँगनि आनंद सौं तूर (अब) बजावौ ।**
**इहै मोहि लाहै (इन) नैननि दिखरावौ ।**
**नाचै सब उमंगि अंग आ [नँ] (नं) द बढ़ावौ ।**
**[नँद] रानी ग्वारिनि बुलाइ**
**बेगि करौ किन विलंब काहै (ऽव) लगावौ ।**

इस कोष्ठक [ ] के अन्तर्गत पदों को हटा कर तथा इस कोष्ठक ( ) के पदों को रख कर दोषों का परिहार आसानी से किया जा सकता है । यदि 'नँदरानी' की जगह 'रानी' शब्द मान्य नहीं हो, तो उस जगह 'महरी' या 'जसुदा' रखा जा सकता है ।

---

[1] पीछे 'छन्दक के छन्द' उपमित छन्द ।

इस पद के अंतिम चार चरणों में जो अस्तव्यस्तता है, उसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।[1]

**पद ७२७- हरि जु की बाल-छवि कहौं वरनि।**

'जू' के ह्रस्वोच्चारण से उक्त छंदक पद-पादाकुलक का हो जाता है। इस पद की निम्नांकित पंक्तियाँ—

सकल सुख की सींव, कोटि म|नोज सोभा हरनि।
पुन्य फल अनुभवत सुतहिं वि|लोक कै नंदघरनि।

यति-दोष से युक्त कही जायँगी, और कुछ पंक्तियाँ मनोहारी विविधता को उत्पन्न करने वाली। जैसे—

रहे विवरनि, सलिल नभ, उप|मा अपर दुरि डरनि। आदि।

**पद ७६८**—(क) तनक कपोल, तनक सी दुँतली,
तनक हँसनि पर हरति सबनि मन।
(ख) तनकहि तनक जु सूर निकट आवै।

मनहरण की उपर्युक्त पंक्तियाँ छन्दोदोष से ग्रस्त हैं। इनका सुधार निम्न रूप में हो सकता है—

**(क) तनक कपोल गोल, तनकहिं सी दुँतली,**
**तनक हँसनि पै हरत सबनि मन।**
**(ख) तनकहि तनक जु सूरज निकट आवै।**

पद ७७०—इस पद की निम्नांकित दो पंक्तियों—

तनक कपोल (अरु), तनक सी द [तियाँ] (तुँरिया)
तनक हँसनि पर (सु) लेत है मोल।
तनक (हिं) रीझ [पै] (पर) देत (है) सकल तन
तनक (हिं) चितै चित वित के हरन।

में कतिपय वर्णों की न्यूनता है। बड़े कोष्ठक के अन्तर्गत शब्द-शब्दांशों को हटा कर और छोटे कोष्ठक के अन्तर्गत शब्द-शब्दांशों को रख कर इनका सुधार आसानी से हो सकता है।

**पद ८२३—उगत अरून विगत सर्व|री ससांक किरन-हीन।**
**विकसत कमलावली च|ले प्रपुंज चंचरीक।**

हरिप्रिया के इन अर्द्धांशों में यति-दोष स्पष्ट है।

---

[1]देखिये—पीछे हरिप्रिया छन्द।

**पद ८२६—उठौ नँदलाल भयों भिनसार, ज|गावति नंद की रानी।**

सार के इस चरण में 'ज' के कट कर इधर आ जाने से यति-दोष है।

पद ८७०—इस पद में पाये जाने वाले दोष तथा उनके निराकरण के संबंध में प्रकाश डाला जा चुका है।[1]

**पद ६०२—आँखें भरि लीनी उरा|हनौ देन लाग्यौ।**

**लागी तिय चरन औ ब|लैया झुकि लीन्हीं।**

कुण्डल के इन दोनों चरणों में यति-दोष स्पष्ट है।

**मुरली मैं जीवन-प्रान बसत अहै मेरो।**

यहाँ 'जीवन' की जगह 'जिवन' होना चाहिये। साथ ही इस पद के अनेक वर्णों का, लय के लिये, ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित है।

**पद ६०६—माखन-चोर री मैं पायो।**

छन्दक की उपर्युक्त पंक्ति में 'री' की जगह 'अरी' होनी चाहिये।

**पद ६६३—तुमहीं सबनि मिलि ढीठ करायौ—**

में 'तुमहीं' की जगह 'तुमहिं' होना चाहिये।

**पद ६७८—धू धूरि-सर गात।**

रूपमाला के इस उत्तरखंड को 'धूरि-धूसर गात' होना चाहिये।

**पद १००५—जर सहित अरराइ कै आ|घात सब्द सुनाइ।**

यहाँ प्राचीन मतानुसार 'आघात' में यति-दोष है।

**पद ११०२—मैं तौ जे हरे हैं ते तौ। सोवत परे हैं, ये क|रे है**

**कौन आन, अंगु|रीनि दंत दै रह्यौ।**

मनहरण घनाक्षरी में ८, ८, ८, ७ पर विश्राम माना गया है। यदि ऐसा नहीं हो, तो १६-१५ पर अवश्य ही पद पूर्ण हो।[2] इस दृष्टि से १६ पर पद के पूर्ण नहीं होने से यहाँ यति-दोष है।

**पद १११६—तृनावत आकास तें पट|क्यौ सिला पर जाय।**

यहाँ यति-दोष और मनोहारी विविधता दोनों ही माने जा सकते हैं।

**पद ११६०—गिरिधर, बज्रधर, मुरलीधर, धर|नीधर।**

**माधौ पीतांबरधर।**

समानसवैये के इस चरण में भी वही बात है।

---

[1]पीछे प्रतिपाल छन्द, पृ० २६८। [2]छन्दःप्रभाकर, पृ० २१५।

**पद १२०२—कमल के भार, दधि भार, माखन लिये**

**सब ग्वार, नृप-द्वार आए।**

उक्त चरण में अंतिम 'आए' के पूर्व 'पास' या 'निकट' रख देने से तीन मात्राओं के अभाव की पूर्त्ति हो जाती है।

**पद १२३०—सूरदास प्रभु-प्रेम समुझि कै, मुरली सुनि आइ गई।**

उक्त २६ मात्रापादी विष्णुपद में दो मात्राओं का आधिक्य है।

'सूरदास प्रभु प्रेम समुझि, सुनि मुरली आइ गई' के द्वारा दोष का परिहार हो जाता है।

**पद १२३८—निरखि मदन-छवि छरत।**

विष्णुपद के उक्त उत्तरांश में एक मात्रा की अधिकता तथा गण की अव्यवस्था के कारण गति की शिथिलता आ गई है। 'लख छवि मदन छरत' होने से पंक्ति निर्दोष हो जाती है।

पद १२४२—इस पद में पाये जाने वाले दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[1]

**पद १२४५—चित्त-चातक प्रेम-घन लो | चन चकोरनि चंद।**

यहाँ यति-दोष और मनोहारी विविधता दोनों माने जा सकते हैं।

पद १२४७—इस पद के दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[2]

**पद १२७६—नाद सुनि बनिता बिमोही, बिसारि उर चीर।**

**धेनु मृग तृन तजि रहे बछ | रा न पीवत नीर।**

'बिसारे उर-चीर' में गण-क्रम ठीक है, किंतु 'बिसारे' के प्रयोग से गति में भद्दापन आ गया है। यहाँ मम्मट का 'लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम' पूर्णतया घटित होता है।

**पद १३०९—नवल नेह नव प्रिया नयो नयो दरस,**

**विवि तन मिले पिय अधर धरो री।**

पंचक के आधार पर नहीं चलने के कारण इस पद की कई पंक्तियाँ हंसाल की प्रकृत गति से वंचित हैं।

**पद १३२४—अबल के बल सबल देखि अ | धीन सकलसिंगार।**

उक्त पंक्ति यति-दोष से ग्रस्त है।

**पद १३३९—चितैबौ छाँड़ि दै री राधा।**

---

[1]पीछे विश्वभरण छन्द, पृ० २६१। [2]पीछे कुण्डली छन्द, पृ० ११९।

उक्त पंक्ति में १६ मात्राएँ हैं। ऐसे छन्द के अभाव में 'छाँ' का ह्रस्वोच्चारण मान कर इसे पंचदशमात्रापादी गोपी छन्द कह सकते हैं।

पद १३७०—इस पद के दोषों के संबंध में पीछे कहा जा चुका है।[1]

**पद १४२७—करि प्रगट मदन मोहन पिय।**

मरहटामाधवी के इस पूर्वांश में 'करि करि' होना चाहिये।

**पद १४७१—बलवर्त्त, वारि वर्त्त, पौन वर्त्त, बज्र,**
**अग्नि बर्त्तक, जलद संग ल्याए।**

झूलना के इस पूर्व खंड में अनेक वर्त्तों (बादलों के नाम या वंश-विशेष) के उल्लेख के कारण कवि पंचक के नियम का पालन नहीं कर सका। फलतः गति-शैथिल्य आ गया।

**पद १४७५—हरबर अब गिरिवर बल।**

हरिप्रिया के इस अंतिम खंड में दो मात्राएँ अधिक हैं। 'अब' अथवा 'वर' को हटा देने से दोष दूर हो जाता है।

**पद १४९२—नीके धरो नंद-नँदन बल-वीर।**

तमाल के इस छन्दक में 'नँ' की 'नं' होना चाहिये।

**पद १६०१—उत सुर चाप, कलाप चंद्र इत, तडित पट पीत भए।**

यहाँ उत्तर खंड में एक मात्रा अधिक है। 'तेजी से पढ़े गये दो-तीन वर्णों को भी एक ही वर्ण जानो।'[2] प्रा० पैं० के इस सिद्धांत के अनुसार 'तड़ित' को द्विमात्रिक मान कर इस दोष का निराकरण किया जा सकता है।

**[मनु] बिबि मरकत मनि बीच महा नग, मनौ विचित्र ठए।**

उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनौ' की विद्यमानता में प्रारंभिक 'मनु' निरर्थक है। शायद प्रेस की असावधानी से टपक पड़ा हो।

**पद १६१५—जित तित रही स्रवन दै दृग (दै), सुधि न रही कोउ एक जनी।**

प्रथम खंड में दो मात्राओं की कमी है, जिसकी पूर्त्ति दृग के बाद 'दै' रख कर की जा सकती है।

**पद १६४३—सुनहु स्याम अब करहु चतराई।**

समानसवैये के इस पूर्वांश का मात्राधिक्य चतुराई की जगह चतुरई

---

[1]पीछे हीर छन्द, पृ० १५२।

[2]प्रा० पैं०—वण्णे वि तुरिअ पढिओ दो तिण्ण वि एँक्क जाणेहु। १।८।

कर देने से दूर हो जाता है। कवि ने निठुराई के लिये निठुरई शब्द का प्रयोग अन्यत्र किया है।

**पद १६४५—तजौ नँद लाल अति निठुरई गहि रहे।**
**कहा पुनि (पुनि) कहत धर्म हमकौ।**

यहाँ दो मात्राओं की कमी की पूर्ति एक 'पुनि' और रख देने से हो जाती है। तृतीय संस्करण में 'निठुरई' की जगह 'निठुराई' रख कर पाठ को सदोष बना दिया है।

**पद १६६६—ह्वै त्रिभंगि नृत्य करत, [ब्रज] जुवतिनि मंडली मध्य।**
**मोर मुकुट [वर] सीस धरे राजत हैं सूरज प्रभु।**

नटनागर छन्द के इन दो पूर्वार्द्धों में 'ब्रज' और 'वर' शब्द अर्थ की दृष्टि से भी विशेष महत्व के नहीं हैं। इनके ही कारण दोनों खंडों में दो-दो मात्राओं की वृद्धि हो गई है।

पद १६९४—षष्ठक के आधार पर चलने वाले इस पद के छन्द में अनेक त्रुटियाँ हैं। समझ में नहीं आता, सूरदास-द्वारा इस रूप में यह कैसे लिखा गया। कवि की पंक्तियों में हेर-फेर करने का अधिकार नहीं रहने पर भी इसके सुधार का जो दुस्साहस हम कर बैठे हैं, वह निम्नलिखित है—

| प्रस्तुत पाठ | | निर्दोष पाठ |
|---|---|---|
| **वृषभानु नंदनी अति** | — | **अति ही वृषभानु-नँदिनि।** |
| **बृन्दावन-चंद** | — | **बृन्दावन-चँद।** |
| **स्याम अलकनि सुबीच** | — | **स्याम अलक बीच-बीच।** |
| **के सीस गंगा** | — | **के सु-सीस गंगा।** |
| **स्रवन ताटंक सोहै** | — | **सोहै ताटंक स्रवन।** |
| **उलटि चल्यौ है राहु** | — | **उलटि चल्यौ है जु राहु।** |
| **ससिहि उपमा देइ को** | — | **देइ ससिहि उपमा को।** |
| **आलस उनींदे नैंन लागत सुहाए** | — | **अलस उनींदे नेननि लागत सोहाए।** |
| **नासिका चंपक कली को अली भाए** | — | **नासिका सु-चंपक कलि कौन अली भाए।** |
| **वदन संजन तें अँजन गयो ह्वै दूरि** | — | **अँजन वदन-मंजन तें ह्वै गयौ अब दूरि।** |
| **ज्यों कला पूरि** | — | **ज्यों कला संपूरि।** |
| **गिरि तें लता है भई वह तो हम सुनि** | — | **भई लता गिरि तें है यह तो हम सुनी।** |
| **कंचन लता तें भए द्वै गिरिवर पुनि** | - | **कनक(कँचन)लता तें प्रगटे द्वै गिरिवर पुनी।** |

| प्रस्तुत पाठ | निर्दोष पाठ |
| --- | --- |
| यह छवि सरदास मन नित रहै बानी | —सूरदास मन यह छवि नित्य रहै बानी । |
| नंद के नँदन राजा राधिका रानी | — नँद के नंदन राजा राधिका सु रानी । |

इस पद की पाँच पंक्तियाँ (७वीं तथा १५वीं से १८वीं) इस बात का स्पष्ट संकेत करती हैं कि उपर्युक्त पद कुण्डल और प्रणय के मिश्रित चरणों में लिखा गया है। संशोधित रूप में ये सारे चरण कुंडल और प्रणय के निर्दोष चरण हो जाते हैं।

**पद १७००—अधर अमृत सार।**

रूपमाला के उत्तरांश में 'अमृत' में चार मात्राएँ माननी पड़ेंगी। सूरसागर में कहीं-कहीं अंमृत का प्रयोग भी मिलता है।[1]

**पद १७६९—अतीत अनागत सँगीत विच तान मिलाई।**

कुण्डल के उक्त चरण में 'अतीत' की जगह कोई त्रिकलात्मक शब्द होना चाहिए। संगीत के पारिभाषिक शब्द होने के कारण कवि को 'अतीत' का प्रयोग करना अनिवार्य हो गया होगा। एक दूसरे पद में 'अतीत' का प्रयोग चतुष्कल रूप में ही किया गया है।[2] 'ती' के ह्रस्वोच्चारण-द्वारा इस दोष का परिहार हो जाता है।

**पद १७९८—बजे देवलोक नीसान।**

इस पंक्ति में चौपई की लय नहीं है। इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर आये हैं।[3]

पद १८००—इस पद के दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[4]

**पद १८०९—कोक कोटिक रभस, रसिक हरि सूरज।**

विजया छंद के रेखांकित खंड को 'रसिक हरि सूर-प्रभु' होना चाहिये, जिससे मात्रा-पूर्ति के साथ-साथ इसे पंचक का आधार भी प्राप्त हो जायगा।

**पद १८२१—तामें सखि ह्वैक मधु लागि रहे।**

सरसी के इस पूर्वखंड में दो सम के बीच एक विषम पद के आ जाने

---

[1] पद २६५१, विध्वंत अंमृत चुवत।

[2] सुर स्रुति तान बँधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।
पद १२६६।

[3] पीछे चौपई + चौबोला + चौपाई + उल्लाला छंद।

[4] पीछे दोहा + शशिवदना + माली + हाकलि + गीतिका छंद।

से गति-भंग दोष आ गया है। 'तामें सखी ढ़ंक मधु लगि रहे' हो जाने से गतिशैथिल्य दूर हो जाता है।

**पद १८४४—सुभग स्रीखंड पीड़ सिर सोहत।**

यह निस्संदेह प्रेस की गलती है। सुभग सिखंड (चंदन अर्थ में स्रिखंड) होना चाहिये।

**पद १८६७—जैसे चोर चोर सौं राते ठठा ठठा एकै जानि।**

यहाँ भूल से 'ठग ठग' की जगह 'ठठा ठठा' छप गया है।

**पद १६०८—जौं लौं मधु पी (पि) वति रहति, तौं लौं (वह) जीवति है,**
**घरी घरी पल-पल छिनु (स्यामहिं) नहिं बिसरै।**
**सूरदास प्रभु वाकैं रसबस (नित) भए रहैं,**
**ता तैं वाकी सरवरि कहौ कौन धौं करै।**

हरिप्रिया छंद की उक्त पंक्तियों में कतिपय मात्राओं की कमी है। कोष्ठक में दिये हुए शब्दों के योग से इस दोष का निराकरण किया जा सकता है।

**पद १६६०—पाग ऊपर गोसमावल, रँग-रँग रची बनाइ।**

दोहे के उक्त चरण में 'ऊपर' को 'उपर' कर देने से या 'ऊ' का ह्रस्वोच्चारण कर देने से मात्राएँ और गणव्यवस्था तो ठीक हो जाती हैं; किंतु 'गोसमावल' के प्रयोग से गति-भंग का स्पष्ट आभास मिलता है। मम्मट का 'लक्षणानुसरणोऽप्यश्रव्यम्' यहाँ भी चरितार्थ हो रहा है।

**पद १६६८—निरखि सुभग सरोज मुदित म|राल-सम-सिसु-पुंज।**

यहाँ यति-दोष स्पष्ट है।

**पद २०२३—कहा भयौ जौ मंद बड़े, वृष|भानु-आन न डरैहौ।**

यहाँ यति-भंग तथा उत्तरांश में गति-भंग स्पष्ट है।

**पद २०७५—जमुन भरन जल मैं (गई) (तहँ) स्याम मोहिनी लाइ।**

यहाँ दोहे के विषम चरण में 'जल में' के बाद 'गई' शब्द छूट गया है।

**पद २०७६—रिस (करि) कसि कटि पीत पट, ग्वालि गही हरि धाइ।**

यहाँ भी 'रिस' के बाद 'करि' शब्द छूट गया है।

**पद २०८१—दान लेहु घर जान देहु का|हे कौ कान्ह देत हौ गारी।**

समानसवैये की उपर्युक्त पंक्ति में स्पष्टतः यति-दोष है।

**पद २०८३—लैहौं दान सब अंगनि कौ।**

मात्रा-पूर्त्यर्थ यहाँ 'सब' की जगह 'सबै' होना चाहिये।

**पद २०८४—कान्ह भले हौ (बने) भलै हौ।**

छन्दोगति और अर्थ-संगति के लिए यहाँ 'कान्ह भले हौ बने भले हौ' होना चाहिये। इसी प्रकार 'दान लेत कछु कहत हौ' की जगह 'दान लेत कछु कहत रहत हौ' होना चाहिये।

पद २०९५—गोरस चुरा (इ) खाइ। शुद्ध पाठ है। असावधानी से 'इ' छूट गई हैं।

**पद २१३४—याही ओट सहत सी|सिर-सीत, याही गह|ने हरत,**
**लै धरत ओट कोटि बाम की।**

मनहरण के उक्त चरण में स्पष्टतः यति-दोष है।

**पद २२०४—मोहन, जोहन, मंत्र-जंत्र, टो|ना, सब तुम पर वारत।**

**पद २२२२—पापहि पाप धरा भई भारी जब (जब) सुरनि**
**पुकार कियौ।**

यहाँ 'जब' के बाद एक और 'जब' चाहिये।

**पद २२४९—सूर स्याम कौं, मिलि, चूनौ हर|दी ज्यौं रंग रजी।**

**पद २२७१—को अब सुनै, स्रवन हैं काके, निपट के निगम टेरैं।**

उपर्युक्त चरण में विषम के बाद सम आ जाने से प्रवाह शिथिल हो गया है। अर्थ की दृष्टि से 'निपट निगम के टेरैं' शुद्ध पाठ प्रतीत होता है।

**पद २२७४—जोइ जोइ कहत (सोइ) सोई कृत, आयसु माथै मानि।**

यहाँ 'कहत' के बाद 'सोइ' होना चाहिये।

**पद २२७८—यह तो अब बात फलि।**

कुंडल के इस पूर्वांश में 'फलि' को 'फली' होना चाहिये।

**पद २३६४—अति आदर बैठक (उहिं) दीन्हीं, कह्यौ कहाँ तुम आई।**

यहाँ 'बैठक' के बाद 'उहिं' होना चाहिये।

**पद २४१४—मनहु छिड़ाइ [छिड़ाइ] लियौ नँदनंदन।**

यहाँ एक ही 'छिड़ाई' चाहिये।

**पद २४५३—कंज, खंजन, मीन, मृग सा|वकहु डारत वारि।**

**पद २४५४—चतुरता, प्रवीनता, वि|धाता का जानौ।**

कुंडल की इस पंक्ति में यति-दोष स्पष्ट है।

**पद २५३४—सूरदास के प्रभु तन मेरौ, ज्यौं भयौ हाथ पाथर तर कौ।**

समानसवैये के उक्त चरण के दूसरे खंड में इसलिए गति-भंग हो गया है कि यहाँ चौपाई की गण-व्यवस्था नहीं है। यह चरण पदपादाकुलक

का हो गया है। 'भयौ हाथ ज्यों पाथर तर कौ' होने से यह चौपाई की पंक्ति हो जायगी।

**पद २५४२—विष कौ कीट विषहिं रुचि मानै, (जानै) कहा सुधा रस ही री।**

समानसवैये के इस चरण में चार मात्राओं की क्षति-पूर्त्ति 'कहा' के पूर्व 'जानै' के योग से हो जाती है।

**पद २५५६—रही री लाज नहिं काज आजु हरि, पाये पकरन चोरी।**

सार के इस चरण के प्रथम खंड में स्पष्टतः दो मात्राएँ अधिक हैं। प्रा० पैं० के त्वरा से पढ़े जाने वाले दो-तीन वर्णों को एक मानने वाले सिद्धांत के अनुसार[1] 'रही री' में तीन मात्राएँ मान लेने पर दोष नहीं रह जाता।

**पद २५६२—तुम बहु रमनी रमन सो तौ जानति हौं,**

**याही के जु धोखें (क) हौं मोसौं काहे लरौ।**

सूरघनाक्षरी के इस चरण में वर्ण-संख्या की पूर्त्ति तथा अर्थ की संगति के लिए 'कहौ' होना चाहिये, 'हौं' नहीं।

**पद २५६४—सुनहु सूर जो कहति रहीं तुम, कहौ न कहा [न] लजात।**

मात्रा-संख्या और अर्थ-संगति दोनों ही दृष्टियों से दूसरा 'न' नहीं होना चाहिये।

पद २५६२—इस पद के दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[2]

**पद २६०४—महा सुभट प्रगटे भूतल वृष|भानु सुता बलवीर।**

**पद २६२४—गाँठि आँचर छोरि कै मो|तिसरी लीन्हीं हाथ।**

**पद २६२८—जाति ऐंड़ाति गात गोरि बँहियानि झेलि।**

रूपघनाक्षरी के इस अर्द्धांश में 'जाति' की जगह 'जँभाति' होना चाहिये। अर्थ-दृष्टि से यही उपयुक्त प्रतीत होता है।

**पद २६०५—वे तेरैं तू उनके रँग, अप|नौ मुख क्यों न निहारैं।**

**पद २७२४—जौ हरि कौ दरसन पाऊँ, आ|भूषन अंग बनाऊँ।**

**पद २७२५—चौदह विद्या प्रबीन अति ही बहु नायक को कौन मनावै।**

जगण के आगे-पीछे त्रिकल रहने से समात्मक प्रवाह बना रहता है। यहाँ 'प्रबीन' के साथ ऐसी बात नहीं। इसीलिए निर्दिष्ट मात्रा-संख्या के बावजूद यहाँ प्रवाह नहीं आ सका है।

**पद २७३४—त्रोटि पर लव अरत परमौ अर निरखि निमुख को तारिहैं ?**

---

[1]पीछे अध्याय २, पृ० ५२। [2]रतिवल्लभ छन्द, पृ० ११६।

मरहटामाधवी के इस चरण का पूर्वांश गति-दोष से ग्रस्त है। ब्रज-भाषा सूर-कोश में जो पाठ दिया गया है—

**ओटि पर लब अरततपर मौ अर निरषनि मुख को तारिहै ।**[1]

वह भी छन्दोदृष्टि से भ्रष्ट ही है। 'अरत परमौ' की जगह 'अरततपर मौ' रख कर एक मात्रा बढ़ा दी गई है। दोनों में किसी पाठ का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। ब्रजभाषा सूर-कोश भी अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायक नहीं। प्रस्तुत पाठ में रूपमाला की लय है, समात्मक प्रवाह नहीं, जो मरहटामाधवी के लिए अपेक्षित है।

**पद २७५१—उमँगि ईषद ज्यों स्रवत, पी|यूष कुंभ-झकोर।**

**मुदित मधुकर विदुगन मक|रन्द मध्य न घोर।**

पद २७६०—इस पद के संबंध में पीछे विचार हो चुका है।[2]

**पद २८१०—बोली धौं कौन की।**

षष्ठक के आधार पर चलने वाले हरिप्रिया छन्द का यह पहला खंड है। इसका पाठ 'बोली धौं कौन की है' होना चाहिये। 'है' के लघूच्चारण से त्रिकल की व्यवस्था हो जाती है।

**पद २८५५—लोक लाज कुल की मर|जादा बिसराई।**

**पद २८६१—रहे इक टक निरखि [वै] डरत नाहीं।**

**मृदु हँसनि व्याघ पढ़ [नि] मंत्र बोलनि मधुर।**

हंसाल के उत्तरार्द्ध में १७ मात्राएँ होती हैं। 'वै' को हटा देने से दो मात्राओं का आधिक्य दूर हो जाता है। अर्थ पर भी कोई आघात नहीं पड़ता। दूसरी पंक्ति के मात्राधिक्य का निवारण 'नि' को हटा कर तृतीय संस्करण में कर दिया गया है।

**पद २६३३—जैसे लुबधति कमल-कोस में, भ्रमर की भ्रमरी।**

इसके उत्तरार्द्ध में एक मात्रा की कमी के कारण गति-भंग है। यहाँ यदि भ्रमर से तात्पर्य आवर्त्त से हो (और यही युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है) तो 'भ्रमरों की भ्रमरी' अथवा 'भ्रमर पड़ी भ्रमरी' होना चाहिये।

**पद ३१३७—नख मनु चंद्र वान सजि कै, झझ|कार उठ्यौ उर आग्यौ।**

**पद ३१६५—बेग (हौ) सवारो पावँ धारो सूर स्वामी न तु।**

---

[1]ब्रजभाषा सूर-कोश, प्रथम खण्ड, पृ० ६५।

[2]पीछे मदनशय्या छन्द और छन्दक के छन्द।

बेग के बाद 'ही' जोड़ देने से मनहरण के इस चरणांश की वर्णपूर्ति हो जाती है।

पद ३१६७—**मोंही सौं (ऽव) निठुरई ठानी हो मोहन प्यारे।**

'सौंऽव' कर देने से वर्ण-पूर्ति हो जाती है।

पद ३१७०—**पुष्पगंध-लोभ भौंर, उड़ि न सकत फिरि**

**[फिरि] बैठत ता समीप कीरत रति गावत।**

मनहरण के इस चरण का वर्णाधिक्य 'फिरि' को हटा देने से दूर हो जाता है।

पद ३१६१—**कैसे कै (लै) ल्याऊँ हौं तौ मरम न पाऊँ स्याम।**

एक वर्ण की न्यूनता 'लै' जोड़कर दूर की जा सकती है।

पद ३१६३—**मौन पारि अपार रचि, अव|गाहि आँसु जु वारि।**

पद ३२०३—**कमल कोस कोमल विभाग अनु|राग बहत।**

**सूरदास सुंदर [अति] सीतल मृदु वेउ न सहत।**

कोष्ठक के शब्द को हटा कर तथा 'वेउ' को द्विमात्रिक मान कर मात्राधिक्य-दोष का निवारण किया जा सकता है।

पद ३२१३—**हठ दूरि करि धरि, मेर कहैं, अरी।**

यहाँ 'अरी' की जगह 'आरी' होना चाहिये, जो हारी, कारी, भारी के तुक-साम्य के लिए अपेक्षित है। अर्थ की दृष्टि से भी आ री (आओ री) अनुपयुक्त नहीं।

पद ३२२०—**पुहुप सुरँग सारँग-रिपु-ओट दि|खावत चतुर लही।**

यहाँ यति-दोष स्पष्ट है।

पद ३२३४—**आगे पिय फूल बिछावत जात।**

**कठिन कठिन कलि बीनि करति न्यारी।**

छन्दोरक्षा के लिए वीर छन्द के इन उत्तर तथा पूर्व खण्डों में 'आगे' और 'न्यारी' दोनों को लघूच्चारण द्वारा द्विमात्रिक मानना पड़ेगा।

पद ३२६१—इस पद के दोषों का विचार पीछे हो चुका है।[1]

पद ३२७६—**मैं जानी तेरे जिय की बात सोइ, गात चिन्ह [हु]**

**कहे देत माई।**

'चिन्हहु' के 'हु' को हटा देने पर २२ वर्णों का यह छन्दक सूर-घनाक्षरी के

---

[1] पीछे मुक्तामणि छन्द, पृ० १८०।

अन्य चरणों के साथ पूरी लय-मैत्री स्थापित कर लेता है। अन्य दो पंक्तियों का सुधार कोष्ठक में दिये शब्द-शब्दांशों को जोड़ कर किया जा सकता है। जैसे—

**आलस (सु) तन मौरें, भुजनि जँभाइ जोरें।**
**लागत सुहाई (अति) पिय मन भाई।**
**बैन, ऐन, नैन-सैन देखिये सिंगार बार।**
**बिथुरे (सु) रति देत (प्रगट) जनाई।**

**पद ३३७१—आजु तेरे तन में नयौ जीवन ठौर-ठौर**
**पिय मिलि मेरे मन काहे रूसी री [है] बेकाज।**

कोष्ठक के शब्द को हटा देने पर रूप घनाक्षरी की वर्ण-संख्या ठीक हो जाती है। 'अधिक राखे बढ़ाई' में विषम के बाद सम आ जाने से प्रवाह कुंठित-सा दिखलाई पड़ता है।

**पद ३४१८—री वै (है) मनमोहन ठाढ़े।**

सार के इस पूर्वार्द्ध में छन्दोरक्षा के लिए 'वै' के बाद 'है' का रहना आवश्यक है।

**बोलि पठई तोहि हरि का|हैं न चित कछु आन हूँ।**
**यहै पुनि-पुनि कहति मैं मन। वानछित फल पाइये।**

उक्त दोनों पंक्तियों में यति-दोष माना जा सकता है।

**पद ३४२०—वोउच स्याम स्याम दामिनि कौ।**
**मनो सरद रितु जल घटत न जानति।**

सार के चरणों के बीच ३४ मात्राओं का उक्त चरण दाल-भात में मूसलचन्द की तरह जमा हुआ है। 'वोउच' कैसा शब्द है, पंक्ति के प्रारंभिक भाग का क्या अर्थ है और उसका कौन सा पूर्वापर संबंध है? समझ में नहीं आता। प्राचीन प्रतियों के आधार पर बिना अर्थ समझे-बूझे ही तो यह चरण नहीं रख दिया गया है।

**पद ३४४८—घनघटा कारी, स्वेत बग-पंगति निरखि नभ ओर।**
**तैसोयै दमकति दामिनी, तैसोइ अंबर घोर।**

भानु के अनुसार गीता में १४–१२ पर यति होती है। अतः १४ पर यति होने के कारण यहाँ तो यति-दोष नहीं है, किंतु निम्न पंक्ति में—

**तैसोइ जमुना पुलिन पर|म पुनीत, सब सुखदाइ।**

में यति-दोष स्पष्ट है।

पद ३४५०—असावधानी के कारण इस पद की कई पंक्तियों में शब्दों का क्रम-विपर्यय हो गया है। फलस्वरूप पंक्तियाँ मरहटामाधवी से भिन्न प्रवाह पर चलती प्रतीत होती हैं। यथा—

| प्रस्तुत पाठ | | निर्दोष पाठ |
|---|---|---|
| रमत राम स्याम सँग ब्रज बालक | — | रमत स्याम-बल सँग ब्रज बालक। |
| द्वै खंभ कंचन के मनोहर | — | कंचन के द्वै खंभ मनोहर। |
| उठे सँकर्षन करी सृंग बेनु धुनि | — | उठे सँकर्षन करी बेनु धुनि। |
| गिरिधरन-लाल-छवि सोहनौ | — | गिरिधर की छवि सोहनौ। |
| जहँ त्रिविध मंद सुगंध सीतल | — | त्रिविध मंद सीतल सुगंध जहँ। |
| तहँ उठत विहरत सुबास बहु | — | तहाँ उठत विहरत सुबास बहु। |
| सुक सेष सारद नारदादिक | — | सुक नारद सारद सेषादिक। |

पद ३४५७—छन्दोदृष्टि से नहीं देखने के कारण इस पद की कुछ पंक्तियों में थोड़ी अस्तव्यस्तता आ गई है, जो आसानी से दूर हो सकती है।

(क) नील पीत पट घन (सौ) दामि [नी] (नि) कौ भोरैं।
(ख) नैन [नि] नैन जोरैं झूलैं थोरैं थोरैं।
(ग) पवन गवन आवैं (मँद) सौंधे की झकोरैं।
(घ) तन मन (धन) वोरैं या छवि पर तन तोरैं।
(ङ) सूर-प्र [भु] (भू) चित चोरैं नेकु [अँ] (अं) ग मोरैं।
(च) सुनि मुर [लि] (ली) घोरैं सुर-व [धु] (धू) सीस ढोरैं।

बड़े कोष्ठक के शब्द को हटाने और छोटे कोष्ठक के शब्दों को रख देने से उपर्युक्त सारी पंक्तियाँ निर्दोष हो जाती हैं।

(क), (ख) तथा (च) में १०-१२ पर यति दे कर तथा पादान्तर्गत तुक की योजना कर कवि ने मनोहारी विविधता का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है।

पद ३४५६—बज्र कीलैं लगी सुठि (सुचि) सुभग सोभा कारि।

दो मात्राओं की कमी 'सुचि' के योग से दूर की जा सकती है।

पद ३४६०—श्री खंड खंभ मयारि सहि|त, सुसमर मरुव वनाइ। (गीता)
सखी बिबिध विचित्र राग म|लार मंगल गाइ। (रूपमाला)

इन दोनों पंक्तियाँ में स्पष्टतः यति-दोष है।

नव अकृत विकृत वदन प्रहसित—में छन्दोरक्षा के लिये अमृत के ढंग पर विकृत को चतुर्मात्रिक मानना अपेक्षित है।

**पद ३४६७—देखौ बृन्दावन खेलहि गोपाल।**

पद्धरि के आदि में दो मात्राओं के योग से यह पंक्ति बनी है, अतः इसे बन्दन छन्द कह सकते हैं।[1] इसी प्रकार निम्न पंक्ति भी—

**नव वल्ली सुंदर नव-नव तमाल।**

बन्दन की ही कही जायगी। 'नव केसरि अरगजा घोरि' में एक 'नव' और चाहिये।

**पद ३४७३—श्री मदन मोहन सुंदरता-पुंज।**

पद्धरि की उपर्युक्त पंक्ति मात्राधिक्य के कारण गति-विहीन है। 'मोहन' के 'मो' का लघूच्चारण कर तथा सुन्दरता की जगह 'सौंदर्य' रख कर इसे प्रकृत लय प्रदान किया जा सकता है।

**पद ३४७७—खेलन को (वर) फागु री।**

दो मात्राओं की कमी 'वर' या 'शुभ' जैसे शब्दों को रख कर पूरी की जा सकती है।

**पद ३४९४—एक गावत, एक नाचत, इक करत [बहुत] बहु रंग।**

यहाँ 'बहुत' व्यर्थ है।

**पद ३५१८—ब्रजराज लड़ैते गाइये (मन) मोहन जाकौ नाउँ।**

यहाँ दोहे के विषम चरण के आदि में दो मात्राएँ अधिक हैं। इसे दोही का चरण[2] मान लेने पर कोई दोष नहीं रहता।

**पद ३५२३—झूमक सेंती गावहीं, नेंकु बिच-बिच मीठे बोल।**

'नेंकु' को हटा देने पर तीन मात्राओं का आधिक्य दूर हो जाता है। अन्यथा इसे द्विमात्रिक मान कर इस पंक्ति को दोहकीय मान सकते हैं।

पद ३५२५— गें|दुक, पी|तांबर, घूँ|घट के विभक्त हो जाने के कारण तत्तत् चरणों में यति-दोष माना जा सकता है। १४-१३ पर यति मान कर मनोहारी विविधता भी कह सकते हैं।

**पद ३५२६—यों राजत तिहिं काल लाल, लल|ना रसाल रस रंग।**
में भी वही बात है।

---

[1]भानु का बंदन छन्द, छन्दःप्रभाकर, पृ० ५४।

[2]दोही छन्द : छन्दःप्रभाकर, पृ० ६०।

पद ३५३५—इसके दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[१]

**पद ३५४८—देखिवे की साथ सुनि गुन (नि) विपुल (भइ)**

हंसाल के इस पूर्वार्द्ध की तीन मात्राओं की कमी कोष्ठान्तर्गत शब्दों को रख कर पूरी की जा सकती है।

पद ३५७९—इसके दोषों पर हम पीछे विचार कर आये हैं।[२]

**पद ३५८५—धनुष देखन कह्यौ कपटी महा है।**

हंसाल के उक्त उत्तरांश में १७ की जगह १९ मात्राएँ हैं। मानवती[३] छन्द का चरण मान लेने पर यह निर्दोष हो जाता है।

**पद ३५९५—भरोसो कान्ह को है मोहि।**

यों इस छन्दक में एक मात्रा की कमी का आभास मिलता है, 'कान्हा' या 'कान्हर' हो जाने से यह शृंगार का निर्दोष उदाहरण हो जाता है, किंतु सूरदास ने ऐसी पंक्तियाँ और भी लिखी हैं। अतः यहाँ दोष मानना ठीक नहीं।[४]

**पद ३६०५—हरि की प्रीति उर माँहि कर कै।**

चन्द्र छन्द के इस छन्दक में 'हरि' की जगह 'हरी' चाहिये। अन्यत्र कवि ने 'हरी' शब्द का भी प्रयोग किया है—हमारी तुमको लाज हरी।[५]

**पद ३६०६—सब ब्रज की सोभा धाम।**

यहाँ 'सब' की जगह 'सिगरे' चाहिये। अन्यथा इसे नया नाम देना होगा और इसका निर्माण अहीर के आदि में दो मात्राओं के योग से मानना पड़ेगा।

**पद ३६३२—सूरदास प्रभु कहत हैं पुनि।**

सार के इस पूर्वांश में एक मात्रा कम है। 'है' का लघूच्चारण मान लेने तथा एक 'पुनि' और रख देने से मात्रा-पूर्ति हो जाती है। ब्रज-भाषा सूर-कोश में भी ऐसा ही पाठ है।[६]

**पद ३६३४—तिनके चरन-सरोज सूर दर|सन, गुरु कृपा सहाइ।**

**पद ३६४५—सुरभि-ठान लिये बन ते आवत सबहि गुन इन री।**

---

[१]पीछे लीला + महानुभाव + चौपाई। [२]पीछे गीता + सरसी।

[३]पीछे मानवती छन्द। [४]पीछे छन्दक के छन्द-गोपी।

[५]सूरसागर, पद १८४। [६]ब्रजभाषा सूर-कोश, पृ० ११०७।

इसका पूर्वार्द्ध समप्रवाही सार-सरसी आदि छन्दों का प्रथम खंड है। रजनी का पूर्वार्द्ध होने के लिये इसे 'सुरभि बन तें लिये आवत' होना चाहिये।

**पद ३६६८—गह्यौ स्याम (कौ) कर अपने सौं, लिये सदन को आई।**

यहाँ छन्दोरक्षार्थ 'स्याम' के बाद 'कौ' चाहिये।

**पद ३६६१—हटकि करि देउँ (अब) इहै लागी।**

झूलना के इस उत्तरांश में 'अब' चाहिये।

**पद ३६६२—लपकि लपकि हए (सबै) उबर्यौ नहिं कोऊ।**

हरिप्रिया के इस उत्तरांश में 'सबै' चाहिये।

**पद ३६६५—उज्ज्वल साँवल वपु सो|भित अंग, फिरत फरि।**

**पद ३६६६—हृदय वनमाल (मृदु) नूपुर चरन लाल।**

**देखि यह पुहुप वर्षा करि (री)।**

कोष्ठान्तर्गत शब्दों के योग से 'हंसाल' के दोनों चरण निर्दोष हो जायँगे।

**पद ३७००—अतिहिं (वय) अल्प के, नंद ढोठा।**

झूलना के इस उत्तरार्द्ध में 'वय' छूट गया है।

**पद ३७०१—सुन्यौ नृप-नारि पति (कृष्न) मार्‌यौ।**

हंसाल के इस उत्तरार्द्ध में 'कृष्न' छूट गया है।

**पद ३७०६—रजक धनु [ष] गज मल्ल मारे, तनक से नँदलाल।**

यहाँ 'धनुष' की जगह 'धनु' होने से मात्राधिक्य-दोष दूर हो जाता है।

**पद ३७१६—दास दासी स्याम भजनहुँ (हूँ) तें जिये।**

हंसाल के इस अर्द्धांश में 'भजनहूँ' होना चाहिये।

पद ३७७३—इसके दोषों की चर्चा पीछे हो चुकी है।[1]

**पद ३७७४—नैननि कौ (यह) नीर।**

यहाँ 'कौ' के बाद 'यह' होना चाहिये।

पद ३८७८—इसकी त्रुटि के संबंध में पीछे कहा जा चुका है।[2]

**पद ३९११—बिथा माई कौन सौं कहिये।**

इस छन्दक का प्रवाह प्रतिहत है। 'कौने' हो जाने से प्रवाह आ जाता

---

[1] **पीछे छन्दक के छन्द : मुक्तामणि।**

[2] **पीछे छन्दक के छन्द : शशिवदना।**

है, और यह राम छन्द की पंक्ति हो जाती है। यों 'सौं' के ह्रस्वोच्चारण से इसे गोपी मान सकते हैं।

**पद ३९१६—ये दिन रूसिवे के नाहीं।**

'दिन' की जगह 'दिवस' हो जाने से उक्त छन्दक पदपादाकुलक का हो जाता है और इसकी लय प्रवाहपूर्ण हो जाती है। 'रूसिवे के ये दिन नाहीं' होने से यह गोपी छन्द का चरण हो जाता है।

**पद ३९१९—जलधर समेत सेन (ना) इन्द्रधनुष साजें।**

**अबल (ला) नि अकेली करि, अपनी कुल नीति बिसरि,**

**अवधि-संग सकल सूर भ (र) हराइ भाजें।**

हरिप्रिया के उक्त चरणों में 'सेना', 'अबलानि' तथा 'भरहराई' के होने से मात्रान्यूनता का दोष मिट जाता है।

**पद ३९४६—नव बादर बानैत, पवन ता|जी चढ़ि चुटक दिखायौ।**

**पद ३९६९—याही तें श्याम अकास देखियत,**

**मानौ धूम रह्यौ लपटाई।**

यहाँ प्रथम खंड में दो मात्राओं का आधिक्य है। या तो 'याही' की जगह 'यहि' कर के या 'याही' को द्विमात्रिक मान कर इसका निराकरण किया जा सकता है।

**पद ४०२७—करिहौं मोहन कहूँ सँभारि (अब) गोकुल-जन-रखवारे।**

यहाँ 'कहुँ सँभारि अब' होना चाहिये।

**पद ४०४९—सालोकता समीपता सारूपता, भुज चारि।**

गीता के इस चरण में 'समीपता' की जगह 'समीप्यता' रख कर गति-भंग दोष दूर किया जा सकता है। कवि ने 'सायुज्यता' शब्द का प्रयोग इस पंक्ति के बाद ही किया है—इक रही सायुज्यता सो। आश्चर्य है, सायुज्यता का प्रयोग करने वाला कवि सामीप्यता का नहीं समीपता का प्रयोग कर छन्दो-दोष कर बैठे।

**पद ४१३१—पवन सधावन, भवन छुड़ावन, रवन रसाल गोपाल पायौ।**

समानसवैये के इस चरण के उत्तरार्द्ध में प्रवाह शिथिल है। अर्थ की दृष्टि से भी संगत प्रतीत नहीं होता। 'पवन सधावन, भवन छुड़ावन' एक योगी आया है, जिसने रसाल गोपाल रमण को छुड़ा दिया। यदि यह अर्थ लिया जाय तो 'पायौ' की जगह 'छुड़ायौ' होना चाहिये। 'गो' का लघु रूप में उच्चारण करने से चरण निर्दोष हो जाता है।

**पद ४१७६—कोटि बारिज बक्र नैन क|टाच्छ कोटिक बान।**

यहाँ यति-दोष स्पष्ट है।

**पद ४२०२—हृदय विद्या, ज्ञान, धर्म सु|लोचननि अभिलाषि।**

यहाँ भी वही दोष है।

**पद ४२०७—नखसिख कमलनैन की सोभा, एक भृगु लता बाँचे।**

यहाँ 'एक लात भृगु बाँचे' 'भृगू लात इक बाँचे' ही मूल पाठ होगा। असावधानी से पाठ अस्तव्यस्त हो गया है।

**पद ४२३१—नंद-नँदन के बिछुरे (जग में) कहि कौनें सचु पायौ।**

यहाँ छन्दोरक्षा के लिगे 'जग में' होना चाहिये।

**पद ४२६३—विरह अनंग अनल तन दाहत, को या परिहि जाने।**

यहाँ भूल से 'परिहरि' की जगह 'परिंहि' छप गया है।

**पद ४३५७—सुरति जब होत है वह बात।**

यहाँ वस्तुतः दोष नहीं है। पीछे पद ३५६५ और 'गोपी' छन्द के अन्तर्गत इस पर प्रकाश डाला गया है।[1]

**पद ४४२१—बात तिहारी कौ (न) सुनैं।**

इस छन्दक में 'कौ' की जगह 'कौन' होना चाहिये।

**पद ४४६६—तरत स्याम सौं इहाँ री।**

सार के इस उत्तरांश में 'इहाँ' की जगह 'ह्याँ' होना चाहिये।

**पद ४४७०—कहा किए वै जतन।**

सार के इस उत्तरांश मे 'जतनन' होना चाहिये। 'जतन' के बहुवचन हो जाने से अर्थ को किसी प्रकार का आघात नहीं लगता।

**पद ४४७१—मित्र-द्रोह न भलाई।**

सार के इस उत्तरांश में गति-भंग दोष है। यहाँ भी मम्मट का वही 'लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्' चरितार्थ होता है।

पद ४४८५—इसके दोषों के संबंध में हम पीछे लिख आये हैं।[2]

**पद ४५७१—सगुन मूरति नंद नँदन।**

यहाँ कुण्डल के षष्ठकाधार के लिये 'मूरति' की जगह 'मूर्त्ति' चाहिये।

**पद ४५६२—वै गोपाल कहाँ गए, मेरे मन को चोर।**

यहाँ दोहे के विषम चरण में गणव्यवस्था ( ४+४+३+२ ) के

---

[1]पीछे छन्दक के छन्द : गोपी। [2]पीछे अरुणजयी छन्द, पृ० २६५।

ठीक होते हुए भी दोहे का प्रकृत प्रवाह नहीं। 'कहाँ गए गोपाल वै' से पंक्ति लय-पूर्ण हो जाती है।

**पद ४५७५—विरचि मन बहुरि राँचौ आइ।**

ऐसी पंक्तियों के संबंध में पीछे कहा जा चुका है।

**पद ४६६६—तौ वचन एक (पुनि) हमहिं दीजे।**

हंसाल के इस उत्तरार्द्ध में 'पुनि' होना चाहिये।

**पद ४७२५—छुटी छुद्रावलि चरन अरु|झी गिरी बल-हीन।**

**पद ४७४५—अबलनि सों न कहीं परैं जु पै।**

सरसी के इस पूर्वार्द्ध में गति-भंग-दोष है। 'अबलनि सौं नहिं कही परैं जु पै' होने से पंक्ति लय-पूर्ण हो जाती है।

**पद ४७५१—कहौ तौ सब जुवतिन के नाम कहौं।**

सार के इस पूर्वार्द्ध में मात्राधिक्य तथा क्रम-विपर्यय के कारण गति-भंग है। 'कहौं तौ नाम कहौं जुवतिन के' होने से दोष दूर हो जाता है।

**पद ४७७६—सुनि जरासंध वृत्तांत सुता वदन तें।**

हंसाल के पूर्वार्द्ध की लय-रक्षा 'सुता' को द्विमात्रिक मान कर या निम्न पाठ से की जा सकती है—

**सुनि जरासंध वृत्तांत मुख सुता के।**

**पद ४७८४—हरि हरि हरि (हरि) सुमिरन करौ।**

यहाँ एक 'हरि' छूट गया है।

**पद ४८०१—दीनबंधु कृपा सिंधु करुना करन।**

पंचकाधार तथा मात्रा पूर्त्ति दोनों के लिये यहाँ 'बंधू' होना चाहिये।

पद ४८०४—इस पद के दोषों का उल्लेख पीछे हो चुका है।[1]

**पद ४८२८—मैं करता मैं भोगता, नहिं यामें कछु सन्देह।**

यहाँ या तो, 'कछु' को हटाना पड़ेगा, या इसे दोहकीय मानना पड़ेगा।

**पद ४८३१—दीनबंधु दयासिंधु असरन सरन।**

यहाँ भी 'बंधू' होना चाहिये।

पद ४८३९—'प्रद्युम्न सात्यकी' होना चाहिये 'सात्यकि' नहीं।

**अगिन कवहूं कबहुँ—होना चाहिये—कबहुँ कबहुँ नहीं।**

**चलौ रनभूमि अब (तुरत) जैये। यहाँ 'तुरत' छूट गया है।**

---

[1]पीछे-चौपाई + उपवदनक + गीतिका + हरिगीतिका।

**पद ४८४३—काहै कत रहत कृस गात।**

यहाँ 'कत' की जगह 'कतक' होना चाहिये। 'कत' के अर्थ में 'कतक' का प्रयोग नंददास ने किया है—'बिन पूछे ही धर्म कतक कहिये दहिये हिय'।[1]

**पद ४८७७—जौ पै लै जाइ कोउ मोहि।**

रूपमाला के इस पूर्वार्द्ध में शब्द-विपर्यय के कारण गति नहीं आ सकी है। इसका शुद्ध पाठ यों होना चाहिये—कोउ मोहि लै जाइ जो पै।

**पद ४८६१—रुकमिनि चलौ जन्म भूमि जाँहि।**

यहाँ 'भूमि' की जगह 'भू' होना चाहिये।

**पद ४६३४—प्रजा न धर्म रत होइ न कोइ।**

यहाँ 'प्रजा' के बाद 'न' भूल से छप गया है।

## परिशिष्ट

**पद ३—छूटी तेज विज्जु-रासि (सी) वह [मानौं] भूतल बंधु पर्यो।**

यहाँ 'रासी' होना चाहिये। 'मानौं' व्यर्थ है।

**पद ७—गोप कहत हैं नन्द सौं (हो) सदा बसौं ब्रजराइ।**

दोहकीय के लिए अन्य चरणों की तरह यहाँ 'हो' होना चाहिये।

**पद ३०—सूर [दास] करत (नित) पुन्य पुंज सब**
**चरन ललित अहि (निसि) (मृदु) बोलनि।**

बड़े कोष्ठक के शब्द को हटाने और छोटे कोष्ठक के शब्दों को रख देने से चरण दोष-रहित हो जायगा।

**पद ३७—मातु पिता बिसरि गए बिसरे बाल [क] वीर।**
**सूरदास मदन मोहन जानत [हौं] पर पीर।**

कोष्ठान्तर्गत शब्द-शब्दांश को हटा देने से ये दोनों प्रणय के निर्दोष चरण हो जायँगे।

**पद ४०—हौं गई बछरा मिलावन स्याम ने बान मारी।**

सार की इस पंक्ति में ४ मात्राओं की कमी है। इसका शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

**हौं सखि बछरा गई मिलावन बान स्याम ने मारी।**

---

[1] भाषा-शब्द-कोश : सं० डॉ० राम शंकर शुक्ल 'रसाल', पृ० ३८२।

**पद ४५—कंकन किंकिन नूपुर रव जुव | ती जन मोद बढ़ावै री।**

**पद ५७—मनु सेना संग्राम मध्य तें प्रीति (दान) दै जाइ बहोरी।**

मात्रापूर्त्यर्थ यहाँ 'दान' जैसे किसी शब्द का होना आवश्यक है।

**पद ५९—क्रीड़त कालिंदी (दि) कूल (किनारे) [में तहाँ]**
**कोमल मलय समीरे।**

× × ×

**मालति मिलत सरिता (त) जल सूर (ज) (मृदु)**
**प्रतिकृत अभिसेखे।**

सार की उक्त दोनों पंक्तियाँ कोष्ठक के शब्दों के सहारे दोष-रहित हो जाती हैं।

**पद ६०—अंबुज खंजन (मीन) मधुप मिलि**

यहाँ 'मीन' होना चाहिये।

**हेमलता तमाल गहि द्वै फल मानों देत अँकोर।**

सरसी के इस चरण में मात्राएँ ठीक हैं। तमाल ( जगण ।S। ) के बाद त्रिकल नहीं आने से गति-भंग है। इसका शुद्ध पाठ निम्नलिखित होना चाहिये—

**कंचन लता तमाल गही द्वै फल मनु देत अँकोर।**

**कनक लता (पर) नीलम राजत।**

यहाँ 'पर' होना चाहिये।

**पद ६३—उठाँव की डोरी कैसे बाँधौं जबोदै भव-बध तोरें।**

प्रारंभ में जगण गति का बाधक है। 'डोरी कैसे बाँधौं उठाव की' होने से गति आ जाती है। 'जबोदै' का अर्थ 'ब्रजभाषा सूर-कोश' में भी नहीं है। संभव है, किसी अन्य शब्द के बदले यह शब्द आकर बैठ गया हो।

**पद ७३—मृग रिपु लंक, तासु रिपु गज(है) ता ऊपर मधु के लिठनी री।**
**कीर कपोत मधुप पिक तंबा (ता पर) रिपु सत रेख बनी री।**
**उड्डपति बिंब धरे अति सोभा, सुर बाला (कर) जोरि चिनी री।**

कोष्ठक में दिये हुए शब्दों द्वारा इन पंक्तियों का गति-शैथिल्य दूर किया जा सकता है।

'उमापति—रिपु' में 'पति' की जगह 'पती' अथवा 'रमन' होना चाहिये।

**पद ७६—आली री पीरी यह भई है निकसि ठाढ़ि**
**भई द्वार कुंज ऐन के।**

**नथ खेंच्यों वदन निरखत ही जी में जान्यौं**
**चन्द्रमा धोखे रैन के ।**

मनहरण की उक्त दोनों पंक्तियाँ असावधानी के कारण अस्त-व्यस्त हो गई हैं । इनका शुद्ध पाठ यों होना चाहिये—

**आली, भई पीरी जब, निकसि कै ठाढ़ि भई**
**द्ववार कुंज ऐन के । (छन्दक—२३ वर्ण)**
**नथ खेंच्यों वदन निरखत ही नँदलाल,**
**जी में जान्यों चन्द्रमा है तातें धोखे रैन के ।**

शेष दोनों पंक्तियाँ प्रायः ठीक हैं । केवल तीसरी पंक्ति में 'आधौ बिदुति आधीं' में 'विदुति' के स्थान पर 'बिदु दुति' रखने से तथा चौथी में 'मदन मोहन पीय' को हटा देने से ये दोनों पंक्तियाँ निर्दोष हो जायँगी ।

**पद ८७—नव कत दामिनि पद (पद) प्रगटित ।**

यहाँ एक 'पद' और चाहिये ।

**पद ८८—सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौ ये लोचन कबहुँ (हूं) (न) अघाए ।**

तीसरे संस्करण में 'न' रख कर थोड़ा तो सुधारा किंतु त्रुटि रह ही गई । यहाँ 'कबहुँ' की जगह 'कबहूँ' होना चाहिये ।

**पद ९५—समुद कुमुद (अरु) कमल मलिन ।**

यहाँ 'अरु' होना चाहिये ।

**कुटिल तमकरी चढ़े हैं रथन ।**

यहाँ तमीकर ( चन्द्रमा ) की जगह 'तमकरी' छप गया है । 'है' व्यर्थ है ।

पद १०६—प्रस्तुत पद की कतिपय पंक्तियाँ असावधानी के कारण अस्त-व्यस्त हो गई हैं । निम्न रूप में उनका सुधार आसानी से हो जाता है—

**पावस (सु) काल गुपाल गोकुल । (गीता का पूर्वांश)**
**सावन (सु) मास हिंडोरना पिय । (गीता का पूर्वांश)**
**गावत गुन (नि) गोपाल कहि-कहि । (गीता का पूर्वांश)**
**रमकत रहत हि (हिं) डोरना पिय । (गीता का पूर्वांश)**
**राधिका अंगर सीस तें खसि गहि रही अंचल दाँत ।**
**=राधिका खसि सीस तें गहि (रूपमाला का पूर्वांश)**

('अंगर' शब्द ब्रजभाषा सूर-कोश में प्राप्त नहीं)

**बेनी भुजंगम भेद निरखि मुरि-मुरि मुसकात।**

यहाँ 'निरखी' या 'लखि कै' और 'मूरि मूरि मुसकात' होना चाहिये।

**नील कंचुकी (कि) पीत (पट) उन।**

वही [होति] बृजपति राय सौं हँसि हिलकिह (हं) ति कुमारि :

पद १०८— इस पद की अधिकांश पंक्तियों में मात्राधिक्य है, जिसने प्रकृत गति को कंठित कर दिया है।

**मदन मोहन जू कै मदन सदन ही।**

'मो' का ह्रस्वोच्चारण करने तथा 'जू' को हटा देने से पंक्ति ठीक हो जाती है।

**झूमक नाचति देवगिरि गावति।**

'देवगिरि' की जगह सुरगिरि रखा जा सकता है।

**पहिरि पहिरि सुही सुरंग सारी=पहिर सुही कौसुंभी सारी।**
**[नील] लहंगा [लाल] चोली कसि (करि) केसरि**
**उवटि सिंगार बनाई हो।**

**[नंद] लाल सौं प्रीति लगाई हो।**
**चकोर प्रेम रस धाई हो।** 'को' का लघूच्चारण।
**कंठ बैजंती कमल प्रसाई हो।**

में 'कमल' व्यर्थ है। बैजंती के बाद कंठ होना चाहिये।

**[मनु] रवि-परकास कराई हो।**
**देख [कोटि] अनंग लजाई हो।**
**है खंभ कंचन के सुमनोहर=कंचन के हैं खंभ मनोहर।**
**विसकर्मा सुतहार [सुतिधारी] (सूत्रधर)**
**फटिक सिंहासन मध्य राख्यौ है नव रत्न मनि सजाई हो**
**=फटिक सिंहासन मौ राख्यौ है मनि नव रत्न सजाई हो।**
**मरुव मयार पिरोजा [लाल] लटकें।**
**जैसी हरी (रि) हरी (रि) भू [मि] हुलसावनि।**
**तैसिये नान्ही नान्ही बूंद वारि बारि वरषे**
**मेघवा मधुर गरजाई हो।**
**=तैसिय नान्हीं बूंदवा बरखे मेघ मधुर गरजाई हो।**

**[सखि] स्यामा स्याम रमत बृन्दाबन ।**

**सुक सारदा सेस नारदादि=सुक सारद नारद सेषादिक ।**

उपर्युक्त रीति से ये दोषयुक्त चरण निर्दोष हो जाते हैं। ऐसी अस्तव्यस्तता सूरदास के इने-गिने पदों में ही मिलती है। इनके सूर-कृत होने में सन्देह के लिए पूरा स्थान है। उनके द्वारा ऐसे दूषित पदों का लिखा जाना संभव प्रतीत नहीं होता।

पद ११०—**नीले नीले बादर असाढ़ सावन के**

**=नील नील बादर सावन के ।**

पद ११६—रूपघाक्षरी में निबद्ध यह पद भी अस्त-व्यस्त है। इसकी चौथी पंक्ति एकदम निर्दोष है। तीसरी पंक्ति में 'ब्रज की बाम' की जगह 'ब्रज की सकल बाम' होने से वर्णपूर्त्ति हो जाती है। पहली दो पंक्तियों का सुधार निम्न-रूप में हो सकता है—

**ओल्डर आइ हो | घन घटा, हिंडोरे (पै)**

**झूलत है स्यामा स्याम । (२२ वर्ण । छन्दक)**

**कंचन [खंभ] जरित डाड़ी | पटुली धरनोखारी |**

**पीत [बसन] (पट) फहरात [भृकुटी] (भौंह)**

**जितै कोटि काम ।**

पद १२४—इस पद के दोषों पर पीछे विचार हो चुका है।[1]

पद १२८—**नव जुवति दल पेलौ ।**

यहाँ 'जुवति' की जगह 'जुबती' होना चाहिये।

पद १३०—**मोहन बँसिया बजावै ।**

दोहे के इस विषम चरण का गण-क्रम ठीक नहीं। इसे 'बँसुरि बजावै मोहना' होना चाहिये।

पद १३४—**रवि तनया को सलिल गँभीर, आवहु रे मिलि न्हाइयै ।**

इसे मरहटामाधवी का चरण मानें, तो 'गँभीर' को 'गँभीरा' होना चाहिये। यदि छन्दक मान कर इसी रूप में रहने दें, तो इसका निर्माण चौपई (१५ मा०) और चण्डिका (१३ मा०) के चरणों के योग से मानना पड़ेगा।

पद १५४—**नतरु मधुवन उड़ि जाते ।**

यहाँ एक मात्रा अधिक है।

---

[1] पीछे मदनहर छन्द ।

**पद १८०—ऊधौ हरि [जू] हित जमाइ।**

कुण्डल के इस पूर्वांश में 'जू' व्यर्थ है।

**सूर सुमति सुन्दरी कुम्हि|लाने मुख सरोज।**

प्रणय की इस पंक्ति में यति-दोष माना जा सकता है।

**पद १८३—सूरदास नागर नारि निकट**

सार के इस पूर्वांश में 'नारी ढिग' होना चाहिये।

**पद १८७—स्याम बिसासी के सँग तुमहूं, ह्वै गई भूल।**

**=स्याम बिसासी के सँग तुम तैं ह्वै न गई कह भूल।**

**पद १९०—उपजी जब दंपति, बा|सना धाम बाँचे।**

**पद १९५—मुख छवि ससि अरु चंचलता हय, [दृग]**
**वचन सुधा गज गौन।**

यहाँ 'दृग' की विशेष आवश्यकता नहीं। यदि आवश्यकता हो, तो "अरु' को हटा कर पंक्ति निर्दोष की जा सकती है।

**पद २०७—सूरदास प्रभु अधिक चतुर जय (जय) जय जय श्री नंद दुलारे।**

यहाँ एक 'जय' और चाहिये।

**पद २१०—बाजै वर कौन सुने [यातें] मगन भए सुर नर मुनि**
**रुद्र जु कौ ध्यान छुब्यौ परवती गुन लाई री।**

हरिवल्लभा के उक्त चरण में चार मात्राएँ अधिक हैं। 'यातें' को हटा कर यह दोष दूर किया जा सकता है।

**पद २१२—गृह अंगना न सुहाइ मेरी सजनी।**

'गृहँऽगना' रख कर एक मात्रा का आधिक्य तो दूर किया जा सकता है, किंतु मध्यस्थित जगण ( सुहाइ ) पंक्ति को लयपूर्ण नहीं होने देता।

**पद २१४—सूरदास प्रभु [की] लीला निगम नेति गाई री।**

सारस की उक्त पंक्ति में 'की' को हटा देने से मात्राधिक्य-दोष दूर हो जाता है।

**पद २१५—मुनि आधी सो रात मोहन मुरलि बजावै।**

यदि इसे सार की पंक्ति मानें, तो पूर्वांश में स्पष्टतः पाँच मात्राओं की कमी है। अहीर और महानुभाव के चरणों को एक इकाई मान लेने पर यह निर्दोष हो जाती है।

**पद २२१—कर अंबुज मैं बास सदाई [जोको] छन-छन पियति**
**अधर मधु रसु री।**

समानसवैये के इस चरण में 'जोको' को हटा देने से मात्राएँ ठीक हो जाती हैं।

**पद २२३—सुनि स्रवननि भवननि रहि सकी न।**

में गति-भंग है। 'न सकी रहि' हो जाने से गति आ जाती है।

**पद २२६—मोहन मुख देखत ही देखत छिनु (क) होति हित हानि।**

यहाँ 'छिनुक' होना चाहिये।

**पद २३६—सूर(ज) श्री गुपाल-मुख निरखत।**

यहाँ 'सूरज' होना चाहिये।

**पद २४२—मुकता पति कपोत कोककर।**

यहाँ 'पाँति' की जगह 'पति' छप गया है।

**हिरदय तें न टरै कुंज बिहारी चारु गवने निसेस।**

**—हिय तें टरै न कुंजबिहारी गवने चारु निसेस।**

**सूरदास (प्रभु) लीला सागर।**

में 'प्रभु' होना चाहिये।

**पद २५६—चोट सरासन भौं[ह] सायक दृग।**

**वेध्यौ विदित चपल पलकनि (सौं) अलकनि**

**फँ(फाँ)स निसंस चली ढिग।**

**सुनि सुंदरि (तो को) सरि को जग।**

**[धरि] करि करुना तव भूषण को नग।**

बड़े कोष्ठक के शब्दों को हटा कर और छोटे कोष्ठक के शब्दों को रख कर उपरिलिखित पंक्तियाँ ठीक की जा सकती हैं।

**पद २६६—चलि बलि फिरि चित (वन) दै मन,**

**दै मन उर की गई री।**

'वन' को कोष्ठक के अंदर संपादक ने रखा है। इसका शुद्ध पाठ यों होना चाहिए—

**चलि बलि फिरि चितवन दै, मन दै उर की लाज गई री।**

**पद २६७—नाक की बेसरि में मोती।**

में 'नाक' की जगह 'नासा' चाहिये।

**फबत फूँदन रूर।**

में 'फूँदना' होना चाहिये।

**पद २७०—सूरदासप्रभु नंदलला की बनी [है] छबीली जोरी।**

यहाँ 'है' की आवश्यकता नहीं।

## साहित्य-लहरी

**पद ३९—चमक नाँनै चलत चहुँदिस कहत अमृत बोल।**

यहाँ 'अमृत' का प्रयोग चतुर्मात्रिक रूप में हुआ है।

**पद ४१—सूरदास अधिक का कहिये।**

यहाँ 'सूरजदास' होना चाहिये।

**पद ४५—सारंगिन दै दोष 'सूर' वय|घातिन समझ न भूलौ।**

**पद ७१—द्वुतीय सुरमिलि सुता तृती हित।**

यहाँ प्रारंभ में जगण का प्रयोग गति-शैथिल्य का कारण है।

**पद ७२—चपला औ वराह रस आखर।**

इस चरणांश की गति प्रतिहत-सी प्रतीत होती है। इसका कारण वराह जैसे जगणात्मक पद का प्रयोग है। मम्मट के अनुसार यहाँ 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' कहा जा सकता है। यदि यह चरणांश 'चपला औव राह रस आखर' इस रूप में पढ़ा जाय, तो इसमें प्रवाह आ जाता है।

**पद ७३—छूटे दिन, दुआर के बैरी।** के साथ भी वही बात है।

**पद ७५—धनुष और सर धार।**

रूपमाला के उक्त उत्तरांश में 'और' की जगह 'औ' होना चाहिये। डॉ० मनमोहन गौतम वाली प्रति में 'औ' ही है।[1]

**लगे फरकन अंतरिच्छ अ|नूप नीतन रंग :**

यहाँ यति-दोष स्पष्ट है।

**पद ८३—मासन में सिंगार रस सोभित।**

में भी मम्मट का उक्त कथन चरितार्थ होता है।

**लै निषेद दास निज कर तें।**

में छन्दोरक्षार्थ 'नि' का दीर्घोच्चारण मानना पड़ेगा।

**पद ९१—नृत्तकार उत्तम बनाउ, बा | निक सँग चन्द्र न आवै।**

**पद ९७—सुधागेह में करि [की] सोभा सारंग रिपु सीस बनैहै।**

इस चरण में दो मात्राएँ अधिक हैं। 'की' को हटा देने से दोष का परिहार हो जाता है।

---

[1] **साहित्य-लहरी : सं० मनमोहन गौतम, पद ७५, पृ० ११८।**

**पद १०५—सूर रसवत देखिये नँद|नंद जीवन मूर।**

सामासिक शब्दों के पूर्व-पद और उत्तरपद में विभक्त होने पर आचार्यों ने यति-दोष नहीं माना है।[1]

**पद १०६—धातु देस विचार कर विप|रीत पहलै जोर।**

**पद १०८—त्रितिय रिच्छ सुकर्म जोग वि|चारि सूर नवीन।**

यहाँ यति-दोष स्पष्ट है।

## परिशिष्ट

**पद ३—दिवस पति सुत मात बौध वि|चार प्रथम मिलाइ।**

यहाँ स्पष्टतः यति-दोष है।

**पद ८—खचर खिलौना हित सिंगार जं|गमन सूरू(रु)प लै धारै।**

'सरूप' को 'सरुप' करने पर मात्राधिक्य का दोष दूर हो जाता है।

**पद १०—इन्द्र उपवन इन्द्र अरि, दनु|जेन्द्र इष्ट सहाइ।**

सूरसाहित्य में प्राप्त दोषों के इस दिग्दर्शन के बाद हम सामान्यतया जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, वे निम्नलिखित हैं:—

सूरसाहित्य में पाये जाने वाले दोष तीन प्रकार के हैं—

(क) सूरसागर में पाई जाने वाली अनेक त्रुटियाँ प्रेस की असावधानी के फल हैं। अनेक का सुधार तृतीय संस्करण में हो गया है, अनेक अभी बची हुई हैं। तृतीय संस्करण में ऐसी त्रुटियाँ भी मिलती हैं, जिनका अस्तितव दूसरे संस्करण में नहीं है।

(ख) त्रुटियों की बहुत बड़ी संख्या का संबंध लिपि-कर्त्ता के प्रमाद और छन्दोविषयक अज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। लिपिकर्त्ता द्वारा अपनी ओर से कुछ लिख देने या जोड़ देने की भारतीय मनोवृत्ति के शिकार प्राचीन ग्रंथ बराबर होते आये हैं। ऐसी स्थिति में पद्यग्रंथों के सम्पादन के समय संपादकों को केवल उपलब्ध प्राचीन प्रतियों के बल पर ही काम करना नहीं है। आज उन्हें अपने छन्दोविषयक ज्ञान का भी सहारा लेना है। हाँ, ऐसा करते हुए उन्हें कवि की भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति को विस्मृत नहीं कर देना है। सभा

---

[1]लुप्तविभक्तिकपदमिति समासपदमुच्यते यथा तत्र यतिः।—

—जयकीर्ति छंदोनुशासनम् १।११।

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला|विप्रयुक्तः स कामी।—मेघदूत श्लोक २।

से प्रकाशित सूरसागर के संपादक ने अवश्य इस बात पर ध्यान रखा है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। किन्तु, अब भी उसमें छन्दोविषयक अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं, जिनका सुधार बहुत आसानी से हो सकता है। ऊपर की पंक्तियों में हमने ऐसा ही प्रयास किया है। हर्ष की बात है कि प्रभुदयाल मीतल ने साहित्य-लहरी के संपादन में इस बात पर अधिक ध्यान रखा है। उनकी साहित्य-लहरी की कतिपय पंक्तियों का मिलान डॉ० मनमोहन गौतम की प्रति से करने से हमारे कथन की पुष्टि हो जायगी।

| मीतल की प्रति | गौतम की प्रति |
|---|---|
| पद ५५, बोल न बोलो ए ब्रजचंद | बोल न बोलिये बृजचंद। |
| पद ६६, हौं अलि! कितने जतन बिचारौ | हौं अलि केतने जतन बिचारौ। |
| पद ७१, दुतीय सुर मिलि सुता तृती हित | दुतीय सुर मिलि सुता तृति हित। |
| पद ७८, आज नँदनंदन सजनी देख | आज चरित नन्द नन्दन सजनो देख। |
| पद ८१, जलज नीत हौं आज निहारे | जलज नीतन हौं आज निहारो। |

छन्दोदृष्टि से मीतल की सारी पंक्तियाँ निर्दोष हैं, और गौतम की दोषयुक्त। प्राचीन प्रतियों (जिनका हवाला मीतल ने स्वयं दिया है) के विपरीत नया पाठ देने का आधार सिवा छन्दःशुद्धि के और क्या हो सकता है? इसी आधार को ग्रहण करने के कारण उनके द्वारा संपादित साहित्य-लहरी में इस प्रकार की छन्दोगत त्रुटियाँ प्रायः नहीं पाई जातीं।

(ग) तीसरे प्रकार के दोष कवि-कृत हैं। इन दोषों में पहला गति-भंग है, जिससे कतिपय पंक्तियाँ ग्रस्त हैं। कतिपय पंक्तियों से हमारा अभिप्राय उन पंक्तियों से है, जो मम्मट के 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' के उदाहरण-रूप में रखी गई हैं।[१] मात्राओं की घट-बढ़ वाली पंक्तियों का संबंध हम उतना कवि से नहीं मानते, जितना लिपिकारों से। इसके अतिरिक्त भी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं, जिनमें लिखित रूप में पढ़े जाने पर विद्वानों को गति-भंग होता दिखलाई पड़ता है।[२] यह सही है; किंतु, जब हम जानते हैं कि ब्रजभाषा-काव्य में गुरु को

---

[१]इसी अध्याय के अन्तर्गत उद्धृत पंक्तियाँ।

[२]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७।

लघु मानने या पढ़ने की छूट है, तो उन पंक्तियों का पाठ हम खड़ी-बोली के ढंग पर नहीं कर के ब्रजभाषा-प्रणाली के अनुसार ही करेंगे और जब लय के अनुसार गुरु का लघूच्चारण होगा, तो उन पंक्तियों में गति-भंग होता दिखाई नहीं पड़ेगा।

गति-भंग के अतिरिक्त कतिपय पंक्तियाँ यति-भंग दोष से ग्रस्त हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है—सावधानी से चुने हुए उदाहरणों में भी यति-भंग दोष तो प्रायः किसी भी छन्द में सरलता से मिल सकता है।[1] पता नहीं, डॉ० साहब इस वाक्य से क्या कहना चाहते हैं ? यति-दोष से उनका तात्पर्य कहीं उसी गति-दोष से तो नहीं है, जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। हमें तो बहुत कम ऐसे पद मिले, जिनमें यति-दोष प्राप्त होता है। ऐसे पदों और पंक्तियों का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। यति-दोष भी दो प्रकार के हैं—

(क) सम्पूर्ण पद ( शब्द ) से केवल एक लघु का कट कर चरण के पूर्वार्द्ध में आना। जैसे—

**उठो नँदलाल भयो भिनसार ज|गावति नँद की रानी।**[2]

(ख) सम्पूर्ण पद (शब्द) से एक दीर्घ (दो लघु) अथवा अर्द्धांश का कट कर पूर्वार्द्ध में आना। जैसे—

**चित्त चातक प्रेमघन लो|चन चकोरनि चंद।**[3]

**जर सहित अरराय कै आ|घात शब्द सुनाइ।**[4]

इन दोनों प्रकार के यति दोषों में वास्तव में पहला ही दोष में परिगणित होना चाहिये। दूसरे प्रकार का यति-दोष प्राचीन आचार्यों के मतानुसार दोष अवश्य है; किंतु, इसे दोष मानना इसलिये ठीक नहीं, कि ऐसी पंक्तियाँ पाठकों को उद्वेगजनक नहीं प्रतीत होतीं। इसीलिये आधुनिक छन्दःशास्त्री ऐसे स्थलों पर दोष नहीं देखकर मनोहारी विविधता (Variation) पाते हैं। यह वेरियेशन एक प्रकार की अनियमितता ही है। अंग्रेजी भाषा के पद्य के आधार दीर्घ (Accented) और लघु (Unaccented) शब्दांशों (Syllables) से बने हुए Iambus ( ।ऽ ), Trochee ( ऽ। ), Dactyl ( ऽ।। ), Anapaest ( ।।ऽ ), Amphibrach ( ।ऽ। ) ये पाँच पर्व (foot) हैं। एक चरण (line) में प्रायः एक ही पर्व का प्रयोग कई बार होता है।

---

[1]सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७।    [2]सूरसागर : पद ८२६।

[3]सूरसागर : पद १२४५।    [4]सूरसागर : पद १००१।

किंतु, इन पर्वों के बीच दूसरे प्रकार के पर्व का समावेश भी अंग्रेजी भाषा में मान्य है। इसी अनियमितता (irregularity) को अंग्रेजी छन्दःशास्त्री Variation कहते हैं। यही Variation हिन्दी में मनोहारी विविधता कहा जाता है। यह अनियमितता या Variation अंग्रेजी कविता की बहुत बड़ी विशेषता है।[1] इस मनोहारी विविधता की उपयुक्तता डॉ० जानसन इसलिये मानते हैं कि लम्बी कविता में एक ही प्रकार के बलाघात (cadence) की सतत उपस्थिति हमें शीघ्र ही थका देती है।[2] कॉलरिज ने तो यहाँ तक कहा कि शब्दांशों की संख्या की यह अनियमितता न तो मनमाने रूप में और न केवल सुविधा के लिए बरती जाती है, प्रत्युत इसका संबंध भावना (Passion) और विम्ब (Imagery) की परिवर्तित प्रकृति से होता है।[3] अंग्रेजी

---

[1]These theoretic systems are in actual practice subject to continual variation, and that much of our English poetry, and especially of Modern English poetry, is characterised by great metrical irregularity. One of the simplest and most frequently occuring of all metrical phenomena is the substitution of another kind of foot for that which constitutes the basic principle of the verse.

—The Study of Literature, Hudson. p. 153.

[2]We are soon wearied with the perpetual recurrence of the same cadence. (Quoted in the Study of Literature, Hudson p. 153).

[3]This occasional variation in number of syllables is not introduced wantonly, or for the mere ends of convenience, but in correspondence with some transition in the nature of the imagery or passion.

Quoted in The Study of Literature : Hudson. p. 155.

कविताओं का आधार है बलाघात (Accent)[1] और हिन्दी कविताओं का मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या। इसलिये अंग्रेजी भाषा की-सी अनियमितता हिन्दी छन्दों में नहीं हो सकती। यति-विषयक जो किंचित् अनियमितता आचार्यों को दिखलाई पड़ी, उसे ही उन्होंने Variation मान लिया। यदि इस मनोहारी विविधता की बात हम मान लें, तो यति-दोष सूरसाहित्य में बहुत कम पाये जायँगे, क्योंकि उसमें दूसरे प्रकार के यति-दोषों का ही बाहुल्य है। पहले प्रकार के यति-दोषों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

इन यति-गति दोषों के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने छन्दोविषयक दो दोष और माने हैं—

(क) छन्द के आदि में दग्धाक्षर का प्रयोग।

(ख) छन्द के आदि में अशुभ गण का प्रयोग।

अशुभ अक्षर ही दग्धाक्षर कहे गये हैं। इन दग्धाक्षरों की चर्चा संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होती। आधुनिक संस्कृत छन्दःशास्त्र 'वाग्वल्लभ' में २० दग्धाक्षर माने गये हैं—

**झषहणथटठढञङलवदधपवर्गमित्येव।**
**अक्षरविंशतिरादिगा न हिता काव्येष्वेव।**
**अक्षराणाम् विंशतिः काव्येषु एव आदिगा सती हिता नैव भवति।**[2]

प्राकृत-अपभ्रंश के किसी छन्दःशास्त्र में भी इसकी चर्चा नहीं है। हिन्दी के प्राचीन छन्दःशास्त्रियों में सुखदेव ने 'वृत्तविचार'[3] में और जयदेव ने 'वृत्तार्णव'[4] में इसकी चर्चा की है। उनके बाद भानु ने इस विषय को फिर उठाया है। उनके अनुसार ङ, झ, ञ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष तथा ह ये १९ अक्षर दग्धाक्षर हैं। इस प्रकार भानु के यहां त दग्धाक्षर है, द और ध नहीं। इन १९ अक्षरों में भी झ, ह, र, भ और ष इन

---

[1] In English, the basis of metre is not quantity but accent.

—The Study of Literature : Hudson. p. 150.

[2] वाग्वल्लभ : दुःखभंजन कवि, पृ० ३५।

[3] और [4] मात्रिक छन्दों का विकास, डॉ० शिवनन्दन प्र०, पृ० ७७ और ८३।

पाँच अक्षरों को छन्द के आदि में रखना उन्होंने एकदम वर्जित माना है, क्योंकि ये वर्ण कर्ण-कटु होते हैं।

**दीजो भूलि न छन्द के, आदि झ ह र भ ष कोय।**

**दग्धाक्षर के दोष तें, छन्द दोषयुत होय।**[१]

इस दोष के परिहार का यह विधान है कि यदि ये दग्धाक्षर सुर या मंगल-वाची शब्द के प्रारंभ में हों, अथवा ये वर्ण गुरु हों, तो दग्धाक्षर का दोष नहीं होता।

**मंगल सुर वाचक शबद, गुरु होवे पुनि आदि।**

**दग्धाक्षर को दोष नहिं, अरु गण दोषहुँ वादि।**[२]

भानु के बाद सरस[३], दत्त[४], उपाध्याय[५], परमानन्द[६], तथा शुक्ल[७] ने इसकी चर्चा की है।

आठ वर्णिक गणों की उद्भावना तो पिंगलाचार्य ने ही की थी;[८] किन्तु, गणों के शुभाशुभ की बात उन्होंने नहीं कही। जयकीर्ति ने प्रत्येक गण का देवता तो निर्दिष्ट किया[९], पर उसके शुभ अथवा अशुभ फल की चर्चा नहीं की। गणों के शुभाशुभ फल का निर्देश सर्वप्रथम प्राकृत पैंगलकार ने किया।[१०] हिन्दी के लक्षणकारों में मुरलीधर[११], सुकदेव[१२], राय[१३], देव[१४], माखन[१५], भिखारीदास[१६], रामसहाय[१७], हरदेव दास[१८] तथा भानु[१९] ने शुभाशुभ गणों पर प्रकाश डाला है। भानु के बाद रघुनन्दन के अतिरिक्त सब ने इसकी यत्किंचित् चर्चा की है। इन आचार्यों के मतानुसार मगण, नगण, भगण और यगण शुभ हैं तथा जगण, रगण, सगण और तगण अशुभ।

---

[१]छन्दःप्रभाकर : पृ० ७–८। [२]छन्दःप्रभाकर : पृ० ८।
[३]सरस पिंगल, पृ० २०। [४]छन्दःचन्द्रिका, पृ० १०।
[५]नवीन पिंगल, पृ० ४४। [६]पिंगल पीयूष, पृ० ४२।
[७]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० १५१। [८]छन्दःशास्त्र, १।१–८।
[९]छन्दोनुशासन १।८, ९। [१०]प्रा० पैं० १।३६।
[११]से [१५]तक—मा० छं० का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० ६९, ७७, ८४, ८६, ८६।
[१६]छन्दार्णव—२।२२।
[१७]और [१८]मा० छं० का विकास, डॉ० शिवनन्दन, पृ० ९२, ९३।
[१९]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११०।

**मन भय सुखदा । जरसत दुखदा ।**
**अशुभ न धरिये । नर जु बरणिये ।**[1]

इन अशुभ गणों का प्रयोग नर-काव्य के आदि में नहीं होना चाहिये । यदि कोई अशुभ गण आ जाय, तो उसके पश्चात् एक दूसरा शुभ गण रख कर दोष का परिहार किया जा सकता है । साथ ही देवतावाची एवं मंगलवाची शब्दों में, देव-कथा के प्रसंग में तथा वर्ण-वृत्तों में गणों के शुभाशुभ का विचार नहीं किया जाता है । गणों के शुभाशुभ का विचार केवल मात्रिक छन्दों में ही होता है ।[2]

सूरदास का काव्य नर-काव्य नहीं, वह तो परब्रह्म परमात्मा के सगुण-रूप का लीला-काव्य है । अतः वहाँ आचार्यों के मतानुसार न तो दग्धाक्षर का ही दखल है और न अशुभ गण का ही । इस प्रकार इन दोषों की बात ही वहाँ नहीं उठती । फिर भी सूरसाहित्य को इस दृष्टि से देख लेना अप्रासंगिक नहीं होगा । सूरदास के तीन काव्यों का प्रारंभ इस प्रकार होता है—

**चरणकमल बंदौं हरि-राइ ।** (सूरसागर)
**राधे कियौ कौन सुभाव ।** (साहित्यलहरी)
**बंदौं श्री हरि-पद सुखदाई ।** (सारावली)

पहली पंक्ति में वर्ण और नगण दोनों शुभ हैं । दूसरी पंक्ति में वर्ण और तगण दोनों अशुभ हैं, किन्तु वर्ण के दीर्घ और शब्द के देवतावाची होने से दोनों दोषों का परिहार हो जाता है । तीसरी पंक्ति में मगण तो शुभ है, पर वर्ण अशुभ है । वर्ण के दीर्घ होने के कारण दग्धाक्षर दोष समाप्त हो जाता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन दग्धाक्षरों और अशुभ गणों का प्रयोग क्या केवल काव्य के प्रारंभ में ही वर्जित है ? अन्यत्र इनका प्रयोग हो सकता हैं या नहीं ? भानु ने इस संबंध में दो प्रमाण उद्धृत किये हैं—

(क) **ग्रंथस्यादौ कविना बोद्धव्यः सर्वथा यत्नात्—अन्यत्रापि ।**
(ख) **दुष्टा र स त जा यस्माद्धनादीनां विनाशकाः ।**
**काव्यस्यादौ न दातव्य इतिच्छन्दविदो जगुः ।**
**यदा दैववशादाद्यो गणो दुष्ट फलो भवेत् ।**
**तथा तद्दोष शांत्यर्थं शोध्यः स्यादपरोगणः ।**[3]

---

[1]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११० ।
[2]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११२ ।
[3]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११३ ।

'ग्रंथस्यादौ' तथा 'काव्यस्यादौ' के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि ग्रंथ के आदि में शुभ गण का प्रयोग होना चाहिये। 'अन्यत्रापि' पद से यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि ग्रंथारम्भ के अतिरिक्त प्रत्येक अध्याय के, प्रत्येक प्रसंग के तथा प्रत्येक मात्रिक छन्द के आरंभ में शुभ गण का प्रयोग होना चाहिये। भानु ने इस दूसरे नियम को अत्यन्त विस्तीर्ण तथा असाध्य मानकर रामचरितमानस के अन्दर ऐसे एक नहीं सैंकड़ों उदाहरणों के पाये जाने की बात कही है, जिनमें चौपाई या अन्य मात्रिक छन्दों के आदि में वर्जित गण प्रयुक्त हुए हैं।[१] रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' के मतानुसार शुभाशुभ गणों एवं दग्धाक्षरों का विचार मुक्तक काव्य में ही विशेष रूप से करना चाहिये। प्रबंध काव्य में केवल काव्य के प्रारंभिक छन्द या छन्दों में इनका विचार करना उचित है, और आगे नहीं।[२] डॉ० शुक्ल ने इतना ही लिखकर छोड़ दिया कि 'इन नियमों का ध्यान केवल प्रबंध काव्यों में ही नहीं रखना चाहिये, वरन् मुक्तक गीतों में भी इसका पालन अभीष्ट है।[३] प्रबंध काव्य में कहाँ-कहाँ इसका ध्यान रखना चाहिये, इस पर प्रकाश नहीं डाला। प्रबंध काव्य के सभी छन्दों (पद्यों) में इस नियम का पालन करना वस्तुतः दुःसाध्य है। हाँ, प्रत्येक सर्ग के प्रारंभ में इसका पालन किया जा सकता है। मुक्तक स्वयं एक प्रबंध है, अतः उसके निर्माण में इस नियम का पालन अभीष्ट हो सकता है।

सूरदास ने अपने सूर-सागर के द्वितीय से लेकर नवम स्कन्ध तक का प्रारम्भ—

**हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ।**

से किया है। 'ह' दग्धाक्षर तो है ही, लघु भी है। किन्तु, 'हरि' के सुरवाची होने से दोष का परिहार हो जाता है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—

**व्यास कह्यौ सुकदेव सौं, श्री भागवत बखानि।**

यहाँ 'व' दग्धाक्षर है। किन्तु, एक तो वह आधा है और 'य' के साथ मिलकर दीर्घ हो गया है, दूसरे यह उतना दोषावह नहीं, जितना झ ह र भ ष। भगण तो शुभ है ही। अतः यहाँ कोई दोष नहीं। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध के आदि में तो वर्ण और गण दोनों शुभ हैं। यथा—

---

[१]छन्दःप्रभाकर, पृ० ११३। [२]सरसपिंगल, पृ० २०।
[३]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० १५२।

**स्याम बलराम जब कंस मार्‌यौ।**

एकादश स्कंध की प्रारंभिक पंक्ति में—

**कैसे करि आवत स्याम इती।**

वर्ण तो शुभ है, किंतु गण (तगण) अशुभ है। इसके बाद का गण ( रि आव =जगण ) भी अशुभ है। इस दृष्टि से तो यहाँ दोष प्रत्यक्ष है; किंतु नर-काव्य नहीं होने से दोष का परिहार हो जाता है। द्वादश स्कंध का प्रारंभ भी 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ' से ही हुआ है।

सूरसाहित्य के प्रत्येक पद में दग्धाक्षरों और अशुभ गणों की खोज करना उतना दुःसाध्य नहीं, जितना निरर्थक है। क्योंकि नर-काव्य नहीं होने के कारण इसमें वे दोष लगते ही नहीं। दोष-दिग्दर्शन के प्रसंग में इसका सामान्य विवेचन केवल इसलिये कर दिया गया कि सूरसाहित्य की इस दृष्टि से भी यत्किंचित् परीक्षा हो जाय। इन दोषों के लिए आचार्यों ने पहले से ही कवियों को बहुत स्वतन्त्रता दे रखी है। केवल नर-काव्यों के लिए थोड़ा-सा बंधन रख छोड़ा है। फिर भी कवियों ने इसके लिये विशेष आग्रह कभी नहीं दिखलाया और आज के नर-काव्य लिखने वाले कवि तो उस बंधन को भी नहीं मानते। दग्धाक्षर और अशुभ गण का स्थापन वस्तुतः कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह पद्य-पाठ में कोई खास उद्वेग पैदा नहीं करता। यों शुभाक्षरों और शुभगणों को आदि में रखने का जो शास्त्रादेश है, उसका निर्वाह जहाँ तक हो सके, अच्छा ही है।

●

# छन्द और काव्यांग

## छन्द, भाव और रस

अन्य काव्यांगों की अपेक्षा छन्द का भाव के साथ सीधा संबंध है। साधारणतः मन के विकार को भाव कहते हैं। विकारो मानसो भावः।[1] इस भाव अथवा मनोविकार की व्यंजना मुँह से निकले हुए वचनों द्वारा ही होती है।[2] ये वचन हमारे मुख से मनोविकारों के अनुरूप ही निकलते हैं। हमारी चित्तवृत्ति जैसी रहती है, उसी के अनुरूप वाणी उठती-गिरती चलती है। व्यवहार-जगत् में हम वाणी की इस भंगिमा का अनुभव बराबर करते रहते हैं। अश्रु-विगलित वाणी जहाँ अपनी भंगिमा में मंथरगति से रुक-रुक कर चलती है, वहाँ प्रेम-हर्ष-गद्गद वचन त्वरित गति से नाचते-उछलते चलते हैं। यदि क्रोध और उत्साह के उद्गार उच्छ्वसित हो उबल पड़ते हैं, तो हास परिहास की उक्ति अपनी वक्रता में सीधे सरक जाती है। भय में हमारे केवल अंग-अंग ही नहीं काँप उठते, उस समय वाणी भी थरथराती-सिकुड़ती-सिमटती हुई प्रकट होती है। इसी प्रकार यदि आश्चर्य-मिश्रित वाणी चतुर्दिक दृष्टि-निक्षेप करती हुई, चौंकती हुई चलती है, तो निर्वेद का कथन धीर गति से चरण बढ़ाता हुआ चलता है। जुगुप्सा में भर कर हम केवल अपनी नाक-भौं ही नहीं सिकोड़ते, उस काल की उच्चरित वाणी भी चरण-विक्षेप करती हुई, झटका देती हुई निकलती है। यदि साधारण व्यक्ति की वाग्धारा भिन्न-भिन्न भावों में विशिष्ट भंगिमा के साथ चलती है, तो भावुक कवि की भारती में इस प्रकार की तरंग-भंगिमा का होना स्वाभाविक है। वाणी की यही तरंग-भंगिमा—यही चढ़ाव-उतार लय को जन्म देती है और यही बँधी हुई लयों का ढाँचा (Pattern) छन्द है। इस प्रकार छन्द का सीधा संबंध भाव से जुड़ जाता है। सहृदय के हृदय में वर्त्तमान यही भाव (स्थायी भाव) विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा व्यक्त होकर रस बन जाता है—

---

[1] अमरकोश-प्रथम् काण्ड, नाव्यवर्ग, पद २१।

[2] चिंतामणि : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४।

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।[१]

अतः छन्द का संबंध भाव और रस दोनों से हो जाता है। यदि कवि के मुख से भाव अपने अनुकूल छन्दों में फूट पड़ता है, तो छन्द भी उस भाव और रस को व्यंजित कर पाठक के हृदय को आनन्दाप्लुत कर देता है। इसीलिए कवियों ने दोनों की पारस्परिक अनुकूलता का बराबर ध्यान रक्खा है, और आचार्यों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कौन-कौन छन्द किस-किस रस या विषय के अनुकूल पड़ते हैं।

छन्द और रस के प्रगाढ़ संबंध से प्रत्येक युग के कवि पूर्ण परिचित रहे हैं। वैदिक युग में भी भिन्न-भिन्न भावों के लिए भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। गायत्र्यादि प्रत्येक छन्द के देवता[२] और वर्ण[३] की जो कल्पना आगे चल कर हुई, उसके मूल में, संभव है, छन्दों की प्रकृति-भिन्नता एवं उनमें निबद्ध भाव तथा विषय ही रहे हों। संस्कृत आचार्यों में भरत[४] और क्षेमेन्द्र[५] ने विभिन्न रसों, स्थितियों तथा घटनाओं के लिए छन्दों का विधान किया है। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने संस्कृत छन्दों के साथ-साथ हिन्दी छन्दों की एक लम्बी सूची दी है, जिसमें विभिन्न छन्दों को विभिन्न रस तथा वर्णन के उपयुक्त बतलाया है।[६] अंग्रेजी छन्दःशास्त्री भी भाव और छन्द के इस सामंजस्य पर

---

[१]साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, श्लोक १।

[२]अग्नेर्गायत्र्यतोऽधि द्वे भक्त्या दैवतमाहतुः
सप्तानां छन्दासामृचौ। ६।
तस्मादग्नेर्गायत्री भवति। सावित्र्युष्णिक्। सौम्यनुष्टुप्। बार्हस्पत्या बृहती। मैत्रावरुणी विराट्। ऐन्द्री त्रिष्टुप्। वैश्वदेवी जगती।
—ऋग्वेदप्रातिशाख्यः पाताल १७।

[३]श्वेतं च सारङ्गमतः पिशंगं कृष्णमेव च। १३।
नीलं च लोहिते चैव सुवर्णमिव सप्तमम्। १४।
—ऋग्वेदप्रातिशाख्यः पाताल १७।

[४]भरत का नाट्यशास्त्र, अ० १६।१०६, १०७, १०८, १०९।

[५]सुवृत्ततिलक, तृतीय परिच्छेद।

[६]आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४६-४७।

ध्यान देते दिखलाई पड़ते हैं। अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त होने वाले लय-खंडों की गति का निर्धारण उन्होंने इस प्रकार किया है—

Each of our five principal measures has its own distinctive quality and therefore its special fitness for particular purposes. ...... We find critics describing the iambic measures as smooth, dignified and stately, and the trochaic as energetic and abrupt, the anapaestic as swift and forcible, the dactylic as airy and graceful and the amphibrachic as swinging and free.

—The Study of Literature : Hudson, p. 156–157.

(अर्थात् अंग्रेजी छन्दों के पाँचों पर्वों में प्रत्येक की अपनी विशेषता है और इसीलिए वे खास उद्देश्य के उपयुक्त हैं। ... ... Iambic मसृण और गरिमामय होता है, Trochaic फुर्तीला और अक्खड़। Anapaestic तीव्र और वेगवान्; Dactylic वायवीय और सुन्दर तथा Amphibrachic दोलायमान और स्वच्छन्द होते हैं।)

भाव और वर्ण्य वस्तु के अनुकूल इन लयखंडों की गति की ओर तो निर्देश किया ही गया है, बैलेड (Ballad) एलेजी (Elegy) सोनेट (Sonnet) ओड (Ode) आदि की भी अपनी-अपनी विशिष्ट भावना तथा विषय होते हैं। उर्दू के रुबाई, गजल, मसनवी, कसीदा आदि भी खास-खास रसों और विषयों के लिए ही लिखे जाते हैं।[1] इस प्रकार वर्ण्यवस्तु और छन्द के पारस्परिक संबंध को सभी भाषाओं के छन्दोवेत्ता स्वीकार करते हैं। यदि भाव को अपने अनुकूल छन्द मिल गया, तो उसकी प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता बढ़ जाती है। अनुकूल छन्दों के सहारे ही कवि अपने अनुभवों को श्रोता तक पहुँचाने में समर्थ होता है। किन्तु कुछ ऐसे भी छन्द होते हैं, जो सभी रसों की व्यंजना में समान रूप से सफल होते हैं। वैदिक त्रिष्टुभ्जगती की इसी सर्वरससिद्धता की बात शौनक ने इस प्रकार कही है—

**सर्वाणि भूतानि मनोगतिश्च,**
**स्पर्शाश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वे।**

---

[1]आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४४-४५।

शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत्
त्रिष्टुप्जगत्यौ समुपेति भक्त्या ।[1]

लौकिक संस्कृत में अनुष्टुप तो सर्वरससिद्ध है ही, त्रिष्टुभ् का विकसित रूप इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रव्रजा (उपजाति) भी अनेक प्रकार के भावों के प्रकटीकरण में समान रूप से सफल है। हिन्दी के चौपाई, दोहा, कवित्त, सवैया, सार, सरसी आदि छन्दों ने भी अनेक प्रकार के भावों का सफलतापूर्वक वहन कर अपनी सर्वरस-सिद्धता प्रकट कर दी है। अंग्रेजी में Iambic पर्व के लिए भी ऐसी ही बात कही गई है। इसका प्रयोग गंभीर से हलका तथा सुन्दर से भयानक सभी विषयों में सफलतापूर्वक हुआ है।[2]

सूरसाहित्य में प्रयुक्त छन्दों के विवेचन में हम यह दिखला आये हैं कि किस प्रकार सूरदास ने भाव के अनुकूल छन्द का चयन किया है। उसका पिष्टपेषण यहाँ वांछित नहीं। यहाँ हम यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार कोई समर्थ कवि कभी-कभी एक ही छन्द में विभिन्न भावों को ढाल देता है। आचार्यों के इस प्रकार के नियम लक्ष्यग्रंथों के आधार पर अध्ययन की सुविधा के लिए बनाये गये होंगे। एक प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक विशेष छन्द को जब उन्होंने बहुशः प्रयुक्त होते देखा, तो उस छन्द को उस भाव का सहचर मान लिया। किन्तु, अपवाद कहाँ नहीं मिलता? जिस पद्धरि का प्रयोग विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास ने वसंत, चित्रकूट तथा जलक्रीड़ा आदि के वर्णन-प्रसंगों में किया है, उसी वीररसात्मक छन्द में पुष्पदंत ने राजदरबार, मगधभूमि आदि के वर्णन के साथ-साथ नारी के नखशिख-वर्णन जैसे श्रृंगारात्मक विषय को भी अभिव्यक्त किया है।[3] अतः डॉ० 'महेश' का यह कहना कि छन्द एक ऐसा अस्त्र है, जिससे सभी लड़ाइयां

---

[1] ऋग्वेदप्रातिशाख्य, पाताल १८।५६।

[2] Iambic measure has heen used with complete success for all Kinds of subjects 'from grave to gay, from lively to severe'.
—The study of Literature, Hudson P. 157.

[3] पीछे पद्धरि छन्द, पृ० १०६।

लड़ी जा सकती हैं, यदि कवि के हाथों में अस्त्र-संचालन की क्षमता हो[1], सर्वांश में चाहे सत्य नहीं हो, किंचिदंश में अवश्य सत्य है। कवि किसी शब्द के बाह्याभ्यन्तर स्वरूप का पूर्ण ज्ञाता होता है। यदि अर्थ की गहराई में डूब कर वह भावों को मर्मस्पर्शी बना देता है, तो शब्द के बाह्याकार को परख कर वह उससे अपने भावों को अभिव्यंजित भी करा देता है। तुलसीदास ने चौपाइयों में सभी रसों की व्यंजना की है। किन्तु, शृंगार-परक चौपाइयों और अन्य भावों को ध्वनित करने वाली चौपाइयों की पद-योजना में कितना अन्तर है। देखिये—

**कंकन किंकिन नूपुर ध्वनि सुनि।**
**कहत लखन सन राम हृदय गुनि।**

इन पंक्तियों में लघु वर्णों की अधिकता और ताल-गणों की सम्यक् योजना शृंगार जैसे कोमल रस के अनुकूल लय की सृष्टि करती है। किंतु चौपाई की निम्न पंक्तियाँ—

**नाथ एक आवा कपि भारी।**
**तेहि असोक वाटिका उजारी।**

गुरु वर्णों की अधिकता, जगण का प्रयोग तथा ताल-यति के अभाव के कारण भय, आतंक और आश्चर्य को ध्वनित करती है।[2] मात्रिक छन्दों में पद-योजना की ऐसी सुविधा है, इसलिये कवि उससे मनोवांछित लाभ उठा लेता है। किंतु, जहाँ ऐसी सुविधा नहीं है, वहाँ भी 'सुदृढ़ गण-योजना के बीच विभिन्न संख्या के अक्षरों पर शब्द की समाप्ति और समास के द्वारा संस्कृत के कवि प्रत्येक चरण में नवीनता को जन्म देते चलते थे। अतः सैकड़ों पद्यों में लगातार एक ही वृत्त का प्रयोग होने पर भी एकरसता का आक्षेप कभी नहीं किया जा सका।''[3] छन्द-रूपी अस्त्र के ऐसे ही प्रयोग-द्वारा कवि विपरीत या अननुकूल भावों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। डॉ० 'महेश' ने अस्त्र-संचालन-क्षमता की बात तो कही, पर संचालन-पद्धति का विवेचन नहीं किया।

सूरदास इस पद्धति से पूर्ण अवगत थे। इसीलिये उन्होंने कभी-कभी

---

[1]The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. p. 148

[2]मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ३५६।

[3]प्रा० हि० का० में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० १५३।

भावों की अभिव्यक्ति में ऐसे छन्दों से भी काम लिया है, जो साधारणतः अभि-व्यक्त भावों के अनुकूल नहीं पड़ते। कुण्डल छन्द सामान्यतः गीतात्मक है। उसकी लय कोमल भावों के ही उपयुक्त है। किंतु, सूरदास ने उसे वीर-भाव का वाहक भी बनाया है। जैसे—

**द्वारै पैठत गयंद मारि, धरनि डार्यौ।**
**मुष्टिक, चानूर मल्ल, मूसल संहार्यौ।**
**जिहिं जैसो जिय विचारि, तैसो रूप धार्यौ।**
**देवकी वसुदेव कौ, संताप निवार्यौ।**[1]

सूर के पदों की यह विशेषता है कि उनके पद भावों का पंचामृत होते हैं। उनके एक पद में कई तरह के भाव मिश्रित रूप में मिलते हैं। इसीलिये एक ही छन्द (पद्य) में भावों के अनुरूप लय और गूंज भी किंचित् भिन्न हो जाती है। ऊपर की चारों पंक्तियों में लघु-गुरु वर्ण तो प्रायः समान हैं, पर प्रारंभ में दो गुरु तथा कतिपय संयुक्ताक्षरों की योजना से पहली दो पंक्तियों की लय बहुत कुछ परुष भावापन्न हो गई है। अन्तिम दो पंक्तियों में उत्साह-भाव नहीं, कृष्ण के ऐश्वर्य तथा दीन-दयालुता की अभिव्यंजना है। इन दोनों में जगण (विचारि) के प्रयोग से तथा दो षष्ठकों की जगह दो पंचक और गुरु रखने से गति में कुछ मन्दता आ गई है, जो विषय के अनुकूल है।

हरिप्रिया छन्द लीला (१२ मा०) की तीन आवृत्तियों और १० मात्राओं के योग से बनता है। इसलिये इसमें लीला की-सी चपलता है। इसमें वीर भावों को वहन करने की क्षमता नहीं। फिर भी सूरदास ने इसका उपयोग वीरता के प्रसंग में किया है। यथा—

**मारे सब मल्ल नंद के कुमार दोऊ।**
**कौंड़ सबनि भूलि गए, हांक देत चकत भए,**
**लपकि लपकि सबै हए, उबर्‌यौ नहिं कोऊ।**
**जोधा चितवतहि मरे, हहरि हहरि धरनि परे,**
**ज्वाला ज्वों जरे डरे, भए सब बिनु प्राना।**
**तारागन लुप्त होत जैसे दिनकर प्रकास**
**यह सुनि नृप भए निरास, रह्यौ नहीं ज्ञाना।**[2]

इस पद में मारे, दोऊ, कोऊ, जोधा, ज्वाला जैसे दो गुरु वाले पदों तथा वीप्सा

---

[1]सूरसागर, पद ३६६५।  [2]सूरसागर, पद ३६६२।

(लपकि-लपकि, हहरि-हहरि) के प्रयोग से कवि ने वीरसात्मक वातावरण उपस्थित करने का प्रयास किया है। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि सूरदास की शैली में भावानुकूल वर्णों की आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट वह संघटना नहीं दिखलाई पड़ती, जिसके लिए निम्नांकित पद्य के रचयिता संस्कृत कवि भवभूति विशेष रूप से प्रख्यात हैं—

> पातालोदरकुञ्जपुञ्जित तमः श्यामै नभो जृम्भकै
> रुतप्तस्फुदार कूट कपिल ज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
> कल्पाक्षेप कठोर भैरवमरुद्व्यस्तै रवस्तीर्यते।
> मीलम्मेघ तडित् कडार कुहरे विन्ध्याद्रि कूटैरिव।[1]

तथा जिसकी ओर प्रवृति कवितावली के निम्न पद्य में तुलसीदास ने दिखलाई है—

> मत्तभट मुकुट दसकंध-साहस-सइल
> सृंग बिद्दरनि जनु वज्र टांकी।
> दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज, कमठ
> सेष संकुचित, संकित पिनाकी।
> चलति महि मेरु, उच्छलित सायर सकल
> बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिस झांकी।
> रजनिचर-घरनि घर गर्भ-अर्भक स्रवत
> सुनत हनुमान की हाँक बाँकी।[2]

भावों में आकंठ मग्न रहने वाले सूर की शैली संस्कृत कवि कालिदास से मिलती है, जिन्होंने एक ही वैदर्भी रीति में सभी रसों की सम्यक् व्यंजना की है।

## छंद और अलंकार

छन्द बँधी हुई लयों का एक ढाँचा है और लय लघु-गुरु वर्णों के संघटन से उत्पन्न वाणी के आरोह-अवरोह पर अवलंबित है। वर्णों के संयोग से ही किसी शब्द का निर्माण होता है। अतः छन्द का संबंध शब्दालंकार से ही हो सकता है, अर्थालंकार से नहीं। क्योंकि वह काव्य का संगीतधर्म है और यह चित्रधर्म।[3] संगीत से संबद्ध होने के कारण छन्द का संबंध शब्दालंकार से

---

[1]उत्तरचरित्र, अंक ५, पद्य १४। [2]कवितावली, लंकाकांड, पद्य ४४।
[3]काव्यदर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ४४६।

बिलकुल सीधा है। छन्द गाये तो जाते ही हैं, उनमें एक आंतरिक संगीत भी अनुस्यूत रहता है, जो छन्द पढ़ते ही मानों प्राणों की बीन पर बज उठता है। प्रत्यक्ष रूप से नहीं गाने पर भी मानों उनके मूक संगीत में मन तल्लीन हो जाता है।[1] शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक छन्दों के इसी आन्तरिक संगीत का संवर्द्धन करते हैं। वक्रोक्ति, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास और चित्र अलंकार इसमें योग नहीं दे सकते।[2] अतः छन्द का उनके साथ कोई संबंध नहीं। अनुप्रास का अर्थ है — वर्णों को बार-बार, पास-पास रखना। प्रकृष्टे दूरान्तरितो न्यासोऽनुप्रासः।[3] काव्यप्रकाश में वर्ण-साम्य को अनुप्रास कहा है। वर्णसाम्य-मनुप्रासः।[4] साहित्यदर्पण में अनुप्रास के छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट तथा अन्त्य ये पाँच भेद माने गये हैं।[5] यदि अनुप्रास के प्रथम चार भेद छन्द के आंतरिक संगीत-तत्व हैं, तो अन्त्यानुप्रास (पादांत में वर्णों का साम्य) उसकी सांगीतिक प्रभावोत्पादकता का अमोघ अस्त्र है। इसी सांगीतिक अनिवार्यता के कारण यह छन्द का एक अनिवार्य अंग बन बैठा। यह अन्त्यानुप्रास वैदिक, संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। जयदेव के गीतगोविन्द में तथा कतिपय संस्कृत स्तोत्रों में इसकी योजना अवश्य मिलती है। अपभ्रंश काव्यों में तो तुक (अन्त्यानुप्रास) का रहना अनिवार्य समझा गया और यही परंपरा हिन्दी के प्राचीन कवियों तक बराबर चलती रही।

आधुनिक काल में भिन्नतुकांत कविता भी लिखी गई और अन्त्यानुप्रास कविता का अनिवार्य तत्व नहीं माना गया। प्रबंधकाव्य अथवा गीतिनाट्य के लिए यह बात सही हो सकती है; किंतु छोटे-छोटे छन्दों में लिखे मुक्तक इसके बिना शोभा नहीं पाते, और गीत में तो, सांगीतिकता के कारण, अन्त्यानुप्रास के बिना काम ही नहीं चलता।[6] आधुनिक काल में जहाँ भिन्न तुकांत कविता लिखी गई, वहाँ अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हो अन्त्यानुप्रास के प्रयोग में

---

[1]काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध : उषा मिश्र, पृ० २८३।

[2]काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध : उषा मिश्र, पृ० २८६।

[3]काव्यानुशासन : हेमचंद्र, पृ० २०६, कन्हैयालाल पोद्दार के काव्यकल्पद्रुम भाग २ से उद्धृत, पृ० ८।

[4]काव्यप्रकाश : मम्मट, उल्लास ६, सूत्र १०४।

[5]साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, १०।३, ४, ५, ६, ७।

[6]आ० हि० का० में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० २१६।

अनेक क्रमायोजन भी कवियों ने किये। डॉ० शुक्ल ने इन क्रमायोजनों को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं।[1] पदों का उस क्रमायोजन से कोई विशेष संबंध नहीं। यहाँ अन्त्यानुप्रास-योजना के सामान्यतः दो ढंग प्रचलित हैं—

(क) जिसमें पद की समस्त पंक्तियों में तुक की एकरूपता रहती है। जैसे—

**अविगत गति कछु कहत न आवै।**
**ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै।**
**परम स्वाद सबही सुनिरंतर अमित तोष उपजावै।**
**मन-बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।**
**रूप-रेख-गुन जाति जुगुति बिन निरालंब कित धावै।**
**सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन पद धावै।**[2]

(ख) जिसमें तुक का कोई क्रमायोजन नहीं होता। कवि मनमाने रूप से दो-दो पंक्तियों में तुक मिलाता चलता है। जैसे—

**हरि कौं टेरति है नँदरानी।**
**बहुत अबार भई कहँ खेलत, रहे मेरे सारँगपानी।**
**सुनतिहि टेर, दौरि तहँ आए, कबके निकसे लाल।**
**जेंवत नहीं नंद तुम्हरे बिनु, बेगि चलौ गोपाल।**
**स्यामहिं ल्याई महरि जसोदा, तुरतहिं पाइ पखारे।**
**सूरदास प्रभु संग नंद के बैठे हैं दोउ वारे।**[3]

कहीं-कहीं चार-छः चरणों में भी समान तुक पाई जाती है। तुक की ऐसी योजना के पीछे कवि का कोई क्रमायोजन-सिद्धांत लक्षित नहीं होता। यहाँ तुक आप ही आप मिलती चली गई है। किन्तु, पद के समस्त चरणों में समान तुक का होना बहुत दूर तक कवि के सचेतन प्रयास का परिणाम कहा जा सकता है। कुछ ऐसा ही प्रयास उन पदों में भी दिखलाई पड़ता है, जिनमें कवि ने स्पष्ट रूप से अन्त्यानुप्रास का क्रमायोजन किया है। जैसे—

**रजनी अति प्रेम पीर,**
**बन गृह मन धरै न धीर,**

---

[1]आ० हि० का० में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० २२१ से २२८।
[2]सूरसागर, पद २।
[3]सूरसागर, पद ८५५।

**बासर मग जोवत उर**
**सरिता बही नैन नीर ।**[1]

इस पद्य के पहले, दूसरे और चौथे चरणों की तुक मिली है, तीसरा चरण अतुकांत है । इसी प्रकार—

**सरद सुहाई आई रात । दुहुँ दिसि फूलि रही बन-जाति ।**
**देखि स्याम मन सुख भयौ ।**[2]

इस पद के प्रथम और द्वितीय चरणों में तुक-साम्य है, तृतीय अतुकांत है । इन दोनों पदों की तुक-योजना का विवेचन हम पीछे कर आये हैं ।[3]

विद्वानों ने अन्त्यानुप्रास को उत्तम ( ८, ७, ६ मात्राओं में साम्य ) मध्यम ( ५, ४, ३ मात्राओं का साम्य ) तथा निकृष्ट ( २, १ मात्राओं का साम्य ) इन तीन भेदों में विभाजित किया है ।[4] और उसको परिपूर्ण ( जैसे मृदंग-विहंग ) और अपूर्ण ( जैसे वेद-विनोद ) तथा पुरुष तुक ( एकाक्षर तुक ) और कोमल तुक (द्वयक्षर-त्र्यक्षर तुक ) जैसे दो नाम दिये हैं ।[5] अन्त्यानुप्रास के भेदों का आधार उनकी श्रुति-सुखदता है । जो अन्त्यानुप्रास जितना ही श्रुति-सुखद एवं मनोहारी होगा, वह उतना ही उत्तम माना जायगा । यह श्रुति-सुखदता अथवा मनोहारिता समान स्वर से युक्त समान व्यंजनों की संख्या पर निर्भर करती है । ऐसे व्यंजनों की संख्या जिस ध्वनि-समूह में जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही अधिक श्रुति-सुखद होगा । इस दृष्टि से मात्रा या वर्ण-संख्या के आधार पर अन्त्यानुप्रास के तीन भेद मानना युक्तिसंगत ही है । उसकी पूर्णता-अपूर्णता को दृष्टि में रख कर उसे परिपूर्ण- अपूर्ण तुक कहना भी न्यायसंगत है ।

सूरसाहित्य में परिपूर्ण-अपूर्ण तुक भी मिलती है और उत्तम-मध्यम-निकृष्ट भी । हाँ, उत्तम कही जाने वाली तुक में उतनी मात्राओं में साम्य नहीं मिलता, जितनी की शर्त्त डॉ० शुक्ल ने रखी है । सूरदास के पदों में चरणांत

---

[1] सूरसागर, पद ४२२३ । [2] सूरसागर, पद १७६८ ।
[3] पीछे लीला + हीर छन्द और चौपई + चौबोला + चौपाई + उल्लाला छंद ।
[4] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, डॉ० शुक्ल, पृ० २१८ ।
[5] प्रा० पैं० भाग ४, भोला शंकर व्यास, पृ० ३११—३१२ ।

तीन अक्षरों की समता प्रायः नहीं देखी जाती । अपवाद-रूप में ऐसे प्रयोग अवश्य मिलते हैं । जैसे—

**पकरि कै—करि कै ।** (पद ६३६)
**सतराने—अतुराने ।** (पद २१७४)
**पावति री—ठहरावति री ।** (पद २६८२)
**चोरति हौ—जोरति हौ ।** (पद २८१७)
**सौंहनि सौं—भौंहनि सौं ।** (पद ३१०६)

ऐसी तुक की गणना हमारे विचार से उत्तम तुक में होनी चाहिये । साथ ही हिरानी-हितानी, लजानी-समानी जैसी तुक को भी उत्तम कोटि में लेना औचित्यपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि इसमें एक अक्षर का ही साम्य है; किंतु, पाँच मात्राओं का स्वर-क्रम ( इ, आ, ई ) एक-सा है । अतः ये बड़े ही श्रुति-सुखद प्रतीत होते हैं । इन्हें मध्यम तुक (डॉ० शुक्ल) अथवा परुष तुक (डॉ० व्यास) कहने को जी नहीं चाहता । परिपूर्ण तो ये हैं ही ।

सूर के पदों के चरणांत में दो वर्णों की समता भी मिलती है । जैसे—

**सुनिये—गुनिये** (पद २१६८)
**पैंजनियाँ—जननियाँ** (पद ७५०)
**ससी री—कसी री** (पद ३०६५)

यद्यपि ऐसी तुक में तीन या चार मात्राओं का ही साम्य है, फिर भी श्रुति-सुखदता के कारण यह मध्यम कोटि में परिगणित हो सकती है । साथ ही बची-सची (पद ३०६६), रूप-भूप (पद ३०६७), राधा-बाधा (पद २६७४) को भी निकृष्ट नहीं मान कर मध्यम तुक मानना ही हम समीचीन समझते हैं । परिपूर्णता-अपूर्णता की दृष्टि से तो यह परिपूर्ण कही ही जायगी । सूरसाहित्य में ऐसी तुक का ही बाहुल्य है ।

निकृष्ट कोटि की तुक भी सूरसाहित्य में प्राप्त होती है । जैसे—

**हरि-धरि, करि-डरि, भरि-तारि** (पद १०१०)
**जल-गलबल-हलचल-बल** (पद १४७५)
**नट-लुकट-घट-लपट** (२०१६)

ऐसी एकाक्षर तुक श्रुति-सुखदता के अभाव में निकृष्ट कोटि में गिनी जायगी । ऊपर संकेतिक ये सभी तुकें परिपूर्ण तुक के उदाहरण हैं । अब अपूर्ण तुक के कुछ निदर्शनों पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है । अपूर्ण तुक निम्नलिखित प्रयोगों में देखी जा सकती है—

(क) वारी-कहा री (पद ५७१)
(ख) पियारे-लला रे (पाद १०४१)
(ग) चंद-बुंद (पद ४५४)
(घ) यह री-गोकुल री (पद ३६४५)
(ङ) मधुवन के-तिनि के (पद ३६६७)
(च) चितकरते-मिलते (पद ३६६४)
(छ) लाज म-वाजन (पद ४३८६)
(ज) भोर-सूर (परि० पद १३०)

इनमें (क) (ख) और (छ) की तुकों को डॉ० शुक्ल सदोष मानेंगे, क्योंकि इनमें शब्दों को खंडित करने से अन्त्यानुप्रास लक्षित होता है।[1] शेष डॉ० व्यास के अनुसार अपूर्ण तुक के उदाहरण समझे जायँगे।[2]

यमक—निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।[3] यह आवृत्ति या पुनःश्रवण छन्द के आन्तरिक संगीत के संवद्र्धन में सहायक होता है। अतः छन्द का संबंध यमक से जोड़ा जा सकता है। संस्कृत साहित्याचार्यों ने यमक का उल्लेख काव्यशास्त्र में शब्दालंकार के अन्तर्गत किया है। छन्द से इसके संबंध का उल्लेख संस्कृत छन्दःशास्त्रियों ने कहीं नहीं किया; किन्तु प्राकृत-अपभ्रंश काल में इसका संबंध अडिल्ला छन्द से ऐसा जुड़ गया कि यह उस छन्द का एक अनिवार्य अंग बन गया। अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियों के मतानुसार अडिल्ला के चरणों में यमक का प्रयोग नियमतः होना चाहिये।[4] हेमचंद्र के निम्नांकित अडिल्ला छन्द के—

नवघणभमभमंत सारंगह।
कुंज कुसुम गंजिरसारंगह।
सुहविल संत अडिल सारंगह।
लीलावणहँ तरुणि सारं गह।

---

[1]आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २२०।
[2]प्रा० पैं० भाग ४, पृ० ३२२।
[3]काव्यकल्पद्रुम भाग २ : कन्हैया लाल पोद्दार, पृ० १७।
[4]प्रा० पैं० १।१२७।

प्रत्येक चरण में 'सारंगह' पद भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश छन्दःशास्त्री का यमक काव्यशास्त्र का यमकालंकार ही है, तुक नहीं। आगे चलकर प्रा० पैं० आदि ग्रंथों में यमक का प्रयोग तुक के लिए ही होने लगा।[2] यमक छन्द का अनिवार्य अंग चाहे न हो, पर यह लय-माधुर्य को द्विगुणित कर देता है, यह असंदिग्ध है। सूरसागर में अर्थालंकारों का ही बाहुल्य है। शब्दालंकारों की ओर सूरदास की प्रवृत्ति नहीं थी। जो शब्दालंकार यत्र-तत्र मिल जाते हैं, वे अनायास ही आ गये हैं। सूरसाहित्य में यमक का प्रयोग विशेषतः कूटपदों में हुआ है। जैसे—

> जनि हठ करहु सारँग-नैनी।
> सारँग ससि सारँग पर सारँग ता सारँग पर सारँग-बैनी।
> सारँग रसन, दसन गुनि सारँग, सारँग सुत दृग निरखनि पैनी।
> सारँग कहौ सु क्यों न विचारौ, सारँग-पति सारँग रची सैनी।[3]

## छंद, वृत्ति और गुण

वृत्ति रीति का ही नामान्तर है।[4] रीति काव्य में विशेष प्रकार से पद-स्थापन को कहते हैं—विशिष्टपदरचनारीतिः। पद का निर्माण वर्णों से होता है और लघु-गुरु वर्णों की आरोह-अवरोहमयी स्थिति से किसी लय का जन्म होता है। इन्हीं बँधी हुई (नियमित) लयों के ढाचों को हम छन्द कहते हैं। इस प्रकार वृत्ति अथवा रीति का सीधा संबंध छन्द से जुट जाता है। गुण की स्थिति इससे भिन्न है। गुण रीति की विशेषता माना गया है।[5] यह वह विशेषता है, जो चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई उसे (चित्त को) रसानुभव के योग बना देती है।[6] इस प्रकार यद्यपि रीति के समान गुण का छन्द से सीधा संबंध नहीं दिखलाई पड़ता है; किन्तु, रस का उत्कर्ष-हेतु तथा नित्य

---

[1] प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, ४६४।

[2] प्रा० पैं० भाग ४ : डॉ० व्यास, ३१८।

[3] सूरसागर, पद ३४१६।

[4] केषांचिदेषा वैदर्भीप्रमुखा रीतियो मताः। काव्यप्रकाश, उल्लास ६, सूत्र १११।

[5] विशेषो गुणात्मा-काव्यालंकार सूत्र
एते वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दश गुण स्मृता-काव्यादर्श } काव्यदर्पण से उद्धृत, पृ० ४१०।

[6] रीतिकाव्य की भूमिका : नगेन्द्र, पृ० ११०।

धर्म[1] होने के कारण तथा वृत्ति और रस की मध्यस्थ कड़ी होने के कारण इसका संबंध छन्द से इसलिये जुट जाता है, कि छन्द और रस परस्पर-सापेक्ष हैं। भावों की प्रेषणीयता अनुकूल छन्दों पर और छन्दों का चमत्कार अनुकूल भावों पर निर्भर है। छन्द का संबंध संगीत से है और वृत्ति तथा गुण आंतरिक संगीत के सहायक हैं। इस नाते भी इन दोनों का संबंध छन्द से हो जाता है।

सूर के पद संगीतात्मक हैं, और संगीतात्मकता के लिए भाषा का सारल्य नितांत अपेक्षित है।[2] इसीलिये उनके समस्त पदों में (दृष्टिकूट पदों को छोड़ कर) प्रसाद गुण व्याप्त है। अधिकांश पदों में शृंगारादि कोमल रसों की व्यंजना है, अतः माधुर्य गुण की सत्ता प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। इन दोनों गुणों ने उनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छन्दों को जो सांगीतिक गरिमा प्रदान की है, वह अनुभवगम्य है। नीचे प्रसाद और माधुर्य का एक-एक उदाहरण दिया जाता है।

## प्रसाद गुण

> अँखिया हरि दरसन की भूखीं।
> कैसे रहति रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी।
> अवधि गनत, इक टक मग जोवत, तब इतनौ नहिं भूखी।
> अब यह जोग संदेसो सुनि-सुनि, अति अकुलानी दूखी।
> बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।
> सूर सु कत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखी।[3]

---

[1]उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः। काव्यप्रकाश, उल्लास ८, सूत्र ८७।

[2](क) भाषा की क्लिष्टता के कारण उनकी (रसिकगोविन्द की) रचनाओं में संगीतात्मकता कुछ कम हो गई है।—काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, पृ० ३३४।

(ख) गीतिकाव्य में तो प्रसादगुण अपरिहार्य प्रतिबन्ध ही है। काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, पृ० ३६।

[3]सूरसागर, पद ४१७५।

## माधुर्य गुण

गावत स्याम स्यामा रंग।
सुघर गति नागरि अलापति, सुर भरसि पिय-संग।
तान गावति कोकिला मनु, नाद अलि मिलि देत।
मोर संग चकोर डोलत, आपु अपने हेत।
भामिनी अंग जोन्ह मानो, जलद स्यामल गात।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहिं-मनहिं सिहात।
कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गुपाल।
सूर कंचन-गिरि बिचनि मनु, रह्यौ है अंधकाल।[1]

यहाँ सरल और सुबोध शब्दों द्वारा व्यंजित होने वाला प्रसाद गुण पाठकों के हृदय को परिव्याप्त करता हुआ एवं कोमल और अनुस्वार-सहित वर्णों से व्यंजित होने वाला माधुर्य गुण पाठकों के चित्त को द्रवित करता हुआ सार और रूपमाला छन्द की प्रभुविष्णुता को कितना बढ़ा देते हैं। उसी प्रकार निम्नांकित पद में—

गह्यौ कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ
झटकि लीन्हौं तुरत पटकि धरनी।
झटकि अति सब्द भयौ, खटक नृप के हियै
अटकि प्राननि पर्यौ चटक करनी।
लटकि निरखन लग्यौ, मटक सब भूलि गइ,
हटकि करि देउ तुम इहै लागी।
झटकि कुंडल निरखि, अटक ह्वै कै गयौ
गटकि सिल सौं रह्यौ मीच जागी।[2]

'ट' की अधिकता से व्यंजित होने वाला ओजोगुण रुक-रुक कर चलने वाले झूलना छन्द को वीर वातावरण के अनुकूल बना देता है। वृत्ति का द्वैविध्य एक छन्द को एक ही पद में किस प्रकार दो प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करने वाला बना देता है, यह निम्न पद में दर्शनीय है—

अब कै राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी हैं इहिं काल।

---

[1] सूरसागर, पद १७०१। [2] सूरसागर, पद ३६६१।

पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत फर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि बाढ़ी घर अंबर, चमकत बिचबिच ज्वाल।
हरिन बराह, मोर चातक पिक, जरत जीब बेहाल।
जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नँदलाल।
सूर अगिनि सब बदन समानी, अभए किए ब्रजबाल।[1]

'द' की आवृत्ति-रूप से वृत्यनुप्रास अग्नि की दुःसहता को प्रकट करता है। बाँस-काँस, ताल-तमाल, घूमि-धूंधि का छेकानुप्रास तथा 'ट' का आधिक्य पाठक के हृदय में भयानक रस की अनुभूति उत्पन्न करती है। इस प्रकार यहाँ गौड़ी रीति का अवलंबन ले सरसी छन्द ।भयानक वातावरण उपस्थित करने में समर्थ हो जाता है। उसका बाह्य-रूप उसके (वातावरण के) अनुरूप घोर-कठोर हो उठता है। नीचे की दो पंक्तियों में जब कवि भयोत्पादक वायुमंडल को छोड़कर कृष्ण के महिमामय ऐश्वर्य (देवविषयक रति) को व्यक्त करने लगता है, तो उसकी भाषा माधुर्य-व्यंजक वर्णों वाली वैदर्भी रीति का अवलम्बन ले लेती है और छन्द वह घोर-कठोर रूप छोड़ कर कोमल और ललित बन जाता है। अनुप्रास, यमक, वृत्ति तथा गुण के साथ छन्द का यही आभ्यंतर संबंध है। वे छन्द के आंतरिक रूप की अवसरोचित साज-सँभाल कर उसे भाव या रस के अनुकूल बना देते हैं। भाव या रस के समान ही छन्द के बाह्य रूप से इनका कोई संबंध नहीं है।

---

[1]सूरसागर : पद १२३३।

# छंद और संगीत

गानार्थक 'गै' धातु में क्त प्रत्यय लगाकर गीत शब्द बना है। इसी गीत में सम् उपसर्ग के योग से संगीत शब्द का निर्माण होता है। सम् (सम्यक्) का अर्थ है अच्छा। वाद्य और नृत्य दोनों के संयोग से गीत अच्छा बन जाता है। इसीलिये इन तीनों के सम्मिलित रूप को संगीत कहते हैं।

**गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते।**[1]

इन तीनों में गान अर्थात् कंठ-संगीत (Vocal music) निरपेक्ष है और वाद्य संगीत (Instrumental music) तथा नृत्य सापेक्ष। कंठ-संगीत स्वभाव-सिद्ध है, इसे किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं। किन्तु, वाद्य संगीत तथा नृत्य वाद्यों पर निर्भर करते हैं। इसी स्वभाव-सिद्धता और निरवलम्बता के कारण कंठ-संगीत प्रधान माना गया है। फिर 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार तीनों की संज्ञा संगीत हो गई।

**गानस्यात्र प्रधानत्वात्तच्छंगीतमितीरितम्।**[2]

आजकल साधारणतया केवल गीत या गीत और वाद्य को ही संगीत कहते हैं।[3]

संगीत का मूलाधार नाद है। नाद दो प्रकार के होते हैं—अनाहत नाद और आहत नाद। अनाहत नाद योगियों का काम्य है। वह मोक्षदायक तो है, किन्तु मन का रंजन करने वाला नहीं। अतः उससे संगीत का कोई सरोकार नहीं। आघात, स्पर्श अथवा संघर्ष से उत्पन्न वही आहत नाद संगीत की परिधि में आ सकता है, जो माधुर्यपूर्ण हो तथा जिसमें स्थायित्व हो, क्योंकि संगीत सुखजनक नाद-विशेष कहा गया है।[4]

संगीत एक कला है और उसकी सृष्टि भी उसी प्रकार संगीतज्ञ कलाकारों द्वारा होती है, जिस प्रकार कवियों-द्वारा काव्य की। मानव तथा मानवेतर

---

[1] **संगीतशास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, पृ० १।**

[2] **संगीत पारिजात, पृ० ६, छं० सं० २०। हि० के० कृ० भक्तिकालीन साहित्य में संगीत के उद्‌धृत, पृ० ५१।**

[3] **संगीत शास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, पृ० १।**

[4] **संगीत शास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, पृ० ८।**

जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता पाकर जिस प्रकार कवि की वाणी काव्य-रूप में उच्छ्वसित हो उठती है, उसी प्रकार संगीतज्ञ का हृदय भी संगीत की धारा में बह चलता है। काव्य और संगीत का मूल उत्स एक ही है। भारतीय मनीषियों ने काव्य को कला के ऊपर अधिष्ठित किया है अवश्य; किन्तु, काव्य और संगीत की सामान्य विशेषता और धर्म प्रायः एक ही हैं। संगीत के समान काव्य का भी नाद से सम्बन्ध है। 'काव्य का आधार भाषा है, जो नाद का ही विकसित रूप है। अस्तु, काव्य और संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। केवल अंतर इतना है कि एक का आधार स्वरव्यंजनात्मक स्वरूप है, दूसरे का आधार नाद का स्वरात्मक आरोह और अवरोह है"[1] काव्य और संगीत का धर्म भी एक ही है। दोनों का मुख्य धर्म पाठकों या श्रोताओं का मनोरंजन करना तथा उन्हें रसानुभूति कराना है। काव्य के समान संगीत भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाला है।[2] संगीत में भी काव्य के समान जीवन के सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये जीवन की व्याख्या करने वाला काव्य भी संगीत के व्यापक क्षेत्र में सहज ही प्रविष्ट हो जाता है।[3] संगीत के दो प्रकार हैं—बाह्य संगीत और कंठ-संगीत। बाह्य संगीत अर्थ-हीन रचना है; किन्तु, कंठ संगीत काव्य की नींव पर ही प्रतिष्ठित है। अतः संगीत स्वयं काव्य है। संगीत और काव्य का मेल सोने में सुगन्ध वाली बात चरितार्थ करता है।

संगीत और काव्य के संबन्ध की जो चर्चा ऊपर हुई है, निस्संदेह वह बहुलांश में संगीत और छन्द की चर्चा है। जब कारलाइल कहते हैं—कि कविता छन्दोबद्ध होती है और उसमें संगीत रहता है[4], तो छन्दोबद्धता और सांगीति-

---

[1] साहित्य का मर्म : हजारी प्र० द्विवेदी, पृ० ११।

[2] धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकं साधनम्।

× × ×

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति—संगीत (ताल अंक) से उद्धृत, पृ० १२।

[3] काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध : उमा मिश्र, पृ० ३१।

[4] I find considerable meaning in the old vulgar distinction of poetry being metrical having music in it.

Quoted in the Study of literature, Hudson. P. 89.

कता का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। साथ ही हम यह भी जान पाते हैं कि छन्दोबद्धता और सांगीतिकता कविता की विशेषता मात्र हैं, वे दोनों इसके रूप नहीं हैं। मैथ्यू आर्नल्ड का निम्न कथन—

नियमितता, निश्चितता और वेग की ऊँचाई तक पहुँची हुई लय और लय-खंड उसकी (कविता की) पूर्णता का एक अंग है।[1] तो स्पष्टतः कविता और छन्द के अगांगीभाव की ओर निर्देश करता है। कॉलरिज ने तो दोनों को दो भिन्न वस्तुएँ मानकर यहाँ तक कह दिया कि 'उच्च श्रेणी की कविता बिना छन्द के भी हो सकती है।'[2] यहाँ कविता से तात्पर्य भावात्मक तथा कल्पनात्मक रचना से है, और ऐसी रचना, इन आचार्यों के मत से, गद्य में भी हो सकती है। ऐसी रचना से संगीत का सम्बन्ध नहीं। ऐसी रचना में शब्द-संगीत भले ही विद्यमान हो, किन्तु वह गाई नहीं जा सकती। अतः जिस रचना को हम पद्य कहते हैं, जो छन्द में निबद्ध है, उसी में सांगीतिकता रहती है और उसी का संबंध संगीत से हो सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि संगीत का सम्बन्ध कविता के रागात्मक तथा कल्पनात्मक तत्व से उतना नहीं है, जितना उसके बाह्य रूप या अंग छन्द से है। छन्द के लिए काव्य शब्द का व्यवहार उपलक्षण मात्र है।

छन्द में संगीत का न्यूनाधिक तत्व सदैव वर्त्तमान रहता है। छन्द और संगीत दोनों लय पर अवलम्बित है। संगीत का मूलाधार नाद है और छन्द लय के आधार पर टिका हुआ नाद-विधान।[3] छन्दों का संगीत-शास्त्र से अटूट संबंध है। संगीत की लय, मात्रा और ताल-विधान छन्दों में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त है। संगीत के समान छन्द में भी मात्राओं द्वारा उसकी गति का बोध होता है।

---

[1]The rhythm and measure of poetry, elevated to a regularity, certainty and force..............are a part of its perfection.
Quoted in the Study of literature, Hudson. P. 90.

[2]Poetry of the highest kind may exist without metre.
Quoted in the Study of literature, Hudson. P. 88.

[3]हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत—उषा गुप्त, पृ० ८६।

वर्णिक छन्दों में भी लघु-गुरु और गणों का क्रम एक निश्चित लय के अनुसार होता है।[1] उसी प्रकार संगीत-शास्त्र भी छन्दःशास्त्र पर बहुत कुछ अवलम्बित है। संगीत की तालों की उत्पत्ति वृत्तों के गुरु-लघु आदि के अक्षर-नियम अर्थात् छन्द से हुई है।[2] इस प्रकार संगीत का ताल-लय और काव्य के छन्द में कोई विशेष भेद नहीं है। छन्द का निर्माण संगीत की लय के आधार पर ही हुआ है। आज जिसे हम मुक्त छन्द कहते हैं, उसमें भी प्रवाह का रहना अनिवार्य माना गया है। यह प्रवाह संगीत की लय के अतिरिक्त और क्या है ? मुक्त छन्द में बाह्य संगीत भले ही न हों, आंतरिक संगीत तो रहता ही है। गीति काव्य में जो सांगीतिकता उसका एक अनिवार्य तत्व माना गया है, वह वस्तुतः आंतरिक संगीत ही है। यदि किसी रचना में आंतरिक संगीत है, तो वह बाह्य संगीत से आसानी से संयुक्त किया जा सकता है। संगीत स्वर-प्रधान है और छन्द शब्द-प्रधान। इसीलिये कहा गया है कि कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर के रूप में कविता है।[3] कविता को सुन्दर बनाने के लिए संगीत परम आवश्यक है। उससे इसको हटाने की चेष्टा करना उसके (कविता के) मूल्य को कम कर देना है। इतना होते हुए भी छन्द और संगीत दोनों की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। यों संगीत शब्द-विहीन होकर भी भावाभिव्यक्ति में सफल हो सकता है; किन्तु शब्द-योजना के बिना उसमें कुछ वैसी ही अपूर्णता रह जाती है, जिस प्रकार संगीत के बिना काव्य में। गाये जाने पर ही छन्द अपना अभीप्सित प्रभाव डाल सकता है और संगीत भी गीत से समन्वित हो कर प्रभावोत्पादक बन सकता है। अतः गायक को कुछ दूर तक कवि, और कवि को कुछ दूर तक गायक होना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार छन्द और संगीत एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं।

भारतीय संगीत का विशिष्ट रूप राग है।[4] संगीत-रत्नाकर में राग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

---

[1]काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध—उमा मिश्र, पृ० ४५।

[2]संगीत शास्त्र—के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २०६।

[3]हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत, (भूमिका) पृ० (ख), काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध, पृ ४१।

[4]संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० ३८।

योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ।[1]

अर्थात् स्वर तथा वर्ण द्वारा विभूषित श्रोताओं के चित्त को प्रसन्न करने वाली ध्वनि विशेष को राग कहते हैं। राग की उत्पत्ति में स्वर का हाथ है, इसीलिये राग का स्वरूप 'रञ्जक स्वर-सन्दर्भ' माना गया है। वैसे तो प्रत्येक स्वर रंजक होता है, परन्तु राग में स्वर-समूह के प्रयोग से और भी रंजकता आ जाती है।[2] लय-सहयोग से तालों में विभक्त पद इसी स्वर-समूह (राग) में गाया जाता है। ताल संगीत का एक मात्र अवलम्ब है। गाना बजाना और नाचना ये तीनों ताल पर ही प्रतिष्ठित हैं।[3] 'तालंकालक्रियामानम्'[4] के अनुसार ताल समय की नाप को कहते हैं। गाने, बजाने अथवा नाचने में जो समय व्यय होता है, उसी की नाप ताल कही जाती है। इसी ताल और राग के आधार पर संगीतशास्त्र में गाने की दो विधाएँ हैं। ताल का आधार लयात्मकता है और राग का स्वरात्मकता। लयात्मक होने के कारण छन्दों का ताल से सीधा सम्बन्ध है। प्रत्येक राग में ताल का आधार आवश्यक है, पर राग के भेदों और तालों का निश्चित संबंध नहीं होता। एक राग में कई प्रकार की तालों का अवलम्ब लिया जा सकता है और एक ही ताल कई रागों में गाई जा सकती है।[5] हिन्दी के मात्रिक छन्दों की यह विशेषता है, कि वे जिस प्रकार विभिन्न तालों में बैठ जाते हैं, उसी प्रकार वे विभिन्न रागों में भी गाये जा सकते हैं। राग स्वर के अधीन है और षडज, ऋषभ आदि सभी स्वर रस के अभिव्यंजक हैं।[6] इस दृष्टि से छंद का ताल से वहिरंग और राग से अंतरंग संबंध है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मानव की कोमल भावनाएँ जब लय और ताल में ढल कर तथा स्वर में वद्ध होकर गाई जा सकती है, तो उसकी संज्ञा संगीत हो जाती है।

हिन्दी के समस्त मात्रिक छन्द त्रिक, चतुष्क, पंचक, षष्ठक, सप्तक,

---

[1]अभिनव राग मंजरी—संगीतविशारद से उद्धृत, पृ० ८३।

[2]संगीतशास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, पृ० ३८।

[3]गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।
—संगीत-रत्नाकर। संगीत, ताल अंक से उद्धृत, पृ० ६।

[4]अमरकोश—प्रथम कांड, नाट्य वर्ग, श्लोक ६।

[5]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, पृ० ४६०-६१।

[6]संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० १६।

अष्टक तथा नवक सात लय-खंडों (पर्वों) पर आधारित है।[1] आगे सूर-द्वारा प्रयुक्त सभी छन्दों का इन्हीं लय-खंडों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है।

(१) त्रिक या षष्ठक के आधार पर चलने वाले छन्द—

**लीला, योगकल्प, कुण्डली प्रणय, कुण्डल, हीर, सारस विश्वभरण, लीलापति, विनय, नटनागर, हरिप्रिया, हरिप्रीता तथा हरिवल्लभा।**

(२) चतुष्क या अष्टक के आधार पर चलने वाले छन्द—

**शशिवदना, महानुभाव, सखी, कज्जल, चौपई, चौबोला, चौपाई (पादाकुलक) पद्धरि, उपवदनक, माली, रास, उपमित, उल्लास, सुखदा, उपमान, अवतार, रोला, मुक्तामणि, विष्णुपद, सरसी, सार, मरहटा-माधवी, ताटंक, उत्कंठा, वीरछन्द, समानसवैया, वदनसवैया, मदनशय्या, मदनहर, काममोहिता, अमर्षिता, प्रबोधन—दोहा, दोहकीय, सोरठा तथा उल्लाला।**

यद्यपि **जलतरंग** (३२ मा०) में सभी यति-खंड अष्टकात्मक नहीं हैं, किन्तु गायक लघु का गुरु और गुरु का लघु उच्चारण कर इसे अष्टमात्रिक ताल पर गा सकता है। अतः इसे हम अष्टकाधारित मान सकते हैं।

(३) पंचम के आधार पर चलने वाले छन्द—

**तोमर, चन्द्र, रतिवल्लभ, झूलना-हंसाल-करखा, प्रभाती, मानवती, विजया तथा शुभग।**

(४) सप्तक के आधार पर चलने वाले छन्द—

**रजनी, रूपमाला, मधुरजनी, गीता, गीतिका, हरिगीतिका, तथा माधव-मालती।**

(५) नवक के आधार पर चलने वाला कोई छन्द सूरसाहित्य में नहीं पाया जाता।

(६) प्रतिपाल, प्रफुल्लित और अरुणजयी कुछ दूर तक दशक के आधार पर चलने वाले कहे जा सकते हैं, क्योंकि इन तीनों छन्दों के सभी दशमात्रिक खंड दो पंचकों में विभाजित नहीं हैं।

लय-खंडों के आधार पर वर्गीकरण कर लेने के बाद अब हम यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि कौन छन्द किस ताल में गाया जा सकता है।

---

[1] आ० हि० काव्य में छन्दयोजना : डॉ० शुक्ल, ४६१।

## त्रिक एवं षष्ठक पर्व

त्रिक और षष्ठक पर्व दादरा (छः मात्रा) ताल में बैठ जाते हैं। षष्ठक का विषमात्मक रूप दादरे के अधिक अनुकूल है। समात्मक रूप दो त्रिकलों में एक साथ बैठाया जाता है। इस प्रकार लीला का एक चरण दादरे की दो आवृत्तियों में पूरा होता है।

भक्त हेत | देह धरन | ३+३+३+३
पहुमी को | भार हरन | ६+३+३
जनम जनम | मुक्तावन |[१] ३+३+६

योग-कल्प में दादरे के बोलों की तीन आवृत्तियों के बाद जो दो मात्राएँ बच जाती हैं, उस द्विकल को विराम अथवा प्लुत के द्वारा गायक त्रिकल बना लेगा। यथा—

वर्षा ऋतु | आई हरि | न मिले मा | ई।
विषम बूंद | तातें री | सहि नहि जा | ई।[२]

डॉ० शुक्ल के अनुसार निराला का निम्नांकित भृंग-चुंबित छन्द (जो भानु का योग छन्द कहा जा सकता है, यदि अंत में यगण की स्थापना पर विशेष बल नहीं दिया जाय।)

हुआ प्रात | प्रियतम तुम | जावगे च | ले।
कैसी थी | रात बन्धु | थे गले गले।

अर्जन ताल (२० मा०) में पूरा-पूरा ठीक बैठ जाता है।[३] इस प्रकार सूरदास का उपर्युद्धृत योग-कल्प छन्द भी अर्जुन ताल में बैठ सकता है।

त्रिक अथवा षष्ठक के आधार पर चलने वाले जितने छन्द हैं, दादरे की आवृत्तियों अथवा इसी प्रकार के बोलों पर आधारित तालों पर गाये जा सकते हैं। तालगण की मात्रा-न्यूनता की पूर्त्ति विरामादि के सहारे संगीत में हो ही जाती है। कुण्डल छन्द जब दादरे में बिठाया जायगा तो उसमें दो संगीत मात्राओं की पूर्त्ति करनी पड़ेगी, किन्तु उसी बोल पर आधारित अष्टमंगल ताल में वह बिलकुल ठीक बैठ जायगा।[४] इसी प्रकार कुण्डली और प्रणय गणेश ताल (दूसरा

---

[१]सूरसागर, पद ८६६। [२]सूरसागर पद ३६३५।
[३]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४६३।
[४]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४६३।

प्रकार २१ मा०) में[१] हीर मगध ताल[२] (२३ मा०) में और सारस रायबंक ताल (२४ मा०)[३] में बैठ सकते हैं। विश्वभरण, लीलापति आदि षष्ठक के आधार पर चलने वाले सभी छन्द दादरे की आवृत्तियों में बिठाये जा सकते हैं।

## चतुष्क एवं अष्टक पर्व

चतुष्क और अष्टक पर्व पर चलने वाले समस्त समप्रवाही छन्द नट ताल (४ मा०) वर्ण भिन्न ताल (८ मा०) घट ताल (८ मा०) और कहरवा[४] (८ मा०, संगीतशास्त्र के अनुसार ४ मा०)[५] ताल की आवृत्तियों में बैठ सकते हैं। इन तालों के बोलों पर आधारित विभिन्न मात्राओं की तालों पर विभिन्न समप्रवाही छन्द आसानी से बैठ सकते हैं।

**दशमात्रिक शशिवदना छन्द शूल ताल (१० मा०) में द्वादशमात्रिक महानुभाव इकताल, चौताला, द्रुताली और मदन ताल (१२ मा०) में, चतुर्दशमात्रिक सखी और कज्जल आडा चौताल (१४ मा०) में, पंचदशमात्रिक चौपई और चौबोला जगझंपा, छोटी सवारी, गजझंपा और इन्द्रताल (१५ मा०) में, षोडशमात्रिक चौपाई, पादाकुलक और पद्धरि ध्रुपद की सवारी, त्रिताल और तिलवारा (१६ मा०) में ठीक बैठेंगे।**

डॉ० शुक्ल ने निराला की निम्नांकित षष्ठकात्मक अणिमा छन्द की पंक्तियों को—

**फैली दिङ् | मण्डल में | चाँदनी।**
**बँधी ज्योति | जितनी थी | बाँधनी।**
**करती है | स्तवन मंद | पवन से।**
**गंध कुसुम | कलिकाएँ | भवन से।**

विष्णुताल और मयूर ताल ( १७ मा० ) में गेय माना है।[६] उपवदनक का निर्माण चौपाई के अंतिम लघु को गुरु कर देने से हो जाता है। जैसे—

---

[१]संगीत (ताल अंक), पृ० १२०। [२]संगीत (ताल अंक) १२१।
[३]संगीत (ताल अंक) पृ० १२२।
[४]संगीत (ताल अंक) १०८, १०९, ११०।
[५]संगीतशास्त्र—के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २२५।
[६]आ० हि० काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४९३।

धन्य कृष्ण अवतार ब्रह्म लियौ ।
रेख न रूप प्रकट दरसन दियौ । —सूरसागर, पद २२३५

इस प्रकार निराला की उपरिलिखित चार पंक्तियों में तीसरी के अतिरिक्त शेष पंक्तियों का निर्माण चौपाई के अंतिम लघु को गुरु कर देने से भी हो जाता है। तीसरी पंक्ति के साथ ऐसी बात नहीं, वह षष्टक के आधार पर चलती है और उसमें चौपाई की समप्रवाहिता नहीं। इसीलिये सूरदास की ऐसी समप्रवाही पंक्तियों को अणिमा से भिन्न दूसरा नाम—उपवदनक देना पड़ा। पर जब निराला की ये पंक्तियाँ विष्णुताल और मयूर ताल में गायी जा सकती हैं, तो उपवदनक छन्द भी इन दोनों तालों में बैठ सकता है, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार अष्टादशमात्रिक समप्रवाही माली छन्द गणेश ताल (१८ मा०) में एवं २२ मात्रापादी रास, उपमित, उल्लास और सुखदा भैरव ताल (२२ मा०) में बैठ जायँगे।

२३ मात्रापादी उपमान और अवतार भग्न ताल (२३ मा०) में तथा २४ मात्रापादी रोला अट ताल (२४ मा०) में बैठ सकते हैं।

साठवण्ठ ताल ( २६ मा० ) में विष्णुपद ठीक बैठ जाता है और एक मात्रा की पूर्त्ति से इसी ताल में मुक्तामणि छन्द भी बिठाया जा सकता है।

राजनारायण ताल ( २८ मा० ) में सार छन्द बैठता है। एक मात्रा की पूर्त्ति-द्वारा इसी में सरसी छन्द भी बैठ सकता है। चक्रताल मे (३० मा०) में ताटंक छन्द बैठता है। मरहटामाधवी को इसमें बिठाने के लिए एक मात्रा की पूर्त्ति करनी पड़ेगी। ३० मात्रापादी उत्कण्ठा छन्द भी चक्रताल में बैठ सकता है। समानसवैया चूड़ामणि (३२ मा०) ताल में बैठेगा और वीर छन्द भी इस ताल में एक मात्रा की पूर्त्ति-द्वारा बैठ जायगा। इसी चूड़ामणि ताल में जलतरंग भी गाया जा सकता है। यों १६ मात्रिक त्रिताल या रुद्रताल की दो आवृत्तियों में भी इसे बिठा सकते हैं। वदनसवैये को लक्ष्मी ताल (३६ मा०) में बिठाने के लिए संगीत की तीन मात्राओं की पूर्त्ति करनी पड़ेगी। इसी प्रकार मन्नशय्या, मदनहर आदि छन्द कहरवा की आवृत्तियों पर बिठाये जा सकते हैं।

प्रथम-तृतीय चरणों में ३ और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में ५ संगीत-मात्राओं की पूर्त्ति से दोहा कहरवा की दो आवृत्तियों में बैठ जायगा। दोहकीय और सोरठा भी कहरवा की दो आवृत्तियों में इसी प्रकार बैठ जायँगे।

त्रयोदशमात्रापादी उल्लाला विश्वताल और द्वितीयमण्ठिका तालों

(१३ मा०) में ठीक बैठते हैं। उल्लाला की पंचदशमात्रिक पंक्ति को इस ताल में बिठाने के लिए अतीत ग्रह[1] का सहारा लेना पड़ेगा।

## पंचक पर्व

हंसलोल ५ मात्राओं की और झपताल १० मात्राओं की तालें हैं। पंचक के आधार पर चलने वाले तोमर, चन्द्र, रतिवल्लभ, झूलना आदि सभी छन्द इन दोनों तालों में बैठ जाते हैं। तोमर के अतिरिक्त अन्य सभी छन्दों का आधार प्रायः रगणात्मक है। इसलिये ये सभी छन्द इन दोनों तालों की विभिन्न आवृत्तियों में बैठ सकते हैं। झपताल की दो आवृत्तियों (२० मा०) में यदि चन्द्र छन्द बिठाया जायगा, तो तीन मात्राओं की पूर्त्ति करनी पड़ेगी। इसी प्रकार तीन मात्राओं की पूर्त्ति से झपताल की चार आवृत्तियों में झूलना, हंसाल तथा करखा छन्द बैठ जायँगे। हंसलोल की ५ आवृत्तियों में रतिवल्लभ ४ मात्राओं की पूर्त्ति के साथ बैठेगा। विजया और शुभग तो झपताल की चार आवृत्तियों में ठीक-ठीक बैठ जायँगे। और प्रभाती और मानवती में क्रमशः दो और एक मात्रा की पूर्त्ति करनी पड़ेगी। तोमर का निर्माण प्रायः आदि में दो मात्राओं और दो पंचकों (रगण या तगण) से होता है। जैसे—

**सुनि | विटप चं | चल पात।**
**अति | निकट कौ | अकुलात।**
**आ | कुलित पुल | कित गात।**
**अनु | राग नै | न चुचात।** (सूरसागर, पद १२४१)।

अतः तोमर छन्द को झपताल में बैठाने में अतीत ग्रह का सहारा लेना पड़ेगा। यहाँ सुनि, अति आदि के गा लेने के उपरांत ताल का प्रारंभ होगा। यही बात निम्नांकित नित छन्द के साथ भी होगी। यथा—

**बे | ली द्रुम च | पल भए।**
**सुनि | पल्लव प्र | गटि नए।**

---

[1]गीत का आरंभ और ताल का आरंभ दोनों समकाल या आगे या पीछे होना संगीत सम्प्रदाय में मान्य है। इस व्यवस्था का नाम ग्रह है। × × गीत आरंभ होने के बाद अर्थात् अतीत होने के बाद ताल आरंभ हो, तो इसका नाम अतीत ग्रह है।

—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २१३।

## सप्तक पर्व

सप्तक पर्व के चार प्रचलित भेद हैं—(क) ।SSS (ख) S।SS (ग) SS।S और (घ) SSS। ।

रजनी, रूपमाला, गीतिका तथा माधवमालती प्रथम और द्वितीय सप्तक पर आधारित हैं। जैसे—

**(रजनी)—लेति सरबस | जुबति जन को | मदन विदित अ | मो ।**
**सूरसागर, पद १८४६ ।**

(रूपमाला)—**करहत बंसी | छिद्र परगट | हृदै छूछे | अंग ।**
**सूरसागर, पद १८४३ ।**

(गीतिका)—**जादि पंकज | कढ़्यौ बाहर | भयो ब्रज मन | भावना ।**
**सूरसागर, पद १६५५ ।**

**(माधवमालती) कृपासागर | गुननि आगर | दासि दुख बिन | ही बहायौ । सूरसागर पद ४७६८ ।**

७ मात्राओं की तेवरा और रूपक तालों में ये चारों छन्द बैठ जाते हैं। माधवमालती छन्द तो इन तालों की ४ आवृत्तियों में ठीक-ठीक बैठ जायगा। किंतु रजनी, रूपमाला और गीतिका में क्रमशः ५, ४ और २ मात्राओं की पूर्त्ति करनी पड़ेगी।

मधुरजनी, गीता और हरिगीतिका तृतीय सप्तक (SS।S) पर आधारित हैं। जैसे—

**(मधुरजनी)—प्रहलाद हित | जिहि असुर मा | र्‌यौ ताहि डरि | डरि डरि । सूरसागर पद ३०६ ।**

**(गीता)—दस दोइ बि | द्रुम दामिनी | षट तीनि ब्या | ल बिसेष ।**
**सूरसागर ३०८६ ।**

(हरिगीतिका)—**मन मोर ना | चत संग डो | लत मुकुट की | परछाहियाँ ।**
**—सूरसागर पद १६९० ।**

हरिगीतिका छन्द चार आवृत्तियों में ठीक-ठीक बैठ जाता है। मधुरजनी और गीता में तो ३ और २ मात्राओं की कमी हो जाती है, उसकी पूर्त्ति संगीत के द्वारा हो जायगी।

१४ मात्राओं की दो तालें हैं—झूमरा और दीपकचंदी। इन दोनों तालों में भी ऊपर के सभी छन्द ठीक-ठीक बैठ जायँगे।

## दशक पर्व

प्रतिपाल, प्रफुल्लित और अरुणजयी को हम दशकाधारित मान आये हैं। प्रतिपाल के प्रत्येक चरण में १०–१०–१०–६ मात्राएँ हैं, अरुणजयी में २०–१५ पर विश्राम देकर ३५ मात्राएँ हैं और प्रफुल्लित के प्रत्येक चरण में ४० मात्राएँ तो हैं पर प्रत्येक यति-खंड सममात्रिक नहीं हैं। अरुणजयी का उत्तरार्द्ध चौपई छन्द है। अतः इसकी आधी पंक्ति तो समप्रवाही है, किंतु आधी पंक्ति समात्मक नहीं है। प्रतिपाल और प्रफुल्लित में भी समप्रवाहिकता नहीं दिखाई पड़ती। संगीत के नियमानुसार लघु और गुरु का क्रमशः दीर्घ और लघूच्चारण-द्वारा अथवा प्लुत-विरामादि के द्वारा ये बहुत कुछ समात्मक बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार ये सभी छन्द शूल ताल की चार आवृत्तियों में बैठ जाते हैं। अवश्य प्रतिपाल में ४ और अरुण-जयी में ५ मात्राओं की पूर्ति करनी पड़ेगी। यों प्रतिपाल को एक ताल (१२ मा०) की तीन आवृत्तियों अथवा लक्ष्मीताल[1] (१८ मा०) की दो आवृत्तियो में भी गा सकते हैं।

## वर्णवृत्त

ताल का संबंध मात्रा से है, वर्ण से नहीं। इसलिये वर्णिक मुक्तक दंडक को ताल पर बिठाने के लिए उसके प्रत्येक वर्ण की एक-एक मात्रा मान कर उसे मात्रिक रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। रूपघनाक्षरी और जलहरण में ३२ वर्ण होते हैं। अतः इन्हें त्रिताल (१६ मा०) की दो आवृत्तियों में आसानी से बिठा सकते हैं। मनहरण के १५ वर्ण वाले खंड में एक मात्रा की पूर्ति करनी होगी। मिताक्षरी के साथ भी यही बात है। गोरस, नागर और सूरघनाक्षरी भी क्रमशः ४, ३ और २ मात्राओं की पूर्ति-द्वारा त्रिताल की दो आवृत्तियों में बैठ जायँगे।

भक्तों की भक्ति-साधना का आधार संगीत था, जिसे वे अनेक राग-रागनियों में गाया करते थे। सूरसागर के प्रायः समस्त पदों के ऊपर विभिन्न रागों का निर्देश है, जो यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक पद विशिष्ट राग में गाने योग्य है। अतः राग की दृष्टि से भी सूर के पदों की परीक्षा कर लेना आवश्यक है। सूरसागर में जितने रागों का उल्लेख है, उनकी संख्या ८७ बतलाई गई

---

[1]संगीत-विशारद : लेखक 'वसंत' पृष्ठ १९५।

है ।[1] चौदहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो-द्वारा रचित 'सरपरदा', 'साजगीरी' और 'झीलक' रागों का सूरसागर में अभाव देख कर आचार्य शुक्ल तथा मुंशीराम शर्मा के इस कथन को—कि सूरसागर में कोई राग-रागिनी छूटी नहीं है—चाहे हम यथार्थ नहीं मानें;[2] किंतु यह तो निर्विवाद है कि सूरदास ने जितनी राग-रागनियों का निर्देश किया है, उतनी का उल्लेख किसी पद-रचयिता ने नहीं किया ।

राग का छन्द से बहिरंग नहीं, अंतरंग संबंध है । जिस प्रकार किसी छन्द की ताल निर्दिष्ट होती है, उस प्रकार किसी छन्द का निर्दिष्ट राग नहीं होता । कोई विशेष छन्द एक ही ताल में, उसकी आवृत्ति में अथवा उसी तरह की सममात्रिक, समगति तथा समान लयवाली इतर तालों में गाया जा सकता है । किंतु, कोई विशेष छन्द एक नहीं अनेक रागों में गाया जा सकता है । कुशल गायक किसी भी पद को किसी राग में गा सकता है । सार छन्द को हम कान्हरी, नट, धनाश्री, बिलावल, सारंग, केदारी, मलार, रामकली, विहागरी, देवगंधार, झिंझोटी, विहाग, गौरी, सोरठ आदि अनेक रागों में गा सकते हैं ।[3] किंतु यही सार चतुर्मात्रिक अथवा अष्टमात्रिक तालों पर ही गाया जायगा, पंचमात्रिक और सप्तमात्रिक तालों पर नहीं । इससे स्पष्ट है कि छन्द के बाह्याकार से राग का कोई संबंध नहीं । राग का संबंध छन्द में निहित भाव, रस अथवा विषय-वस्तु से है । जिस प्रकार भावानुकूल छन्द भावों को व्यंजित कर पाठकों को रसानुभूति करा देता है, उसी प्रकार राग भी स्वरों के माध्यम से भावों को अभिव्यक्त कर श्रोताओं को रसमग्न कर देता है । रस के व्यंजक होने के नाते ही दोनों का पारस्परिक संबंध है ।

रस और राग का प्रगाढ़ संबंध है । स्वरों के मेल से राग की सृष्टि होती है और प्रत्येक स्वर के अपने-अपने विशिष्ट रस-भाव हैं । षडज और ऋषभ वीर-अद्भुत और रौद्र-रस प्रधान हैं । धैवत वीभत्स और भयानक रस का अभिव्यंजक है । गांधार और निषाद करुण रस-प्रधान हैं । मध्यम और पंचम हास्य और शृंगार-रस-प्रधान हैं ।[4] रस के साथ सातो स्वरों का संबंध भरत ने इस प्रकार उल्लिखित किया है—

---

[1] हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ० १८८–१९० ।
[2] काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध, पृ० १३१ ।
[3] देखिये—सूरसागर । [4] संगीतशास्त्र : के वासुदेव शास्त्री, पृ० १६ ।

हास्य-शृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ ।
षडजर्षभौ च कर्त्तव्यौ वीररौद्राद्भुतेष्वथ ।
गांधारश्च निषादश्च कर्त्तव्यौ करुणे रसे ।
धैवतश्च प्रयोक्तव्यौ वीभत्से च भयानके ।[1]

प्रत्येक स्वर में भाव और रस की सत्ता तो रहती ही है, किंतु वही स्वर जब आपस में मिलकर राग को जन्म देते हैं, तो रस का पूर्ण अनुभव होने लगता है। इसीलिये प्रत्येक राग किसी-न-किसी भाव या रस से सम्बद्ध माना गया है। 'यदि श्री राग शृंगार का प्रतीक है, तो भैरव वैराग्य का। राग नटनारायण में संगीत यदि भयानक शक्ति, साहस और वीरता का रूप धारण करता है, तो करुणा के आवेश में संगीत दो बूँद आँसू बन कर सोहनी के रूप में बह निकलता है। मालकोश के स्वरों में करुण रस उत्पन्न करने की महान् शक्ति है, तो शुद्ध कान्हड़ा या दरबारी गंभीर और संयत राग है। अड़ाना में चंचलता है, तो सोहनी में चपलता। नीरव निशीथ में विरह की निस्तब्धता का आह्वान पंचम राग के द्वारा परिस्फुट होता है, तो मेघराग से हृदय उल्लास, आशा और हर्षातिरेक से उद्वेलित हो जाता है।[2] एक राग में कोई एक विशिष्ट रस ही संचारित होता हो, ऐसी बात नहीं। एक ही राग कई रसों की अवतारणा में सक्षम होता है। इस लिये पद के भाव और रस को ध्यान में रख कर ही राग का निर्देश किया जाता है। इसके साथ ही भारतीय संगीतज्ञों ने राग को ऋतु और समय से भी संबद्ध किया है। जिस प्रकार विभिन्न रागों को विभिन्न ऋतुओं में गाने का विधान है, उसी प्रकार विशेष-विशेष राग विशेष-विशेष समयों पर गाने के उपयुक्त माने गये हैं।

सूरदास काव्य और संगीत दोनों में पारंगत थे। इस लिये एक ओर जहाँ भावानुकुल छन्दों का चयन कर उन्होंने अपने पदों को काव्य-सौन्दर्य से मंड़ित किया है; वहाँ दूसरी ओर भाव और वातावरण के अनुकूल रागों में गा कर उन्हें ( पदों को ) सांगीतिक मनोहारिता भी प्रदान की है। शास्त्रीय संगीत के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण सूरदास ने राग-सिद्धान्त का पूर्णतः पालन किया है। इसीलिये अनेक प्रकार के छन्दों में अभिव्यक्त समान भाव के लिये

---

[1]नाट्यशास्त्र २९।१७-१८।

[2]हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत : उषा गुप्त, पृ० २२०।

एक ही भाव-पोषक राग का निर्देश किया है। उदाहरण-रूप में ऐसे कुछ पद द्रष्टव्य हैं।

राग नट—नट राग वीरता, साहस तथा उत्साह का पोषक, वीर रस का राग है। इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति सूरदास ने रजनी+रूपमाला, सरसी, सार, हंसाल आदि अनेक छन्दों में की है। जैसे—

राधा स्याम-रंग-रंगी

रजनी + रूपमाला — रोम रोमनि भिदि गयौ सब, अंग-अंग पगी।
प्रीति दै मन लै गए हरि, नंद नंदन आपु।
कृष्न-रस-उन्मत्त नागरि, दुरत नहिं परतापु।[1]

राधे तेरे नैंन किधौं री बान।
सरसी— यौं मारे ज्यौं मुरछि परै धर, क्यों करि राखे प्रान।[2]

सार— राधे तेरे नैंन किधौं बटपारे।
तिहिं देखें बन के मृग मोहे, मानुस कौन बिचारे।[3]

हंसाल— नवल नन्द नन्दन रंगभूमि राजै।
स्याम तन, पीत पट मनौ घन में तड़ित,
मोर के पंख माथे विराजे।[4]

साहस, उत्साह और वीर भावों को अभिव्यक्त करने वाले उक्त सभी पदों को नटराग में गेय मानकर सूरदास ने शास्त्रीय नियम का ही पालन किया है।

**मारू और कान्हरा**—वीरता, उत्साह और साहस को व्यंजित करने वाले नट के समान मारू और कान्हरा भी वीर रस के राग हैं। वीर भावों की अभिव्यक्ति सूरदास ने सरसी (राम-कोप, पद ६०२) हंसाल+झूलना (हस्ती-वध, पद ३६७७) कुंडल (पद ३६६५) हंसाल (सुदक्षिण-वध, पद ४८२५, द्विविध-वध, पद ४८२६) सूरघनाक्षरी (पद ४८३५) आदि छन्दों में किया है, और ऐसे अधिकांश पदों को मारू राग में गेय बतलाया है। इसी प्रकार समानसवैये में लिखे जरासंध-वध (पद ४८२९) और कुवलया-वध से संबंध रखने वाले पदों को कान्हरो राग में गाने की व्यवस्था है।

**रामकली**—भैरव-ठाठ का राग होने के कारण रामकली प्रभातकालीन राग

---

[1]सूरसागर, पद २५४६। [2]सूरसागर, पद ३३६०।
[3]सूरसागर, पद ३३६१। [4]सूरसागर, पद ३६९६।

तो है ही, इसके श्रवण से भक्ति, त्याग, उपासना, प्रार्थना आदि के भाव भी उद्दीप्त होते हैं। सूरदास ने सार (पद २१) विष्णुपद (पद ३१) झूलना (पद २१४) रूपमाला (पद २५३) सरसी (पद ३३६) आदि अनेक छन्दों में भक्ति, त्याग, प्रार्थना आदि के भाव अभिव्यक्त किये हैं, और इन पदों को राग रामकली में गाने का निर्देश किया है।

**बिलावल**—बिलावल प्रातःकालीन राग है। इसीलिये कृष्ण को जगाने के लिये जो पद वीरछन्द (पद १०२१) ताटंक (पद १०२२) समानसवैया (पद १०२३) चौपाई (पद १०२ ) सरसी (पद १०२६) उपमान (पद ८२७) आदि छन्दों में लिखे गये हैं, सब बिलावल राग में गाने योग्य बतलाये गये हैं।

**ललित और भैरव**—राग के गाने का समय भी प्रभात काल ही है।[1] इसी लिये प्रभात वेला में कृष्ण को जगाने के समय गाये जाने वाले विभिन्न छन्दों में निबद्ध पदों को कवि ने ललित और भैरव राग में गाने का निर्देश किया है—

**हरिप्रिया—जागिये गोपाल लाल, आनँद-निधि नंदलाल**
**जसुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे। (राग ललित)**[2]

**सरसी—प्रात भयौ जागौ गोपाल।**
**नवल सुंदरी, आई बोलत, तुमहिं सबै ब्रजबाल (राग ललित)**[3]

**सार—उठो नन्दलाल भयौ भिनसार, जगावति नँद की रानी।**
**झारी कै जल बदन पखारौ, सुख करि सारँगपानी (राग भैरव)**[4]

यहाँ 'सारँगपानी' भक्तिभावना की ओर किंचित् निर्देश करता है। इसी लिये यह पद भैरव राग के उपयुक्त माना गया। इसी प्रकार वीर छन्द में निबद्ध[5] भक्त के उपालंभ को गाने के लिये भैरव राग का ही निर्देश किया गया।

**मलार राग**—मलार राग वर्षा-काल में गाया जाता है। इसीलिये सूरदास ने गोवर्धन-धारण के प्रसंग में ताटंक (पद १४८८) झूलना+हंसाल (पद १४८ ) सार (पद १४९७) आदि छन्दों में निबद्ध वर्षा-वर्णन से संबंध रखने वाले पदों को मलार राग में गाना समीचीन समझा है। इतना ही नहीं, जिस

---

[1]ललित को संगीत-विशारद में रात्रि के अंतिम प्रहर का राग माना है। पृ० १७३।

[2]सूरसागर, पद ८२३। [3]सूरसागर, पद ८२४।

[4]सूरसागर, पद ८२७। [5]सूरसागर, पद ७४५।

पद में गोपियाँ मेघ की कल्पना कामदेव के रूप में करती हैं, हरिप्रिया-निबद्ध उस पद को भी मलार राग में ही गाने का निर्देश है। जैसे—

माई री ये मेघ गाजैं।
मनहुँ काम कोपि चढ्यौ, कोलाहल कटक बढ्यौ,
बरहा पिक चातक जय जय निसान बाजैं।[1]

**विभास**—शास्त्रों में विभास राग को प्रातःकाल में गेय बतलाया है। इसीलिये सूरदास ने खंडिता नायिका के निम्नांकित छन्दों में निबद्ध उपालंभ को विभास राग में गाने का निर्देश किया है।

**हाकलि— + विष्णुपद—** { सुनत सखी तहँ दौरि गई।
सुने स्याम सुखमा के आए, धाई तरुनि नई।

**सरसी**—कोउ निरखति मुख, कोउ निरखति अंग, कोउ निरखति रँग और।
रैनि कहूं फँग परे कन्हाई, कहति सबै करि रौर।

**सार**—तब कहि उठी नारि सुषमा यह, भाग हमारैं आए।
सूर स्याम धनि बाम तुम्हारी, जिनि निसि बस करि पाए।[2]

**समानसवैया**—आजु अनत जागे री मोहन, भोरहिं मेरे कीन्हौं है आवन।[3]

प्रभात-वर्णन के प्रसंग से संबद्ध मनहरणघनाक्षरी भी ललित और विभास रागों में गेय बतलाया गया है।[4]

**विहागरौ**—विहागरौ रात्रिकालीन राग है। अतः रात्रिकाल से संबंध रखने वाले विभिन्न छन्दों में लिखे पदों को विहागरौ राग में गाने का निर्देश है।

**विष्णुपद**—हरि बिनु बैरनि नींद बढ़ी।
हौं अपराधिनि चतुर विधाता, काहैं बनाइ गढ़ी।[5]

**रूपमाला**—मातु पितु अवसेरि करिहैं, गवन कीजै गेह।
सूर प्रभु प्रिय त्रिया आगे, प्रगट्यौ पूरन नेह।[6]

**वीरछन्द**—वह तो मेरी गाइ न होइ।
सुनि मैया मैं विरथा भरम्यौ, बन देख्यौ, नैननि भरि जोइ।[7]

---

[1]सूरसागर, पद ३६१६। [2]सूरसागर, पद ३२५६।
[3]सूरसागर, पद ३२६२। [4]सूरसागर, पद २६५६ और २६५७।
[5]सूरसागर, पद ३८८७। [6]सूरसागर, पद २६१६।
[7]सूरसागर, पद २६२३।

सार—बनहिं धाम सुख-रैनि बिताई।
तैसिये नवल राधिका नागरि, तैसइ नवल कन्हाई।[1]

धनाश्री—धनाश्री राग को मांगलिक प्रसंग पर गाने का विधान है। दम्पति का मिलन भी एक मांगलिक प्रसंग है। अतः इस प्रसंग का वर्णन जिन हरिप्रिया (पद २७६७) सरसी (पद २७६८, २८०१) झूलना+हंसाल (पद २७७२) आदि छन्दों में किया है, सबको धनाश्री राग में गेय बतलाया है।

पूरबी—पूरबी विप्रलंभ श्रृंगार का संध्याकालीन राग है। इसी लिये कवि ने मनहरण (पद ३१९१) और सूरघनाक्षरी (पद ३३७२) में निबद्ध मान के प्रसंग वाले पद को पूरबी राग में गाने योग्य बतलाया है।

वसंत—वसंत वसंतकालीन राग है। वसंत, उसकी मादकता तथा उस काल की केलि-क्रीड़ा का वर्णन सूरदास ने रूपमाला (पद ३४६२) चौपाई (पद ३४६३) समानसवैया (पद ३४६४) पद्धरि (पद ३४६५—६७, ७३) सार (पद ३४६६) कज्जल (३४६८—७०) सार+सरसी+विष्णुपद (३४७१, ३४७२) छन्दों में किया है और सब पदों को वसंत राग में गेय बतलाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावानुकूल छन्दों में अपनी वाणी को प्रकट कर और उसे तदनुकूल भाव-पोषक रागों में गा कर सूरदास ने छन्द और राग का जो अंतरंग संबंध है, उसका पूर्ण निर्वाह किया है।[2]

---

[1]सूरसागर, पद २७९३।

[2]छन्दों की ताल निर्धारित करने में 'संगीत' (हाथरस) के 'ताल-अंक' और 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्दयोजना' से तथा रागों की रसोप-युक्तता एवं समयानुकूलता दिखलाने के लिये वसंत कृत 'संगीत-विशारद' और 'हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत' से विशेष सहायता ली गई है।

# पद-साहित्य में प्रयुक्त छन्द:एक सर्वेक्षण

काव्य का प्रतिपाद्य जीवन है और मनुष्य के जीवन में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ सदैव आती रहती हैं। फलस्वरूप मानव-हृदय में विविध प्रकार के भावों का उद्रेक होता है। काव्य में इन्हीं भावों की अभिव्यंजना होती है। भाव की अभिव्यक्ति में तदनुकूल छन्द भी सहायता प्रदान करता है, इसीलिये अनेक प्रकार के भावों को प्रकट करने के लिए कवि अनेक प्रकार के छन्दों को प्रयुक्त करने के लिए विवश हो जाता है। 'सम्पूर्ण भारतीय साहित्येतिहास में महान् कवियों ने अपनी सर्वोत्तम कृतियों में कम से कम छन्दों का प्रयोग किया है।'[1] डॉ० 'महेश' का यह कथन बहुलांश में सत्य नहीं कहा जा सकता। अपने कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिन वेद, रामायण, महाभारत और रामचरितमानस का उल्लेख किया है, उनमें प्रयुक्त विविध प्रकार के छन्दों को देखते हुए भी उनका कथन विशेष महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता। वेदों में गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुभ्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती ये सात छन्द प्रमुख रूप से अवश्य प्रयुक्त हुए हैं; किन्तु इन छन्दों के भेदोपभेद की जितनी संख्याएँ वेदों में उपलब्ध होती हैं, उनसे वेदों के विशाल छन्दोविस्तार की सूचना सहज ही मिल जाती है। वाल्मीकि रामायण का मुख्य छन्द अनुष्टुप है, किन्तु अनेक सर्गों में उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा)[2] तथा वंशस्थ[3] छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। कतिपय स्थलों पर रुचिरा[4] का प्रयोग भी मिलता है। वाल्मीकि रामायण में समछन्द के अतिरिक्त अर्द्धसम अपरवक्त्र[5] और पुष्पिताग्रा[6] का भी प्रयोग हुआ है। महाभारत में अनुष्टुप के अतिरिक्त उपजाति का प्रयोग बहुलता से मिलता है।[7] कर्ण पर्व के कुछ श्लोकों

[1]The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody. Chap. II, p. 17

[2]अयोध्याकाण्ड सर्ग २१।५१-६२

[3]अयोध्याकाण्ड सर्ग ३४।५५-६१। [4]अयोध्याकाण्ड २१।६४।

[5]अयोध्याकाण्ड २०।५५। [6]बालकाण्ड २।४३।

[7]सभा पर्व, अ० ६७, वन पर्व, अ० ३४, विराट् पर्व, अ० ५४ उद्योग पर्व, अ० ३०।

की रचना वंशस्थ में हुई है ।[1] मालिनी छन्द भी वहाँ उपलब्ध होता है ।[2] महाभारतकार तो पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी अपने भावों को प्रकट करने में नहीं चूके हैं ।[3] यदि परिश्रम उठाकर ढूँढ़ा जाय, तो इन दोनों विशाल ग्रंथों में और दूसरे छन्द भी मिल जा सकते हैं। रामचरितमानस की रचना दोहा-चौपाई छन्दों में हुई है, साधारणतः ऐसा हम अवश्य कहते हैं। किन्तु, तुलसीदास ने रामचरितमानस में भाव तथा विषय के आवश्यकतानुसार अनेक छन्दों का प्रयोग किया है । प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में लिखित स्तुति-प्रार्थना-परक संस्कृत पद्यों के अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका, वंशस्थ, उपजाति, मालिनी, स्रग्धरा तथा रथोद्धता छन्दों के अतिरिक्त रामचरित के वर्णन में दोहा, दोहरा, सोरठा, चौबोला, चौपाई, हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभंगी, पद्मावती, तोमर, प्रमाणिका, तोटक तथा भुजंगप्रयात छन्दों का प्रयोग तुलसीदास ने किया है । इस प्रकार सब मिलाकर रामचरितमानस में २१ प्रकार के छन्द मिलते हैं । हरिगीतिका तो बहुशः प्रयुक्त हुई है, और तोमर एवं तोटक का प्रयोग भी कई स्थलों पर हुआ है । सूफी कवियों ने अवश्य अपने को दोहा-सोरठा, चौपाई-चौबोला तक सीमित रक्खा है। इसका कारण यह है कि सूफी काव्यों में जीवन की विविधता नहीं है । वे प्रेम-काव्य हैं, और अधिकतर 'प्रेम की पीर' को लेकर लिखे गये हैं। यह तो प्रबन्ध-काव्यों के प्रणेताओं की बात हुई । मुक्तक-काव्यकारों का काम तो बिना अनेक छन्दों को अपनाये चल ही नहीं सकता । उनके समय-समय पर हृदय में उमड़े उद्गार नाना प्रकार की भंगिमाओं के साथ अनेक छन्दों में ढल जाते हैं । रीति लक्षणकारों के काव्य, जो दोहा-कवित्त-सवैयों में सिमट कर रह गये, उसका कारण भी विषय की एकनिष्ठता तथा कवि-हृदय के प्रकृत उद्गारों का अभाव ही है । मुक्तक-रचनाकारों ने अनेक छन्दों की ओर अपनी स्वाभाविक रुचि प्रदर्शित की है ।

प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक के मुक्तक काव्यों के अध्ययन से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि मुक्तक-काव्यकारों ने और विशेषतः पद-रचयिताओं ने अनेक प्रकार के छन्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त किया । पद-रचयिताओं ने अपने हृदय के सहज उद्गार को अनेक लयों में अभिव्यक्त किया । उन लयों में अनेक लयें तो शास्त्रकारों के यहाँ अनेक छन्दों

[1]कर्ण पर्व, अ० ८५।५-२३ । [2]कर्ण पर्व, अ० ८५।१-४ ।
[3]वन पर्व, अ० १९७।१-२९ ।

के नाम से प्रतिष्ठित थीं। कुछ लयों पर आचार्यों की दृष्टि नहीं पड़ सकी, अतः वे उपेक्षित बनी रहीं। आज वे ही लयें तत्तत् कवि के नूतन प्रयोग मानी जा सकती हैं। कवि के काव्यों में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग अवश्य होता है; किंतु, भाव और विषय के अनुकूल कवि खास-खास छन्दों में विपुल परिमाण में रचना करता है। इससे उसका उन विशिष्ट छन्दों पर अधिकार-सा हो जाता है और वे उसके प्रिय छन्द माने जाते हैं। आचार्यों ने इसी आधार पर कालिदास के मन्दाक्रांता, भवभूति के शिखरिणी, पाणिनि के उपजाति, भारवि के वंशस्थ तथा माघ के मालिनी छन्दों की प्रशंसा की है। हिन्दी में बिहारी के दोहे, तुलसीदास की चौपाई, गिरिधर की कुंडलिया, पद्माकर के कवित्त तथा नाभादास के छप्पय अत्यन्त ललित माने जाते हैं।[1] खड़ी बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों (यद्यपि चौपदों में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है।[2]—लेखक) सनेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।[3] यही बात पद-रचयिताओं के साथ भी है। इन्होंने भी अपने पदों की रचना अनेक छन्दों में की है, किन्तु भावानुकूलता और सांगीतिक सुविधा के लिए कुछ विशिष्ट छन्दों को विशेष महत्व दिया है और इस प्रकार वे उनके प्रिय छन्द माने जा सकते हैं। सूरदास ने अपने विशाल साहित्य की सृष्टि अनेक प्रकार के छन्दों में की है, जिनका अध्ययन हम पीछे कर आये हैं। यहाँ उनके पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती प्रमुख पद-रचयिताओं के छन्दों का भी थोड़ा विवेचन कर लेना आवश्यक है, ताकि इन सब के छन्दःप्रयोग और नूतन छन्दोनिर्माण के परिपार्श्व में सूरदास की विशेषताओं का कुछ आभास मिल जाय।

**गोरखनाथ**—गोरखनाथ के पदों में सार, ताटंक, चौपाई, पयार (१४ अक्षर), मुक्तामणि, चौपई, चौबोला, गरसी, चन्द्र, तोमर, कुण्डल-प्रणय, तमाल आदि छन्द मिलते तो अवश्य हैं, पर उनका सधा-निखरा हुआ रूप नहीं मिलता। मात्राओं की घट-बढ़ प्रायः सर्वत्र मिलती है। मात्राओं की इस घट-बढ़ के बीच जो एक लय यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है, उसको ध्यान में रखते हुए यह अवश्य कहा जायगा कि गोरखनाथ ने इतने छन्दों में अपने पदों को निबद्ध

---

[1] **छन्दःप्रभाकर : भानु, पृ० ६८।**

[2] **पीछे 'नवीन छन्द और नामकरण की समस्या'।**

[3] **पल्लव की भूमिका : पंत, पृ० ३६।**

किया है। गोरखनाथ के छन्दःप्रयोग में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि हिन्दी में सर्वप्रथम पयार और समान सवैया छन्द का प्रयोग इन्होंने ही किया।

**विद्यापति**—हिन्दी के प्रारंभिक काल में विद्यापति ने जिस पदावली की रचना की, उसमें करीब ३३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। विद्यापति ने अहीर, लीला, महानुभाव, चण्डिका (उल्लाला), हाकलि, चौपई, चौबोला, चौपाई, पद्धरि, सुखदा, रूपमाला, नाग, सरसी, सार, मरहटामाधवी तथा झूलना छन्दों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से किया है। इन छन्दों के अतिरिक्त मिश्र-रूप में भी अनेक छन्द पदावली में मिलते हैं। अखण्ड, निधि, दीप, मनोरम, कज्जल, विजात, उल्लास, रजनी, गीता, गीतिका, विष्णुपद, हरिगीतिका, ताटंक, वीरछन्द तथा समानसवैये का प्रयोग किसी भी पद में आद्योपांत नहीं हुआ है। इनकी दो-चार पंक्तियाँ अन्य छन्द या छन्दों के साथ मिली हुई हैं। प्रत्येक रस-सिद्ध कवि अपने भावों को प्रकट करने के लिए प्राचीन छन्दों को तो अपनाता ही है, कतिपय नूतन छन्दों का भी आविष्कार करता है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने अपने भावों के उपयुक्त जो नाना प्रकार के नूतन छन्दों का निर्माण किया, वह किसी भी बंग भाषा के अध्येता से छिपा नहीं है। विद्यापति ने भी कुछ नये छन्दों का निर्माण किया है। नाग, विजात, उल्लास, रजनी, गीता ऐसे ही छन्द हैं। रजनी के पीछे कवि का सचेतन प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उल्लास और गीता के चरण कवि-प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द-संकट के परिणाम माने जा सकते हैं। नाग की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त विद्यापति में १४–९ और १४–१० के दो छन्द मिलते हैं। जैसे—

**(क) विपत अपत तरु पाओल रे।**
**पुन नव नव पात।**
**विरहिन-नयन बिहिल बिहि रे**
**अविरल बरिसात।**[1]

**(ख) चानन भेल विषम सर रे**
**भूषन भेल भारी।**

---

[1] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पृ० २०७।

सपनहुँ हरि नहिं आएल रे
गोकुल गिरिधारी।[1]

इस प्रकार के छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं। भानु के यहाँ १४–९, अंत ऽ। का एक सुजान छन्द है, पर वह त्रिकल के आधार पर (प्रारंभिक एक द्विकल के बाद) चलता है[2] और विद्यापति का पद समप्रवाही है। १४–१० के दो छन्द भानु के यहाँ मिलते हैं—रूपमाला और शोभन। इनकी गति से विद्यापति के उक्त पद का कोई साम्य नहीं। लय-भिन्नता के कारण इसे रोला भी नहीं कह सकते। अवश्य ये दोनों छन्द भी विद्यापति के निर्माण हैं, जिनका नामकरण आज तक नहीं हुआ। सूरदास में इन दोनों छन्दों का प्रयोग नहीं मिलता। रजनी, उल्लास और गीता का प्रयोग उन्होंने अवश्य किया है। विद्यापति ने कुछ पदों में सार-सरसी के प्रत्येक चरण के बाद 'गे माई' की आवृत्ति की है,[3] सूरदास ने भी ऐसा प्रयोग अनेक पदों में दोहे के चरणों के बाद किया है। विद्यापति ने कई पदों में सांगीतिकता के लिए चरणों के पूर्वार्द्ध के अंत में 'रे' की योजना की है (उदाहरण-रूप में उपरिलिखित दोनों पद द्रष्टव्य हैं) सूरदास ने ऐसा प्रयोग कहीं नहीं किया। अवश्य दोहे के विषम चरणों के बाद 'रे' की स्थापना की है। जैसे—

**मीन वियोग न सहि सकै, (रे) नीर न पूछे बात।**
**देखि जु तू ता की गतिहिं, (रे) रति न घटै तन जात।**[4]

विद्यापति ने कहीं-कहीं सरसी के चरणों में पादान्तर्गत तुक की योजना की है।[5] सूरदास ने हंसाल, हरिप्रिया आदि लम्बे छन्दों में ही ऐसा किया है यों सारसरसी आदि अपेक्षाकृत छोटे छन्दों की भी दो-चार पंक्तियों में ऐसी तुक योजना मिल जाती है।

विद्यापति ने सार, सरसी, चौपाई और चौपई छन्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में किया है। सार और सरसी का प्रयोग ३०–३० पदों में स्वतंत्र रूप से और सार-सरसी का मिश्रित प्रयोग ४१ पदों में किया है। इसी प्रकार चौपई-चौपाई का मिश्रित प्रयोग ३६ पदों में हुआ है। किंतु पदावली में सबसे

---

[1] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पृ० २०६।
[2] छन्दःप्रभाकर, पृ० ६२।
[3] विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २३५, २४८।
[4] सूरसागर, पद ३२५।
[5] विद्यापति की पदावली, पद २२, २८, ७१।

अधिक पद चौपई छन्द के हैं, जिनकी संख्या ५४ है। जहाँ सूरदास ने चौपई छन्द का प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक प्रसंगों में किया है, वहाँ विद्यापति ने अपने श्रृंगारिक भावों की इस छोटे छन्द में सफल अभिव्यक्ति की है। छोटे-छोटे गीतों का सफल वाहक बन कर यह विद्यापति का प्रिय छन्द बन बैठा। विद्यापति ने लम्बे छन्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। दण्डक (भूलना) का प्रयोग तो केवल एक पद में हुआ है। ताटंक, वीर, समानसवैये के तो दो-चार चरण ही मिलते हैं। लम्बे छन्दों में सार-सरसी को ही ले सकते हैं, जिनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। गीतकार होने के नाते विद्यापति ने छोटे छन्दों की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई। सूरदास ने यों तो छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के दण्डकों की रचना की है; किंतु, सार, सरसी और समानसवैये की ओर उनका विशेष झुकाव था। विद्यापति और सूरदास दोनों ने हरिगीतिका की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। गीतिका और रूपमाला के पद दोनों में अवश्य मिलते हैं, किन्तु सूरदास में रूपमाला के पद प्रचुर संख्या में हैं। कुण्डल सूरदास के प्रिय छन्दों में है, विद्यापति में कुण्डल का कहीं पता नहीं।

**कबीरदास और अन्य संत कवि**—'मसि-कागद' नहीं छूने के कारण, संभव है, कबीरदास छन्दों के जानकार नहीं रहे हों। किन्तु उन्होंने अपनी मस्ती में खंजड़ी पर जो पद गाये, वे आप ही आप अनेक छन्दों में निबद्ध हो गये। कबीर के पदों में चौपाई, दोहा, सार, ताटंक, उपवदनक, चौपई, मुक्तामणि, उपमान, कुण्डल, समानसवैया, विष्णुपद, रूपमाला, सरसी, मरहटा-माधवी, हंसाल, वीर छन्द, सखी, पद्धरि, चांद्रायण, भूलना, मत्तसवैया, वदन सवैया, विजात, राधिका, (लावनी) हरिगीतिका ये २५ छद मिलते हैं। इनके अतिरिक्त दोहकीय, चौबोला, हंसगति, गोपी, सुलक्षण, गीता, महानुभाव, दोही, कज्जल, गीतिका, उपमित, पादाकुलक आदि के चरण भी अन्य छन्दों के साथ मिले हुए हैं। कबीर ने जान-बूझ कर किसी नूतन छन्द का आविष्कार किया होगा, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। अपनी मौज में उन्होंने जो गाया, उसमें दो-एक नूतन छन्द बन गये। मत्तसवैया और वदनसवैया इसी कोटि में रक्खे जा सकते हैं। इन नूतन छन्दों के अतिरिक्त उनके पदों में विभिन्न छन्दों के क्रमायोजन में थोड़ी नवीनता भी दिखलाई पड़ती है। महानुभाव-चौपाई[1],

---

[1]कबीर ग्रंथावली, पद ३१, १८५, २६५।

महानुभाव-सखी[1], तथा चौपाई-हंसगति[2] के चरणों के क्रमबद्ध मिश्रण से जिन पदों की रचना हुई है, उनमें कवि की थोड़ी सतर्कता अवश्य दिखलाई पड़ती है। सूरदास ने इन छन्दों का इस प्रकार क्रमबद्ध मिश्रण कहीं नहीं किया। मत्त-सवैया भी सूर के यहाँ प्राप्त नहीं होता। वदनसवैये का प्रयोग उन्होंने अवश्य किया है।

कबीर के पदों में सार की संख्या सबसे अधिक है। कबीर-ग्रंथावली और कबीर-वचनावली में प्राप्त सार की संख्या २६६ है। रचना-सौकर्य और सांगीतिक सौविध्य के कारण सार पद-रचयिताओं का प्रिय छन्द रहा है। सूरसाहित्य में भी सर्वाधिक संख्या सार छन्द की ही है। सार के बाद कबीर की पदावली में चौपाई का स्थान आता है। विद्यापति के विपरीत कबीरदास ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के छन्दों के प्रयोग की ओर अपनी रुचि दिखलाई है। जहाँ विद्यापति ने केवल एक पद में झूलना का प्रयोग किया है, वहाँ कबीर ने झूलना-हंसाल में १३ पद लिखे हैं। विद्यापति और सूरदास द्वारा प्रयुक्त सरसी छन्द की संख्या को देखते हुए यह अवश्य कहा जायगा कि कबीर ने सरसी को विशेष महत्व नहीं दिया। विद्यापति के विपरीत कबीर ने उपमान और कुण्डल में भी कुछ पदों की रचना की है। सूरसागर में इन दोनों छन्दों की बहुत बड़ी संख्या है। सप्तक के आधार पर चलने वाले रूपमाला, गीतिका और हरिगीतिका छन्द भी कबीर-साहित्य में मिलते हैं। सूरदास ने रूपमाला का तो बहुशः प्रयोग किया है, गीतिका में भी कई पद निबद्ध हैं, किन्तु हरिगीतिका की पंक्तियाँ प्रायः गीतिका के साथ मिली हुई हैं। एकाध स्थल पर ही हरिगीतिका के चारों चरण पाये जाते हैं। कबीर ने ।SSS सप्तक पर आधारित विजात का भी प्रयोग किया है। विद्यापति में इसकी दो-एक पंक्तियाँ मिलती हैं। सूरसाहित्य में इसका प्रयोग केवल छन्दक में हुआ है। कबीर ने चांद्रायण और राधिका छन्द भी लिखे हैं। विद्यापति में ये दो छन्द उपलब्ध नहीं होते। सूरदास ने राधिका का प्रयोग तो एकदम नहीं किया, चांद्रायण की कुछ पंक्तियों का प्रयोग छन्दक-रूप में अवश्य किया है। भक्ति-काल के अन्य संतों ने भी प्रायः उन्हीं छन्दों में अपने पदों की रचना की है, जिनमें कबीरदास ने। उनके पूर्ववर्ती नामदेव में

---

[1]कबीर ग्रंथावली, पद २६४, परिशिष्ट ५३, १६७।

[2]कबीर ग्रंथावली, पद २३४।

उज्जवला मात्रिक की[1], रामानंद में श्रृंगार की[2] तथा उनके परवर्ती रैदास में १४ वर्ण वाले छन्द की[3] एवं नानक में चौपैया की[4] दो-चार पंक्तियाँ अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका प्रयोग कबीरदास में नहीं मिलता। इसी प्रकार रजनी की[5] कुछ पंक्तियाँ गुरु अर्जुन में मिलती हैं, पर कबीर में नहीं।

**कृष्णभक्त कवि और मीराबाई**—अष्टछापी कुंभनदास-परमानन्द आदि तथा हितहरिवंश-गदाधर भट्ट आदि कृष्णभक्त कवियों के प्राप्त पदों के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूरदास तथा इन कवियों का छन्दः प्रयोग सामान्यतया एक ही ढंग का है। इनके काव्यों में अधिकतर वे ही छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका प्रयोग सूरदास ने किया है। सूर-द्वारा अनेक नव-निर्मित छन्द इन कवियों-द्वारा अपना लिये गये हैं। सूर-द्वारा आविष्कृत विनय का कृष्णदास ने, सूरघनाक्षरी और नागर का नंददास ने, हरिवल्लभा और नटनागर का छीतस्वामी ने, हरिप्रीता का चतुर्भुजदास ने, सूरघनाक्षरी और विजया का हितहरिवंश ने तथा हरिप्रीता, मानवती एवं विजया का गदाधर भट्ट ने प्रयोग किया है। इन कवियों में हितहरिवंश ने एक १४ वर्ण वाले छन्द का प्रयोग किया है, जो सूरसाहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

मीराबाई के पदों में छन्दों की उतनी विविधता नहीं मिलती। फिर भी रूपमाला, ताटंक, सरसी, सार, कुण्डल. समानसवैया, दोहा, विष्णुपद, उपमान, दोहकीय, मरहटामाधवी, रजनी, मनहरणघनाक्षरी, वीरछन्द, चौपाई, गीता, मुक्तामणि तथा हंसगति—ये १८ छन्द हैं, जिनका प्रयोग स्वतंत्र और मिश्र दोनों रूपों में मीरा ने किया है। इन छन्दों के अतिरिक्त एक पद में उन्होंने एक ऐसे छन्द का प्रयोग किया है, जिसका नामकरण आज तक नहीं हो सका है। जैसे—

**तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी।**
**आदि अंत निज नाव तेरो, हीया में फेरी।**

---

[1] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पद १८।

[2] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पद २, ३।

[3] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पद ११।

[4] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पद ११।

[5] संतकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी—पद १३।

बेरि-बेरि पुकार कहूं, प्रभु आरति है तेरी।
नाव फाटी प्रभु पाल बाँधो, बूड़त है बेरी।[1]
(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

इस पद के प्रत्येक चरण में १५-१० पर विश्राम देकर २५ मात्राएँ हैं। इस प्रकार का कोई छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं। वस्तुतः यह विष्णुपद के पूर्वार्द्ध के द्वितीय अष्टक को सप्तक (त्रिकल-चौकल) कर देने से बन गया है। 'तुम मेरे प्रतिपाला कहिये' होने से यह पंक्ति विष्णुपद की हो जायगी। यह मीरा का नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। सूरसाहित्य में इस प्रकार का कोई छन्द प्राप्त नहीं। सूर-द्वारा आविष्कृत किसी नये छन्द का प्रयोग मीरा में नहीं मिलता। रजनी छन्द अवश्य मिलता है; किंतु रजनी का प्रयोग सूरदास के पूर्व विद्यापति ने ही किया है।

**तुलसीदास**—तुलसीदास के पद-साहित्य में करीब ४२-४३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। चौपाई, वीर छन्द, सार, उपमान, हंसाल-झूलना, पद्धरि, विनय, विजया, प्रणय, समानसवैया, मरहटामाधवी, मनहरण, रूपमाला, हरिगीतिका, अरुण, ताटंक, मिताक्षरी, रूपघनाक्षरी, कुण्डल, उत्कण्ठा, विष्णुपद, सरसी, उपमित, रोला, सखी, पादाकुलक, हीर, सूरघनाक्षरी, दोहा, दोहकीय, दोहरा, मानवती, रास, हरिप्रिया, चौपई, जलहरण, नागर, गोरस, नाग, गीता आदि छन्दों का प्रयोग तुलसीदास ने विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली में किया है। दो-तीन छन्दों के मिश्रण से पद-निर्माण की स्वतंत्रता प्रायः सभी पद-रचयिताओं में देखी जाती है। तुलसीदास ने भी इस स्वतंत्रता का उपयोग किया है; किंतु, अधिकांशतः उन्होंने एक ही छन्द में पूरे पद को निबद्ध किया है। सार-ताटंक, सार-विष्णुपद, सरसी-सार, दोहा-दोहकीय, हंसाल-मानवती आदि का मिश्रित प्रयोग कुछ ही पदों में हुआ है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुलसीदास छन्दःप्रयोग में अन्य पद-रचयिताओं की अपेक्षा अधिक सतर्क थे। इस सतर्कता के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि भाव की एकनिष्ठता के कारण उन्होंने प्रायः एक पद में एक ही छन्द का प्रयोग किया है। सूरदास ने एक पद में कई तरह के भावों को अभिव्यक्त किया है, इसलिये उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कई छन्दों का सहारा लिया है। यों एक छन्द में लिखे हुए पदों की संख्या सूरसाहित्य में

---

[1]मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद ६३।

भी कम नहीं है। विद्यापति के साथ भी यही बात कही जा सकती है। कबीर में जो अनेक छन्दों का मिश्रण है, उसके मूल में कवि-प्रयत्न-शैथिल्य को देखना ही विशेष बुद्धि-संगत है।

तुलसीदास के पदों में शास्त्रोल्लिखित प्राचीन छन्दों का प्रयोग तो हुआ ही है, विनय, विजया, प्रणय, मिताक्षरी, उत्कण्ठा, उपमित, सूरघनाक्षरी, मानवती, हरिप्रिया, नागर, गोरस आदि ऐसे छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनके आविष्कार का श्रेय हम सूरदास को दे आये हैं। इतना ही नहीं, तुलसीदास ने चौपाई-हरिगीतिका तथा योग-कल्प-हरिगीतिका के मिश्रण से जिन प्रगाथिक छन्दों का प्रयोग किया है[1], उसके प्रेरणा-स्रोत भी सूरदास के ऐसे पद माने जा सकते हैं।[2] इन दोनों छन्दों में चौपाई अथवा योग-कल्प की अंतिम पंक्ति के शब्द और भाव की आवृत्ति जिस ढंग से हुई है, उसी ढंग से सूरदास के पदों में भी पाई जाती है। इन दोनों मिश्र छन्दों के अतिरिक्त तुलसीदास ने कुछ नूतन मिश्र छन्दों का भी निर्माण किया है। दोहा-दोहरा-हरिगीतिका के चरणों के मेल से बने हुए पद[3] इसी प्रकार के प्रयास कहे जायँगे। विद्यापति ने भी चौपई की अर्द्धाली के बाद हरिगीतिका की अर्द्धाली को रख कर एक नूतन प्रगाथ की सृष्टि की है[4], किंतु वहाँ आवृत्ति के रूप में एकाध शब्द ही कहीं-कहीं आ पाया है। तुलसीदास ने कुछ ऐसे पदों की भी रचना की है, जिनमें एक छोटी और एक बड़ी पंक्ति की कई बार आवृत्ति हुई है।[5] ऐसे पदों के चरणों में मात्राओं की इतनी असमानता है, कि कोई एक या अधिक छन्द ढूँढ़ निकालना दुष्कर है। यों ऐसे एक पद के छन्दोनिरूपण का यत्किंचित् प्रयास हमने किया है।[6] वस्तुतः ये पद संगीत की सम्पत्ति हैं, जिस प्रकार हरिदास, सूरदास मनमोहन आदि गायकों के अनेक पद केवल गाने के ही योग्य हैं।[7]

---

[1]विनयपत्रिका, पद १३५, १३६।

[2]सूरसागर, पद १६९०, ४८०४, ४८०५।

[3]गीतावली, बाल० पद ५, उत्तर० १९।

[4]विद्यापति की पदावली : बेनीपुरी, पद २१५।

[5]विनयपत्रिका, पद ४२, २६५ से २७९, गीतावली—बालकाण्ड १२ से १५, ७५, १०३।

[6]पीछे मदनशय्या छन्द।

[7]पीछे 'छन्द और पद-साहित्य', पृ० २५-२६।

सूरसाहित्य में इस प्रकार का कोई पद नहीं, जिसमें चरणों की ऐसी असमानता हो। तुलसी के पद-साहित्य में ऐसे दो छन्द और मिलते हैं, जिनका प्रयोग सूरदास ने नहीं किया है। एक छन्द तो १४ वर्णों का है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग गोरखनाथ में मिलता है। उसके बाद तुलसीदास और हितहरिवंश ने इसका प्रयोग किया है।[१] दूसरा छन्द २६ अक्षरों का है, जिसमें गीतावली का एक पद निबद्ध है।[२] छन्दक के अतिरिक्त ५ चरणों के इस पद में दो चरण २६ के, दो २४ के और एक २५ वर्णों के हैं। वर्णों की इस न्यूनता को यदि असावधानी का फल मान कर इस छन्द के प्रत्येक चरण में २६ वर्ण मानें, तो इस नूतन छन्द के निर्माण का श्रेय तुलसीदास को ही दिया जायगा। तुलसीदास ने भी सबसे अधिक पद सार छन्द में ही लिखे हैं। उनके पद-साहित्य में सार की संख्या १७७ है। सार के बाद दूसरा स्थान समानसवैये का है, जिसमें ८० पदों की रचना हुई है। कबीर की तरह तुलसी ने भी सरसी को वह महत्व नहीं दिया, जो महत्व उसे सूरदास से मिला था। तुलसी-साहित्य में केवल २२ पदों में स्वतंत्र-रूप से सरसी का प्रयोग हुआ है। विनयपत्रिका में तो सरसी के केवल ५ ही पद हैं। सप्तक के आधार पर चलने वाले छन्दों में गीतिका का प्रयोग तुलसी के यहाँ नहीं मिलता। ३ पदों की रचना हरिगीतिका में और ४५ पदों की रचना रूपमाला में अवश्य हुई है। पद-साहित्य के आधार पर हरिगीतिका छन्द तुलसी का प्रिय छन्द नहीं माना जा सकता। रामचरितमानस और जानकीमंगल में हरिगीतिका की ओर उनका विशेष झुकाव अवश्य लक्षित होता है। अपने पदों में वर्णिक मुक्तक का प्रयोग तुलसीदास ने सूरदास की अपेक्षा अधिक किया है। जहाँ सूरदास ने ५००० पदों में केवल ७३ पदों में वर्णवृत्त का प्रयोग किया है, वहाँ तुलसीदास के ६७० पदों में ही (वि० प० २७६, गी० ३३०, कृ० गी० ६१) १०० की रचना वर्णवृत्त में हुई है।[३]

---

[१]पीछे मिताक्षरी छन्द।

[२]गीतावली—उत्तरकाण्ड, पद २।

[३]१४ अक्षर (मिताक्षरी) १४ पद।
२६ अक्षर १ पद।
२८ अक्षर (नागर) १ पद।
२६ अक्षर (गोरस) ६ पद।

**रीतिकालीन संत और भक्त कवि**—रीतिकाल के अन्दर तुलसी साहब, भीखा साहब, गुलाल, पलटू साहब, दरिया साहब आदि संतों तथा नागरीदास, अलबेली अलि, नारायण स्वामी आदि भक्तों ने जिन पदों की रचना की है, उनमें प्रायः वे ही छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती पद-रचयिता कर चुके थे। अलबेलि अलि ने सूरदास के चौपाई-हरिगीतिका के मिश्रित प्रयोग से प्रेरणा ग्रहण कर चांद्रायण और गीतिका-हरिगीतिका छन्दों के मेल से एक मिश्र छन्द का प्रयोग किया है, जिसमें चांद्रायण की अंतिम पंक्ति गीतिका-हरिगीतिका के प्रारंभ में आवृत्त हुई है। साथ ही उन्होंने महानुभाव की एक अर्द्धाली के बाद सार के चार चरण रख कर एक और मिश्र छन्द का निर्माण किया है, जिसे उन्होंने छन्द चाली कहा है। नारायण स्वामी ने एक पद में सूर-द्वारा आविष्कृत नटनागर का प्रयोग किया है। ललित किशोरी ने जिसे झूलना कहा है, वह वास्तव में ताटंक छंद है। समानसवैये का भी एकाध पद्य उसमें समाविष्ट है।[1]

**भारतेन्दु हरिश्चन्द्र**—भारतेन्दु के अनेक पद-संग्रह-ग्रंथों में प्रायः वे ही छन्द हैं, जिनका प्रयोग प्राचीन पद-रचयिताओं ने किया है। अवश्य दिगपाल एक ऐसा छन्द है, जिसका प्रयोग प्राचीन पद-रचयिताओं ने नहीं किया। शास्त्रोक्त प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त भारतेन्दु ने सूर-द्वारा आविष्कृत विजया, सूरघनाक्षरी, विनय, नागर, नटनागर आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। उनके पद-संग्रहों में (विशेषतः प्रेम-तरंग में) कुछ ऐसे पद भी प्राप्त होते हैं, जो छन्द की परिधि से निकल कर संगीत के क्षेत्र में चले जाते हैं।[2]

---

३० अक्षर (सूरघनाक्षरी) २१ पद।
३१ अक्षर (मनहरण) ४९ पद।
३२ अक्षर (रूपघनाक्षरी) ४ पद।
३२ अक्षर (जलहरण) १ पद।

---

१०० पद

[1]ब्रजमाधुरी-सार : वियोगी हरि—पृ० ३२१, ३२६ (अल०) पद १४ (नारा०) पृ० ४२१ (ललित)।

[2] पीछे 'छन्द और पद-साहित्य' पृ० २५-२६।

सूरदास तथा इतर पद-रचयिताओं के छन्दों का अध्ययन कर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(क) सामान्यतः सभी पद-रचयिताओं ने नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।

(ख) इन्होंने एक छन्द में अपने सम्पूर्ण पद की तो रचना की ही है, एक से अधिक छन्दों का भी एक पद में प्रयोग किया है।

(ग) इन नाना प्रकार के छन्दों में अनेक छन्द सब में समान रूप से पाये जाते हैं।

(घ) अपने भाव और विषय के अनुकूल पाकर कुछ छन्दों का कुछ पद-रचयिताओं ने विशेष रूप से प्रयोग किया है। फलतः उन पर उनका अधिकार-सा लक्षित होता है और वे उनके प्रिय छन्द कहे जा सकते हैं।

(ङ) पद-रचयिताओं ने साधारणतः शास्त्रोल्लिखित छन्दों में ही पदों की रचना की है। गायकों ने अवश्य ऐसे पदों की रचना की है, जिन पर छन्दःशास्त्र का नहीं, संगीत का अधिकार है। सूरदास में तो ऐसा कोई पद है ही नहीं; विद्यापति, कबीर आदि संतों, अष्टछापी तथा इतर कृष्णभक्त कवियों (हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई आदि) में भी ऐसे पद दिखलाई नहीं पड़ते। तुलसी तथा भारतेन्दु में कुछ पद ऐसे अवश्य उपलब्ध होते हैं।

(च) शास्त्रानुमोदित अनेक छन्दों के अतिरिक्त कुछ पद-रचयिताओं ने कतिपय नूतन प्रयोग भी किये हैं, जिनमें कुछ को तो आधुनिक आचार्यों-द्वारा नये नाम मिले हैं और कुछ का नाम-संस्कार अभी तक नहीं हो सका है।

(छ) छन्दों के प्रयोक्ता और नूतन छन्दों के विधाता के रूप में सूरदास अग्रगण्य हैं। इन्होंने जितने छन्दों का प्रयोग किया और जितने नवीन छन्दों की उद्भावना की, उतना कोई दूसरा पद-रचयिता नहीं कर सका।

(ज) विद्यापति-कबीर-द्वारा जाने-अनजाने जो दो-एक छन्द उद्भावित हुए, सूरदास ने उन सबको छन्द के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर दिया और उन्होंने जिन छन्दों का निर्माण किया, उनमें अनेक उनके समसामयिक और परवर्त्ती कवियों-द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होते रहे ।

# उपसंहार

ऐसा कहा जाता है कि सूरदास जी पुष्टिमार्ग की नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं के समय एवं प्रसंग के अनुकूल पद की रचना कर श्री नाथ जी के मंदिर में कीर्त्तन किया करते थे। इससे यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि सूरदास के पद गाने के लिए ही निर्मित हुए थे। पदों के ऊपर समयानुकूल रागों का जो निर्देश है, उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। सूरदास निर्विवाद रूप से गायक थे, यह उनके जीवन-वृत्त तथा पदों की सांगीतिकता से भी सिद्ध होता है। शास्त्र-विधान के अनुसार किसी पद को विशिष्ट राग में गाने की व्यवस्था तथा अनेक पदों में पाये जाने वाले संगीत के पारिभाषिक शब्द इस बात के साक्षी हैं कि सूरदास साधारण गायक नहीं थे, वे शास्त्रीय संगीत के पूर्ण ज्ञाता थे। ऐसे व्यक्ति के द्वारा सांगीतिक सौन्दर्य और शक्ति से सम्पन्न जिन पदों की रचना हुई, उनको गेय पद, भजन, गीत मान लेना स्वाभाविक ही है। सूर-साहित्य के भ्रष्ट पाठों ने भी लोगों को ऐसा सोचने के लिए विवश किया। किंतु सूरदास के पदों की छन्दोदृष्टि से परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रत्येक पद किसी-न-किसी छन्द में निबद्ध है। "उनके पदों में शास्त्रीय संगीत-विधान की अपेक्षा भाव और साहित्य की प्रतिष्ठा का आग्रह अधिक है। उस काल के अन्य पद-लेखकों के समान उन्होंने भी शास्त्रीय संगीत के उतने अंश को ग्रहण किया था, जितने से उनके पद अपनी भावुकता और साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखते हुए धनुष पर चढ़े हुए तीर के समान प्रभावशाली हो सकते थे।"[1] इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इन पदों के निर्माण के समय सूरदास की दृष्टि छन्दों पर नहीं थी। कवि का संगीतज्ञ होना सोने में सुगंध वाली बात को चरितार्थ करता है। संगीतज्ञ कवि की वाणी एक ओर लय के ढाँचे ( छन्द ) में ढलती चलती है, तो दूसरी ओर सांगीतिक अनुरूपता का

---

[1] सूरदास : एक विश्लेषण : सूरदास और संगीत : डॉ० बी० एन० भट्ट, पृ० २०।

भी निर्वाह करती जाती है। सूरदास का ऐसा ही व्यक्तित्व था, जिसमें एक महान् कवि के साथ एक कुशल संगीतज्ञ निवास करता था। इसीलिये उनके पद जहाँ एक ओर संगीत की सभी शर्तों को पूरी करते हैं, वहाँ छन्द की दृष्टि से भी वे खरे उतरते हैं। छन्द और संगीत का यह मंजुल सामंजस्य सूरदास की कला की बहुत बड़ी विशेषता है।

अपने अधिकांश पदों में सूरदास ने छन्दों का ऐसा सधा हुआ रूप प्रस्तुत किया है, कि यह कहने को जी नहीं चाहता कि उन्होंने केवल संगीत पर दृष्टि रख कर ही इन पदों का निर्माण किया है। कुछ पदों में तो उन्होंने छन्दोनियम का ऐसा सम्यक् और समुचित निर्वाह किया है कि उन्हें एक सचेत छन्दःप्रयोक्ता मानने को हम बाध्य हो जाते हैं। उनके पदों में पाये जाने वाले कुछ दोष तो प्रेस वालों की असावधानी के परिणाम हैं। कुछ लिपिकर्त्ता के प्रमाद से और कुछ संपादक के छन्दोदृष्टि से संपादन नहीं करने के फलस्वरूप आ गये हैं। निस्संदेह कुछ ऐसे दोष भी हैं, जिनका उत्तरदायित्व कवि पर है, किंतु ऐसे यति-गति-दोष वाले चरण संख्या में अधिक नहीं हैं।

सूरदास केवल छन्दःप्रयोक्ता ही नहीं थे, वरन् नवीन छन्दों के निर्माता भी थे। संगीतज्ञ होने के कारण उनकी लय-चेतना बड़ी तीव्र थी। जिसकी लय-चेतना जितनी तीव्र होगी, वह नवीन छन्दों के निर्माण में उतना ही कृत-कार्य हो सकेगा। सूरदास ने अनेक नूतन छन्दों का आविष्कार कर यह प्रत्यक्ष कर दिया कि कवि या छन्दःप्रयोक्ता जब संगीतज्ञ होता है, तब काव्य-रचना के समय उसके सामने एक से एक नई लयें स्वयं आकर उपस्थित हो जाती हैं। इन्हीं लयों में अपनी भाव-धारा को विसर्जित कर कवि अनेक नूतन छन्दों की सृष्टि कर डालता है। ये लयें कभी तो प्रचलित छन्दों की मात्राओं या वर्णों की घट-बढ़ से जन्म लेती हैं, कभी दो छन्दों के चरणों की एक इकाई से उत्पन्न होती हैं और कभी प्राचीन छन्दों को एकबारगी झटक कर सर्वथा एक नूतन आधार लेकर प्रकट हो जाती है। सूरदास ने इन त्रिविध लयों का साक्षात्कार कर तीनों में अपनी वाणी को प्रवाहित होने दिया था। इसीलिये उनके काव्य में नूतन छन्दोनिर्माण की तीनों प्रणालियों का हम अवलोकन करते हैं।

सूरदास ने नूतन छन्दों का निर्माण कर अपने काव्य के कलेवर को तो संवारा ही, छन्दःशास्त्र को भी बहुत कुछ प्रदान किया। छन्दःशास्त्री ३२

मात्राओं से अधिक मात्रा वाले छन्द को मात्रिक दण्डक कहते हैं; किंतु, ३७, ४० और ४६ मात्रापादी छन्दों के ही नाम और उदाहरण देते हैं। बीच के ३३, ३४, ३५, ३६, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ४४ और ४५ मात्रा वाले छन्दों के नामों तथा उदाहरणों का कहीं पता नहीं है।[१] जानीबिहारीलाल ने सालु, मजरी (३३ मा०) प्रभाकर, माधवी (३४ मा०), शुंगधरा (३५ मा०), कुसुमस्तवक दंडक (३६ मा०), भुजंगविजृंभित (३८ मा०), प्रेमलता (३९ मा०) का उल्लेख अवश्य किया है।[२] किंतु ये सभी मात्रिक न होकर वर्णवृत्त हैं।[३] सूरदास ने ४१ और ४२ मात्रापादी छन्दों के अतिरिक्त सभी छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। साथ ही ४७ और ४८ मात्रापादी छन्दों की भी रचना की है। इन मात्रिक दण्डकों के अतिरिक्त २८, २९ और ३० वर्ण वाले मुक्तक दण्डक भी उन्होंने लिखे हैं। आचार्यों ने २६ से अधिक वर्ण वाले छन्द को वर्णिक दण्डक माना है। संस्कृत छन्दःशास्त्र में तो २७ से लेकर ३२ या उससे भी अधिक वर्ण वाले छन्दों के नाम (चंडवृष्टिप्रपात, मत्तमातंगलीलाकर, अशोकपुष्पमंजरी, अनंगशेखर आदि) दिये गये हैं। किंतु, हिन्दी छन्दःशास्त्रों में मुक्तक दण्डक का प्रारंभ ३१ वर्ण वाले मनहरण से होता है।[४] यदि सूरदास के पदों का अध्ययन छन्दोदृष्टि से होता, तो इन सभी मात्रिक और वर्णिक दण्डकों के उदाहरण आचार्यों को सूरसागर में ही मिल जाते और ये छन्द नाम-संस्कार से वंचित नहीं होते। इस प्रकार इन दण्डकों के रूप में छन्दःशास्त्र को सूरदास की अपूर्व देन है। खेद है, सूर की इस देन का उपयोग कोई हिन्दी छन्दःशास्त्री नहीं कर सका।

इन दण्डकों के अतिरिक्त सूरदास ने ३२ मात्राओं से कम मात्रा वाले अनेक नये छन्दों का आविष्कार किया है। मनहरण के उत्तरार्द्ध को एक चरण मान कर एक नवीन छन्द की सृष्टि की है। यदि छन्दःशास्त्री इन छन्दों को अपने शास्त्र में स्थान देते, तो कम-से-कम प्रस्तार-विधि से निर्मित उन छन्दों की अपेक्षा, जिनमें प्रकृत प्रवाह का पूर्ण अभाव है, ये छन्द अधिक रुचिकर होते।

---

[१] छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० ७८-८०।

[२] मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० ९६।

[३] मा० छं० का विकास : डॉ० शिवनन्दन, पृ० २४३।

[४] छन्दःप्रभाकर, भानु, पृ० २१४-२२१।

लक्ष्य ग्रन्थों को दृष्टि में नहीं रखने के कारण आचार्यों को बहुत बड़े लाभ से वंचित होना पड़ा।

इस प्रकार सूर-साहित्य के छन्दों का अध्ययन कर लेने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास केवल गवैया और पदों (गीतों) के लिखने वाले ही नहीं थे; वे कवि तो निर्विवादतः थे ही, छन्दों के ज्ञाता एवं सफल छन्दःप्रयोक्ता भी थे।

# परिशिष्ट १

इस परिशिष्ट में सूरसाहित्य में प्रयुक्त छन्दों के मात्रा-क्रम से नाम और जितने पदों में वे प्रयुक्त हुए हैं, उनकी गणन-संख्या दी गई हैं।

| क्रम सं० | मात्रा | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | **सम छन्द** | | | | | | | |
| १ | १२ | लीला | १ | | १ | | | | १ |
| २ | ,, | तोमर | | | | १ | | | १ |
| ३ | १४ | सखी | १ | | १ | १ | | | २ |
| ४ | ,, | कज्जल | | ३ | ३ | | | | ३ |
| ५ | १५ | चौपई | ३ | १ | ४ | | | | ४ |
| ६ | १६ | चौपाई | ९५ | ३३ | १२८ | २ | | | १३० |
| ७ | ,, | पद्धरि | १ | ५ | ६ | | | | ६ |
| ८ | १७ | चन्द्र | २ | २ | ४ | | | | ४ |

| क्रम सं० | मात्रा | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ९ | १९ | रतिवल्लभ | | १ | १ | | | | १ |
| १० | २० | योग-कल्प | | १ | १ | | | | १ |
| ११ | २१ | कुंडली | १ | | १ | | | | १ |
| १२ | ,, | प्रणय | ५ | ५ | १० | १ | | | ११ |
| १३ | २२ | रास | | २ | २ | | | | २ |
| १४ | ,, | कुण्डल | २९ | ३१ | ६० | १ | | | ६१ |
| १५ | ,, | उपमित | १ | ७ | ८ | १ | | | ९ |
| १६ | २३ | उपमान | ४३ | ५३ | ९६ | २ | | | ९८ |
| १७ | ,, | अवतार | १ | | १ | | | | १ |
| १८ | ,, | रजनी | ३ | ८ | ११ | | | | ११ |
| १९ | ,, | हीर | १ | | १ | | | | १ |
| २० | २४ | रोला | | ५ | ५ | | | | ५ |
| २१ | ,, | रूपमाला | १८२ | १४२ | ३२४ | ११ | ३७ | ७ | ३७९ |
| २२ | ,, | सारस | | १ | १ | १ | | | २ |
| २३ | २५ | मुक्तामणि | १ | १ | २ | | | | २ |
| २४ | २६ | विष्णुपद | ९२ | १६८ | २६० | २३ | १ | | २८४ |

| क्रम सं० | मात्रा | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २५ | ,, | गीतिका | १ | १ | २ | | | | २ |
| २६ | ,, | गीता | | २ | २ | | | | २ |
| २७ | २७ | सरसी | २०० | ३२९ | ५२९ | ३२ | १४ | | ५७६ |
| २८ | २८ | सार | ५४२ | ६४८ | ११९० | ८५ | ३५ | १ | १३११ |
| २९ | ,, | माधव मालती | | १ | १ | | | | १ |
| ३० | २९ | मरहटा माधवी | ९ | १४ | २३ | २ | | | २५ |
| ३१ | ३० | ताटंक | ९५ | १२१ | २१६ | १५ | | | २३१ |
| ३२ | ,, | उत्कंठा | | २ | २ | १ | | | ३ |
| ३३ | ३१ | वीरछन्द | ९२ | ७८ | १७० | ७ | २ | | १७९ |
| ३४ | ३२ | समान-सवैया | ३०९ | २४५ | ५५४ | ३३ | ४ | १ | ५९२ |
| ३५ | ,, | जलतरंग | | १ | १ | | | | १ |
| ३६ | ३३ | वदन सवैया | | १ | १ | | | | १ |
| ३७ | ,, | विश्वभरण | १ | | १ | | | | १ |
| ३८ | ३४ | लीलावति | २ | | २ | | | | २ |
| ३९ | ३५ | अरुणजयी | | १ | १ | | | | १ |
| ४० | ३६ | प्रतिपाल | १ | | १ | | | | १ |

| क्रम सं० | मात्रा | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ४१ | ३७ | द्वि० झूलना | २१ | १६ | ३७ | | | | ३७ |
| ४२ | ,, | हंसाल | ३० | ६४ | ९४ | २ | | | ९६ |
| ४३ | ,, | करखा | १ | ६ | ७ | | | | ७ |
| ४४ | ३८ | प्रभाती | १ | | १ | | | | १ |
| ४५ | ३९ | मानवती | | १ | १ | | | | १ |
| ४६ | ,, | मदनशय्या | | १ | १ | | | | १ |
| ४७ | ४० | विजया | १ | १ | २ | | | | २ |
| ४८ | ,, | प्रफुल्लित | | १ | १ | | | | १ |
| ४९ | ,, | मदनहर | | | | १ | | | १ |
| ५० | ,, | शुभग | | | | १ | | | १ |
| ५१ | ४३ | काममोहिता | | १ | १ | | | | १ |
| ५२ | ४४ | विनय | १ | | १ | | | | १ |
| ५३ | ,, | अमर्षिता | | २ | २ | | | | २ |
| ५४ | ४५ | नटनागर | २ | | २ | | | | २ |
| ५५ | ,, | प्रबोधन | | २ | २ | | | | २ |
| ५६ | ४६ | हरिप्रिया | १६ | १८ | ३४ | | | | [illegible] |

| क्र० सं० | मात्रा | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ५७ | ४७ | हरिप्रीता | १ | | १ | | | | १ |
| ५८ | ४८ | हरिवल्लभा | | १ | १ | १ | | | २ |
| | | **अर्द्ध सम** | | | | | | | |
| | १३-११ | दोहा | ११ | १७ | २८ | १ | | | २९ |
| | १३-१३ | दोहकीय | १ | २ | ३ | १ | | | ४ |
| | | **मिश्र छन्द** (सम+सम) | | | | | | | |
| | | लीला+तोमर | १ | | १ | १ | | | २ |
| | | लीला+हीर | | १ | १ | | | | १ |
| | | चौबोला+चौपई | १९ | २ | २१ | १ | | | २२ |
| | | चौबोला+चौपाई | ५ | २ | ७ | | | | ७ |
| | | चौपई+चौपाई | २१ | ११ | ३२ | | | | ३२ |
| | | चौपाई+उपचदनक | १ | | १ | | | | १ |
| | | चौपाई+हरिगीतिका | १ | | १ | | | | १ |
| | | प्रणय+कुंडल | ३ | ४ | ७ | १ | | | ८ |

| छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उल्लास+सुखदा | १ | | १ | | | | १ |
| उपमित+उपमान | | १ | १ | | | | १ |
| उल्लास+गीतिका | | १ | १ | | | | १ |
| उल्लास+सरसी | १ | | १ | | | | १ |
| रजनी+रूप माला | २ | १६ | १८ | २ | | | २० |
| रजनी+मधुरजनी | १ | | १ | | | | १ |
| रूपमाला+गीता | | ८ | ८ | २ | | | १० |
| रूपमाला+स० सवैया | | | | १ | | | १ |
| रोला+स० सवैया | | १ | १ | | | | १ |
| विष्णुपद+सरसी | ११ | ३३ | ४४ | ३ | | १ | ४८ |
| विष्णुपद+सार | १५ | ३० | ४५ | | | | ४५ |
| विष्णुपद+ताटंक | | १ | १ | १ | | | २ |
| गीता+सरसी | | १ | १ | | | | १ |
| गीतिका+सार | | १ | १ | | | | १ |
| सरसीं+सार | ३२३ | २६० | ५८३ | १४ | ८ | | ६०५ |
| सरसी+ताटंक | | १ | १ | १ | | | २ |

| छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सरसी+वीर | | १ | १ | २ | | | ३ |
| सरसी+स० सवैया | १ | | १ | | | | १ |
| सार+मरहटा माधवी | | १ | १ | | | | १ |
| सार+ताटंक | २ | १ | ३ | १ | | | ४ |
| सार+वीरछन्द | | १ | १ | | | | १ |
| सार+स० सवैया | १ | | १ | | ४ | १ | ६ |
| मरहटा माधवी+ताटंक | १ | | १ | | | | १ |
| ताटंक+वीरछंद | १ | | १ | | | | १ |
| ताटंक+स० सवैया | १ | | १ | | | | १ |
| वीर+स० सवैया | १ | १ | २ | | | | २ |
| झूलना+हंसाल | १७ | १५ | ३२ | | | | ३२ |
| झूलना+करखा | ९ | ३ | १२ | | | | १२ |
| हंसाल+करखा | | १ | १ | | | | १ |
| लीला+महानुभाव+चौपाई | | १ | १ | | | | १ |
| सखी+चौपाई+हरिगीतिका | | १ | १ | | | | १ |
| चौबोला+चौपई+चौपाई | ५४ | १८ | ७२ | | | | ७२ |

| छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चौबोला+चौपाई+उपवदनक | | १ | १ | | | | १ |
| चौपाई+गीतिका+हरिगीतिका | | १ | १ | १ | | | २ |
| रूपमाला+गीता+गीतिका | | | | १ | | | १ |
| विष्णुपद+सरसी+सार | १८ | ५० | ६८ | १ | २ | | ७१ |
| सरसी+सार+मरहटा+माधवी | | ३ | ३ | | | | ३ |
| सरसी+सार+ताटंक | १ | | १ | | | | १ |
| सरसी+सार+स० सवैया | ५ | १ | ६ | | १ | | ७ |
| ताटंक+वीर+स० सवैया | १ | | १ | | | | १ |
| करखा+हंसाल+झूलना | ३ | १ | ४ | | | | ४ |
| चौपई+चौबोला+चौपाई+उल्लाला | १ | | १ | | | | १ |
| चौपई+पादाकुलक+योगकल्प+सार | | १ | १ | | | | १ |
| चौपाई+उपवदनक+गीतिका+हरिगीतिका | | १ | १ | | | | १ |
| **अर्द्धसम+सम** | | | | | | | |
| दोहा+रोला | १२ | ५ | १७ | १ | | | १८ |
| दोहा+मुक्तामणि | | | | १ | | | १ |
| दोहा+विष्णुपद | १ | | १ | | | | १ |

| छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दोहा+सरसी | १ | | १ | १ | | | २ |
| दोहा+सार | | १ | १ | | | | १ |
| दोहकीय+सार | | | | १ | | | १ |
| रोला+उल्लाला (छप्पय) | १ | | १ | | | | १ |
| दोहकीय+सरसी+सार | १ | | १ | | | | १ |
| दोहा+सोरठा+चौपाई+हरिगीतिका | | १ | १ | | | | १ |
| दोहा+शशिवदना+माली+सखी+गीतिका | १ | | १ | | | | १ |

| क्रम सं० | वर्ण सं० | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | **अर्द्धसम+अर्द्धसम** | | | | | | | |
| | | दोहा+दोहकीय | | १ | १ | | | | १ |
| | | **वर्णवृत्त** | | | | | | | |
| १ | १५ | मिताक्षरी | | ३ | ३ | | | | ३ |
| २ | २८ | नागर | १ | १ | २ | | | | २ |

| क्रम सं० | वर्ण सं० | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | २९ | गोरस | २ | १ | ३ | | | | ३ |
| ४ | ३० | सूरघनाक्षरी | ७ | १७ | २४ | २ | | | २६ |
| ५ | ३१ | मनहरण | १५ | ९ | २४ | ४ | | | २८ |
| ६ | ३२ | रूपघनाक्षरी | | ५ | ५ | १ | | | ५ |
| ७ | ३२ | जलहरण | ४ | १ | ५ | | | | [illegible] |

## सूरसागर

| | प्र० | द्वि० | योग | परि० |
|---|---|---|---|---|
| समछन्द | १७८८ | २०२७ | ३८१५ | २२४ |
| अर्द्धसम | १२ | १९ | ३१ | २ |
| मिश्रछन्द | ५३८ | ४८६ | १०२४ | ३७ |
| वर्णवृत्त | २९ | ३७ | ६६ | ७ |
| | २३६७ | २५६९ | ४९३६ | २७० |

| क्रम सं० | वर्ण सं० | छन्दों के नाम | सूरसागर भाग-१ | सूरसागर भाग-२ | योग | परिशिष्ट | साहित्य लहरी | परिशिष्ट | पूर्ण योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|

## साहित्य लहरी

### परिशिष्ट

| | | | |
|---|---|---|---|
| समछन्द | ९३ | समछन्द | ९ |
| मिश्रछन्द | १५ | मिश्रछन्द | २ |
| | १०८ | | ११ |

# परिशिष्ट २

इस परिशिष्ट में सूर-साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न छन्द जिन-जिन पदों में प्रयुक्त हुए हैं, उनके क्रमांकों का निर्देश किया गया है। क्रमांक नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सूरसागर (द्वितीय संस्करण) तथा प्रभु दयाल मीतल द्वारा संपादित साहित्य लहरी के अनुसार है।

## सूरसागर में प्रयुक्त छन्द

सम छन्द :

**लीला**

८६९

**तोमर**

परिशिष्ट-५३

**सखी**

८०१

परिशिष्ट-६३

**कज्जल**

३४६८, ३४६९, ३४७०

**चौपई**

२४५, ३७८, १५०५, ३४६३

**चौपाई**

२८, ६२१, ६५०, ६८८, ७३५, ८२९, ८५१, १००९, १०१४, १०२४, १११७, १२१७, १२४३, १३७५, १३८०, १५०२, १५०३, १५०४ १५०६, १५०७, १५०८, १५०९, १५१०, १५११, १५१२, १५१३, १५१४, १५१५, १५१६, १५१७, १५१८, १५१९, १५२०, १५२१, १५२२, १५२३, १५२४, १५२५, १५२६, १५२७, १५२८, १५२९, १५३०, १५३१, १५३२, १५३३, १५३४, १५३५, १५३६, १५३७, १५३८, १५३९, १५४०, १५४१, १५४२, १५४३, १५४४, १५४५, १५४६, १५४७, १५४८, १५४९, १५५०,

१५५१, १५५२, १५५३, १५५४, १५५६, १५५७, १५५८, १५५९, १५६०, १५६१, १५६२, १५६३, १५६४, १५६५, १५६७, १५६९, १६०२, १६०७, १६५७, १७०७, १७८२, १७८३, १७९७, १८३७, १९२७, १९२८, २००४, २०१७, २२३७, २२७९, २२९६, २४८०, २४८१, २५३०, २५९१, २६९०, २८०५, २८३४, २८९६, ३०४६, ३०९१, ३१५३, ३२६३, ३२६४, ३२७२, ३२७३, ३४९६, ३५०२, ३५२८, ३५३८, ३५६३, ३६४६, ३६८८, ३७१३, ३७२७, ३७३३, ३७४५, ३७६२, ३७९४, ४०७९, ४२४०, ४५८९, ४६४१, ४६४६ ।

परिशिष्ट ४९, १५३ ।

**पद्धरि**

६१०, ३४६५, ३४६७, ३४७३, ३४७४, ३५३०

**चन्द्र**

४३८, १६२२, ३०३९, ३१११

**रतिवल्लभ**

२५९२

**योग-कल्प**

३९३५

**कुंडली**

१२४७

**प्रणय**

१८२, १२७०, १२४१, १६९२, १६९३, २४४२, ३६२१, ३८३०, ३९१२, ३९६२, परिशिष्ट ३७ ।

**रास**

३२०२, ३२०३

**कुंडल**

२३, ७२, १२३, १२४, १६६, ३३०, ५२९, ५४१, ५६३, ५८३, ७०८, ७६३, ८१९, ८२०, ९०२, ९५४, ९६६, १०१२, १०५९, १०६०, १२६७, १२८८, १७३५, १७६९, १८३६, १८६९, २०६२, २१०७, २२७८ ।

२४५१, २४५४, २५०५, २५२८, २६६६, २७८३, २८५५, २८५६, २९२१, २९७१, ३४५७, ३५५५, ३५५६, ३५६२, ३५६९, ३५७९, ३६८३, ३६९५, ३७०२, ३७४७, ३७६१, ३७९५, ३९०३, ४०७८, ४२००, ४२१५, ४२१६, ४२७१, ४३१८, ४३९८, ४८६२।

परिशिष्ट १९०।

**उपमित**

१४४१, ३००५, ३०२५, ३०२६, ३११०, ३२९३, ३३४१, ३४४८।

परिशिष्ट ४४।

**उपमान**

४, २३८, ३५२, ४८६, ५१५, ५१६, ६८४, ६८६, ६९०, ६९२, ७३०, ७३४, ७४०, ७५२, ७८०, ८२७, ८५०, १०२७, १०५७, १०९३, १२८४, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १६३६, १७०३, १७१३, १७१४, १७१९, १७२४, १७३६, १७३८, १८७०, १९०९, १९२९, १९६०, १९६१, २०३८, २१०४, २२३९, २२५३, २३२४।

२५७१, २५७५, २५८१, २५८३, २५८४, २५८८, २५९८, २६६२, २६७३, २६९२, २७२६, २७६३, २८११, २८१३, २८१९, २८३५, २८६१, २८७१, २९४१, २९८२, ३०३५, ३०५८, ३१०५, ३१०७, ३१३०, ३१४०, ३१७६, ३२३३, ३२६९, ३२७१, ३३०६, ३३०७, ३३१६, ३३२७, ३३३८, ३३४५, ३३४९, ३३५३, ३५५२, ३५५३, ३५५७, ३५७२, ३५९४, ३६३९, ३६५६, ३६५७, ३६५८, ३६६०, ३७००, ३७३२, ३९७६, ४०१५, ४४०४।

परिशिष्ट ४५, ७१।

**अवतार**

६४२

**रजनी**

१७६, १८४६, १८८६, २३८१, २४२०, २९८१, ३३७५, ३६४५, ३८७६, ४३२१, ४५५०।

**हीर**

१३७०

**रोला**

३४८८, ३४९९, ४७८१, ४८६७, ४८९३।

### रूपमाला

४५, ५६, ७०, ८८, ९९, १०६, १२६, १९७, २०२, २३५, २५३, २९४, ३०७, ३०८, ३०९, ३११, ३१४, ३१५, ३१६, ३२१, ३३८, ३४७, ३७०, ३८४, ४५४, ५०४, ६२२, ६४४, ६८५, ६८९, ७१८, ७२७, ७३६, ७८४, ७८७, ७८८, ८०२, ८३१, ८२६, ८४३, ८५२, ८६२, ८८७, ८९१, ९०७, ९२०, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७६, ९७८, ९८२, १००५, १०४५, ११०३, १११६, ११२२, ११४२, ११५०, ११८१, ११९२, १२०४, १२२८, १२४५, १२५१, १२५२, १२५३, १२५४, १२७६, १२९४, १२९६, १३०१, १३०८, १३१४, १३२४, १३२५, १३३७, १३६३, १३७८, १३८५, १३९५, १३९८, १३९९, १४०१, १४०४, १४०७, १४१३, १४१४, १४३२, १४४७, १४५४, १४५५, १४६८, १४७०, १४७७, १५००, १५७७, १५७८, १५९७, १६०९, १६१०, १६१३, १६१९, १६२५, १६३०, १६३४, १६४४, १६४८, १६४९, १६५४, १६६१, १६७४, १६७७, १६८०, १६८९, १६९८, १६९९, १७००, १७०१, १७१५, १७१६, १७२०, १७३९, १७५१, १७५२, १७६३, १७६६, १७७१, १७७३, १७७९ १७८४, १७८५, १७८६, १७८७, १७९४, १८३२, १८४२, १८४३, १८५२, १८७८, १८८५, १८८९, १९५१, १९५३, १९५८, १९९६, १९९७, १९९९, २०२५, २०२८, २०३९, २०४०, २०४४, २०५४, २०६०, २०७१, २०७४, २०७७, २१११, २११७, २१२२, २१७०, २१७३, २२१०, २२१९, २२२१, २२२७, २२३३, २२४२, २२४३, २२४५, २२६५, २२६७, २२७२, २२७७, २२९०, २२९१, २२९७, २३३३, २३५९, २३६२।

२३७०, २३७३, २३७७, २३८७, २४१७, २४३३, २४३६, २४३७, २४३८, २४४०, २४४१, २४४५, २४५३, २४५५, २४६०, २४६१, २६०७, २६१९, २६२४, २६६३, २७०३, २७०४, २७३७, २७४०, २७५०, २७५१, २७५७, २७६२, २८२९, २८३८, २८८७, २८८९, २९०५, २९१३, २९२७, २९६६, २९८७, २९९८, ३०२२, ३०२९, २०६७, ३०७७, ३०८२, ३०९२, ३०९५, ३१८४, ३१९२, ३१९३, ३२२४, ३२२६, ३२३२, ३२९७, ३३२८, ३३३३, ३३३९, ३३५४, ३३५५, ३४३१, ३४५४, ३४५८, ३४६२, ३४९४, ३५३९, ३५६७, ३५७६, ३६०९, ३६४७, ३६६३, ३६६४, ३७०६, ३७०९, ३७२१, ३७२६, ३७३६, ३७३९, ३७५६, ३७५९, ३७६३, ३७६७, ३७६८, ३७६९, ३७८५, ३८२९, ३८३४, ३८४५, ३९०४, ३९३२, ३९४०, ३९५७,

३९९२, ४०३०, ४०३१, ४०३२, ४०३५, ४०३९, ४०४१, ४०४२, ४०४५, ४०५३, ४०५४, ४०५९, ४०८१, ४०८७, ४०९३, ४१०१, ४१०२, ४१०३, ४१३५, ४ ९६, ४३०३, ४३०९, ४३१२, ४३५०, ४३८६, ४४१८, ४४५४, ४५०३, ४५२०, ४५४१, ४५५९, ४५६९, ४६०१, ४६१५, ४६३७, ४६५३, ४६७३, ४६९०, ४६९२, ४७१९, ४७२५, ४७२६, ४७२७, ४७२८, ४७२९, ४७५३, ४७५४, ४७६२, ४७७६, ४७९१, ४८७७, ४८८२, ४९२९ ।

परिशिष्ट ९, २६, ४७, १०२, १४८, १६७, १८४, १९९, २४३, २४७, २५८ ।

### सारस

४०२०

### मुक्तामणि

४४, ३२६१ ।

### विष्णुपद

१६, ३५, ३७, ३८, ५०, ५५, ६४, ७१, ७८, ८२, ९८, १०५, ११७, १२१, १३०, १३३, १५१, १६१, १६२, १७१, १७४, १८४, १९८, २२०, २४७, २५४, २५८, २६३, २६४, २८३, २९१, २९८, २९९, ३००, ३२४, ३२७, ३५९, ३६९, ३७१, ३८३, ४१७, ४९०, ५०७, ५३५, ५५८, ५६६, ५८८, ६१५, ६३५, ६६६, ६८७, ७१७, ७६०, ७९२, ८००, ८१३, ८९९, ९०९, ९९९, ११०१, ११०४, १२३०, १२३८, १२६४, १२६९, १२७७, १३०७, १३६८, १६०१, १६१८, १७५९, १८१०, १८१४, १८१८, १८४५, १८५८, १८६०, १८९०, १८९२, १८९३, १८९४, १८९५, १९०२, १९१३, १९३९, १९८०, २०७६, २२४९, २२८३, २२८९, २३०४, २३०६ ।

२३८०, २४०१, २४३०, २४८५, २४८८, २४९२, २४९८, २५१८, २५३१, २५७४, २६५३, २७०९, २७१६, २७४३, २७६१, २८०२, २८४२, २८४३, २९१६, २९१७, २९२२, २९२५, २९३२, २९३३, २९४६, २९५८ २९६१, २९६८, २९६९, २९८५, २९८६, ३००४, ३००७, ३०१८, ३०६६, ३०७८, ३०८८, ३१२४, ३१३४, ३२२०, ३२३७, ३२४१, ३२४५, ३२५२, ३२७५, ३३३४, ३३४०, ३३६८, ३३९६, ३४२३, ३४२४, ३४२५, ३४३२, ३४३३, ३४४३, ३५१५, ३५३६, ३५४२, ३५८३, ३६०४, ३६१८, ३६२०,

३६२६, ३६३१, ३६४३, ३६४४, ३७४६, ३७५३, ३७७७, ३७८३, ३७६८, ३७६६, ३८१५, ३८२८, ३८३६, ३८३७, ३८५५, ३८५६, ३८६२, ३८६४, ३८६५, ३८८३, ३८८४, ३८८७, ३८६२, ३८६८, ३८६६, ३६०१, ३६०५, ३६०६, ३६११. ३६१४, ३६१५, ३६१८, ३६४७, ३६६०, ३६८३, ४००३, ४००८, ४०१०, ४०१२, ४०१३, ४०१४, ४०२२, ४०८८, ४१२४, ४१२५, ४१४४, ४१६६, ४१८०, ४१८३, ४१६२, ४१६६, ४२०४, ४२०६, ४२२०, ४२४६, ४२५१, ४२५६, ४२६४, ४२८१, ४२८४, ४२८५, ४३३८, ४३३६, ४३४५, ४३४८, ४३५३, ४३८५, ४४०२, ४४०५, ४४०८, ४४३६, ४४४७, ४४५५, ४४६७, ४५३३, ४५३६, ४५३६, ४५६६, ४५७३, ४५८८, ४५६०, ४५६१, ४६०४, ४६०६, ४६२०, ४६२१, ४६७४, ४६७६, ४६७७, ४७०१, ४७२३, ४७२४, ४७३२, ४७३५, ४७३६, ४७४६, ४७५७, ४७६०, ४७६६, ४८५२, ४८५३, ४८६०, ४८६५, ४६११, ४६२८ ।

परिशिष्ट ३, २१, ३२, ३३, ४६, ६१, ८१, ८४, ६१, ६३, १२७, १३१, १३५, १५७, १६१, १७०, २०३, २०६, २१६, २२७, २२६, २३३, २६८ ।

**गीतिका**

११६५, ४४८३ ।

**गीता**

३०८६, ३४४८ ।

**सरसी**

३३, ५१, ५७, ६८, ७६, ८४, ६०, ६२, ६६, ६७, १०८, १२८, १३५, १४५, १५०, १५३, १५५, १५६, १६४, १६६, १८६, २००, २०८, २१६, २१६, २३१, २३२, २५५, २६२, २६५, २६७, २७८, २७६, २६६, ३०४, ३१३, ३१७, ३२२, ३३२, ३३६, ३४५, ३५५, ३५८, ३६५, ३६७, ३७४, ३७६, ३७७, ३८१, ४२२, ४६०, ४६२, ४६६, ४६७ ४७०, ४७३, ४८३, ४८७, ४६१, ५०५, ५०६, ५१६, ५२१, ५२७, ५३०, ५३३, ५४८, ५८६, ६०२, ६०५, ६०६, ६३०, ६३२, ६३८, ६५१, ६५४, ६७४, ७२१, ७३२, ७५१, ७५६, ७६६, ७६०, ७६६, ८२१, ८२४, ८२५, ८४१, ८७५, ८६८, ६०१, ६०८, ६१२, ६२८, ६३८, ६४१, ६४४, ६५६, ६६७, ६७३, ६७७, ६७६, ६८३, ६८४, ६८५, ६६४, ६६७, १००७, १०१५,

१०२६, १०२८, १०६२, १०६४, १०६६, १०७६, १०८२, १०९५, ११०९, १११४, १११८, ११२०, ११२८, ११३६, ११४६, ११८०, ११९३, ११९६, १२३३, १२५५, १२५८, १२७५, १२७८, १२८८, १३००, १३०५, १३५५, १३६७, १३८१, १३८२, १३८४, १४२६, १४४२, १४४३, १४४६, १४४८, १४५०, १४८३, १४९२, १५७४, १५८७, १५९०, १५९२, १६११, १६१४, १६२६, १६३५, १६५१, १६७८, १६९१, १६९६, १७०६, १७२२, १७२७, १७४०, १७४२, १७४४, १७४६, १७४७, १७७४, १७७७, १८०२, १८१६, १८१७, १८२१, १८२४, १८३४, १८४१, १८६५, १८७४, १८८२, १९०३, १९०६, १९१५, १९१६, १९४८, १९७१, १९९१, १९९५, २००८, २०६६, २०८०, २०८६, २१२३, २१२४, २२७४, २२८१, २२८२, २२९५, २३१०, २३२६।

२३७९, २३९५, २४१०, २४१३, २४१४, २४२२, २४२३, २४२९, २४३१, २४३४, २४५९, २४६४, २४७०, २४८७, २५०१, २५५१, २५५७, २५६४, २६०४, २६१७, २६१८, २६२०, २६५०, २६८६, २७००, २७२२, २७२९, २७३०, २७३२, २७३६, २७४९, २७६८, २८०१, २८२०, २८२३, २८५२, २८५७, २८६९, २८८३, २९०२, २९३०, २९४७, २९५५, २९६४, २९६७, २९७२, २९७५, २९७८, २९९०, २९९९, ३००९, ३०११, ३०१५, ३०२८, ३०४३, ३०५३, ३०५६, ३०६४, ३०७०, ३०७९, ३०८३, ३०८४, ३०८५, ३०८७, ३१३१, ३१९६, ३२०९, ३२१७, ३२२१, ३२२८, ३२३०, ३२६८, ३२८६, ३२९४, ३२९६, ३२९८, ३३१४, ३३१९, ३३३२, ३३[illegible]०, ३३६२, ३३८१, ३३८३, ३३८५, ३३८६, ३३८७, ३३८९, ३३९१, ३३९४, ३४१३, ३४२२, ३४५२, ३४७८, ३४८३, ३४९३, ३४९५, ३५०१, ३५१३, ३५२४, ३५२५, ३५२९, ३५३७, ३५६५, ३५६६, ३५८४, ३५९०, ३५९५, ३५९६, ३५९९, ३६०१, ३६०२, ३६०७, ३६११, ३६१३, ३६१७, ३६१९, ३६३४, ३६५२, ३६५३, ३६७६, ३७११, ३७२०, ३७२२, ३७३५, ३७४०, ३७४२, ३७४४, ३७४८, ३७५४, ३७७०, ३७७४, ३७७५, ३७७८, ३७७९, ३७८६, ३७९०, ३८०२, ३८०४, ३८११, ३८१४, ३८२०, ३८३१, ३८३२, ३८३८, ३८४२, ३८४३, ३८४४, ३८४८, ३८५१, ३८५७, ३८५९, ३८६१, ३८६६, ३८७१, ३८७२, ३८७३, ३८७४, ३८८१, ३८८५, ३८९०, ३८९३, ३९०२, ३९०७, ३९१०, ३९२७, ३९२९, ३९३१, ३९३३, ३९४३, ३९४५, ३९५१, ३९५४, ३९५८, ३९६६, ३९६८, ३९७८, ३९८२, ३९८४, ३९९१,

३९९८, ४००४, ४०२६, ४०३३, ४०३४, ४०३७, ४०५०, ४०५६, ४०६८, ४०६९, ४०७४, ४०७७, ४०८४, ४१०७, ४११४, ४११७, ४१५१, ४१५४, ४१५७, ४१५९, ४१६२, ४१६३, ४१७२, ४१८७, ४१९१, ४१९८, ४२०१, ४२०५, ४२०८, ४२११, ४२३२, ४२३६, ४२५२, ४२५३, ४२६०, ४२७०, ४२८०, ४२८९, ४२९४, ४२९५, ४२९६, ४३०७, ४३२०, ४३२८, ४३३४, ४३३६, ४३४३, ४३४४, ४३५२, ४३५४, ४३५६, ४३५७, ४३६१, ४३६६, ४३६७, ४३७१, ४३८८, ४३९०, ४३९१, ४३९३, ४४०१, ४४०३, ४४११, ४४१२, ४४२४, ४४२६, ४४३१, ४४३६, ४४४४, ४४४५, ४४५३, ४४५६, ४४५७, ४४६१, ४४६२, ४४७३, ४४७५, ४४७९, ४४८८, ४४९२, ४४९४, ४४९५, ४४९८, ४४९९, ४५१०, ४५११, ४५२३, ४५२४, ४५२७, ४५३१, ४५३७, ४५४०, ४५५५, ४५६१, ४५६३, ४५६५, ४५७०, ४५७४, ४५७५, ४५७७, ४५८०, ४५८७, ४५९४, ४५९५, ४५९९, ४६००, ४६०३, ४६११, ४६१७, ४६१९, ४६२२, ४६२३, ४६२४, ४६३०, ४६३५, ४६३६, ४६३९, ४६४३, ४६५०, ४६५९, ४६६६, ४६७०, ४६८७, ४६८८, ४६९६, ४७००, ४७०७, ४७०८, ४७१४, ४७३३, ४७३७, ४७३९, ४७४१, ४७५६, ४७५८, ४७७३, ४७८४, ४७९२, ४७९३, ४८२२, ४८३२, ४८४९, ४८६१, ४८६८, ४८६९, ४८७८, ४८८५, ४८८९, ४८९१ ।

परिशिष्ट १२, २२, ३१, ५८, ६०, ६५, ८३, ८५, ८६, ९४, ९८, १०४, १०५, १२८, १३७, १४४, १४५, १६५, १७१, १७६, १८७, १८९, २०५, २०९, २१२, २२६, २३७, २४१, २४२, २५३, २६४, २६७ ।

## सार

२, ७, ९, १०, ११, १२, १३, १५, १९, २०, २१, २५, २७, ३२, ३६, ४२, ४३, ४७, ५२, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६६, ६७, ७३, ७५, ७९, ८१, ८५, ८६, ८७, ९१, ९३, १०१, १०७, ११२, ११३, ११८, १२२, १३१, १३२, १३४, १३६, १३८, १३९, १४०, १४२, १४७, १४८, १५२, १५४, १५७, १५८, १६८, १७०, १७३, १७८, १८३, १८६, १८७, १८८, १९०, १९२, १९३, १९४, १९५, २०३, २०५, २०६, २०७, २०९, २१०, २१३, २१८, २२१, २३९, २४१, २४२, २४४, २५०, २५६, २५७, २५९, २६६, २७०, २७२, २८२, २८७, २९२, २९३, २९५, २९७, ३०१, ३०२, ३०५, ३१८, ३१९, ३२०, ३२३, ३२८, ३२९, ३३१, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६; ३४०, ३४९, ३५३, ३५६, ३५७, ३६०, ३६१, ३६२,

३६६, ३६८, ३७३, ३७५, ४०७, ४३०, ४३१, ४४०, ४४१, ४४२, ४५१,
४५५, ४६१, ४६३, ४६८, ४७१, ४७२, ४७४, ४७५, ४८४, ४९३, ४९४,
४९८, ४९९, ५०१, ५१४, ५१७, ५२४, ५२८, ५३२, ५३४, ५३८, ५४४,
५४६, ५४७, ५५२, ५५३, ५५६, ५५७, ५६१, ५६३, ५६७, ५६९, ५७०,
५७४, ५७६, ५७७, ५८१, ५८४, ५८७, ५९०, ५९३, ५९४, ५९६, ५९८,
६००, ६०३, ६०६, ६१६, ६२२, ६२७, ६३४, ६३६, ६३९, ६४०, ६४१,
६५५, ६६१, ६६३, ६६७, ६७०, ६७९, ६८३, ७०१, ७०५, ७०९, ७२०,
७२६, ७२८, ७४१, ७४४, ७४६, ७४८, ७४९, ७६५, ७७१, ७७३, ७७४,
७७६, ७८१, ७८२, ७८५, ७९३, ७९४, ७९५, ७९७, ८०३, ८०८, ८१०,
८११, ८१२, ८१७, ८२६, ८३४, ८३५, ८३९, ८४०, ८४२, ८५६, ८५७,
८६०, ८६१, ८६७, ८७२, ८७४, ८७७, ८८०, ८८५, ९०४, ९०६, ९११,
९१५, ९१७, ९२९, ९३१, ९३३, ९३९, ९४२, ९४३, ९५२, ९५५, ९५७,
९६०, ९६१, ९६४, ९६५, ९७२, ९७४, ९८१, ९८९, ९९२, ९९६, १०००,
१००६, १०११, १०३०, १०३३, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०४३,
१०४४, १०४६, १०५०, १०५१, १०६३, १०७२, १०८६, १०८८, १०९४,
१०९७, १०९९, ११००, ११०६, ११०८, ११२१, ११३१, ११३३, ११५६,
११७८, ११७९, ११८२, ११८५, ११८६, ११८७, ११९४, १२१९, १२२९,
१२३१, १२३५, १२४०, १२४४, १२५६, १२५९, १२६२, १२६३, १२६५,
१२७३, १२७९, १२८३, १२९३, १२९५, १२९९, १३०४, १३११, १३१८,
१३२०, १३२३, १३३०, १३३६, १३३९, १३४०, १३४४, १३४७, १३४८,
१३४९, १३५०, १३५१, १३५२, १३५६, १३५९, १३६१, १३६२, १३६४,
१३६५, १३८७, १३९१, १३९६, १३९७, १४०५, १४०६, १४०९, १४११,
१४१२, १४१६, १४३०, १४३१, १४६०, १४६५, १४७६, १४८६, १४८७,
१४९१, १४९३, १४९७, १५७१, १५८२, १५८३, १५८४, १५८६, १५८८,
१६०८, १६१७, १६३२, १६४७, १६५५, १६६६, १६७२, १६८३, १६९५,
१६९७, १७०५, १७०८, १७२१, १७२५, १७३०, १७३१, १७३२, १७४३,
१७५६, १७५८, १७६१, १७७६, १७७८, १७९०, १७९१, १७९२, १७९६,
१८०६, १८१५, १८२५, १८२६, १८३८, १८४४, १८५०, १८५४, १८५९,
१८६१, १८६७, १८६८, १८७१, १८८०, १८८१, १८८४, १८८८, १८९६,
१८९९, १९००, १९०५, १९१७, १९१८, १९२०, १९२१, १९२२, १९२६,
१९३०, १९३१, १९३२, १९३३, १९३४, १९३७, १९४१, १९४८, १९४५,

१९४६, १९४९, १९५७, १९५९, १९६४, १९६५, १९६७, १९६८, १९६९, १९७२, १९७३, १९७६, १९७७, १९७९, १९८४, १९८८, १९९४, २००१, २००६, २००९, २०११, २०१३, २०१५, २०२०, २०२१, २०२३, २०२६, २०४१, २०४२, २०४५, २०४६, २०५५, २०५६, २०५७, २०५८, २०६४, २०६५, २०६७, २०७०, २०८४, २०८७, २०८८, २०८९, २०९०, २०९१, २०९२, २०९४, २०९७, २१०५, २११३, २११८, २११९, २१२६, २१२७, २१२८, २१३१, २१३२, २१३६, २१३८, २१३९, २१४१, २१४५, २१४६, २१४७, २१५१, २१५३, २१५५, २१५६, २१५७, २१५८, २१६१, २१६४, २१६६, २१६९, २१७१, २१७९, २१८१, २१८२, २१८३, २१९०, २१९१, २१९३, २२०४, २२०५, २२०६, २२१५, २२२३, २२२४, २२३०, २२३१, २२४४, २२४७, २२४८, २२५०, २२५७, २२७१, २२७५, २२८०, २२८५, २३००, २३०३, २३०५, २३१३, २३१४, २३१५, २३२०, २३२२, २३३२, २३४२, २३४३, २३५०, २३५१, २३५४, २३५६, २३६०, २३६१, २३६४, २३६५ ।

२३७४, २३८३, २३८५, २४०२, २४१६, २४२४, २४२७, २४३५, २४४४, २४४७, २४४८, २४५७, २४६५, २४७१, २४७७, २४७८, २४८२, २४९१, २४९९, २५०७, २५११, २५१२, २५१३, २५१५, २५१६, २५१७, २५२१, २५२२, २५२३, २५२५, २५२६, २५२७, २५२९, २५४१, २५४५, २५४७, २५५४, २५५५, २५५६, २५४९, २५६०, २५६१, २५७०, २५७२, २५७३, २५७७, २५७८, २५८७, २५९०, २५९३, २५९९, २६०१, २६०९, २६१०, २६१४, २६१५, २६१६, २६२५, २६३४, २६३८, २६४२, २६४६, २६४७, २६४९, २६६०, २६६६, २६६९, २६७०, २६७७, २६७८, २६८४, २६८९, २६९५, २६९८, २७०५, २७०६, २७११, २७१३, २७१४, २७१५, २७१७, २७२०, २७२४, २७२७, २७३३, २७३८, २७४१, २७४४, २७४८, २७५६, २७५८, २७५९, २७६०, २७७०, २७७४, २७७५, २७७६, २७७७, २७७९, २७८२, २७८५, २७८६, २७८७, २७९२, २७९९, २८०६, २८१८, २८२६, २८२७, २८२८, २८३२, २८४०, २८४१, २८४४, २८४६, २८४७, २८५०, २८५३, २८६०, २८६४, २८६६, २८७०, २८७३, २८७४, २८८०, २८८८, २८९५, २८९७, २९००, २९१५, २९१८, २९१९, २९२३, २९२८, २९३१, २९३४, २९३९, २९४०, २९४९, २९५१, २९५३, २९५९, २९६०, २९६२, २९६३, २९६५, २९७०, २९७६, २९७७, २९७९, २९८४, २९८९,

२९९२, २९९६, २९९७, ३००१, ३००२, ३०१०, ३०१३, ३०१६, ३०१९,
३०२४, ३०३०, ३०३२, ३०३३, ३०३४, ३०४०, ३०५०, ३०५५, ३०५९,
३०६२, ३०७५, ३०८१, ३०९९, ३१००, ३१०४, ३११२, ३११६, ३११७,
३१२०, ३१२३, ३१२९, ३१३२, ३१३३, ३१३५, ३१३६, ३१३७, ३१३८,
३१४१, ३१४६, ३१५०, ३१५१, ३१६१, ३१६२, ३१६३, ३१६९, ३१७७,
३१९७, ३१९८, ३१९९, ३२०१, ३२०४, ३२०५, ३२०८, ३२१०, ३२१९,
३२३८, ३२४०, ३२४२, ३२४६, ३२४९, ३२५७, ३२६५, ३२७०, ३२७४,
३२८५, ३२८९, ३२९१, ३२९२, ३२९५, ३३०२, ३३०३, ३३०४, ३३१२,
३३३१, ३३३७, ३३४७, ३३५८, ३३६०, ३३६३, ३३६५, ३३६६, ३३६७,
३३६९, ३३७०, ३३७४, ३३७७, ३३९८, ३४०१, ३४०२, ३४०८, ३४२०,
३४३४, ३४३९, ३४४४, ३४५५, ३४५६, ३४६६, ३४७५, ३४७६, ३४९७,
३५४९, ३५६०, ३५७८, ३५८१, ३५८२, ३५८९, ३५९१, ३६०५, ३६१२,
३६१५, ३६२५, ३६२७, ३६२८, ३६२९, ३६३७, ३६४८, ३६५०, ३६६७,
३६८०, ३७०५, ३७१२, ३७१४, ३७१६, ३७३७, ३७४९, ३७५५, ३७७१,
३७७२, ३७७६, ३७८१, ३७८२, ३७९४, ३७९६, ३८०१, ३८०५, ३८०६,
३८०७, ३८०९, ३८१२, ३८१३, ३८१७, ३८१८, ३८१९, ३८२२, ३८२४,
३८२५, ३८२६, ३८२७, ३८३३, ३८४१, ३८४७, ३८४९, ३८५०, ३८५२,
३८५४, ३८५८, ३८६७, ३८७०, ३८७५, ३८७७, ३८७९, ३८८९, ३८९१,
३८९७, ३९०८, ३९१६, ३९१७, ३९२०, ३९२१, ३९२४, ३९२८, ३९३०,
३९३९, ३९४१, ३९४२, ३९४६, ३९४८, ३९५०, ३९५२, ३९५५, ३९६१,
३९६४, ३९६५, ३९६७, ३९७०, ३९७४, ३९७७, ३९७९, ३९८०, ३९८५,
३९८८, ३९९३, ३९९४, ३९९५, ३९९६, ३९९७, ३९९९, ४०००, ४००१,
४००५, ४००९, ४०१७, ४०२१, ४०२७, ४०२८, ४०४४, ४०४८, ४०५१,
४०५२, ४०५५, ४०५७, ४०५८, ४०६२, ४०६४, ४०७२, ४०७३, ४०८५,
४०९१, ४०९५, ४०९९, ४१००, ४१०४, ४१०६, ४१०८, ४१०९, ४११०,
४१११, ४११२, ४११३, ४११५, ४११६, ४११९, ४१२१, ४१२२, ४१२३,
४१२८, ४१२९, ४१३०, ४१३२, ४१३४, ४१३७, ४१३९, ४१४२, ४१४३,
४१४५, ४१४८, ४१५०, ४१५३, ४१५६, ४१५८, ४१६०, ४१६४, ४१६५,
४१६६, ४१६७, ४१७०, ४१७१, ४१७३, ४१७४, ४१७५, ४१७६, ४१८१,
४१८४, ४१८६, ४१८८, ४१९७, ४२१८, ४२२१, ४२२२, ४२२५, ४२२६,
४२२७, ४२३०, ४२३३, ४२३९, ४२४१, ४२४२, ४२४३, ४२४७, ४२४९,

४२५०, ४२५४, ४२५७, ४२५८, ४२५९, ४२६१, ४२६३, ४२६५, ४२६६, ४२६७, ४२६८, ४२६९, ४२७३, ४२७४, ४२७५, ४२७६, ४२७८, ४२७९, ४२८२, ४२८६, ४२८७, ४२८८, ४२९०, ४२९१, ४२९३, ४२९७, ४२९८, ४२९९, ४३०१, ४३०२, ४३१०, ४३१३, ४३१४, ४३१५, ४३२२, ४३२४, ४३२५, ४३२७, ४३२९, ४३३१, ४३३३, ४३३५, ४३४१, ४३५५, ४३६२, ४३६५, ४३६८, ४३७०, ४३७२, ४३७३, ४३७६, ४३७७, ४३७९, ४३८०, ४३८१, ४३८२, ४३८९, ४३९२, ४३९४, ४३९६, ४३९७, ४३९९, ४४००, ४४०७, ४४०९, ४४१४, ४४१५, ४४१७, ४४२२, ४४३०, ४४३२, ४४३८, ४४४१, ४४४३, ४४४६, ४४५०, ४४५१, ४४५२, ४४५८, ४४६६, ४४६९, ४४७०, ४४७१, ४४७४, ४४७६, ४४८०, ४४८४, ४४८७, ४४९०, ४४९१, ४४९३, ४४९६, ४५०६, ४५०७, ४५०८, ४५०९, ४५१२, ४५१३, ४५१६, ४५१९, ४५२६, ४५२९, ४५३०, ४५४२, ४५४४, ४५४५, ४५४७, ४५४९, ४५५१, ४५५२, ४५५३, ४५५४, ४५५६, ४५५७, ४५५८, ४५६०, ४५६४, ४५६८, ४५७२, ४५७६, ४५७८, ४५७९, ४५८१, ४५८२, ४५८३, ४५८५, ४५८६, ४५९३, ४५९७, ४५९८, ४६०५, ४६०९, ४६१०, ४६१४, ४६१६, ४६१८, ४६२६, ४६२७, ४६२८, ४६२९, ४६३१, ४६३४, ४६४०, ४६४४, ४६४५, ४६४८, ४६४९, ४६५१, ४६५४, ४६५७, ४६६०, ४६६१, ४६६३, ४६६५, ४६६९, ४६७१, ४६७२, ४६७५, ४६८१, ४६८२, ४६८९, ४६९४, ४६९७, ४७०३, ४७०५, ४७०९, ४७१०, ४७१७, ४७१८, ४७२२, १७३८, ४७४२, ४७४४, ४७५२, ४७५५, ४७५९, ४७६१, ४७६८, १७६९, ४७७२, ४७७५, ४७८६, ४७८७, ४७९९, ४८००, ४८१९, ४८३४, ४८३८, ४८५०, ४८५१, ४८५६ ४८५९. ४८६३, ४८६४, ४८७०, ४८७३, ४८७४, ४८७६, ४८८४, ४८८६, ४८८७, ४८८८, ४८९०, ४८९२, ४८९६, ४८९७, ४८९८, ४९०२, ४९०३, ४९०४, ४९०५, ४९०६, ४९०९, ४९१३, ४९१४, ४९२२ ।

परिशिष्ट १, २, ८, ११, १३, १६, १७, १९, २३, २७. २८, २९, ३४, ३५, ४०, ४२, ४८, ५४, ५९, ६२, ७४, ८२, ९०, ९९, १०१, १०३, १०७, ११२, ११७, ११८, ११९, १२५, १२६, १३३, १३६, १३८, १४१, १४२, १४३, १४७, १५४, १५६, १५८, १६२, १६३, १६४, १६८, १६९, १७२, १७३, १७४, १७५, १७९, १८३, १८५, १८६, १८८, १९१, १९२, १९७, १९८, २०१, २०२, २०८, २११, २१३, २१५, २१६, २१७, २२०,

२२२, २२४, २२५, २२८, २३०, २३४, २३५, २४६, २४९, २५४, २६१, २६३, २६५, २६६ ।

### माधव मालती

४७९८=१

### मरहठा माधवी

२३४, ७२३, ७५४, ७५८, ८९२, १४२२, १४२३, १४२७, १८६४, २६२७, २७३४, ३१८८, ३२८०, ३४५०, ३४७७, ३५०३, ३६८१, ४१७७, ४२३४, ४३५८, ४५३२, ४५७१, ४८७५=२३ ।

परिशिष्ट ९७, १३४=२ ।

### ताटंक

२६, ३९, ५३, ८९, ११५, ११६, २४९, २६८, ३५१, ४५०, ४६५, ४७७, ४९२, ६१४, ६२६, ६७७, ६९१, ६९४, ६९८, ७०३, ७०६, ७१६, ७५०, ७५३, ७५५, ७५९, ७६१, ७८६, ७८९, ८०४, ८६८, १०२२, १०७०, ११११३, ११३८, १२८९, १३२९, १३५७, १३८९, १४०८, १४२४, १४८०, १४८४, १५७३, १६००, १६१५, १६६४, १७१२, १७२६, १७३४, १७४७, १७४८, १७५०, १७५७, १७६५, १८०३, १८०७, १८४०, १८५६, १८५७, १८७३, १८७७, १८७९, १९०७, १९३५, १९५२, १९५६, १९७०, १९८३, २०७२, २०७३, २०८३, २०९८, २१०२, २१०३, २१४०, २१५४, २१९४, २१९६, २२०१, २२०७, २२०९, २२४१, २२४६, २२५४, २२५६, २२६०, २२७३, २२८४, २२८७, २२९३, २३०७, २३२७, २३४०, २३४६=९५ ।

२३७८, २३८८, २३९९, २४५२, २४६६, २४७३, २४९३, २५००, २५२४, २५३३, २५३८, २५४८, २५५८, २५७९, २५८०, २६२१, २६३०, २६३१, २६३७, २६६५, २६८२, २६९४, २७१०, २७१८, २७१९, २७२१, २७२३, २७५५, २७८०, २७८१, २८१७, २८३०, २८३३, २८३९, २८५४, २८५९, २८६२, २८७२, २९०३, २९२६, २९४५, ३०१७, ३०४४, ३०५२, ३०९८, ३१०१, ३१०९, ३१११, ३१२२, ३१२७, ३१२८, ३१४३, ३१४७, ३१५२, ३१५६, ३१५७, ३१५९, ३१७४, ३१७५, ३१७८, ३१८०, ३१८५, ३१८७, ३२००, ३२०६, ३२११, ३२२७, ३२६०, ३२७७, ३३०८, ३३०९, ३३१०, ३३२६, ३३४४, ३३५०, ३३५१, ३३७९, ३३९५, ३४१२, ३४३६, ३५६८, ३५८०, ३६००, ३६१४, ३६२२, ३६२३, ३६९८, ३७०४, ३७[illegible]७,

३७२३, ३७२५, ३७२८, ३७२९, ३७३०, ३७३१, ३७४१, ३७६४, ३७६५, ३८२३, ३९३४, ३९७२, ३९८७, ४०७०, ४०७१, ४०७६, ४०९२, ४०९८, ४११८, ४१३८, ४१"२, ४२३८, ४३९५, ४४२१, ४४६८, ४५२८, ४६७८, ४६८०, ४७७७, ४८३६, ४८७९, ४९१० ।

परिशिष्ट ६, ५०, ५२, ५५, ६४, ७९, ९५, ९६, १०८, १११, १५५, १७७, २३१, २४५, २५६ ।

### उत्कण्ठा

३१४२, ३९४४ ।

परिशिष्ट १३२

### वीरछन्द

१, ४१, ९५, १२७, ३४६, ४५६, ४७८, ४८२, ४९५, ५१३, ६३१, ६४३, ७०२, ७१२, ७३७, ७४५, ७७५, ७७७, ७७९, ७९१, ८२२, ८२८, ८५३, ९१६, ९२२, ९२६, ९३४, ९४५, ९५०, ९७५, १०१६, १०२१, १०५३, १०८३, १०८४, १०८७, १०९०, १०९१, १०९२, ११०७, १११५, १११९, ११२७, ११४८, ११४९, ११५१, ११५७, ११६०, ११६१, ११७२, ११७३, ११७७, १२००, १२१२, १२१८, १२४८, १२८१, १३२८, १३६०, १४०३, १४४५, १४५६, १४६३, १४७९, १४८९, १४९०, १५८०, १५८१, १५८९, १५९३, १५९५, १५९६, १६०४, १६३३, १६६८, १७७०, १८१३, १८२०, १८२९, १८३३, १८३५, १९११, १९८९, २०५९, २१५०, २१९९, २२०३, २२११, २२१२, २२५९, २२६२, २३१९ ।

२३९४, २३९६, २४०४, २४०८, २४११, २४४३, २४८९, २५३२, २५४०, २५५२, २६२३, २६३९, २६४८, २६५४, २७२८, २७५३, २७५४, २७८९, २७९६, २७९८, २८१६, २८३६, २८७७, २८८१, २९१२, २९३५, २९४४, २९९४, ३००६, ३०४८, ३०६९, ३०९४, ३०९६, ३१०३, ३१४८, ३१५८, ३१७३, ३१८६, ३१८९, ३२३४, ३२५६, ३२६७, ३२९९, ३४२१, ३५८७, ३६०६, ३७०३, ३७२४, ३७५८, ३७६६, ३८२१, ३८६०, ३८६९, ३८८८, ३९५३, ३९७१, ४०२४, ४०९४, ४०९६, ४२०९, ४३८७, ४४३७, ४७२०, ४७३०, ४७८८, ४७८९, ४७९७, ४८४३, ४८४६, ४९२४ ।

परिशिष्ट ३९, ११५, ४६, २१८, ३८, ५५, ६० ।

## समान सवैया

३, ६, १४, १८, २२, २४, ३०, ३४, ५४, ७४, ८०, ८३, ९४, ११४, १४९, १६०, १७२, २०४, २१२, २१७, २३३, २४०, २४८, २५१, २५२, ३०३, ३१२, ३२६, ३५०, ३५४, ४२३, ४२४, ४६९, ४८०, ५००, ५०२, ५०३, ५०६, ५१०, ५२५, ५२६, ५३७, ५३९, ५४५, ५६०, ५६४, ५७५, ५८५, ६०१, ६०४, ६११, ६१२, ६१३, ६२४, ६२५, ६२८, ६२९, ६३७, ६४७, ६६२, ६६८, ६६९, ६७२, ६७३, ६८१, ६९५, ६९६, ७००, ७१०, ७११, ७२२, ७२४, ७२५, ७३१, ७३३, ७३८, ७३९, ७४२, ७६२, ७६७, ७७८, ७८३, ७९८, ७९९, ८०५, ८०६, ८०९, ८१४, ८१५, ८१६, ८१८, ८४५, ८४६, ८४७, ८४९, ८५४, ८५९, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८७६, ९००, ९०५, ९१४, ९१८, ९१९, ९२१, ९२३, ९२७, ९३६, ९३७, ९४९, ९५१, ९५३, ९५८, ९६२, ९८६, ९८७, ९८८, ९९८, १००१, १००२, १००३, १००४, १००८, १०१०, १०१७, १०१९, १०२०, १०२३, १०२५, १०४१, १०४७, १०६५, १०६७, १०६८, १०७५, १०८०, १०८१, १०८९, १०९८, ११२४, ११२५, ११३०, ११३२, ११४१, ११५३, ११६२, ११६४, ११६६, ११६८, ११७१, ११९०, ११९२, १२०६, १२०९, १२१३, १२२४, १२२५, १२२६ १२३४, १२३६, १२५७, १२६६, १२७२, १२८५, १२८६, १२८७, १२९०, १२९१, १३०३, १३०६, १३१०, १३१३, १३१४, १३१९, १३२६, १३३५, १३३८, १३५३, १३५४, १३६६, १३७२, १३७९, १३९४, १४०२, १४२०, १४२१, १४२५, १४२८, १४२९, १४३३, १४३४, १४३५, १४३६, १४३७, १४३८, १४५३, १४५७, १४५८, १४६४, १४६७, १४६९, १४७४, १४७८, १४८१, १४९४, १५७६, १५७९, १५९४, १६२३, १६२८, १६२९, १६४०, १६४१, १६४३, १६५२, १७०४, १७१०, १७११, १७१८, १७५५, १८०४, १८०५, १८११, १८१२, १८१९, १८२३, १८२७, १८४७, १८५५, १८६३, १९०१, १९२४, १९४७, १९५०, १९८६, १९८७, २००७, २०१२, २०१६, २०२७, २०२९, २०३०, २०३१, २०३३, २०३४, २०३५, २०३६, २०३७, २०४३, २०४९, २०५१, २०५२, २०६८, २०६९, २०८१, २०८२, २०८५, २०९३, २१००, २१०६, २१०८, २१३०, २१४२, २१५२, २१६०, २१७२, २१७४, २१७५, २१८०, २१९८, २२००, २२०२, २२१८, २२२०, २२२६, २२५१, २२५२, २२५५, २२६१, २२६६, २२६८, २२६९, २२७६, २२८६, २२८८, २२९२, २२९८, २२९९, २३०८, २३०९,

२३११, २३१६, २३१७, २३२१, २३२८, २३२९, २३३०, २३३१, २३३४, २३३५, २३३६, २३४१, २३४५, २३४९, २३५५, २३६३ ।

२३६८, २३७१, २३७६, २३८२, २३८९, २३९०, २३९१, २३९७, २३९८, २४००, २४०३, २४१५, २४१९, २४२८, २४४६, २४६७, २४६८, २४६९, २४७२, २४७४, २४७६, २४८४, २४८६, २४९०, २४९४, २४९५, २४९७, २५०२, २५०३, २५०६, २५०८, २५०९, २५१०, २५१९, २५२०, २५३४, २५३५, २५३६, २५४२, २५४३, २५४९, २५७६, २५८२, २५९४, २५९५, २६०३, २६०५, २६०८, २६११, २६२२, २९२९, २६४०, २६४१, २६५५, २६५९, २६७२, २६९१, २७०१, २७०२, २७०८, २७१२, २७२५, २७३१, २७३५, २७४२, २७५२, २७८४, २७९१, २७९४, २७९७, २८०३, २८०४, २८०७, २८०९, २८३१, २८३७, २८६८, २८७८, २९१०, २९११, २९२४, २९३७, २९३८, २९५४, २९५६, २९८०, २९८३, ३००८, ३०३७, ३०५४, ३०६५, ३०७२, ३०७३, ३०९७, ३१०६, ३१३१, ३१६६, ३१६८, ३१९०, ३२०७, ३२१५, ३२१६, ३२२९, ३२५०, ३२५४, ३२५५, ३२५८, ३२६२, ३२७९, ३२८१, ३२८२, ३२८३, ३२८४, ३३००, ३३०१, ३३०५, ३३१५, ३३२०, ३३२५, ३३३५, ३३३६, ३६५६, ३३५९, ३३६४, ३३७३, ३३८८, ३३९७, ३४०३, ३४११, ३४१४, ३४१६, ३४१७, ३४२६, ३४३०, ३४३५, ३४४०, ३४४१, ३४६४, ३४८६, ३४८९, ३४९०, ३५११, ३५१२, ३५२६, ३५३१, ३५५०, ३५५९, ३५८६, ३६०८, ३६२४, ३६४९, ३६५४, ३६७०, ३६७१, ३७५०, ३७५१, ३७५७, ३७८०, ३७९५, ३८०८, ३८३५, ३८८०, ३८८२, ३९००, ३९१३, ३९२५, ३९२६, ३९३६, ३९३७, ३९३८, ३९४९, ३९५६, ३९५९, ३९६९, ३९७५, ३९८१, ३९८६, ४००२, ४००६, ४०१८, ४०१९, ४०२३, ४०२५, ४०२९, ४१०५, ४१३१, ४१४६, ४१४९, ४१८२, ४१८५, ४१९४, ४२०३, ४२१७, ४२३७, ४२५५, ४३३२, ४३४०, ४३४२, ४३६४, ४३६९, ४३७८, ४४७२, ४४७८, ४४८९, ४५०१, ४५३४, ४५३८, ४५४६, ४५६७, ४६०२, ४६१२, ४६५८, ४६७९, ४६८४, ४६८६, ४६९१, ४६९३, ४६९५, ४६९८, ४७०२, ४७२१, ४७४०, ४७६४, ४७८०, ४७९०, ४८०२, ४८०३, ४८११, ४८२०, ४८२१, ४८२३, ४८२९, ४८३०, ४८४४, ४८४५, ४८५५, ४८५७, ४८५८, ४८६५, ४८७२, ४८८०, ४८८१, ४८८३, ४८९४, ४९०१ ।

परिशिष्ट १०, १४, १५, १८, २०, ३०, ४३, ५७, ६६, ६८, ६९,

७०, ७३, ७५, ७७, ८०, ८७, ८८, ८९, ९२, ११६, १२०, १२१, १२३, १५०, २०७, २२१, २३९, २५०, २५१, २५२, २५९, २६२।

**जलतरंग**

२५३७

**वदन सवैया**

३२३५

**विश्वभरण**

१४४२

**लीलापति**

७१४, १०७१

**अरुणजयी**

४४८५

**प्रतिपाल**

८७०

**द्वितीय झूलना**

११०, १२०, १६७, २१४, ४०४, ४४४, ५७२, ११६९, १२०८, १२१५, १३०२, १३१६, १३१७, १४७१, १४८२, १५७५, १६५३, १६८१, २२६४, २३३७, २३६७।

२३६९, २५६६, २५८९, २६०२, २७६६, ३०६१, ३१०८, ३११५, ३११८, ३२९०, ३३२१, ३३२३, ३३४८, ३६३५, ३६९३, ३६९७।

**हंसाल**

५, ११९, २२२, २२३, २९१, ४००, ४०५, ४२५, ४३५, ४३६, ४३७, ४४३, ५२०, ५७१, ५८०, ५८२, ६०७, ९२५, १२२०, १३०९, १६१६, १६२४, १६२७, १६५८, १६६०, १६७०, १९८१, २२१४, २३४७, २३५७।

२४०६, २५२९, २५६९, २५८५, २६३५, २६३६, २६४३, २६५१, २६५८, २६७१, २६७४, २६७९, २६८०, २६८१, २६९७, २७६९, २७८८,

२८०८, २८१४, २८१५, २८२२, २८२२, २८५८, २८६१, २८६२, ३०८०, ३३२४, ३३४२, ३५४७, ३५४८, ३५७१, ३५८५, ३६३०, ३६३३, ३६४२, ३६५१, ३६६५, ३६६६, ३६७२, ३६७३, ३६७८, ३६८४, ३६८५, ३६८९, ३६९०, ३६९६, ३६९९, ३७०१, ३७०७, ३७१९, ४६९९, ४७७९, ४८०१, ४८०७, ४८१४, ४८१५, ४८१६, ४८२५, ४८२६, ४८२७, ४८३१, ४८३३, ४८३९, ४८४०, ४८४१ ।

परिशिष्ट १००, १९६ ।

**करखा**

१७७५, २४२१, २६३२, २७४६, २७४७, ३२२२, ३२३९ ।

**प्रभाती**

१८२८

**मानवती**

३०७१

**मदनशय्या**

२७९०

**विजया**

१८०९, ३०६८

**प्रफुल्लित**

३०७४

**मदनहर**

परिशिष्ट १२४

**शुभग**

परिशिष्ट २४८

**काममोहिता**

२७०७

**विनय**

१९९३

**अमर्षिता**

३२१२, ३२४८

**नटनागर**

१०७८, १६६६

**प्रबोधन**

३३७८, ३४१६

**हरिप्रिया**

६५६, ७१३, ७१६, ७६४, ८२३, ८६३, ८६४, १२३७, १४७५, १७७२, १८३०, १८६२, १८६६, १६०८, १६१४, २३१२।

२७६७, २७६५, २८१०, २६८८, ३११६, ३४४७, ३५०६, ३५०७, ३५०८, ३५०६, ३६०३, ३६३६, ३६७५, ३६८२, ३६८६, ३६६२, ३६१६, ४०८२।

**हरिप्रीता**

२००२

**हरिवल्लभा**

२५६६

**परिशिष्ट २१०**

## अर्द्ध सम छन्द :

**दोहा**

२२५, ३२५, ३७२, ६१६, ६५८, ६६०, ६६५, १६६०, २०६१, २०७५, २२५८।

२६३६, ३२३१, ३४८०, ३४८१, ३४८२, ३४८४, ३४८५, ३४६२, ३४६८, ३५१७, ३५१८, ३५२३, ३५३२, ३५३३, ३७७३, ४१४०, ४५६२।

परिशिष्ट १३०।

**दोहकीय**

२०६३, ३५००, ३५२१

परिशिष्ट ७

## मिश्र छन्द :

**सम + सम**

लीला + तोमर (नित)

१२४१

परिशिष्ट ५६

**लीला + हीर**

४२२३

**चौबोला + चौपई**

२८५, ३४४, ३४८, ३६४, ३८२, ३८५, ३८९, ३९३, ३९५, ३९६, ३९८, ४०१, ४०२,४०८, ४१२, ४१४, ४२०, ४२८, ४४५ ।

४८४२, ४९३२ ।

परिशिष्ट ४

**चौबोला + चौपाई**

२२४, २२७, ६७६, १५९९, १८३१, ३५१०, ४७९४ ।

**चौपई + चौपाई**

२३६, २३७, २४६, २८०, ३९०, ४१३, ७४७, ११३९, ११६५, ११६७, १२०३, १२३२, १४१५, १४१७, १४१८, १५५५, १५६६, १५६८, १७०२, १७२३, २०७८ ।

३०९३, ३११४, ३४६१, ३५१४, ३५१९, ३५२०, ३५४०, ३५६१, ४६६७, ४७१२, ४८३७ ।

**चौपाई + उपवदनक**

२२२५

**चौपाई + हरिगीतिका**

१६९०

**प्रणय + कुंडल**

५४०, १२६८, १६९४, ४०७५, ४५०५, ४५११, ४५१७ ।

परिशिष्ट १८० ।

**उल्लास + सुखदा**

६४६

**उपमित + उपमान**

३५५१

**उल्लास + गीतिका**

३४२८

**उल्लास + सरसी**

११०५

**रजनी + रूपमाला**

१६८६, १९९८, २४४९, २४५६, २४६३, २५४६, २९४८, ३०४५, ३०८९, ३१९४, ३३११, ३३२९, ३४२९, ३४३७, ४०६०, ४०८०, ४५००, ४५३५ ।

परिशिष्ट २०४, २६९ ।

**रजनी + मधुरजनी**

३०६

**रूपमाला + गीता**

३४४९, ३४५१, ३४५३, ३४५९, ३४६०, ३८४६, ४०४९, ४१७९, ४२०२

परिशिष्ट १०६, १९२ ।

**रूपमाला + समानसवैया**

परिशिष्ट ५१

**रोला + समानसवैया**

४६६४

**विष्णुपद + सरसी**

१५६, ५१८, ५३६, १०६१, ११४५, ११७६, १२३९, १४८५, १५०१, १८५१, १९६६ ।

२३८६, २४३९, २५९७, २६४५, २८४८, २८८२, २८८४, २८९८, २९२९, २९९३, ३०२७, ३०४१, ३०९०, ३१४५, ३१८१, ३५४३, ३५४४, ३६१०, ३६५९, ३८०३, ३८८६, ४०१६, ४०४६, ४०८३, ४१२७, ४१९३, ४२९२, ४४४२, ४४४८, ४४६०, ४६५६, ४८७१, ४९०७।

परिशिष्ट १५२, १६६, २२३।

### विष्णुपद+सार

१०४, १३७, ४३३, ४९७, ५४२, ७४३, १०५४, ११८९, १७२८, १७८९, १८५१, १९३८, २१३५, २३०२, २३३८।

२६९६, २७६४, २८००, २८४९, २८५१, २९०७, २९७३, ३०५७, ३१२६, ३१३९, ३१७९, ३२३६, ३२४४, ३४९१, ३७८७, ३७८८, ३८१६, ३९८९, ४००७, ४०३८, ४०८६, ४२१२, ४३४९, ४३८४, ४४२३, ४५१८, ४५२१, ४६३८, ४६५५, ४७६७।

### विष्णुपद+ताटंक

४१८९

परिशिष्ट ११४

### गीता+सरसी

३५७९

### गीतिका+सार

३४१८

### सरसी+सार

८, २९, ३१, ४०, ४८, १०२, १०३, १०९, १११, १२५, १२९, १४१, १४३, १४४, १४६, १६३, १६५, १७५, १७७, १७९, १८१, १९१, १९६, १९७, २१५, २४३, २६९, २७४, २७५, ३१०, ३३७, ४६४, ४७६, ४७९, ४८१, ४८८, ४८९, ४९६, ५०८, ५१२, ५२२, ५२३, ५३१, ५४३, ५३९, ५५१, ५५४, ५५९, ५६५, ५६८, ५७८, ५९१, ५९२, ५९५, ५९७, ५९९, ६०८, ६३३, ६५३, ६५६, ६७८, ६८२, ६९३, ६९७, ६९९, ७०४, ७०७, ७१५, ७२९, ७८२, ८०७, ८३०, ८३२, ८३३, ८३८, ८४४, ८४८, ८५५, ८५८, ८७१, ८७३, ८७८, ८७९, ८८१, ८८२, ८८३, ८८६, ८८८,

८८९, ८९०, ८९५, ८९६, ८९७, ९०३, ९१०, ९२४, ९३०, ९३२, ९४०, ९४६, ९४७, ९४८, ९५९, ९६३, ९९३, ९९५, १०१३, १०२९, १०३१, १०३२, १०३४, १०३९, १०४०, १०४२, १०६०, १०७३, १०७४, १०७७, १०७९, १०९६, ११११, १११२, ११२३, ११२६, ११२९, ११३४, ११३५, ११३७, ११४०, ११४३, ११४४, ११४७, ११५२, ११५४, ११५५, ११५८, ११५९, ११७४, ११७५, ११८३, ११८४, ११८८, ११९१, ११९७, ११९९, १२०१, १२१०, १२११, १२१६, १२२१, १२२२, १२२३, १२२७, १२४६, १२४९, १२५०, १२६१, १२७४, १२८२, १२९२, १२९७, १२९८, १३१२, १३२१, १३२२, १३२७, १३४१, १३४२, १३४३, १३४५, १३४६, १३५८, १३७१, १३७३, १३७४, १३७६, १३७७, १३८३, १३८६, १३८८, १३९०, १३९२, १४००, १४१०, १४१९, १४३९, १४४०, १४४४, १४४९, १४५१, १४५२, १४६१, १४६२, १४७२, १४९५, १४९६, १४९८, १४९९, १५७२, १५८५, १५९१, १६०३, १६०५, १६२०, १६२१, १६३१, १६३८, १६३९, १६४२, १६४६, १६५०, १६६२, १६६३, १६६७, १६७१, १६७३, १६७५, १६७६, १६८४, १६८५, १६८७, १६८८, १७०९, १७४१, १७४५, १७६०, १७६२, १७६४, १७८०, १७८१, १७८८, १७९९, १८०१, १८२२, १८३९, १८४८, १८४९, १८५३, १८७२, १८७५, १८७६, १८८३, १८८७, १८९७, १८९८, १९०४, १९१०, १९१२, १९२३, १९२५, १६३६, १९४०, १९४३, १९४४, १९५४, १९६२, १९६३, १९७४, १९७५, १९७८, २०००, २००५, २०१०, २०२२, २०२४, २०३२, २०४७, २०४८, २०५०, २०९९, २१०१, २११०, २११२, २११४, २११५, २११६, २१२०, २१२१, २१२५, २१२९, २१३३, २१३७, २१४३, २१४४, २१४८, २१४९, २१५९, २१६२, २१६३, २१६५, २१६७, २१६८, २१७६, २१७७, २१७८, २१८४, २१८५, २१८६, २१८७, २१८८, २१८९, २१९२, २१९५, २१९७, २२०८, २२१३, २२१७, २२२८, २२२९, २२३२, २२३४, २२३५, २२३८, २२४०, २२७०, २२९४, २३०१, २३१८, २३३९, २३४४, २३५८, २३६६=३२३ ।

२३७२, २३७५, २३८४, २३९२, २३९३, २४०५, २४०७, २४०९, २४१८, २४२५, २४२६, २४३२, २४५०, २४५८, २४६२, २४७९, २४८३, २५०४, २५४१, २५५०, २५५३, २५६८, २५८६, २६००, २६१२, २६१३, २६२६, २६३३, २६४४, २६६१, २६६४, २६६८, २६७५, २६७६, २६८३, २६८५, २६८७, २६८८, २६९३, २७३९, २७४५, २७६५, २७७१, २७७३,

२७७८, २७९३, २८१२, २८२१, २८२५, २८४५, २८६३, २८६५, २८७५, २८७६, २८७९, २८८५, २८८६, २८९०, २८९३, २८९४, २९०४, २९०६, २९०८, २९०९, २९१४, २९२०, २९४२, २९५०, २९५२, २९५७, २९७४, २९९१, २९९५, ३०००, ३००३, ३०१४, ३०२०, ३०३१, ३०४२, ३०४७, ३०५१, ३०६३, ३०७६, ३१०२, ३१४९, ३१५४, ३५५५, ३१६०, ३१६४, ३१९५, ३२२५, ३२४३, ३२४७, ३२५१, ३२६६, ३२८७, ३३१३, ३३१७, ३३१८, ३३३०, ३३४९, ३३५२, ३३७६, ३३९२, ३४७२, ३४७९, ३४८७, ३५१६, ३५३४, ३५४५, ३५४६, ३५५४, ३५५८, ३५७०, ३५७३, ३५७५, ३५८८, ३५९२, ३५९३, ३५९७, ३५९८, ३६३८, ३६५५, ३६६१, ३६६२, ३६६८, ३६९७, ३७१८, ३७३४, ३७४३, ३७५२, ३७६०, ३७८४, ३७८९, ३७९१, ३७९३, ३७९७, ३८१०, ३८३९, ३८४०, ३८५३, ३८६३, ३८६८, ३८९६, ३९०९, ३९२२, ३९२३, ३९७३, ३९९०, ४०११, ४०४०, ४०४७, ४०६१, ४०६३, ४०६५, ४०६६, ४०८९, ४०९०, ४०९७, ४१२०, ४१२६, ४१३६, ४१४१, ४१४७, ४१५५, ४१६१, ४१६८, ४१७८, ४१९५, ४२०७, ४२१०, ४२१४, ४२१९, ४२३१, ४२३५, ४२४४, ४२४५, ४२४८, ४२७७, ४२८३, ४३००, ४३०४, ४३०५, ४३०६, ४३०८, ४३१६, ४३१९, ४३२३, ४३३०, ४३३७, ४३४६, ४३५१, ४३५९, ४३६०, ४३६३, ४३७४, ४३७५, ४३८४, ४४०६, ४४१६, ४४१९, ४४२०, ४४२५, ४४२७, ४४२८, ४४२९, ४४३३, ४४३४, ४४३५, ४४४०, ४४४९, ४४५९, ४४६२, ४४६४, ४४६५, ४४८२, ४४८६, ४४९७, ४५०४, ४५२२, ४५२५, ४५८४, ४५९२, ४५९६, ४६०७, ४६०८, ४६२५, ४६३३, ४६४७, ४७४७, ४७४८, ४७५०, ४७५१, ४७६३, ४७६५, ४७७१, ४७७४, ४७७८, ४७८०, ४७८२, ४७९५, ४७९६, ४८०८, ४८०९, ४८४१, ४८५४, ४८६६, ४८९९, ४९००, ४९०८, ४९१७, ४९२५, ४९२६।

परिशिष्ट २४, २५, ३६, ६७, १३९, १४९, १५१, १५९, १६०, १७८, १८१, १८२, १९४, २७०।

**सरसी+ताटंक**

२८९९

परिशिष्ट ५

**सरसी+वीरछन्द**

४६४२

परिशिष्ट-२००

**सरसी+समानसवैया**

१०१८

**सार+मरहठा माधवी**

४०६७

**सार+ताटंक**

६७१, २३३३, २६०१

परिशिष्ट १२२

**सार+वीरछन्द**

३०६०

**सार+समानसवैया**

१७१७

**मरहटा माधवी+ताटंक**

७५७

**ताटंक+वीरछन्द**

१०४८

**ताटंक+समानसवैया**

६९

**वीरछन्द+समानसवैया**

११६३, ४४१०

**झूलना+हंसाल**

५७३, ५७९, ६८०, १२०५, १४६६, १४८८, १५९८, १६०६, १६१२, १६३७, १६४५, १६७९, १७३७, १७५३, १८०८, २३४९, २३५३।

२४७५, २५६५, २६०६, २७७२, २८२४, २[illegible]६७, ३[illegible]२३, ३५७४, ३६६९, ३६७४, ३६७७, ३६८७, ३६९१, ३६९४, ४८१२।

**झूलना + करखा**

५५०, ५५५, ५८६, १०५८, ११७०, १२०२, १२२४, १४७३, १६८२, २५६७, ३०३८, ३३२२।

**हंसाल + करखा**

३४४२

**लीला + महानुभाव + चौपाई**

३५३५

**सखी + चौपाई + हरिगीतिका**

४८०५

**चौबोला + चौपई + चौपाई**

२२६, २२८, २२६, २३०, २६०, २६१, २७६, २७७, २८१, २८४, २८६, २८८, २८६, २६०, ३४१, ३४२, ३४३, ३६३, ३८०, ३८६, ३८७, ३८८, ३६१, ३६४, ३६७, ३६६, ४०३, ४०६, ४०६, ४१०, ४११, ४१५, ४१६, ४१८, ४१६, ४२१, ४२६, ४२७, ४२६, ४३४, ४३६, ४४६, ४४७, ४४८, ४४६, ४५२, ४५३, ४५७, ४५६, ५११, ६१७, ६१८, ६२०, ६७५।

४७८५, ४८१०, ४८१३, ४८१८, ४८२४, ४६१५, ४६१६, ४६१८, ४६१४, ४६२१, ४६२३, ४६२७, ४६३०, ४६३१, ४६३३, ४६३४, ४६३५, ४६३६।

**चौबोला + चौपाई + उपवदनक**

४६६८

**चौपाई + गीतिका + हरिगीतिका**

२४१२

परिशिष्ट ४१

**रूपमाला + गीता + गीतिका**

परिशिश्ट १०६

**विष्णुपद + सरसी + सार**

१७, ४६, ४६, १००, १८५, २०१, २११, २७३, ४८५, १०५२, १३६३, १६५६, १६८२, १७५४, १७६५, १६५५, २०१४, २२१६।

२६६७, २९४३, ३०१२, ३०२१, ३०२३, ३१४४, ३१८२, ३१८३, ३२१८, ३२५९, ३३८८, ३४७१, ३५४१, ३६३२, ३६४०, ३६४१, ३७१५, ३७३८, ३७९२, ३८००, ३८७८, ३९६३, ४०३६, ४०४३, ४१३३, ४१९०, ४२१३, ४२२८, ४२२९, ४२६२, ४२७२, ४३११, ४३१७, ४३२६, ४३४७, ४४१३, ४४७७, ४४८१, ४५०२, ४५१४, ४६३२, ४६८५, ४७१५, ४७१६, ४७३१, ४७४५, ४७७०, ४८१७, ४८४५, ४९२० ।

परिशिष्ट १९५ ।

**सरसी + सार + मरहटा माधवी**

४५४३, ४६१३, ४७०६

**सरसी + सार + ताटंक**

२२२२

**सरसी + सार + समानसवैया**

८३७, ८८४, ९३५, १६६५, २२६३, ३०४९

**ताटंक + वीरछन्द + समानसवैया**

१०५६

**करखा + हंसाल + झूलना**

१३६९, १६५९, २३२५, ३४४५

**चौपई + चौबोला + चौपाई + उल्लाला**

१७९८

**चौपई + पादाकुलक + योगकल्प + सार**

४७११

**चौपाई + उपवदनक + गीतिका + हरिगीतिका**

४८०४

## अर्द्धसम + सम

**दोहा + रोला**

३७९, ३९२, ४८५, १०४९, १०५५, १११०, १२०७, १४५९, १७९३, २०७९, २१०९, २२३६ ।

३७०८, ४७१३, ४८०६, ४८०८, ४९१२।

परिशिष्ट ३८

**दोहा+मुक्तामणि**

परिशिष्ट १२९

**दोहा+विष्णुपद**

१७२९

**दोहा+सरसी**

६४५

परिशिष्ट—२३२

**दोहा+सार**

३५२२

**दोहकीय+सार**

परिशिष्ट—२४०

**रोला+उल्लाला—(छप्पय)**

१८०

**दोहकीय+सरसी+सार**

१०६९

**दोहा+सोरठा+चौपाई+हरिगीतिका**

३४४६

**दोहा+शशिवदना+माली+सखी+गीतिका**

१८००

**अर्द्धसम+अर्द्धसम**

**दोहा+दोहकीय**

३५२७

वर्णवृत्त—

**मिताक्षरी**

३५०४, ३५०५, ३७१०

### नागर

१९९२, २४९६ ।

### गोरस

६५७, ९१३, ३२१४ ।

### सूरघनाक्षरी

७७, ७७०, ९८०, ९९०, १०८५, २०१८, २०९५, २५६२, २५६३, २६५२, ३०३६, ३१२५, ३१६७, ३१७२. ३२१३, ३२७६, ३३७२, ३४००, ३४०६, ३४०७, ३४०९, ३४२७, ३५६४, ४८३५ ।

परिशिष्ट ७८, २४४ ।

### मनहरण घनाक्षरी

४३२, ६४८, ६४९, ६५२, ७६८, ९९१, ११०२, १७३३, १७६८, १९८५, २००३, २०५३, २०९६, २१३४, २३५२ ।

२५१४, २६५६, २६५७, ३१६५, ३१७०, ३१७१, ३१९१, ३२७८, ३४०४ ।

परिशिष्ट ७२, ७६, १४०, २५७ ।

### रूपघनाक्षरी

२६२८, ३२५३, ३३७१, ३४१०, ३४१५ ।

परिशिष्ट ११६

### जलहरण

७६९, १५७०, १७६७, २०१९, ३४०५ ।

## साहित्य-लहरी में प्रयुक्त छन्द

## समछन्द :

### रूपमाला

१, २, १४, १७, १८, २०, २१, २३, २७, २९, ३०, ३२, ३४, ३६, ३७, ३९, ४२, ५२, ५३, ५५, ५६, ५९, ६०, ६५, ६९, ७०, ७५, ७७, ८८, ९०, ९२, ९३, ९४, १०५, १०६, १०७, १०८ ।

परिशिष्ट (१) २, ३, ४, ५, ६, १० ।

(२) १

**विष्णुपद**

५१

**सरसी**

२२, २५, २६, ३१, ४३, ५०, ५७, ६१, ६७, ७१, ७४, ७६, ७८, ८६ ।

**सार**

३, ४, ५, ६, १०, ११, १२, १३, १५, १६, १६, २४, २८, ३३, ३८, ४०, ४१, ४४, ४५, ४६, ४७, ५४, ६२, ६४, ६६, ७२, ७६, ८३, ८४, ८५, ८६, ६७, ६६, १०१, १०४ ।

परिशिष्ट ८

**वीरछन्द**

६३, ६५ ।

**समानसवैया**

४८, ४६, ५८, ६८ ।

परिशिष्ट ७

मिश्र छन्द :

**विष्णुपद+सरसी**

परिशिष्ट ६

**सरसी+सार**

७, ८, ३५, ६८, ७३, ८१, ८२, १०० ।

**सार+समानसवैया**

६, ८७, ६१, १०२ ।

परिशिष्ट १

**विष्णुपद+सरसी+सार**

८०, १०३ ।

सरसी+सार+समानसवैया

६६

## सूर सारावली

सूर सारावली में विष्णुपद, सरसी तथा सार छन्दों का प्रयोग हुआ है। २४१, २४२ तथा ६५८ में विष्णुपद छन्द है। शेष पद्यों में सरसी और सार की अर्द्धालियों का प्रयोग अनियमित रूप से हुआ है।

# परिशिष्ट ३

## सहायक ग्रन्थ

छन्दोग्रन्थ :

(१) ऋग्वेदप्रातिशाख्य : सं० मंगलदेव शास्त्री ।

(२) कविदर्पण (अज्ञात) : सं० एच० डी० वेलणकर, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।

(३) गाथालक्षण (नंदिताढ्य) : 'कविदर्पण' में संकलित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।

(४) छन्द:कोश (रत्नशेखर) : 'कविदर्पण' में संकलित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।

(५) छन्दोऽनुशासन (जयकीर्ति) : 'जयदामन', सं० एच० डी० वेलणकर, में संकलित ।

(६) छन्दोऽनुशासन (हेमचन्द्र) : 'जयदामन', सं० एच० डी० वेलणकर, में संकलित ।

(७) छन्द:प्रभाकर : जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ।

(८) छन्दमाला : केशव ग्रन्थावली, भाग २ में संकलित, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।

(९) छन्द:शास्त्र (पिंगलाचार्य) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

(१०) छन्द:शेखर (राजशेखर) : स्वयंभूच्छन्द, सं० एच० डी० वेलणकर, में संकलित ।

(११) छन्दार्णव : भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खंड, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, में संकलित ।

(१२) छन्दोमञ्जरी (गंगादास) : चौखंबा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी ।

(१३) जयदेवच्छन्द: (जयदेव) : 'जयदामन', सं० एच० डी० वेलणकर, में संकलित ।

(१४) नवीन पिंगल : अवध उपाध्याय ।

(१५) प्राकृत पिंगल, भाग १ (Vol. 11) : सं० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी ।

(१६) पिंगल पीयूष : परमानन्द शास्त्री ।
(१७) वाग्वल्लभ (दुःखभंजन कवि) : चौखंबा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी ।
(१८) वाणीभूषण (दामोदर मिश्र) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।
(१९) वृत्तजातिसमुच्चय (विरहांक) : सं० एच० डी० वेलणकर ।
(२०) वृत्तरत्नाकर (क) (केदार भट्ट) : 'जयदामन' में संकलित ।
(२१) वृत्तरत्नाकर (ख) (केदार भट्ट) : चौखंबा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी ।
(२२) श्रुतबोध (कालिदास) : चौखंबा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी ।
(२३) सरसपिंगल : रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' ।
(२४) सुवृत्त तिलक (क्षेमेन्द्र)
(२५) हिन्दी छन्दःचन्द्रिका : 'दत्त', पुस्तक भण्डार ।
(२६) हिन्दी छन्दप्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री ।
(२७) हिन्दी छन्दःशास्त्र : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ।

## छन्दोविषयक ग्रन्थ :

(२८) आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना (शोध-प्रबन्ध) : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ।
(२९) प्राकृत पैंगल, भाग २ (Vol. IV) : डॉ० भोलाशंकर व्यास ।
(३०) मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद (शोध-प्रबन्ध) ।

## संस्कृत ग्रन्थ :

(३१) अध्यात्मरामायण — गीताप्रेस
(३२) अमरकोश — अमरसिंह
(३३) अष्टाध्यायी — पाणिनि
(३४) उत्तरचरित — भवभूति
(३५) ऋग्वेद
(३६) कालिदास ग्रन्थावली — सं० सीताराम चतुर्वेदी
(३७) काव्यप्रकाश — मम्मट
(३८) गीतगोविन्द — जयदेव
(३९) तैत्तरीयोपनिषद्
(४०) नाट्यशास्त्र — भरत

| | |
|---|---|
| (४१) निघण्टु | |
| (४२) निरुक्त | यास्क |
| (४३) प्रसन्नराघव नाटक | जयदेव |
| (४४) पाणिनीय शिक्षा | |
| (४५) महाभारत | व्यासदेव |
| (४६) मेघदूत | कालिदास |
| (४७) रघुवंश | कालिदास |
| (४८) रामायण | वाल्मीकि |
| (४९) विक्रमोर्वशीय (कालिदास) | सं० जीवानन्द विद्यासागर |
| (५०) विष्णुपुराण | गीताप्रेस, गोरखपुर |
| (५१) श्रीमद्भगवद्गीता | गीताप्रेस, गोरखपुर |
| (५२) श्रीमद्भगवद्गीता का शंकर भाष्य | प्र० गुजराती मुद्रणालय |
| (५३) सर्वानुक्रमणी | कात्यायन |
| (५४) साहित्यदर्पण | विश्वनाथ |
| (५५) सौन्दरनन्द | अश्वघोष—अनुवादक सूर्यनारायण चौधरी |

## काव्य और नाटक :

| | |
|---|---|
| (५६) अनामिका | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| (५७) अनुराग-रत्न | नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' |
| (५८) अष्टछाप के कवि | सं० प्रभुदयाल मीतल |
| (५९) आधुनिक कवि (२) | सुमित्रानन्दन पंत |
| (६०) आर्यावर्त्त | मोननलाल महतो 'वियोगी' |
| (६१) उद्धवशतक | जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' |
| (६२) कबीर-ग्रन्थावली | सं० श्यामसुन्दर दास |
| (६३) कबीर-वचनावली | सं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' |
| (६४) कविता-कलाप | सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी |
| (६५) कविता कौमुदी, सातवाँ भाग (बंगला) | सं० कृपानाथ मिश्र |
| (६६) कवितावली | तुलसीदास |

| | |
|---|---|
| (६७) काननकुसुम | जयशंकर 'प्रसाद' |
| (६८) कामायनी | जयशंकर 'प्रसाद' |
| (६९) कीर्त्तिलता | विद्यापति |
| (७०) कुणाल-गीत | मैथिलीशरण गुप्त |
| (७१) कुरुक्षेत्र | रामधारी सिंह 'दिनकर' |
| (७२) कृष्णगीतावली | तुलसीदास |
| (७३) कृष्णायन | द्वारका प्रसाद मिश्र |
| (७४) गीतावली | तुलसीदास |
| (७५) गीतिका | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| (७६) गुरुकुल | मैथिलीशरण गुप्त |
| (७७) गोरखबानी | सं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल |
| (७८) गंगावतरण | जगन्नाथदास 'रत्नाकर' |
| (७९) गुंजन | सुमित्रानन्दन पंत |
| (८०) ग्राम्या | सुमित्रानन्दन पंत |
| (८१) जयद्रथ-वध | मैथिलीशरण गुप्त |
| (८२) जयभारत | मैथिलीशरण गुप्त |
| (८३) जानकी-मंगल | तुलसीदास |
| (८४) झरना | जयशंकर 'प्रसाद' |
| (८५) तुलसीदास | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| (८६) दोहा-कोश | सं० राहुल सांकृत्यायन |
| (८७) द्वापर | मैथिलीशरण गुप्त |
| (८८) ध्रुवस्वामिनी | जयशंकर 'प्रसाद' |
| (८९) नीरजा | महादेवी वर्मा |
| (९०) नीहार | महादेवी वर्मा |
| (९१) नूरजहाँ | गुरुभक्त सिंह 'भक्त' |
| (९२) पद्माकर-पंचामृत | सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र |
| (९३) पद्य-प्रसून | अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' |
| (९४) पथिक | रामनरेश त्रिपाठी |
| (९५) परिमल | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| (९६) पल्लव | सुमित्रानन्दन पंत |
| (९७) प्रवासी के गीत | नरेन्द्र शर्मा |

(९८) पारिजात — अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(९९) पार्वती — रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन'
(१००) प्रियप्रवास — अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(१०१) ब्रजमाधुरी-सार — सं० वियोगी हरि
(१०२) ब्रजविलास — ब्रजवासी दास
(१०३) बिहारी बोधिनी — सं० लाला भगवान दीन
(१०४) बुद्धचरित — रामचन्द्र शुक्ल
(१०५) भ्रमर-गीत-सार — सं० रामचन्द्र शुक्ल
(१०६) भारत-भारती — मैथिलीशरण गुप्त
(१०७) भारतेन्दु-ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) — सं० ब्रजरत्न दास
(१०८) भारतेन्दु-नाटकावली — खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर
(१०९) भूषण-ग्रन्थावली — सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
(११०) मत्स्यगंधा — उदयशंकर भट्ट
(१११) मधुकलश — हरिवंश राय 'बच्चन'
(११२) महाभारत — सबलसिंह चौहान
(११३) मीराबाई की पदावली — सं० परशुराम चतुर्वेदी
(११४) मेघनाद-वध — मधुप
(११५) यशोधरा — मैथिलीशरण गुप्त
(११६) रश्मिरथी — रामधारी सिंह 'दिनकर'
(११७) रसकलश — अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(११८) रंग में भंग — मैथिलीशरण गुप्त
(११९) रामचरित-चिंतामणि — रामचरित उपाध्याय
(१२०) रामचरितमानस (क) — टी० रामनरेश त्रिपाठी
(ख) — गीताप्रेस, गोरखपुर
(१२१) रामचंद्रिका (क) — केशव-ग्रन्थावली खंड २–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
(ख) — केशव-कौमुदी, भाग, १, २, सं० लाला भगवान दीन
(१२२) राजा परीक्षित — गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'
(१२३) लहर — जयशंकर 'प्रसाद'

(१२४) विद्यापति की पदावली — सं० रामवृक्ष 'बेनीपुरी'
(१२५) विनयपत्रिका — तुलसीदास, टी० वियोगी हरि
(१२६) वीर काव्य — सं० उदय नारायण तिवारी
(१२७) वैदेही वनवास — अयोध्यासिंह उध्पाध्याय 'हरिऔध'
(१२८) साकेत — मैथिलीशरण गुप्त
(१२९) सावित्री — गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'
(१३०) साहित्य-लहरी (क) — सं० प्रभुदयाल मीतल
(ख) — सं० मनमोहन गौतम
(१३१) सिद्धराज — मैथिलीशरण गुप्त
(१३२) सिद्धार्थ — अनूप शर्मा
(१३३) सूरसागर — सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
(१३४) सूरसारावली — सं० प्रभुदयाल मीतल
(१३५) संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ — सं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
(१३६) संक्षिप्त सूरसागर — सं० बेनी प्रसाद, इंडियन प्रेस, प्रयाग
(१३७) संतकाव्य — सं० परशुराम चतुर्वेदी
(१३८) स्कन्दगुप्त — जयशंकर 'प्रसाद'
(१३९) स्वप्न — रामनरेश त्रिपाठी
(१४०) स्वर्णकिरण — सुमित्रानन्दन पंत
(१४१) स्वर्णधूलि — सुमित्रानन्दन पंत
(१४२) हल्दीघाटी — श्यामनारायण पाण्डेय
(१४३) हिन्दी काव्य-धारा — सं० राहुल सांकृत्यायन
(१४४) हुंकार — रामधारी सिंह 'दिनकर'

**अन्य ग्रन्थ :**

(१४५) अपभ्रंश भाषा का अध्ययन — वीरेन्द्र श्रीवास्तव
(१४६) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय — दीनदयालु गुप्त
(१४७) आर्य संस्कृति के मूलाधार — बलदेव उपाध्याय

| | | |
|---|---|---|
| (१४८) | काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध | उमा मिश्र |
| (१४९) | काव्य-कल्पद्रुम (भाग २) | कन्हैया लाल पोद्दार |
| (१५०) | काव्यदर्पण | रामदहिन मिश्र |
| (१५१) | काव्य में रहस्यवाद | रामचन्द्र शुक्ल |
| (१५२) | कूटकाव्य : एक अध्ययन | रामधन शर्मा शास्त्री |
| (१५३) | चन्दबरदाई और उनका काव्य | विपिन विहारी त्रिवेदी |
| (१५४) | चिन्तामणि (भाग १) | रामचन्द्र शुक्ल |
| (१५५) | जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त | लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' |
| (१५६) | ब्रजभाषा-सूर कोश | सं० प्रेम नारायण टण्डन |
| (१५७) | भारतीय साधना और सूर-साहित्य | मुंशीराम शर्मा 'सोम' |
| (१५८) | भाषा-शब्द-कोश | सं० रामाशंकर शुक्ल 'रसाल' |
| (१५९) | मध्यकालीन संत साहित्य | राम खेलावन पांडे |
| (१६०) | महाकवि सूरदास | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| (१६१) | मिट्टी की ओर | रामधारी सिंह 'दिनकर' |
| (१६२) | रामचंद्रिका का विशिष्ट अध्ययन | गार्गी गुप्त |
| (१६३) | रीतिकाल की भूमिका | नगेन्द्र |
| (१६४) | सामान्य भाषा विज्ञान | बाबूराम सक्सेना |
| (१६५) | साहित्य का मर्म | हजारी प्रसाद द्विवेदी |
| (१६६) | सिद्ध साहित्य | धर्मवीर 'भारती' |
| (१६७) | सूरदास | ब्रजेश्वर वर्मा |
| (१६८) | सूरदास : एक विश्लेषण | पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली |
| (१६९) | सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य | शिव प्रसाद सिंह |
| (१७०) | सूरसाहित्य | हजारी प्रसाद द्विवेदी |
| (१७१) | सूरसाहित्य की भूमिका | राम रतन भटनागर |
| (१७२) | संस्कृत साहित्य का इतिहास | कीथ, अ० मंगलदेव शास्त्री |

(१७३) संस्कृत साहित्य का इतिहास — बलदेव उपाध्याय
(१७४) संगीत विशारद — वसंत (हाथरस)
(१७५) संगीत शास्त्र — के० वासुदेव शास्त्री
(१७६) हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत — उषा गुप्त
(१७७) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग — नामवर सिंह
(१७८) हिन्दी वीर काव्य — टीकम सिंह 'तोमर'
(१७९) हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन — राम रतन भटनागर
(१८०) हिन्दी साहित्य का आदिकाल — हजारी प्रसाद द्विवेदी
(१८१) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — रामकुमार वर्मा
(१८२) हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल
(१८३) हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ — प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा

अंग्रेजी :

(184) An Introduction to the Study of Literature —William Henry Hudson
(185) Encyclopaedia Britanica
(186) Historical mannual of English Prosody —George Sainstsbury
(187) Jaydamana —H. D. Velankar.
(188) Principles of English Prosody —Lascells Abercrembie.
(189) Principles of Literary Criticism —I. A. Richards.

(190) The Historical Development of Mediaeval Hindi Prosody (Thesis)
—Maheshwari Sinha 'Mahesh'.

(191) The Principles of English Metre
—Egerton Smith.

## पत्र-पत्रिकाएँ :

१. अवंतिका—पटना

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी

३. परिशोध—पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़

४. विश्वभारती पत्रिका—शांतिनिकेतन

५. संगीत (ताल अंक)—हाथरस